...त

संस्कृत सूक्तियों लोकोक्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

गिरो गुरूणाम

''संस्कृत के क्षेत्र में सूक्ति, लोकोक्ति तथा सुभाषित के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए थे, किन्तु इनके आधुनिक पद्धति से विश्लेषण का अभाव विद्वानों को खटकता था। (मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि) प्रस्तुत पुस्तक में डॉ० वेदव्रत ने इस अभाव की पूर्ति की है। .....पृष्ठभूमि में वैदिक साहित्य का भी पर्याप्त उपयोग किया है।

.....चुने हुए ग्यारह कवियों की रचनाओं में उपलब्ध सूक्तियों और लोकोक्तियों का अत्यन्त रोचक व प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत सूक्तियों-लोकोक्तियों का सांगोपांग विवेचन पहली बार प्रकाशित हो रहा है। .....मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी तथा संस्कृत जगत् में इसका स्वागत होगा।''

डॉ० रसिक बिहारी जोशी
एम.ए., पी-एच.डी., डी लिट् (पैरिस)
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली

''डॉ० वेदव्रत का यह शोध-प्रबन्ध संस्कृत-साहित्य के लिए एक विशेष देन है। अन्य भाषाओं में इस प्रकार की कृतियां लिखी गई हों, यह कहना भी कठिन है। ....विविध प्रकार की संस्कृत-काव्यगत सूक्तियों-लोकोक्तियों का विभाजन करते हुए प्रत्येक विषय से सम्बद्ध उक्तियों में मानव-स्वभाव की गहनता, उपयोगिता तथा सामयिकता का विश्लेषण करना इसी ग्रन्थ का कार्य है। यह शोधकृति संस्कृत अध्येताओं के लिए तो अत्यधिक उपयोगी तथा हितकर हो ही सकेगी, सभी स[illegible]-प्रेमियों के लिए भी एक सन्दर्भ-ग्रन्थ का का[illegible] ऐसी पूर्ण आशा और विश्वास है।

डॉ० श्रीनिवास शास्त्री, विद्यावारिधि
एम.ए., (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच-डी,
न्याय शास्त्री, सांख्य-योग-व्याकरण-वेदान्त-तीर्थ,
पूर्व-प्रोफेसर, दयानन्दपीठ,
संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
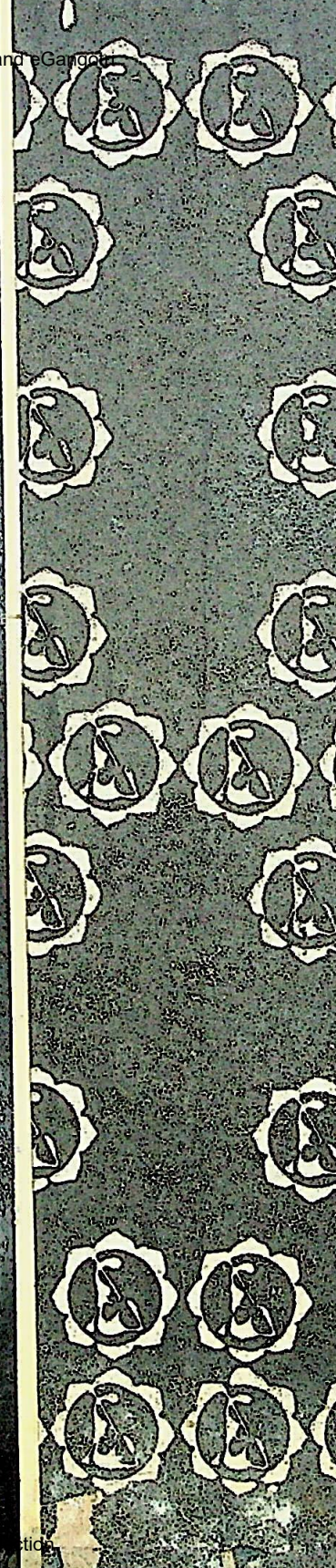
संस्कृत सूक्तियों-लोकोक्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

माननीया डॉ० प्रज्ञा देवी जी
को सादर सस्नेह —
24.12.90

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० (संस्कृत)
उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

संस्कृत सूक्तियों-लोकोक्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

डॉ० वेदव्रत

शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली-110002

संस्करण
प्रथम, 1986
ISBN—81-85023-11-5

संस्कृत सूक्तियों-लोकोक्तियों का
मनोवैज्ञानिक विश्लेषण (संस्कृत शोध-प्रबन्ध)

प्रकाशक
शारदा प्रकाशन
16/एफ-3, अन्सारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-110002

विजयदेव झारी द्वारा शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली के लिए
प्रशाशित एवं हिन्दुस्तान प्रिंटर्स, दिल्ली में मुद्रित ।
आवरण सज्जा श्री चेतनदास एवं आवरण मुद्रण
गणेश प्रेस, दिल्ली ।

मूल्य
200.00 रुपये

Sanskrit Suktiyon-Lokoktiyon Ka Manovaigyanik Vishleshan (Thesis)
(a psycho-analitical study of sanskrit sayings and proverbs)
by Dr. Vedavrat

कृतिरेषा तयोरेव समर्पणं कथं ततः?
स्मरणं नमनं कृत्वा तोषोऽयं मे स्वकोमतः ।।

मूकस्य वाग्विधातारौ मूढस्य तत्त्वदर्शकौ ।
पितरावात्मनो नौमि लीला-राजेन्द्र-नामकौ ।।
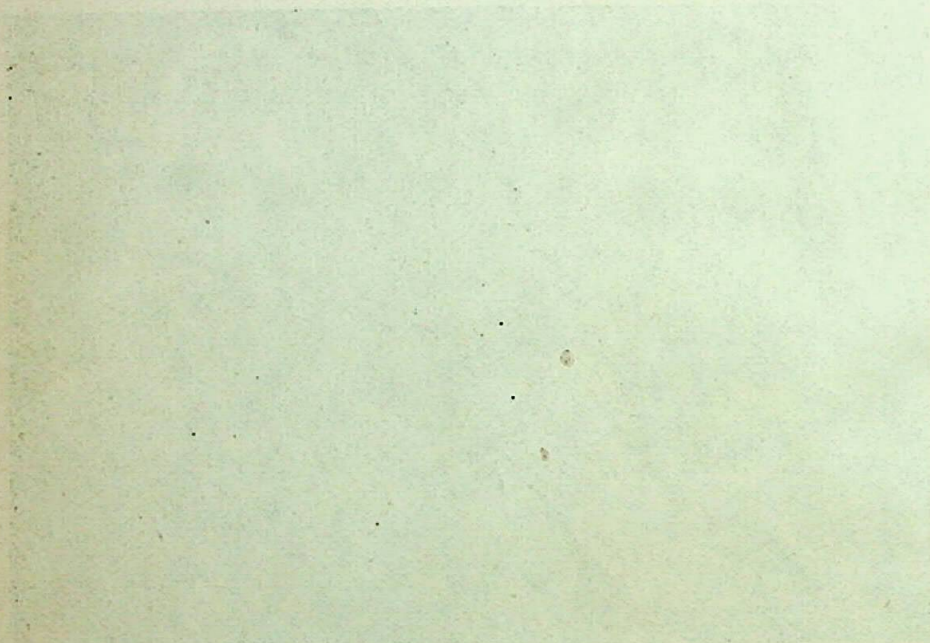
गिरो गुरूणाम्

मैंने डॉ० वेदव्रत के शोध-प्रवन्ध—'संस्कृत-सूक्तियों-लोकक्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' को देखा और उसे पढ़कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। इस प्रबन्ध में संस्कृत-काव्य का प्रतिनिधित्व करने के लिए कवियों का चयन सही हुआ है। भास से माघ तक का यह काल संस्कृत की आत्मा को भी भली-भांति प्रतिबिम्बित करता है।

इस प्रबन्ध के पढ़ने से यह सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने उन विषयों पर प्रकाश डाला है, जिन पर अभी तक कोई विशेष कार्य नहीं हुआ था। मेरे लिए यह भी एक हर्ष का विषय है कि इस ग्रन्थ की रचना कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में हुई, जहां मैं पर्याप्त काल तक संस्कृत-विभाग का अध्यक्ष रहा हूं।

मुझे यह निश्चय है कि इस प्रबन्ध में वहुत-सी मौलिक समस्याओं पर विचार किया गया है। यह तथ्य न-केवल लेखक के गौरव को वढ़ाता है, प्रत्युत कुरुक्षेत्र विश्व-विद्यालय के लिए भी प्रशस्य है कि वहां से एक ऐसी कृति निकली जो संस्कृत जगत् में महत्त्व रखती है। लेखक ने सूक्ति-लोकोक्ति के अन्तःपक्ष का विवेचन करने में इंद-प्रथमतया कार्य किया है, जो अभिनन्दनीय है।

इस कृति के सन्दर्भ में मैं लेखक एवं कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय दोनों के प्रति अपना आभार स्वीकार करते हुए, लेखक के लिए एवं कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के लिए भी अपना आशीर्वाद और शुभकामनाएं प्रकट करता हूं।

—डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री
पूर्व-डीन, कला-संकाय, आगरा विश्वविद्यालय,
पूर्व-प्रोफ़ैसर संस्कृत, एवं
पूर्व-निदेशक, भारतीय-विद्या-संस्थान,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

डॉ० वेदव्रत का यह शोध-प्रबन्ध संस्कृत-साहित्य के लिए एक विशेष देन है। अन्य भाषाओं में इस प्रकार की कृतियां लिखी गई हों, यह कहना भी कठिन है। यहां सूक्ति-लोकोक्ति-साहित्य का विश्लेषण करके उसके विकास को समझा गया है। सूक्तियों के काव्य-पक्ष के विवेचन के साथ व्यक्ति और समाज पर होने वाले उनके प्रभाव को भी परखा गया है। सूक्तियों में निहित भाव के आधार पर तत्कालीन मानव-वृत्तियों का इसमें व्यापक समीक्षण हुआ है।

विविध प्रकार की संस्कृत-काव्यगत सूक्तियों-लोकोक्तियों का विभाजन करते हुए प्रत्येक विषय से सम्बद्ध उक्तियों में मानव-स्वभाव की गहनता, उपयोगिता तथा सामयिकता का विश्लेषण करना इसी ग्रन्थ का कार्य है। उदाहरणार्थ, 'समाज-संगठन' के अन्तर्गत 'वर्ण-व्यवस्था' तथा 'कुलीनता' आदि के सम्वन्ध में उपलब्ध सूक्तियों का हृदय-ग्राह्य निरूपण किया है; और ऐसे ही 'राज्य' तथा 'परिवार'-सम्बन्धी सूक्तियों का भी। आज समाज में महिलाओं का विशिष्ट महत्त्व माना जाता है, संभवतः इसी दृष्टि से यहां 'नारी'-सम्बन्धी सूक्तियों का पृथक् अध्ययन करते हुए नारी की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

मानव के विविध मनोभावों का विवेचन करते हुए उसकी धार्मिक धारणाओं तथा विश्वासों को दर्शाया गया है। इस सम्वन्ध में संस्कृत-साहित्य में जो कुछ भी उपलब्ध हुआ है, उसकी व्याख्या में मनोयोग से कार्य किया गया है। इसी प्रकार मानव की शाश्वत प्रवृत्ति 'प्रेम' का 'सौन्दर्य' के साथ सन्तुलन करते हुए मानव-स्वभाव के महनीय गुणों के विवेचन में सत्य, परोपकार, उदारता, गुणग्राहिता और सहिष्णुता जैसे सद्व्यवहारों का विशेष रूप से अध्ययन करके समाज में उनकी प्रतिष्ठा को आंका गया है।

इनके अतिरिक्त निन्दनीय विचारों और प्रभावों पर दृष्टिपात करते हुए 'व्यवहार-नीति' सम्बन्धी सूक्तियों की समीक्षा भी की गई है, जिनमें मानवीय व्यवहार एवं नीति के अधिकांश तथ्य उजागर हुए हैं।

यह शोधकृति संस्कृत-अध्येताओं के लिए तो अत्यधिक उपयोगी तथा हितकर हो ही सकेगी, सभी साहित्य-प्रेमियों के लिए भी एक सन्दर्भ-ग्रन्थ का काम देगी, ऐसी पूर्ण आशा और विश्वास है।

डॉ० श्रीनिवास शास्त्री, विद्यावारिधि, वेदान्त तीर्थ,
पूर्व-प्रोफ़ैसर, दयानन्दपीठ,
संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय।

संस्कृत सुभाषितों, लोकोक्तियों और सूक्तियों के अनेक संग्रह प्रकाशित हैं, जिनमें एफ़० डब्ल्यू थॉमस द्वारा सम्पादित 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय', पीटर पीटर्सन द्वारा सम्पादित वल्लभदेव की 'सुभाषितावली', कौशाम्बी द्वारा सम्पादित 'सुभाषित रत्नकोश'; 'सदुक्तिकर्णामृत' तथा 'सुभाषित-रत्न-भाण्डागार' जेकोब द्वारा सम्पादित व अनूदित 'लौकिकन्यायाञ्जलि', पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा द्वारा विरचित 'भुवनेश लौकिकन्यायसाहस्री', और 'लोकोक्तिरसकौमुदी', आर्येन्द्र शर्मा द्वारा सम्पादित 'सूक्तिमाला', रामजी उपाध्याय द्वारा सम्पादित 'संस्कृतसूक्ति-रत्नाकार' तथा मङ्गलदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित 'सुभाषितसप्तशती', प्रमुख हैं। इन संग्रहों से सूक्तियों, लोकोक्तियों और सुभाषितों की संस्कृत साहित्य में स्फीतता, सटीकता तथा लोकप्रियता सिद्ध होती है।

वास्तव में सूक्ति, लोकोक्ति, सुभाषित, कहावत और मुहावरे प्रत्येक समाज तथा साहित्य में घुलमिलकर उस समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा विचार-परम्परा की अभिव्यक्ति करते हैं। ये कालक्रम से किसी एक साहित्य और समाज में अति प्रिय होते-होते दूसरे साहित्य और समाज में प्रवेश कर जाते हैं। इधर पिछले तीस-चालीस वर्षों में हिन्दी के कुछ विद्वानों ने 'हिन्दी मुहावरों' पर बहुत अच्छा काम किया है। इनमें रामदहन मिश्र के हिन्दी मुहावरे रामचन्द्र वर्मा की 'अच्छी हिन्दी में क्रियाएं और मुहावरे,' उदयनारायण तिवारी के 'भोजपुरी मुहावरे' और ओमप्रकाश गुप्त की 'मुहावरा मीमांसा' प्रमुख ग्रन्थ हैं। इन लेखकों ने हिन्दी मुहावरों के उद्गम तथा विकास को ढूंढते हुए संस्कृत के प्रभाव को भी ढूंढा। ओमप्रकाश गुप्त ने संस्कृत मुहावरे तथा तत्प्रसूत भाषाओं पर उनके प्रभावों को ढूंढते हुए ऋग्वेद से लेकर श्रीमद्भगवद् गीता, उपनिषदों, वाल्मीकि रामायण तथा लौकिक संस्कृत साहित्य के कुछ अतिप्रसिद्ध उदाहरणों का विश्लेषण भी किया था। ओमप्रकाश गुप्त की 'मुहावरा मीमांसा' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से १९६० में प्रकाशित हुई थी, और इधर यह पिछले तीन दशकों में बहुचर्चित रही है। इस पुस्तक में उन्होंने यह समस्या उठाई थी कि संस्कृत साहित्य में मुहावरों की प्रचुरता होते हुए भी लक्षणग्रन्थों अथवा कहीं अन्यत्र उनको स्थान क्यों नहीं दिया गया। इन्हीं दिनों गयाप्रसाद शुल्क ने ब्रह्मस्वरूप दिनकर शर्मा की 'हिन्दी मुहावरे' नामक पुस्तक पर 'दो शब्द' लिखते हुए यह धारणा प्रकट की थी कि ग्रीक, लेटिन तथा संस्कृत जैसी प्राचीन भाषाओं में मुहावरों की न्यूनता थी और इसका मुख्य कारण यह था कि ये भाषा-भाषी विशेषाध्ययन में लगे थे। कुछ विद्वानों ने यह भी कहा था कि संस्कृत में मुहावरे हैं ही नहीं और संस्कृत में मुहावरे के लिए

पर्यायवाचक शब्द ढूंढना चाहिए।

जैसा कि मैंने ऊपर बताया है संस्कृत के क्षेत्र में सूक्ति, लोकोक्ति तथा सुभाषित के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए थे, किन्तु इनके आधुनिक पद्धति से विश्लेषण का अभाव विद्वानों को खटकता था। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि प्रस्तुत 'संस्कृत सूक्तियों-लोकोक्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' नामक पुस्तक में डॉ० वेदव्रत ने इस अभाव की पूर्ति की है और इस विषय के प्रेमी हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं के विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। सूक्ति के अर्थविकास, स्वरूप, परिभाषा तथा क्षेत्र का विश्लेषण करते हुए लेखक ने लोकोक्तियों के स्वरूप, उसकी शैलीगत, भाषागत, विषयगत तथा क्षेत्रगत विशेषताओं को सोदाहरण स्पष्ट किया है। प्रस्तुत विवेचन तथा विश्लेषण में लेखक ने हिन्दी तथा अंग्रेजी साहित्य के लेखकों से भी पर्याप्त सहायता ली है, और कई जगह संस्कृत सूक्तियों तथा लोकोक्तियों की हिन्दी तथा अंग्रेजी के मुहावरों से तुलना की है। मुझे प्रस्तुत पुस्तक में ओमप्रकाश गुप्त जी की मुहावरा मीमांसा के उदाहरण कहीं नजर नहीं आऐ। संभव है मेरी आंख से इसके उद्धाहरण बच गए हों। यद्यपि लेखक ने अपने अध्ययन के क्षेत्र को भास से माघ तक के चुने हुए कुल ग्यारह संस्कृत कवियों के काव्य तक सीमित रखा है, तथापि पृष्ठभूमि में वैदिक साहित्य का भी पर्याप्त उपयोग किया है। इन ग्यारह कवियों की रचनाओं में उपलब्ध सूक्तियों और लोकोक्तियों को सामाजिक, पारिवारिक, राजकीय, धार्मिक, दार्शनिक तथा मानवीय धारणाओं के साथ प्रेम, सौन्दर्य, स्वभावगत गुण-दोष आचार-विचार और व्यवहार नीति के परिपेक्ष्य में तोला गया है और उनका अत्यन्त रोचक व प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत सूक्तियों तथा लोकोक्तियों का सागोपांग विवेचन पहली बार प्रकाशित हो रहा है। संस्कृत सूक्तियों तथा लोकोक्तियों के विश्लेषण की कमी को प्रस्तुत पुस्तक पूरा करती है। परिशिष्ट में सूक्तियों तथा लोकोक्तियों के उपयोगी परिशिष्ट भी लगाए गए हैं। यह पुस्तक वास्तव में लेखक का पी-एच० डी० शोध-प्रबन्ध है। मुझे आशा है, कि प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध अन्यान्य छूटी हुई कड़ियों को भी लेखक अपने आगामी शोधकार्य में जोड़ेंगे। फिलहाल मैं डॉक्टर वेदव्रत को ऐसा सुन्दर तथा प्रामाणिक अध्ययन, सूक्तियों और लोकोक्तियों पर, प्रस्तुत करने के लिए हार्दिक बधाई देता हूं। मुझे विश्वास है कि हिन्दी तथा संस्कृत जगत् में इसका स्वागत होगा।

—डॉ० रसिकबिहारी जोशी
एम० ए० पी-एच० डी०, डी० लिट्, (पेरिस)
सीनियर प्रोफ़ैसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

डॉ० वेदव्रत की प्रस्तुत कृति संस्कृत-काव्यों की सूक्तियों एवं लोकोक्तियों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, यह इस प्रकार का पहला प्रयास है। सूक्तियाँ और लोकोक्तियाँ मन की गहराइयों से निकलती हैं, एवंच अनेक अनुद्घाटित तथ्यों को उद्घाटित करती हैं। कवि की क्रान्तदर्शिता जितनी अधिक इनके माध्यम से उभर कर सामने आती है उतनी और किसी से नहीं। सामान्यतः अर्थान्तरन्यास के रूप में इनका उपन्यास किया जाता है। सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन अर्थान्तरन्यास की विशेषता है। इसमें विशेष का जब सामान्य से समर्थन किया जाता है, तभी कवि सूक्तियों और लोकोक्तियों का आश्रय लेता है।

सूक्ति का अर्थ ही है 'सु उक्ति' सुन्दर वचन। और लोकोक्ति का अर्थ है लोक में प्रचलित उक्ति। सूक्ति और लोकोक्ति में यह अन्तर हो सकता है कि कदा-चित् सूक्ति कवि की अपनी उद्भावना पर आधृत हो। लोकोक्ति में कवि की इस उद्भावना के लिए वहुत कम स्थान रहता है। कवि उसे अपना अवश्य लेता है, अपने काव्य का अंग भी बना लेता है, अपने काव्य के समर्थन के लिए उसका उपयोग करता है; पर वह उसकी अपनी नहीं होती, वह तो लोक की होती है, सामान्यजन उसका व्यवहार करता है।

सूक्तियाँ और लोकोक्तियाँ वस्तुतः समाज का प्रतिबिम्ब हैं, विशेषकर लोकोक्ति। जिस समाज में लोग रहते हैं उसमें वे क्या सोचते हैं, उनका परिवेश क्या है, कैसा है, यह सब इनके माध्यम से अधिक प्रखर रूप से जाना जा सकता है। सूक्तियां कवियों की स्वोपज्ञ होने पर भी कविकालीन मान्यताओं की परिचायिकाएं होती हैं। जिस काल में कवि लिख रहा होता है उस काल का प्रभाव उस पर पड़ता ही है। उसका चिन्तन उससे अस्पृष्ट नहीं रह सकता। अतः समकालीन सामाजिक परि-स्थितियों का चित्रण इनके द्वारा अनायास ही हो जाता है। लोकोक्तियां यद्यपि सामान्य प्रचलित उक्तियां होती हैं, फिर भी किसी काल-विशेष से भी इनका सम्बन्ध होता है। इस प्रकार सूक्तियों और लोकोक्तियों के माध्यम से जीवन के मूल्यों को पहचाना जा सकता है। मूल्य भी—शाश्वत मूल्यों की बात और है—समय-समय पर बदल सकते हैं, बदलते हैं। उनकी जानकारी के लिए इनका अध्ययन सुतरां अपेक्षित है। एक काल विशेष का मानव क्या सोचता है, किस-किस प्रकार की उसकी धार-णाएं हैं, आस्थाएं हैं, किन-किन मूल्यों को उसने अपना रखा है, यह तब तक विशदरूप से नहीं जाना जा सकता जब तक कि उसके मन में झांक कर न देखा जाए। यह सूक्तियों और लोकोक्तियों के माध्यम से अत्यन्त सरलतया संभव हो जाता है। इस दृष्टि से इनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन नितान्त अपेक्षित है, और इसी अपेक्षा की पूर्ति

करती है प्रस्तुत कृति ।

डॉ० वेदव्रत ने इसमें ग्यारह प्रख्यात संस्कृत कवियों की सूक्तियों और लोकोक्तियों को सूक्ष्मेक्षिका से निरखा-परखा है । कवियों की कृति का उन्होंने गहन अध्ययन व मनन किया, तथा उनकी सूक्तियों व लोकोक्तियों का स्वयं संचयन कर विश्लेषण किया है । तदर्थ उन्होंने जो वर्गीकरण अपनाया है वह भी अत्यन्त वैज्ञानिक प्रतीत हुआ । तत्कालीन समाज एवं संस्कृति के अध्ययन की दिशा में यह एक अत्यन्त सराहनीय प्रयास है, जो कि पूर्णतः प्रामाणिक सामग्री पर आधारित है ।

प्रस्तुत कृति संस्कृत अध्ययन के क्षेत्र में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करती है एवंच उसके लिए एक नया आयाम उद्घाटित करती है । अपने ढंग का यह पहला प्रयास है जो शोध के क्षेत्र में भी एक नई दिशा प्रस्तुत करता है । निश्चय ही भावी शोधार्थियों के लिए यह सन्दर्भ ग्रन्थ का कार्य करेगा ।

डॉ० वेदव्रत में मानव जीवन तथा कवि भावनाओं की गहरी समझ है, तथा विषय को सम्यक् प्रतिपादन करने की अपूर्व क्षमता । मुझे पूर्ण विश्वास है कि विद्वज्जन द्वारा इस कृति का समुचित समादर होगा । संस्कृत काव्यों के पाठक विद्यार्थीगण भी इससे बहुत लाभान्वित हो सकेंगे । मैं डा० वेदव्रत को इस सफल कृति पर साधुवाद देता हूं और आशा करता हूं कि शीघ्र ही इस प्रकार की अनेक सुन्दर रचनाएं उनकी लेखनी से प्रसूत होंगी ।

—डॉ० सत्यव्रत शास्त्री
प्रवर आचार्य संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली;
पूर्व विजिटिंग प्रोफ़ेसर
भारतीय अध्ययन विभाग,
चुलालोंग कोर्न विश्वविद्यालय, बैंकाक;
पूर्व कुलपति, सं० वि० वि० पुरी;
राष्ट्रपति-सम्मानित संस्कृत-विद्वान् ।

पुरोवाक्

कोई चौथाई शताब्दी-पूर्व एम० ए० की परीक्षा के लिए 'कादम्बरी' का श्री करमाकर-सम्पादित संस्करण देखने में आया। इसके परिशिष्ट रूप में सुभाषितों का संग्रह किया गया था। यूँ तो 'सुभाषित-सुधा-रत्न-भाण्डागार' जैसा विशाल संकलन और भी पहले देख चुका था, पर अब एक नई बात हुई। पढ़ते-पढ़ते सुभाषित प्रतीत होने वाले वाक्यों को चुनना और परिशिष्ट से मिलाना एक रोचक खेल-सा लगने लगा था। फिर अन्य पुस्तकें पढ़ते समय भी कभी-कभी यही प्रवृत्ति जाग उठती, और यदि उसमें सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन रहता तो उससे तुलना भी कर लिया करता था। शनै -शनैः मेरा सूक्ति-प्रेम बढ़ता गया।

किन्तु अनेक पुस्तकों के सुभाषितों या सूक्ति-संकलनों में दिये वाक्यों को सुभाषित या सूक्ति मानने का कोई निश्चित आधार समझ नहीं आता था। जो मुख्य आधार मैंने समझा वह था —'वाक्य की सामान्यात्मकता, और अधिकांशतः नवीन संकलनों में यह सही उतरता था। फिर कुछ संग्रहों में इस आधार का पूर्ण पालन नहीं मिला। वे अनेक बार वर्णनात्मक पदों को भी प्राचीन सुभाषित संग्रहों के समान काव्य-सौष्ठव के कारण सुभाषित ही मान लेते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी ऐसे वाक्यों या वाक्यांशों को भी सुभाषितों में स्थान दे देते हैं जो केवल मुहावरेदार भाषा से युक्त होते हैं, या केवल परम्परागत वाक्यांश-मात्र होते हैं। मेरे मन में इनके लिए कोई निश्चित और युक्तिसंगत आधार खोजने की इच्छा थी। इसलिए कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में अनुसन्धान का अवसर मिलने पर सूक्तियों से सम्बद्ध विषय को ही उपयुक्त समझना मेरे लिए स्वाभाविक था।

काव्यों के जितने भी 'सामान्यात्मक' वाक्य मेरे सामने आए, उनमें अभिव्यक्त तथ्यों का सम्बन्ध अनिवार्यतः मानव-जीवन से जुड़ा हुआ दिखाई दिया। साथ ही, यह भी प्रतीत हुआ कि ऐसे सभी वाक्यों में पूरे सूक्ति-गुण हों ऐसा सर्वदा आवश्यक नहीं होता, यद्यपि काव्य का अंग होने के नाते 'भाषा-सौष्ठव' उनमें प्रायः बना रहता है। सूक्ति-पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए उनमें 'सारवत्ता' और 'संक्षिप्तता' के साथ-साथ 'अर्थ की पूर्णता' भी अपेक्षित है, यह तथ्य भी धीरे-धीरे स्पष्ट होता गया।

सूक्ति-सृजन का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि साहित्य। वैदिक साहित्य से लेकर आज तक सभी भाषाओं के साहित्य की प्रत्येक विधा में सूक्ति-सुमनों का स्वतः स्वाभाविक गुम्फन होता रहा है। फिर भी यह ध्यातव्य तथ्य है कि कोई साहित्यकार केवल सूक्ति-परक रचना में प्रवृत्त नहीं हुआ करता। इस प्रवृत्ति का अपवाद किसी मुक्तक-कवि में अवश्य देखा जा सकता है। आपाततः उसकी कोई रचना पूर्णतः सूक्तिमय प्रतीत भी हो सकती है, जैसे भर्तृहरि का 'नीतिशतक'।

उसमें सूक्ष्मेक्षिका द्वारा सार-पूर्ण सूक्तियों को उनके विस्तार से पृथक् छांटना कुछ विशेष कठिन भी नहीं है। यह ठीक है कि इस विस्तार में सटीक उदाहरण, दृष्टान्त या विशेष वर्णन आदि द्वारा सूक्ति का भाव ही सुभाषित रूप में व्याख्यायित या विशदीकृत हुआ रहता है; तथापि संक्षिप्तता व सारवत्ता की अनिवार्य अपेक्षा विद्यमान रहने से इन विस्तारपूर्ण अंशों को सूक्ति-वाह्य मानना भी अनुचित न होगा। इस कथन के समर्थन में भर्तृहरि की एक सूक्ति—'न तु प्रतिनिविष्ट-मूर्ख-जन-चितमाराधयेत्'—पर्याप्त होगी जिसे उन्होंने आवृत्तिपूर्वक दो श्लोकों में[1] समझाया है।

इसी प्रकार उपदेशात्मक, नीतिपरक अथवा गीतिपरक रचनाओं का बहुत-सा अंश सूक्तिपरक होने पर भी शुद्ध सूक्त्यात्मक न होकर 'मुक्तक काव्य' ही होती है।[2] जैसे भर्तृहरि में गीत्यात्मकता होने पर भी[3] सूक्त्यात्मकता से अधिक नीत्यात्मकता व उपदेशात्मकता प्रमुख है, वैसे ही हाल को 'गाथा-सप्तशती' सरीखे मुक्तक-काव्यों में विषय-बन्धन से मुक्त शोभन-वर्णन प्रधान स्वतन्त्र छन्दों की रचना-दृष्टि दीख पड़ती है सूक्ति-सृष्टि कीं नहीं। इसका कारण है। सूक्ति संकल्पज होने के स्थान पर स्वतः-स्फुरित हुआ करती है। फलतः सूक्तियां सरस काव्य में और अन्य रचनाओं में भी यत्र-तत्र अनायास बिखरी हुई हैं। उनका संग्रह अवश्य किया जा सकता है, और किया भी गया है—न केवल स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में, काव्य-कृतियों के परिशिष्ट रूप में भी।

संस्कृत में सुभाषित-संग्रहों का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। परन्तु यह कहना आसान नहीं कि कौन-सा संग्रह सर्वाधिक प्राचीन है। ऐसे संग्रहों का विवेचन विविध इतिहासकारों ने[4] अवश्य किया है, किन्तु उनकी कुल संख्या का निश्चित निर्धारण अशक्य है। डॉ० लुडविग ने अपने पत्र में ४३ संग्रहों का उल्लेख[5] किया है, पर यह संख्या अन्तिम नहीं कही जा सकती। इनमें ३३ संग्रहकारों ने अपने संग्रह को 'सुभाषितों' का संकलन कहा है, तो शेष १० ने 'सूक्तियों' का। कुछ एक संचय 'सदुक्ति' शब्द का प्रयोग भी करते हैं, जैसे 'सदुक्ति-कर्णामृत'। इनमें से प्रस्तुत प्रबन्ध में 'सूक्ति' शब्द अपनाने की उपयुक्तता को आगे[6] स्पष्ट कर दिया गया है। पहले से विद्यमान इन सूक्ति-संकलनों को आधार वनाना सूक्तियों के अध्ययनार्थ उचित नहीं था, क्योंकि उनमें संग्रहकारों का अपना-अपना दृष्टिकोण रहा है। सूक्ति का कोई

१. नीति० ४, ५
२. 'नीति-काव्यों' और 'मुक्तक' से सूक्ति' का भेद देखिए—आगे पृ० ४४-६
३. इतिहास के कुछ विद्वान् भर्तृहरि के शतकों को गीतिकाव्य के अधिक निकट मानते हैं। देखिए—A History of Sanskrit Literatu re, S. N. Das Gupta and S. K. De, Vol. I, p. 194
४. देखिए—M. Winternitz, A History of Indian Literature, Vol. 3, p. 172 तथा—ए० बी० कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास, अनु० डॉ० मगलदेव
५. Dr. Ludwik sternbach, Newyork, letter Dt. 28 February, 1965
६. देखिए—आगे पृ० ४३

सुनिर्धारित मापदण्ड उनके समक्ष उपस्थित नहीं लगता। जैसा कि श्री विन्टरनिट्ज ने बताया है, उनमें तो 'अनेक सूक्तियां और गीतिपरक पद प्राप्त होते हैं।'[1] जिस प्रकार की सामान्यात्मक और तथ्यपरक उक्तियों से मानव-जीवन के मर्म को समझा जा सकता है, संस्कृत काव्य में से केवल वैसी सूक्तियों का चयन स्वयं करना मेरे लिए आवश्यक हो गया। और इसीलिए, सूक्ति-संग्रहों का विवेचन करना प्रस्तुत अध्ययन-क्षेत्र से वाहर हो गया। तथापि सूक्ति के स्वरूप को समझने के लिए सूक्ति-संग्रहकारों की दृष्टि को पहचानने का कुछ प्रयास यहां अवश्य किया गया है।

काव्य में प्रयुक्त सभी सूक्तियों के विषय में सामान्य रूप से यह कहना उचित न होगा कि वे मूलतः भी कवि की स्वरचित ही होती हैं। कारण, उनमें कभी-कभी किन्हीं अज्ञात परन्तु तत्कालीन लोक-प्रचलित उक्तियों (लोकोक्तियों) का परिष्कार करके या उसी रूप में समावेश हो जाया करता है।[2] आगे चलकर उसकी अपनी सूक्ति भी कवि-सामर्थ्यवश लोकोक्तिवत् प्रचलित हो जाती है, यह तो सुविदित ही है। इसी हेतु, स्पष्टता एवं औचित्य के विचार से प्रस्तुत विवेचन को 'सूक्तियों-लोकोक्तियों' दोनों का माना जा रहा है। हां, प्रबन्ध में प्रत्येक स्थल पर दोनों शब्दों को रखना निश्चय ही अपेक्षणीय नहीं था।

संस्कृत काव्य के प्रायः सभी कवियों ने सूक्तियां दी हैं। भगदत्त जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' में पौने दो सौ (या १७४) सूक्तिकारों के नाम हैं तो 'सूक्तिमाला' की कविनामानुक्रमणी में २९६ नाम गिनाए गए हैं। इन परिगणित कवियों के अतिरिक्त भी अनेक अज्ञात कवियों की सूक्तियां वहां उद्धृत हैं। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य का विशाल प्रांगण सुक्तिकारों से भरा हुआ है, और उसका सूक्ति-भण्डार अत्यन्त समृद्ध है। एक प्रबन्ध की सीमाओं को देखते हुए इनमें से बहुपठित लोकप्रिय ग्यारह प्रतिनिधि कवियों को चुना गया है, जिसका कारण 'विषय प्रवेश' में यथास्थान[3] स्पष्ट कर दिया गया है।

इन ग्यारह कवियों की उपलब्ध रचनाओं में से सामान्यात्मक वाक्य चुनकर, उनमें से सूक्ति-गुणों (विशेषतः, शोभनत्व भाषा-सौष्ठव और संक्षिप्तता) से युक्त पूर्णार्थ-वान् वचनों का ही विश्लेषण यहां किया गया है। इस प्रकार यद्यपि प्रत्येक कवि-एकादश की सभी सूक्तियां इस प्रबन्ध में सम्मिलित हैं; तथापि व्यक्तिगत सीमाओं के फलस्व-रूप कोई सूक्ति छूट गई हो, या सूक्ति-गुणों के अभाव में भी ले ली गई हो, ऐसी संभावना को नकारा भी नहीं जा सकता। विवेचित कवि, कृतियों व सूक्तियों की क्रमिक संख्या एवं उनका स्थान[4] इस प्रकार हैं—

1. "Numerous sayings and lyrical verses are to be found in the anthologies"—A History of Indian Literature, Vol. 3, p. 182
२. देखिए आगे पृ० ३१-३४
३. देखिए—आगे पृ० ५९-६१
४. सूक्ति-विषयों का भी विवरण दे०—आगे परिशिष्ट—१, इनके काल-क्रम का निर्धारण देखिए—आगे पृ० ६०

क्रम	कवि	:	कृति-संख्या	:	सूक्ति-संख्या	: स्थान
१.	भास	:	१३	:	२१९	: द्वितीय
२.	अश्वघोष	:	२	:	१२९	: सप्तम
३.	कालिदास	:	७	:	३४०	: प्रथम
४.	शूद्रक	:	१	:	१०७	: अष्टम
५.	विशाखदत्त	:	१	:	५७	: दशम
६.	भारवि	:	१	:	१४३	: चतुर्थ
७.	बाणभट्ट	:	२	:	१९८	: तृतीय
८.	हर्ष	:	३	:	३८	: एकादश
९.	भर्तृहरि	:	३	:	१३३	: षष्ठ
१०.	भवभूति	:	३	:	९१	: नवम
११.	माघ	:	१	:	१४०	: पञ्चम
	कुल योग	:	३७	:	१५९५	

सूक्ति का आशय स्पष्ट करने के लिए जहां उसका काव्यगत प्रसंग आवश्यक है, वहां उसे प्रबन्ध में ही दे दिया गया है। कहीं-कहीं प्रसंग का महत्त्व कम होने पर उसे संदर्भ-संकेत के साथ जोड़ दिया गया है। जहां प्रसंग पर ध्यान न देने पर भी सूक्ति के अर्थ और भाव में कोई अन्तर आता प्रतीत नहीं हुआ, वहां उसे छोड़ दिया गया है। हां, कभी-कभी उद्धरण स्थल ढूंढ़ने में सरलता की दृष्टि से भी प्रसंग देने का लोभ संवरण नहीं हो सका है। टिप्पणी में प्रसंग देते समय लाघव के लिए संकेत मात्र किया गया है।

सभी स्थलों पर सूक्ति का सरलार्थ अनिवार्यतः दिया गया है। केवल प्रथम परिच्छेद **'विषय-प्रवेश'** में सूक्तियों का अर्थ न देने का कारण यह है कि वहां वे केवल स्वरूप-विवेचन के लिए रखी गई हैं, व्याख्या की दृष्टि से नहीं; और फिर उनका अर्थ व भाव-विवेचन अगले परिच्छेदों में यथास्थान हो गया है।

कई बार एक ही छन्द या पद में अनेक सूक्तियां होती हैं। ऐसी स्थिति में विषय-भिन्नता होने पर उन्हें पृथक्-पृथक् सूक्ति के रूप में स्वीकारा गया है। परन्तु यदि किसी पद में एक ही विषय है तो उसकी अनेक सूक्तियों को पृथक् न करके, एक ही गिनते हुए भी उद्धरण चिन्हों से पार्थक्य दर्शाया गया है। यथा —

'भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैर्,' 'नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।'
'अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः, स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥'[1]
'दाक्षिण्यमौषधं स्त्रीणां,' 'दाक्षिण्यं भूषणं परम्।'
'दाक्षिण्यरहितं रूपं निष्पुष्पमिव काननम् ॥'[2]

गद्य-कवि बाणभट्ट की सूक्तियों का सन्दर्भ उनकी दोनों कृतियों में भिन्न प्रकार से रखा गया है। कादम्बरी में तो पृष्ठ संख्या के साथ प्रसंग का भी उल्लेख किया है। किन्तु

१. शाकु० ५।१२, तथा आगे पृ० २८७
२. बुद्ध० ४।७०, तथा आगे पृ० २९२

हर्षचरित में निर्णय सागर प्रेस के सन् १९३७ के संस्करण की पृष्ठ व पंक्ति दे दी गई है।

नाटकों की गद्य-सूक्तियों का संकेत देने के लिए अंक और श्लोक की संख्या के बाद '—' ऐसा भेदक चिह्न लगाकर वक्ता का नाम दिया गया है। उदाहरणार्थ, 'मृच्छ० ४/३२—वसन्तसेना' का अर्थ हुआ—'मृच्छकटिक के चौथे अंक में बत्तीसवें श्लोक के पश्चात् वसन्तसेना का कथन।' सुलभ होने पर श्लोक के बाद की पंक्ति-संख्या या अंक की सन्दर्भ संख्या भी दे दी गई है।

नाटकों में प्राप्य प्राकृत-सूक्तियों के संस्कृत-रूपान्तरका ही उपयोग किया गया है। उनका प्राकृत-रूप यहां अध्ययन का विषय न होने के कारण छोड़ देना ही उचित समझा गया।

सूक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली तत्त्व है—उसमें अभिव्यक्त मानव-जीवन-सम्बन्धी तथ्य। मानव-जीवन स्वयं में इतना अनन्त है कि उससे सम्बद्ध तथ्यों का वैविध्य और वैशद्य कभी पूर्णतः जाना हुआ नहीं कहा जा सकता। फिर सूक्तियों में उसके सांगोपांग उल्लेख की आशा कैसे की जा सकती है ? हां, जीवन के जिस अंग को जिस दृष्टि से और जितने अंश में कोई सूक्ति छूती है, उसका उसी दृष्टि से और उतना ही विवेचन किसी गवेषणात्मक निबन्ध में सम्भव है। प्रस्तुत प्रबन्ध भी इस सीमा का पालन करता है।

सूक्ति में अभिव्यक्त तथ्यों के अतिरिक्त उनके प्रति सूक्तिकार की भावना भी अन्तर्निहित रहती है, जो कथा-प्रसंग और पात्र-विनियोजन आदि द्वारा पहचानी जा सकती है। सूक्तिगत तथ्य और तत्प्रेरक भावना का अन्वेषण मानव-प्रकृति को समझने और सूक्तिकार की अनुभूति और प्रतिक्रिया को जानने में सहायक होता है। इस दृष्टि से सूक्तियों के विचार और भाव के प्रति मनोविश्लेषणात्मक प्रक्रिया द्वारा ही यह जिज्ञासा भी शान्त होती है कि किसी सूक्ति को कहने के लिए सूक्तिकार किन भावनाओं से प्रभावित है, और उसका उद्देश्य क्या है। प्रस्तुत अध्ययन में सूक्तियों के वैचारिक समीकरण के कारण सूक्तिकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण स्वतः संभव हो गया है। ऐसा पदे-पदे देखा जा सकता है। — 'कुलीनता' के विषय में बाणभट्ट की दोनों रचनाओं में परस्पर-विरोधी विचार और उनका विश्लेषण[1] प्रस्तुत प्रबन्ध की मनोवैज्ञानिकता का एक उपयुक्त उदाहरण है।

मानव-जीवन एवं मानव-प्रकृति से सम्बद्ध होने के कारण सूक्तियों के अध्ययन में कई काठिन्य उपस्थित होते हैं। प्रथमतः, किसी सूक्ति को मानव-जीवन के किसी एक अंग से जोड़ना या उस पर किसी तत्त्व-विशेष का ही प्रभाव परिलक्षित करना अनुचित है। कारण, मानव-जीवन अत्यन्त संश्लिष्ट है, और उसका निश्चित विभाजन असंभव सा है। मोटे रूप में मानव-जीवन के दो विभाग किये जाते हैं—अन्तःपक्ष और बाह्य-पक्ष।

१. देखिए—आगे पृ० ८७, ८८

किन्तु क्या इन्हीं को एक-दूसरे से पृथक् कर पाना सम्भव है? वस्तुतः ये दोनों अंग भी अन्योन्याश्रित ही नहीं, 'परस्परं भावयन्तः' को मानकर अन्योन्य को सतत प्रभावित करते रहते हैं। मानव-भावनाओं से गहरे तक जुड़ी सूक्तियां भी इस प्रभाव को ग्रहण करती हैं। प्रस्तुत अध्ययन के सूक्ति-वर्गीकरण को इसी परिप्रेक्ष्य में स्वीकार करना चाहिए। यहां विभाजन का प्रयास इसी आधार पर किया गया है कि सूक्ति-विशेष में जीवन का कौनसा पहलू अधिक उभरा हुआ है। कोई आश्चर्य नहीं यदि उनके पारस्परिक सम्बन्ध और प्रभाव के फलस्वरूप किसी अंग-विशेष की वर्गीकृत सूक्ति में किसी अन्य अंग की भी झलक मिले।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, संस्कृत-सूक्तियों का या लोकोक्तियों का[1] भी केवल संग्रह ही किया गया है। कहीं-कहीं उनका अर्थ-निर्देश भी मिलता है, तथापि उनके आधार पर कोई क्रमबद्ध अध्ययन नहीं किया गया है। अन्य भाषाओं में भी लोकोक्तियों का अनेक दृष्टियों से विवेचन[2] अवश्य हुआ है, किन्तु सूक्तियों का ऐसा कोई अध्ययन-विश्लेषण आज तक अज्ञात है। इन तथ्यों के रहते इस 'संस्कृत-सूक्तियों-लोकोक्यियों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' को अपने ढंग का सर्वप्रथम प्रयास कहना उचित ही है और इसे गुरुजन ने भी[3] स्वीकार किया है।

अपने अध्ययन में मौलिकता का दावा करना 'छोटे मुंह बड़ी बात' होगी। तथापि इसमें निश्चयेन कतिपय नवीनताएं और विशिष्टताएं हैं, जो शोधात्मक उपलब्धियों के रूप में स्वीकरणीय हैं। संक्षेप में यहां उनका संकेत करना वांछनीय है:—

१. प्रस्तुत प्रबन्ध में पहली बार संस्कृत के ग्यारह मूर्धन्य और प्रतिनिधि कवियों की सूक्तियों के आधार पर उनके भावों विचारों की तुलनात्मक समीक्षा हुई है। अभी तक किसी एक का सामान्य अध्ययन या किन्हीं दो की ही विविध दृष्टियों से तुलना की जाती रही है।
२. कवि-एकादश की सूक्तियों के विषयानु-विवेचन में प्रत्येक सूक्तिकार के योगदान का मूल्यांकन हर परिच्छेद के निष्कर्ष में प्रस्तुत हुआ है। इसके अतिरिक्त उपसंहार में तथा प्रथम परिशिष्ट में यह निर्धारित करने का प्रयास हुआ है कि कोई सूक्तिकार अपनी सूक्तियों द्वारा

१.—डॉ० आर्येन्द्र शर्मा, 'सूक्तिमाला',
यथा—'सस्कृत-लोकोक्ति-सुधा', जगदम्बा शरण, श्री अजन्ता प्रेस लि०, पटना, १९५०
—डॉ० रामजी उपाध्याय, 'संस्कृत-सूक्ति-रत्नाकर'
—मंगलदेव शास्त्री, 'सुभाषित-सप्तशती'
२. 'राजस्थानी कहावतें: एक अध्ययन', डा० क० ला० सहल,
—'Raeial proverbs', Champion
—'Bihar proverbs, John christian, Kegan Paul, London, 1891.
—'Marathi proverbs', A Munwaring, Clarendon Press, oxford, 1899
३. देखिए—पूर्व में 'गिरो गुरूणाम्' में विद्वज्जन के आशीर्वचन

किस-किस विषय को छूता है, और किसे कितना महत्त्व देता है।

३. इस प्रबन्ध में सूक्ति के बुद्धि-संगत स्वरूप-निर्धारण का प्रयास हुआ है, (पृ० ३१-३७) और सूक्ति को पहली बार एक निश्चित परिभाषा में (पृ० ३७) बांधा गया है।

४. सूक्ति का लोकोक्ति, सुभाषित, ऐपोफ्थैम, सूक्त, सूत्र, नीति-वाक्य, मुक्तक-चित्र-काव्य, लोकन्याय, मैग्ज़िम, वक्रोक्ति व छेकोक्ति से अन्तर (पृ०३७-४८) पहली बार स्पष्ट किया गया है।

५. सूक्तियों के कलापक्ष को सोदाहरण निरूपित करते हुए (पृ०४८-५३) उनके काव्यत्व के प्रश्न का समाधान (पृ० ५३-५५) खोजा गया है।

६. सूक्ति को प्रभावित करने वाले परम्परा, वातावरण और कवि व्यक्तित्व के नियामक कारणों एवं आधारों का आकलन (पृ० ५५-५६) किया गया है।

७. नवीन मनोवैज्ञानिक व्याख्या के आधार पर सूक्तियों को मानव-जीवन के जिन दस अंगों के चित्रण में यथास्थान व्यवस्थित किया गया है, वे हैं:— 'समाज संगठन; राजा और राज्य; परिवार; नारी; मानव स्वभाव; धार्मिक धारणाएं और विश्वास; महनीय गुण, स्वभाव और आचार; निन्दनीय दोष, स्वभाव और आचार; व्यवहार एवं नीति' (पृ० ७६-४०८)। मानव-जीवन के इस चित्र को पर्याप्त विशद और समग्ररूपेण प्रस्तुत करने में सूक्तियों की विपुलता और विविधता बहुत सहायक रही है।

इस प्रकार का यह नवीन अध्ययन न केवल अपने आप में रोचक है, अपितु तत्कालीन मानव के जीवन और प्रवृत्तियों की झांकी देने के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक दृष्टि से साहित्य के विश्लेषण की नई पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत करता है। कवियों के साहित्यिक महत्त्व पर भी इससे नूतन प्रकाश पड़ता है।

यह अध्ययन विविध युगों के संस्कृत-साहित्य की सूक्तियों के समालोचनात्मक एवं तुलनात्मक विवेचन का पथ तो प्रशस्त करता ही है, आधुनिक भारतीय भाषाओं और विश्व-भाषाओं की सूक्तियों के साथ उनके सन्तुलन का द्वार भी उद्घाटित करता है। शैक्सपीयर की सूक्तियों और हिन्दी कहावतों को यत्र-तत्र तुलनार्थ उद्धृत करके इस दिशा में प्रारभिक सूत्रपात भी कर दिया गया है।

आभार-स्वीकृति

इस कार्य को सम्पन्न करने में जिन संस्थाओं और व्यक्तियों से सहायता मिली उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए मुझे हार्दिक आनन्द हो रहा है, विशेषतः कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के प्रति, जिसने मुझे छात्रवृति देकर आर्थिक निश्चिन्तता प्रदान की; उसके संस्कृत-विभाग और पुस्तकालय के प्रति, जहां मुझे अध्ययन की सुविधाएं सुलभ हुईं; और दिल्ली की आर्क्योलॉजिकल लाइब्रेरी के प्रति, जिसने यथासमय अध्ययन की अनुमति दी।

कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, जिन्होंने इस कार्य की रूप-रेखा ही मुझे स्पष्ट की थी, सौभाग्य से आज स्वयं रोपे हुए इस पौधे को फलता-फूलता देखकर प्रसन्न हो सके, उन्हें मेरा सादर प्रणाम। उनके पश्चात् अध्यक्षपद का कार्य-भार संभालने वाले डॉ० शिवराज शास्त्री द्वारा प्रदत्त निष्पक्ष समीक्षा-दृष्टि का पाठ और डा० सूर्यकान्त की स्नेह-समीक्षा भी मेरे लिए साभार स्मरणीय है। यहीं डॉ० बुद्धप्रकाश जैसे प्रखर इतिहासवेत्ता से सम्पर्क और परामर्श हुआ जिसे भुलाना असंभव है।

श्रद्धेय गुरुवर डॉ० श्रीनिवास शास्त्री को मेरा नमन, जिनके विद्वत्तापूर्ण सतत जागरूक और सदा सुलभ निर्देशन, निश्छल और निष्काम उदारता एवं स्नेहसिक्त प्रोत्साहन के बिना यह कार्य ही संभव न होता। दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभागाध्यक्ष डा० रसिक बिहारी जोशी ने इस कृति का आद्योपान्त सूक्ष्म निरीक्षण कर और साधुवाद देकर अपनी सहृदयता और आत्मीयता से मुझे दृढ़ सम्बल प्रदान किया है। पूर्व-अध्यक्ष, राष्ट्रपति पुरस्कृत विद्वान डॉ० सत्यव्रत की स्नेहसिक्त समीक्षा और शुभ-कामना मुझ पर उनकी उदार कृपा की कथा कहती है। इन सभी गुरुजनों के आशीर्वचन पाकर मैं स्वयं को कृतकृत्य अनुभव कर रहा हूं।

जिन-जिन विद्वानों से मेरा पत्र-व्यवहार हुआ, उन सबके बहुमूल्य सुझाओं के लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं, विशेष कर आस्ट्रेलिया के डॉ० ए० एल० बाशम, न्यूयार्क के डॉ० स्टर्नबक, नीदरलैण्ड्स के० डॉ० जे० गौण्डा, पश्चिम जर्मनी के डॉ० एल० एल्सडार्फ, प्रो० जी० एस० बर्सनी, कैलिफोर्निया के प्रो० एम० बी० एमेन्यू, बम्बई के डॉ० के० एम० मुन्शी, होशियारपुर के आचार्य विश्वबन्धु, राजस्थान के डॉ० पी० एल० भार्गव, तथा रायपुर के डॉ० बाबूराम सक्सेना के प्रति।

अपने पूज्य पिता श्री आचार्य राजेन्द्रनाथ शास्त्री तथा अपने मित्रवृन्द डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, डॉ० सुधीन्द्रकुमार एवं डॉ० सुब्रह्मण्यम् की सामयिक प्रेरणा, उपयोगी सुझाव और सहयोग का आनन्द कैसे व्यक्त करूं, नहीं जानता।

जिन विद्वानों के ग्रन्थों की सहायता से मैं विषय को समझ सका हूं और जिनसे मैंने उद्धरण लिए हैं उन सबका तथा अन्य सभी मूक सहयोगियों का हृदय से आभार मानता हूं।

इस दीर्घकाय शोध-ग्रन्थ को सुन्दर रूप में प्रकाशित और वितरित करने के लिए अपने प्रकाशक झारी-बन्धुओं के प्रति अत्यन्त स्नेहपूर्ण आभार।

और अन्ततः अपने सुधी पाठक के प्रति आभारपूर्वक यह निवेदन—

'विदुषां परितोषेषु साध्यते शोध-साधुता।'
'लोक-साहित्य-शिष्टेषु, सदसद्व्यक्ति-हेतुता।'
'काव्य-पाठ-समानन्दः, सुहृत्-सहृदयेषु वै।'
'प्रबन्धोऽयमतो न्यस्तः पाठके निकषे शुभे।'

संस्कृत-विभाग, स्वामी श्रद्धानन्द कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

—वेदव्रत

अनुक्रमणिका

संक्षेपणम् : Abbreviations

अभि०	—	अभिषेक
अर्थ०	—	अर्थशास्त्र
अवि०	—	अविमारक
उत्तर०	—	उत्तररामचरित
ऊरु०	—	ऊरुभंग
ऋ०	—	ऋग्वेद
ऋतु०	—	ऋतुसंहार
कर्ण०	—	कर्णभार
काद०	—	कादम्बरी
किरात०	—	किरातार्जुनीय
कु०	—	कुमारसम्भव
घटो०	—	घटोत्कच
चारु०	—	चारुदत्त
दूत०	—	दूतवाक्य
नागा०	—	नागानन्द
नीति०	—	नीतिशतक
पञ्च०	—	पञ्चरात्र
प्रतिमा०	—	प्रतिमानाटक
प्रिय०	—	प्रियदर्शिका
बाल०	—	बालचरित
बुद्ध०	—	बुद्धचरित
मध्य०	—	मध्यमव्यायोग
मनु०	—	मनुस्मृति
महा०	—	महावीरचरित
मालती०	—	मालतीमाधव
मालवि०	—	मालविकाग्निमित्र
मुद्रा०	—	मुद्राराक्षस
मृच्छ०	—	मृच्छकटिक
मेघ०	—	मेघदूत
याज्ञ०	—	याज्ञवल्क्यस्मृति
यौग०	—	प्रतिज्ञायौगन्धरायण
रघु०	—	रघुवंश
रत्ना०	—	रत्नावली
विक्र०	—	विक्रमोर्वशीय
वैरा०	—	वैराग्यशतक
शाकु०	—	अभिज्ञानशाकुन्तल
शिशु०	—	शिशुपालवध
शृं०	—	शृंगारशतक
सौन्द०	—	सौन्दरनन्दकाव्य
स्वप्न०	—	स्वप्नवासवदत्त
हर्षच०	—	हर्षचरित
हितो०	—	हितोपदेश

S. P. L. — Shakespeare's Provetrb Lore

अनु०	—	अनुच्छेद
टीका०	—	टीकाकार
दे०	—	देखिये
पं०	—	पंक्ति संख्या
Ed.	—	Edited by
परि०	—	परिच्छेद
पृ०	—	पृष्ठ संख्या
मिला०	—	मिलाइए
व्याख्या०	—	व्याख्याकार
tr.	—	translated by

परिच्छेद-१

विषय-प्रवेश

१. सूक्ति और साहित्य

किसी भी देश के मनीषी अपने चिन्तन और अनुभूति को किसी-न-किसी माध्यम से व्यक्त करते हैं। अभिव्यक्ति के प्रकार की दृष्टि से ये माध्यम सामान्यतः दो प्रकार के हो सकते हैं--

१. साक्षात्, प्रत्यक्ष, विधेयात्मक, निर्देशात्मक, नियोगात्मक, उपदेशात्मक या 'डायरैक्ट' (direct).

२. प्रच्छन्न, परोक्ष, प्रस्ताविक, सूचक, संकेतात्मक, उपन्यासात्मक या 'इन्डायरैक्ट' (indirect).

दार्शनिक, शास्त्रनिर्माता, उपदेष्टा, समाजसुधारक आदि की विचाराभिव्यक्ति साक्षात् होती है और प्रायः सीधा बुद्धि को प्रभावित करना चाहती है। इसके विपरीत कलाकार का माध्यम है उसकी कला, जिसमें वह स्वयं को प्रच्छन्नरूपेण अभिव्यक्त करता है। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा हृदय को छूती हुई कला का प्रभाव बुद्धि तक धीरे-धीरे पहुंचता है। इसीलिए ज्ञानप्रधान या बौद्धिक दृष्टि न रखने पर भी कलाकार प्रायः अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। वह अपनी अनुभूति को दर्शक, श्रोता और पाठक के अन्तस् में अधिक गहराई तक उतार देता है।

साहित्यकार भी एक ऐसा ही कलाकार है जो साहित्य-सृजन द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता है। ललित-साहित्य में पात्रों के चरित्र-चित्रण, व्यवहार, कथा के मोड़, परिणाम एवं अन्य प्रासंगिक वर्णन आदि के द्वारा प्रच्छन्न रीति से लेखक के भावों का प्रकाशन होता है। परन्तु कहीं-कहीं प्रसंगवश, या किसी घटना के निष्कर्ष के रूप में, जब वह सामान्य तथ्य को प्रकट करता है तब उसके मत, विचार, चिन्तन या अनुभूति साक्षात् रूपेण उक्त से प्रतीत होते हैं। और, साक्षात् होने पर भी वे प्रायः आह्लादक शैली में कहे जाते हैं, नहीं तो कवि और दार्शनिक में अन्तर क्या रह जाए ?

ऐसे स्थल पर कवि का कथन काव्य से पृथक् करने पर भी पूर्ण और स्पष्ट अर्थ देता है। इस प्रकार का कवि-स्वीकृत निष्कर्षात्मक कथन यदि सुरुचिपूर्ण शैली में हृदय-

ग्राही ढंग से कहा गया हो तो सूक्ति कहला सकता है, और इसे सहृदय-समाज में किसी तथ्य के प्रकाशनार्थ या पुष्ट्यर्थ उद्धृत भी किया जाता है। [काव्य से स्वतन्त्र होने पर भी ऐसी सूक्ति के अभिप्रेत भाव को ठीक-ठीक समझने के लिए इतना जानना अवश्य अनिवार्य हुआ करता है कि उस कथन को काव्य में किस दृष्टि से रखा गया है—समर्थन के लिए, विरोध के लिए, व्यंग्य के रूप में अथवा आलोचना की दृष्टि से। कवि की भावना को समझने के लिए उस सूक्ति के प्रयोक्ता के चरित्र का भी ध्यान रखना कहीं-कहीं आवश्यक हो जाता है।]

विश्व की जिस भाषा का भी अपना साहित्य है उसमें सूक्ति का होना नितान्त स्वाभाविक है। फलतः विविध भाषाओं में सूक्तियों के अनेकानेक संग्रह उपलब्ध हैं। अंग्रेजी में ऐसे संग्रह 'ऐन्थोलौजी' या 'कोटेशन्स'[1] (Anthology, Quotations) के नाम से ज्ञात हैं। इसी प्रकार सभी समृद्ध भाषाओं के साहित्य में सूक्तियां खोजी जा सकती हैं। भारत की आधुनिक भाषाओं में भी सूक्तियों के उदाहरणों की न्यूनता नहीं है।[2]

जिस प्रकार आधुनिक भाषाओं में सूक्तियां विद्यमान हैं उसी प्रकार वे प्राचीन भाषाओं में भी दृष्टिगोचर होती हैं। अवेस्ता का एक उदाहरण यहां देने योग्य है—

"यो यवाम् कार्यइति हो अषॅम् कार्यइति।"—वेंदीदाद ३. ३१।

यः यवम् किरति सः ऋतम् किरति। (संस्कृत रूप)

—"He who sows corn, sows righteousness."[3]

भारतीय वाङ्मय के परिशीलन से विदित होता है कि प्राचीनकाल से ही साहित्य में प्रचुर संख्या में सूक्तियां विद्यमान थीं। अतः जो साहित्य जितना पुराना है उतनी ही पुरानी उसकी सूक्तियां भी हैं। हर युग में उनका सर्जन होता रहा है और साहित्य की हर विधा में उनका प्रवेश हुआ है। भारतीय साहित्य के प्रारम्भ से ही सूक्तियों के उदाहरण देखे जा सकते हैं। वैदिक ऋषि अपने इष्ट देवता की स्तुति करता हुआ गा उठता है—**न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवाः**[4]—"यह झूठ नहीं है कि जी-तोड़ परिश्रम करने वाले की रक्षा देवता भी करते हैं।" या दान की प्रशंसा करता हुआ कहता है— **केवलाघो भवति केवलादी**[5]—"अकेला खाने वाला केवल पाप का भागी होता है।"

ब्राह्मण ग्रन्थों में—अशनाया वै पाप्मामतिः[6], **मत्स्यएव मत्स्यं गिलति**[7]—"भूख की बुद्धि पापिनी है" और "मछली ही मछली को खा जाती है", इत्यादि दैनिक जीवन की अनेक व्यावहारिक सूक्तियां भी हैं।

उपनिषद् की सूक्तियां भी खूब प्रसिद्ध हुई हैं—**सत्यमेव जयते नानृतम्**[8]—"सत्य ही जीतता है असत्य नहीं।" या—**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**।[9] —"धन से मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता।"

वैदिक साहित्य के बाद लौकिक साहित्य की विभिन्न धाराओं में भी सूक्ति-सुमन खिले दिखाई देते हैं, फिर चाहे वे ग्रन्थ शास्त्रीय हों, पुराणेतिहास-सम्बन्धी, नीतिकथाओं वाले या काव्यमय। निरुक्त और व्याकरण ग्रन्थ हैं तो वेदाङ्ग, किन्तु उन्हें वैदिक की अपेक्षा लौकिक साहित्य ही कहना अधिक उचित है। 'व्याकरण' लौकिक भाषा को

समझाने के लिए वना है, वैदिक भाषा को भी लोक-भाषा के माध्यम से ही समझाता है। और निरुक्त उसी का 'कार्त्स्न्यं' है। ऐसे **निरुक्त** का रचयिता भी सूक्ति कहने का लोभ-संवरण नहीं कर सका—**नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति**[10]—"यह ठूंठ का अपराध तो नहीं कि इसे अन्धा नहीं देख सकता।" और तो और पतञ्जलि मुनि के **महाभाष्य** जैसे महान् व्याकरण-ग्रन्थ में—**महतो वंशस्तम्बाल्लट्वाऽनुकृष्यते**[11]—"बड़े भारी बांस के खम्बे से छोटी-सी 'लट्वा' नामक चिड़िया पकड़ी (या लट सुलझाई) जाती है", (अर्थात् थोड़े से प्रयोजन के लिए बहुत बड़ा कार्य किया जाता है)—जैसी सूक्ति—जिसके मूल में रूढोक्ति (—मुहावरा) निहित है—मिल जाती है। इसी प्रकार **अर्थशास्त्र** की **बिल्वं बिल्वेन हन्यताम्**[12]—"बेल को बेल से फोड़ो", या—**योगवासिष्ठ** की—**तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।**[13]—"यह बाप-दादा का कुआं है, ऐसा कहकर कायर लोग खारी पानी पीते हैं।" यह सूक्ति आज लोक ने अपना ली है। **धर्मशास्त्र** के ग्रंथ से भी—**योऽनूचानः स नो महान्**[14]—जो विद्वान् है वही महान् है"—जैसी सूक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं।

पुराणों में **नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः**[15]—"अपनी शक्त्यनुसार ही पक्षिगण आकाश में उड़ते हैं"—यह व्यंग्यात्मिका सूक्ति है, तो इतिहास के आकर पंचम वेद **महाभारत** की अंगभूत भगवद्गीता में अभिधेय अर्थ देने वाली एक प्रसिद्ध सूक्ति है—**संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते**[16]—"प्रतिष्ठित व्यक्ति की बदनामी मौत से बढ़कर है।"

नीतिकथाओं में तो स्थान-स्थान पर सूक्ति रूप में नीतिकथन हुआ है—यथा **पञ्चतन्त्र** में—**दीर्घसूत्री विनश्यति**—'देर तक सोचने वाला (आलसी) नष्ट हो जाता है', **छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति**—'दुर्बलताओं पर अनेक अनर्थ होते हैं', अथवा—**महाजनो येन गतः सः पन्थाः**[17]—"अधिक लोग जिस पर चले हों वही मार्ग (अनुकरणीय) है।" इसी प्रकार हितोपदेश में—**स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्**[18]—"अपने लिए संसार भी छोड़ दे।" जैसी व्यावहारिक सूक्तियां खूब मिलती हैं।

काव्य-साहित्य तो सूक्तियों से अत्यन्त समृद्ध है। आदि-काव्य रामायण की प्राञ्जल और सरसवाणी से भरपूर सूक्तियां अत्यन्त मनमोहक बन पड़ी हैं—**सख्युर्नित्यं सखा गतिः**—"मित्र ही मित्र का उपाय है", **न कश्चिन्नापराध्यति**—"ऐसा कोई नहीं जो अपराध न करता हो" तथा **नाग्निरग्नौ प्रवर्त्तते**[19]—"आग-आग को नहीं जला सकती", अर्थात् तेजस्वी पर दूसरे तेजस्वी का भी वश नहीं चलता।

संस्कृत के बाद की साहित्यिक भाषाएं—पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भी सूक्तियों से अछूती नहीं रह सकती थीं। **पालि** का एक उदाहरण देखिये—**नत्थि जागरतो भयम्**[20]—"जागनेवाले को भय नहीं।" **प्राकृत और अपभ्रंश** भाषाओं की सूक्तियों का रूप तो संस्कृत नाटकों में भी देखा जा सकता है और वे प्रस्तुत प्रबन्ध में स्वतः समाविष्ट हो गई हैं।

इस प्रकार प्रायः हर प्रकार के साहित्य में सूक्तियों का न्यूनाधिक प्रसार देखकर कहा जा सकता है कि सूक्तियां साहित्य के किसी अंग विशेष की ही सम्पत्ति नहीं हैं।

कर्त्ता की प्रतिभा के अनुसार वे हर क्षेत्र में प्रवेश पा सकती हैं। ऐसा होने पर भी काव्यों में उनका प्राचुर्य सकारण है। काव्य में कवि का मुख्य प्रयोजन आह्लादक रचना की सृष्टि करना होता है। वहां उसके द्वारा विचारशील क्षणों में सुविचारित निष्कर्ष-जन्य तथ्य सहज भाव से स्वतः ही स्फुरित होते हैं। साहित्य के अन्य अंगों में इससे भिन्न दृष्टि अर्थात् उपदेशात्मिका नीतिशिक्षाप्रदा या तत्त्वप्रदर्शिका होती है। वहां सूक्ति कहने के लिए कथन-प्रकार में रोचकता का सप्रयत्न समावेश करना पड़ता है।

इसलिए सभी प्रकार के साहित्यांगों में स्थान पाने पर भी सूक्तियां काव्य में ही स्वाभाविक और मुख्य रूप से प्रस्फुटित हुई हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में इस प्रकार की काव्यगत सूक्तियों के कुछ चुने अंशों का ही अध्ययन किया जा रहा है।

२. सूक्ति के विषय में परम्परागत धारणाएं

सूक्ति के स्वरूप का विवेचन करने के लिए 'सूक्ति' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य, रूढ़ एवं विकसित अर्थ पर विचार करना उपयोगी होगा। इस अनुच्छेद में प्रथम दो अर्थों पर चर्चा है, एवं तीसरे अर्थ पर अगले अनुच्छेद में।

(क) **व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ**—'सु' और 'उक्ति' इन दो शब्दों के योग से 'सूक्ति' पद की रचना हुई है। यहां 'सु' उपसर्ग के रूप में जोड़ा गया है। 'सु' उपसर्ग के अनेक अर्थों में से कुछ हैं—"शोभन, सही, गुणी, सुन्दर, सरल, अधिक इच्छापूर्वक, शीघ्रता से[२१]। अमरकोशकार ने 'सु' को अव्यय वर्ग में स्थान देते हुए "निर्भरम् (अति, अतीव) एवं पूजा"[२२] का पर्यायवाची बताया है। मेदिनीकोश में—"सु पूजायां मृशार्थेऽनुमति-कृच्छ्र-समृद्धिषु।"[२३]— 'सु' के ये अर्थ हैं—'पूजा, आधिक्य, अनुमति, काठिन्य, समृद्धि।'

"उक्ति" शब्द कथनार्थक √ वच् धातु से भाव और कर्म में क्तिन् प्रत्यय लगकर बनता है।[२४] √ वच् में ये सब अर्थ अन्तर्निहित हैं—'बोलना, कहना, बताना, उच्चारना, सबको बताना, घोषणा करना, उल्लेख करना, प्रकाशित करना, अलापना, वर्णन करना।'[२५]

'अधिकतर भारोपीय भाषाओं में 'बोलना' (Speak) और 'कहना' (Say) के लिए भिन्न-भिन्न शब्द हैं। पहला शब्द बोलने की वास्तविक क्रिया-व्यापार का बोध कराता है और दूसरा शब्द क्रिया की अपेक्षा क्रिया-फल पर अधिक बल देता है।'[२६] परन्तु संस्कृत की √ वच् इन दोनों अर्थों को समेटे हुए है। इसीलिए मि० बक ने 'बोलना' (Speak, talk) तथा 'कहना' (Say) दोनों के पर्यायवाची शब्दों को भारोपीय भाषाओं में दिखाते हुए संस्कृत के √ वच् को (ब्रू, वद् तथा भाष् को भी) दोनों अर्थों में स्थान दिया है।[२७] अतः √ वच् से निष्पन्न 'उक्ति' शब्द कथन या 'बोली' और कथित या 'बोल' दोनों का परिचायक है; 'वर्णन प्रकार' तथा 'वर्णित वस्तु' दोनों का संकेत करता है।

विविध कोशों के अनुसार उक्ति शब्द के ये अर्थ हो सकते हैं—'कथन, भाषित, वचन,[२८] वाक्य, घोषणा, वाणी, अभिव्यक्ति, शब्द, एक मूल्यवान् वाणी या शब्द।'[२९]

'सु' + 'उक्ति' के मेल से बने 'सूक्ति' पद का अर्थ हुआ—

'एक सुन्दर, शोभन गुणयुक्त, मूल्यवान्, गरिमापूर्ण कथन, जिसमें अपनी इच्छानुसार और शीघ्रता से (अर्थात् अचानक) कही हुई (Spontaneous) अभिव्यक्ति हो।'

'सूक्ति' शब्द के जो अर्थ कोषों में दिए गए हैं वे ये हैं—

—एक शोभन या सौहार्द-पूर्ण वाणी, प्रतिभापूर्ण कथन, सुन्दर पद या सन्दर्भ।[30]

—शोभन उक्ति।[31]

—एक शोभन या चातुर्यपूर्ण कथन, एक सही वाक्य।[32]

इस प्रकार 'सूक्ति' पद जहां शोभन प्रकार से अभिव्यक्ति वाक्य के लिये है वहां शोभन भाव को व्यक्त करने वाले वाक्य के लिए भी है क्योंकि अभिव्यक्ति का प्रकार और अभिव्यक्त भाव दोनों ही उक्ति के अंग हैं। शोभनत्व बहुत कुछ व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर है। अतः ध्यान रहे, सूक्ति के सर्वमान्य रूप की आशा नहीं की जा सकती।

(ख) रूढ अर्थ—वस्तुतः, व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ पर ही सूक्ति का व्यावहारिक या रूढ अर्थ भी आधारित हुआ है। इस रूढ अर्थ के अनुसार सूक्ति से हर सामान्य जन की श्रेष्ठ उक्ति का नहीं अपितु केवल साहित्यिक की उक्ति का ही बोध होता है। अथवा कहिए कि काव्यत्वपूर्ण उक्ति ही प्रायेण सूक्ति कही जाती है। सामान्य-जन की उक्ति यदि शोभन है तो उसकी स्वीकृति लोक-द्वारा होने पर वह लोकोक्ति के रूप में प्रचलित भले ही हो जाय, परन्तु सूक्ति कहलाने के लिए उसका साहित्य में प्रयोग अनिवार्य है।

सूक्ति-संग्रहों में संगृहीत पदों से एवं साहित्य में यत्र-तत्र प्रयुक्त 'सूक्ति' शब्द के अर्थ से भी उपर्युक्त तथ्य ही सिद्ध होता है। जितने भी सूक्ति-संग्रह प्राप्य हैं[33], उन सब में ज्ञात या अज्ञात कवियों की रचनाओं की उक्तियां ही संकलित की गई हैं।

कवियों एवं अलंकारशास्त्र के कतिपय आचार्यों ने 'सूक्ति' शब्द का प्रयोग काव्य की उक्ति के लिए ही किया है। कुछ प्राचीन प्रयोग इसी अर्थ में दृष्टिगोचर होते हैं। महाराष्ट्रीय प्राकृत की उत्कृष्टता बताते हुए गद्य-कवि दण्डी ने कहा है—'सागरः सूक्ति-रत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्,[34]— 'जिस (महाराष्ट्री प्राकृत) में सूक्ति रत्नों के सागर 'सेतुबन्ध' आदि काव्यों की रचना हुई है···।'

इसी प्रकार बाण भट्ट ने कालिदास की सूक्तियों की प्रशंसा करते हुए उनकी विशिष्टता भी बताई है—'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रा (-सार्द्रा-) सु मञ्जरीष्विव जायते।'[35]

—'मधुर (मनोहारिणी) तथा (सान्द्र—) घनी और रस से ओतप्रोत[36] (अथवा मधु सी सुस्वादु एवं शृंगारादि रसों से सिक्त[37]) कालिदास की सूक्तियों के मञ्जरियों के समान अनायास निकल आने पर (अर्थात् उच्चारण-मात्र से) किसे आनन्द नहीं होता?' इससे यह भी ध्वनित होता है कि कालिदास जैसे उत्कृष्ट कवि सूक्तियों में इस प्रकार का रसाधान कर सकते हैं जो उनमें गुप्त होकर भी रमणीय होता है जैसे मञ्जरी में निहित रस।

कवि मंखक तथा आचार्य कुन्तक ने सूक्ति शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया है। कवि मंखक ने तो स्पष्टतः उक्ति को वाणी, और सूक्ति को श्रेष्ठ वाणी के अर्थ में प्रयुक्त[३८] किया है। आचार्य कुन्तक ने रूपक बांधते हुए सरस्वती देवी को—'सूक्ति प्रस्फुरण के सुन्दर अभिनय से उज्ज्वल'[३९] कहा है और जिस सरस्वती देवी की कवि ने वन्दना की है वह 'कवि-मुखेन्दु रूपी नाट्य-भवन की नर्तकी' है। अतः सूक्ति के द्वारा कवि-वाणी प्रकाशित होती है, यह कहा जा सकता है।

इन प्रयोगों से यह मान्यता भी प्रकट होती है कि ये सूक्तियां कवि की प्रतिभा पर निर्भर करती हैं तथा वाग्देवी सरस्वती की शोभा भी इनसे बढ़ती है।

राजशेखर भी मानते हैं कि सूक्ति की परिपक्वता से काव्य में किसी उत्कृष्ट कवि का ही वाग्विलास प्रकट होता है।[४०] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सूक्ति काव्य का ही एक उत्कृष्ट अंग है।

काव्यशास्त्रकारों ने विशिष्ट उक्तियों से विभूषित रचना को काव्य की संज्ञा दी है। यथा राजशेखर के अनुसार 'उक्तिविशेषः काव्यम्',[४१] और भोजदेव के शब्दों में—'तेषु उक्तिप्रधानं काव्यम्।'[४२]

बाहुरूप ने उक्ति के स्थान पर 'सूक्ति' शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा है—'कुछ विद्वान् शोभाकरत्व में समानता होने के कारण रस और गुण को अलंकार मानते हैं। उनके मत में सूक्ति तीन प्रकार की है—स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति, रसोक्ति। गुण की प्रधानता होने पर स्वभावोक्ति होती है; उपमा, रूपकादि अलंकारों के प्रधान होने पर वक्रोक्ति; तथा विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होने पर रसोक्ति होती है।'[४३] इस स्थल पर 'सूक्ति' को काव्य का एक प्रकार-भेद मानकर उसकी विशिष्ट उक्तियों का विभाजन गुण, अलंकार और रस के आधार पर किया गया है।

औचित्य के प्रतिपादक आचार्य क्षेमेन्द्र सूक्तियों में भी औचित्य के पक्षपाती हैं। उनके अनुसार सूक्तियों में विचार का अधिक महत्त्व है—"उचित विचार से सूक्तियां चारुता प्राप्त करती हैं, वैसे ही जैसे कि ज्ञातव्य तत्त्व के ज्ञान से मनीषियों की विद्या।"[४४]

अचार्य राजशेखर ने कवियों की सूक्तियों के अनुकरण को कविचर्या का अंग माना है। उनकी दृष्टि में निवन्ध लिखने (रचना करने) में प्रवृत्त विद्वान् को रीति, गुण व शब्दार्थ-समूह को जानने के साथ-साथ सूक्तियों के स्वरूप का अनुसरण करना चाहिये। ये उसके लिए समुद्र में पोत के समान हैं।[४५] यहां "अनुसृत्य सूक्तिमुद्राः" से ऐसा तात्पर्य प्रतीत होता है कि प्राचीन कवियों की सूक्तियों में निहित छवियों[४६] का उल्लंघन न करे या "उनकी सूक्तियों के रूप का अनुकरण करे।" जो भी तात्पर्य लें सूक्तियों के अनुकरणीय भाव और शैली की ओर आचार्य का संकेत स्पष्ट है।

केरल के कवि 'कोट्टायम' राजा ने एक श्लोक में उर्वशी की विजय को उस सूक्ति की विजय के समान बताया है जो—"सुललित पद-विन्यास एवं रुचिर अलंकार वाली तथा मधुर और मृदुल होने पर भी गहन भावों से युक्त हो।"[४७]

इन सब प्रयोगों के आधार पर प्रतीत होता है कि सूक्ति में काव्यात्मकता एवं भावप्रवणता के फलस्वरूप विशेष प्रभावोत्पादकता की अपेक्षा की जाती थी।

३. सूक्ति शब्द का अर्थ-विकास

व्यापक और सीमित अर्थ का संकेत—पिछले अनुच्छेद में सूक्ति का व्यापक अर्थ दिखलाया गया है, जिसके अनुसार साहित्य के हर शोभन और सुरुचिपूर्ण कथन को सूक्ति कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत हर वह वाक्य जो सरस हो, आह्लादक हो, या भावोद्रेक करने की क्षमता रखता हो, सूक्ति के अन्तर्गत आ जाएगा और एक उत्कृष्ट कवि का प्रायः सारा काव्य ही सूक्तिमय हो जाएगा। उदाहरण के लिये कालिदास के 'मेघदूत' जैसे प्रबन्ध-काव्य तथा 'ऋतुसंहार' एवं भर्तृहरि के 'शृंगारशतक' जैसे मुक्तक काव्य।

'सूक्ति' शब्द का एक दूसरा अर्थ भी है जो सूक्ति के क्षेत्र को सीमित करता है। इसके अनुसार सूक्ति से किसी ऐसे वाक्य का ही ग्रहण हो सकता है जो शोभन होने के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट गुणों से सम्पन्न हो। इस सीमित अर्थ एवं सूक्ति के विशिष्ट गुणों की ओर सूक्ति-संग्रहों से ही संकेत प्राप्त होता है। सूक्ति-प्रेमियों को सूक्तियों में कोई-न-कोई ऐसे गुण अवश्य मिले होंगे जिनके कारण वे उनको भा गईं और वे उन्हें 'सूक्ति' कहने के लिये बाध्य हुए। जिन गुणों के कारण कुछ पद सूक्ति की श्रेणी में गिने गए, वे यद्यपि किसी स्थल पर निर्दिष्ट नहीं किये गए हैं, परन्तु चुनी गई सूक्तियों के आधार पर इन गुणों की उद्भावना की जा सकती है :—

(क) **छन्दोमयता (पद्यात्मकता) (?)**—विभिन्न संग्रहों में संकलित सूक्तियों की पारस्परिक तुलना से ऐसा आभास होता है कि सूक्ति के प्रति प्राचीन और अर्वाचीन दृष्टिकोण में अन्तर आया है। प्रथमतः प्राचीन संकलन-कर्त्ताओं की दृष्टि में पद्यात्मक शोभन उक्तियां ही सूक्तिसंग्रहों में स्थान देने योग्य रही हैं। सदुक्तिकर्णामृत, सुभाषितावली, सूक्तिसागर, सूक्ति-मुक्तावली, सुभाषित-रत्न-भाण्डागार आदि प्राचीन परम्परा के संकलन इसी दृष्टि को लेकर किए गए हैं। इन्हीं से प्रभावित होकर कुछ विद्वान् आज भी सूक्तियों का छन्दोबद्ध होना आवश्यक मानते हैं।[४८]

स्वभावतः प्रश्न होता है कि क्या गद्य-कवि दण्डी और बाण की सूक्ति-गुण-सम्पन्न उक्तियां केवल इसलिए सूक्तियां नहीं कही जा सकतीं कि उनकी रचनाएं पद्य में नहीं हैं? क्या उनके काव्य एक भी सूक्ति प्रस्तुत नहीं करते? क्या दण्डी—"कामो नाम संकल्पः" या—"अवसरेषु पुष्कलः पुरुषकारः"[४९]—जैसी प्रगल्भ उक्तियां, और बाण की—"धैर्यधना हि साधवः"[५०]—जैसी सार-गर्भित उक्तियां सूक्तिपद से वंचित रह जाएंगी? निश्चय ही कोई भी विचारशील व्यक्ति इसे अनुचित कहेगा। इसके अतिरिक्त छन्दोबद्धता सूक्ति के कथन प्रकार के केवल बाह्य रूप को ही प्रभावित करती है, और इतना महत्त्व नहीं रखती जितना कि सूक्ति का भाव। अतः वह सूक्ति के अनिवार्य गुण के रूप में स्वीकृत नहीं की जा सकती।

इसी हेतु कतिपय काव्यों के आधुनिक विद्वान् सम्पादकों ने काव्यगत सूक्तियों

को परिशिष्ट रूप में संगृहीत करते हुए इस दृष्टि को छोड़ कर छन्दोबद्ध पदों के साथ-साथ गद्यमय वाक्यों को भी स्थान दिया है।[५१] और, इस प्रकार सूक्ति के क्षेत्र का विस्तार किया है।

(ख) **वर्णनात्मकता (?)**—उपलब्ध सुभाषित-संग्रहों में बहुसंख्यक ऐसी वर्णनात्मक उक्तियों को भी स्थान दिया गया है जो प्रसंग-विशेष का हृदयग्राही चित्रण करके सहृदयों के हृदय को आह्लादित करती हैं। कुछ आधुनिक विद्वान् भी इस कार्य का समर्थन करते हैं। डा० बाशम का कथन है कि "केवल वर्णनात्मक पद भी सुभाषित हो सकते हैं।"[५२] डा० रघुवंश ने[५३] भी प्रकृति के हृदयाह्लादक चित्रों से युक्त मुक्तकों को 'वर्णनात्मक सूक्ति'[५४] शब्द से अभिहित किया है।

वस्तुतः ऐसे वर्णनात्मक वाक्यों को सूक्ति के अन्तर्गत रखना युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह कि यदि सभी हृदयस्पर्शी उक्तियों को सूक्ति के अन्तर्गत रखा जाय तो समस्त काव्य भी सूक्ति कहलाने की योग्यता पा सकता है, जो न सूक्ति-संग्रहकारों का ही अभिमत है, न आधुनिक विवेचकों का ही। दूसरे, वर्णनात्मकता के प्रति सूक्ति-संग्रहकारों का दृष्टिकोण धीरे-धीरे परिवर्तित हो रहा है। उदाहरणार्थ, कालिदास का—'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः[५५]'—यह पद सुभाषितकारों ने[५६] संकलित किया है। किन्तु श्री कर्णिक व देसाई द्वारा सम्पादित विक्रमोर्वशीय के सुभाषितों में यह स्थान नहीं पा सका है। श्री एच० डी० वेलंकर, भावे, रामचन्द्र मिश्र आदि द्वारा सम्पादित प्रतियों में[५७] भी इसे सुभाषितों के मध्य नहीं रखा गया। जैसा कि आगे दिखलाया जा रहा है अन्य आधुनिक विवेचकों की भी इस विषय में ऐसी ही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। वस्तुतः आज सूक्ति शब्द एक विकसित अर्थ में पहचाना जाने लगा है जिसका स्वरूप[५८] और पारिभाषिक[५९] अर्थ आगे दिया गया है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत प्रबन्ध में 'वर्णनात्मक सूक्तियों' (—या डॉ० रघुवंश से क्षमा याचना सहित केवल 'पदों' कहें तो अधिक उपयुक्त होगा—) को स्थान नहीं दिया गया है।[६०]

(ग) **तथ्यात्मकता**—पहले के सूक्ति-संकलनों में उक्ति के आकर्षणों को ही महत्त्व दिया गया प्रतीत होता है। हृदय के लिए भावोत्तेजक या बुद्धि के लिए प्रभावोत्पादक होने पर कोई भी पद उनमें स्थान पा सकता था। फिर यह संग्रह-कर्त्ता की इच्छा, ज्ञान और स्मृति पर आधारित था कि वह किस पद को स्थान दे किसको नहीं। पर आज के अनेक संकलन-कर्त्ताओं द्वारा 'सूक्ति' कहलाने की योग्यता के लिए कोई ठोस आधार देने का प्रयास किया गया है। ऊपर उद्धृत[६१] आधुनिक संकलनों में डॉ० आर्येन्द्र शर्मा, मंगलदेव शास्त्री, एम० आर० काले, एवं आर० डी० कर्माकर के अतिरिक्त एच० आर० कर्णिक[६२] आदि कुछ अन्य विद्वानों ने भी जिन सूक्तियों को लिया है उनमें केवल एक समानता प्रतीत होती है और वह है उनकी तथ्यात्मकता या 'तथ्य-प्राधान्य' स्थिति। उनमें निरपवाद रूप से मानव-जीवन से सम्बद्ध किसी-न-किसी सर्वसामान्य तथ्य को सरसनया अभिव्यक्त किया गया होता है। संभवतः इसी तथ्यात्मकता के आधार पर आधुनिक सुभाषित-संग्रहों में—'निर्दोषदर्शना हि कन्यकाः[६३] 'अतिस्नेहः खलु कार्यदर्शी'[६४]

जैसी उक्तियों को स्थान दिया गया है, जिन्हें गद्य-मय और अभिधार्थ में होने के कारण प्राचीन सुभाषितसंग्रहों में छोड़ दिया गया था। दूसरी ओर कुछ ऐसे सुभाषितों को आधुनिक विद्वानों ने छोड़ दिया है, जिन्हें प्राचीन सुभाषित-संग्रहों में केवल चित्ताकर्षक होने के कारण रख दिया गया था। उदाहरणार्थ सुभाषितावली में संगृहीत—

अनया जघनाभोगगुरुमन्थरयातया। अन्यतोऽपि व्रजन्त्या मे हृदये निहितं पदम्।[६५]

नागानन्द का यह पद[६६] करमारकर साहब द्वारा सम्पादित एवं अन्य कतिपय संस्करणों में सुभाषितों से निकाल दिया गया है। इसमें सामान्य तथ्य का आख्यान न होकर व्यक्ति-विशेष की मनःस्थिति का वर्णन है। इसलिए इसे सूक्ति नहीं माना गया, जो उचित ही है।

(घ) सामान्यात्मकता (Generalisation)—आधुनिक सुभाषित संग्रहों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें सामान्यात्मकता को भी सूक्ति की एक अनिवार्य विशेषता के रूप में स्वीकारा गया है। दूसरे शब्दों में, सूक्ति में किसी व्यापक तथ्य का वर्णन सामान्य कथन के द्वारा ही किया जाता है। व्यक्ति-विशेष से या परिस्थिति-विशेष से उस तथ्य का सम्बन्ध न दिखलाकर, 'ऐसा हुआ करता है' इस प्रकार के सामान्य-रूप से ही कथन किया जाता है। उदाहरण के लिए 'सुभाषितावली' में 'मृच्छकटिक'[६७] का यह श्लोक विक्रमादित्य के नाम से उद्धृत है—**लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः। असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।**[६८]

काले साहब के सम्पादन में संकलित मृच्छकटिक के सुभाषितों में इसका कोई स्थान नहीं है। कारण यही है कि इसमें एक परिस्थिति-विशेष का वर्णन है। यद्यपि यहाँ उपमा-रूप में इस तथ्य का भी संकेत देखा जा सकता है कि **'असत्-पुरुषों की सेवा करना निष्फल हो जाता है,** तथापि इस तथ्य का कथन सामान्य रूप से नहीं किया गया है। केवल उपमा के रूप में उसका प्रयोग कर दिया गया है।

दूसरी ओर परिस्थितिविशेष के वर्णन से सम्बद्ध उक्ति भी यदि सामान्य अर्थ दे सके तो सूक्ति बन सकती है। कहीं-कहीं कवि भी किसी तथ्यात्मक एवं सामान्यात्मक भाव को व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध करके प्रकट कर सकता है। वहाँ सूक्ति के स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। तथा वहां यह सन्दिग्ध हो जाता है कि उसे सूक्ति कहा जाय या नहीं। यथा—"वागेव मे नाभिधेय विषयमवतरति त्रपया"[६९] यहां पर 'मे' के स्थान पर यदि 'मनुष्यस्य' (मनुष्य की) जैसा कोई पद होता तो तथ्य का सामान्य कथन होता तथा यह असन्दिग्ध रूप से सूक्ति ही होती। और फिर कहीं-कहीं व्यक्तिवाचक नाम का प्रयोग होने पर भी कोई सूक्ति लोकोक्तिवत् प्रचलित हो जाती है, जैसे—**रामो द्विर्नाभिभाषते।** या **इन्द्रोऽहं न पराजिग्ये।** इसका कारण यह है कि इसके सूक्ति-लोकोक्ति में प्रयुक्त होने पर 'राम' या 'इन्द्र' शब्द व्यक्ति-विशेष का वाचक न रह कर 'उत्कृष्ट व्यक्ति' का अर्थ देता है। अतः वहाँ सामान्यात्मकता स्वतः उत्पन्न हो जाती है।

यहां यह भी उल्लेख करना उचित है कि आधुनिक विद्वानों में भी कुछेक ने अपनी सुभाषित-सूचियों में एकाध तथ्यात्मक एवं सामान्यात्मक गुण से युक्त सूक्तियों से

भिन्न वाक्य या वाक्यांश भी रख लिए हैं। जैसे—"अनुग्रहः खलु नोपरोधः।"[७०] 'त्वं मया सम्बन्धीति कृत्वा परिहसितः'[७१] इनमें पहला वाक्य परम्परागत उक्ति (Conventional phrase)[७२] है, जीवन के तथ्य का कथन नहीं। दूसरा समधियों के पारस्परिक हास्य के तथ्य को व्यंजित तो कर रहा है पर सामान्य रूप से नहीं। इस प्रकार इनमें सूक्ति के सारे गुण नहीं हैं। पहले में तथ्य की कमी है तो दूसरे में सामान्यतया कथन की। फिर भी इनको सूक्तियों में स्थान दे दिया गया है, जिसका कारण सूक्ति के गुणों और परिभाषा की अनिश्चितता ही प्रतीत होती है। किन्तु ऐसे स्खलन अधिक नहीं हैं।

इस प्रकार आधुनिक समीक्षकों की दृष्टि में सूक्ति कहलाने के लिए किसी वाक्य का सामान्यात्मक कथन होना अनिवार्य-सा है। परिस्थिति-विशेष से सम्बद्ध होने पर भी यदि उक्ति का प्रयोग सामान्यात्मक अर्थ में हो सकता हो तो वह भी सूक्ति कहला सकती है।

(ङ) **अर्थ की पूर्णता**—सभी प्रकार के प्राचीन व अर्वाचीन सूक्ति-संकलनों या सुभाषित-संग्रहों में दी हुई उक्तियां अपने आप में पूर्ण हैं। अतः सूक्ति का एक अनिवार्य गुण यह भी प्रतीत होता है कि वह अर्थ की दृष्टि से पूर्ण हो। यह अर्थ-पूर्णता वाक्य की पूर्णता से पृथक् है। उदाहरण के लिए—'उचितः प्रणयो वरं विहन्तुम्'[७३]—'यथा-योग्य प्रणय (प्रार्थना, इच्छा या प्रेम) भी तोड़ देना अच्छा है।' यह एक पूरा वाक्य है, किन्तु 'किस स्थिति में ऐसा करना चाहिए', यह यहां नहीं बताया गया है। केवल कथा-प्रसंग से ही यह ज्ञात होता है कि—'प्रेमी जब भावशून्य स्थिति में हो तब प्रणय के निर्वाह का प्रयत्न न करना ही अच्छा'। अतः उपर्युद्धृत उक्ति को पूर्ण अर्थ के अभाव में सूक्ति-पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष—ऊपर के विवेचन से प्रकट होता है कि सूक्ति की पद्यबद्धता की प्राचीन सीमा को आधुनिक विद्वान् छोड़ते जाते हैं और तथ्यात्मकता एवं सामान्यात्मकता की नई सीमा से सूक्ति को परिवेष्टित करना चाहते हैं। सब विचारों को प्रश्रय देने के लिए अर्थ-विकास की दृष्टि से सूक्ति के ये अर्थ गिने जा सकते हैं—

१. शोभन साहित्यिक उक्ति। (व्यापक अर्थ)

२. शोभन छन्दोबद्ध साहित्यिक उक्ति। (पुराना सीमित अर्थ)

३. शोभन तथ्यात्मक एवं सामान्यात्मक साहित्यिक उक्ति (नया सीमित अर्थ)।

दूसरी ओर, सीमित या निर्धारित अर्थ के आधार पर संगृहीत सूक्तियों को दो भागों में बांटा जा सकता है—

१. वर्णनात्मक एवं विशिष्टार्थक; या—'विशेष-वर्णनात्मक।'

२. तथ्यात्मक एवं सामान्यात्मक; या—'सामान्य-तथ्यात्मक।'

सीमित और प्रयोज्य अर्थ में इनमें से द्वितीय को ही सूक्ति की कोटि में रखा जा सकता है चाहे वे गद्यमय हों या पद्यमय, प्रथम प्रकार के सुभाषितों को नहीं। उन्हें वर्णनात्मक पद कहा जाना चाहिए, सूक्ति नहीं।

अन्तिम अर्थ में एक निर्धारित सीमा है, और उसी की ओर आज के विद्वानों का झुकाव दिखाई देता है। अतः वही प्रस्तुत अध्ययन के सूक्तिचयन का आधार है।

४. सूक्ति का स्वरूप (तात्त्विक परिभाषा)

ऊपर के अनुच्छेदों में सूक्ति के जिन अर्थों का संकेत किया गया है उनके प्रकाश में कुछ विद्वानों द्वारा प्रदत्त सूक्ति के स्वरूप-विषयक मन्तव्य यहां विचारणीय हैं। तदनन्तर सूक्ति के स्वाभाविक लक्षणों (characteristic features) का विमर्श करके सूक्ति का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाएगा।

(क) पूर्व-प्रदत्त परिभाषाएं— मि० हग पर्सी जोन्स ने उद्धरणों (quotations) के कोष की भूमिका में कहा है कि—'उत्कृष्ट रचनाओं की निधि से एक सुखद वाक्यांश प्राय: तर्क को सुदृढ़ करने के लिए कुछ कम सहायक नहीं होता।'[७४] इससे सूक्ति की उद्धरणीयता और तर्क-पोषक शक्ति जो उसकी तथ्यात्मकता और पूर्णार्थता में छिपी है, प्रकट होती है।

पं० सीताराम चतुर्वेदी के अनुसार 'किसी विशेष परिस्थिति में जब लोग उस परिस्थिति से सम्बद्ध किसी कवि-वचन का निरन्तर प्रयोग करने लगते हैं तो वह भी लोकोक्ति के रूप में ही चल निकलता है। लोकोक्ति से इस प्रकार की सार्वभौम उक्तियों को अलग करने के लिए उन्हें सूक्ति कहते हैं।'[७५] इसमें सूक्ति के दो मुख्य गुण ध्यान देने योग्य हैं—

१. लोकोक्तिवत् प्रचलित होना; और
२. सार्वभौमिकता, जिससे तथ्यात्मकता और सामान्यात्मकता की ओर संकेत है।

'हिन्दी साहित्य कोश' में मानव जीवन से सम्बन्धित तत्त्वों का सूक्ति में निहित होना आवश्यक माना गया है—"वह (सूक्ति-काव्यकार) मानव-प्रकृति को उसके विभिन्न सामाजिक और आध्यात्मिक सम्बन्धों में समझता-बूझता है। जब उसके मानस में किसी सम्बन्ध का एक विशेष कोण सामने आता है तो उसे वह बहुत-कुछ निष्कर्षात्मक रूप में सामने रखता है।"[७६] इसमें सूक्ति के स्वरूप की दो बातों की ओर स्पष्ट संकेत है। एक तो सूक्ति का मानव प्रकृति को व्यक्त करने वाली उक्ति होना आवश्यक है, दूसरे सूक्ति में निष्कर्ष रूपेण कथन आवश्यक है।

श्री रामप्रताप त्रिपाठी की मान्यता भी कुछ-कुछ इससे मिलती है—'मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों में सहस्रों वर्षों की अनुभूतियों ने इनको अमरता प्रदान की है और करोड़ों कण्ठों से निकलने के कारण इनमें माधुर्य और कोमलता का यथेष्ट परिपाक हुआ है।'[७७] इस तरह सूक्ति में मानवीय जीवन के तथ्य, कवि की व्यक्तिगत और देश की संचित अनुभूतियां, सूक्ति का पुन: पुन: प्रयोग और मोहकरूप इन चार आवश्यक तत्वों का संकेत किया है।

नीति की अवस्थाएं बताते हुए डा० भोलानाथ तिवारी लिखते हैं—(निर्देश, उपदेश के बाद) 'तीसरी अवस्था सूक्ति की है। सूक्तियों में उपदेश प्रभाविष्णुता तथा

आकर्षण के लिए उदाहरणों के साथ चुभती हुई सुन्दर शैली में रखे गए। इनमें थोड़े स्थान में अधिक कहने या सागर को गागर में भरने का भी प्रयास है।'[७८]

यहां दो तत्त्वों की ओर ध्यान दिलाया गया है—(१) सुन्दर उक्ति-प्रकार, एवं (२) संक्षिप्तता। पर इस कथन से यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि सूक्तियों में नीति ही नीति होती है। सूक्तियों द्वारा नीति-कथन भी होता है। परन्तु बहुधा तथ्य-निर्देशन होता है, जिसके माध्यम से कवि अपना मत प्रकाशित करता है या अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देता है। यह दूसरी बात है कि उनमें कभी-कभी नीति या उपदेश भी प्रकट हुआ करता है।

आचार्य विश्वबन्धु लिखते हैं—'ऐसी चुनींदा कहावतें जो विचार और भाषा के सौन्दर्य से पहचानी जाती हैं, और किसी कवि की रचना में गुँथी होती हैं, सुभाषित, सूक्तियां, सदुक्ति कहला सकती हैं।'[७९] इसमें स्पष्टतः विचारात्मकता और काव्यात्मकता को प्रमुखता दी गई है।

(ख) तात्त्विक विश्लेषण—ऊपर निर्दिष्ट विवेचन से तथा पहले के अनुच्छेदों में प्रदर्शित प्राचीन प्रयोग एवं सूक्ति के अर्थ-विकास के आधार पर सूक्ति में यदि निम्न तत्त्वों का अस्तित्व आवश्यक माना जाय तो सूक्ति की वैज्ञानिक और बुद्धिसंगत परिभाषा दी जा सकती है—

१. **साहित्यिकता**—सूक्तियों का कथन-प्रकार अर्थात् कला पक्ष, और कथित भाव या भावपक्ष उत्कृष्ट होता है और इसलिए अनुकरणीय भी। इनका स्तर तो साहित्यिक है ही, ये स्वयं में साहित्य का मर्म भी होती हैं।

२. **प्रभावोत्पादकता**—सूक्तियों का रूप और आत्मा आकर्षक एवं प्रभावशाली होते हैं और इसलिए श्रोता या पाठक के हृदय एवं बुद्धि में भावोद्रेक तथा विचारोत्तेजना के स्रोत होते हैं। यह तत्त्व इनका उत्कृष्ट गुणाधायक अंश है।

३. **तथ्यात्मकता**—सूक्तियां तथ्यात्मक होती हैं। उनमें मानव-जीवन के विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित तथ्य निहित रहते हैं[८०], या उन पर फबता हुआ टिप्पण (Sententious remark)'[८१] रहता है। आवश्यक नहीं कि वे पूर्ण सत्य हों। उनमें एक पहलू का या कवि के अपने व्यक्तिगत मत का ही प्रतिपादन भी हो सकता है। इसके साथ-साथ कहीं-कहीं प्रतिपादन के आधार पर मानव को प्रेरणा भी दी जा सकती है।

४. **सामान्यात्मकता**—सूक्तियों में प्रायः सामान्य रूप से कथन होता है। कभी-कभी विशेष परिस्थिति, घटना, व्यक्ति आदि से सम्बद्ध करके उक्त होने पर भी, परिस्थितियों का साम्य होने पर उनका तथ्य सामान्यरूपेण तर्क-पोषक होता है और इसलिए उद्धरणीय भी। लोकोक्ति के रूप में प्रचलन का आधार मुख्यत: इसी गुण से उद्भूत है।

५. **सारवत्ता**—सूक्तियों में ऐसी अनुभूतियों का सार होता है जो कवि को परम्परा से या तात्कालिक वातावरण से प्राप्त होती हैं। सार रूप से कथन

के कारण वे यथासम्भव संक्षिप्त होती हैं। उनका यह[८२] गुण भी उनके लोकोक्ति बनने में सहायक होता है। जहां सूक्ति में (अर्थान्तरन्यास द्वारा) उदाहरण या दृष्टान्त भी दिया होता है वहां अधिकतर दृष्टान्त और निष्कर्ष पृथक्-पृथक् रूपेण स्वतन्त्र सूक्तियों का निर्माण करते हैं और मिलकर एक का भी। व्यवहार में दोनों तरह से प्रयोग हो सकता है।

६. **अर्थ-पूर्णता**—यद्यपि सूक्ति-विषयक परिभाषाओं में सूक्ति के इस अपरिहार्य तत्त्व का संकेत नहीं मिलता तथापि जैसाकि ऊपर[८३] अनुसन्धान-किया गया है पूर्ण अर्थ दिए बिना सूक्ति का स्वरूप निष्पन्न नहीं हो सकता।

इस सब विवेचन के आधार पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से सूक्ति के ये पांच **स्वरूपाधायक** गुण कहे जा सकते हैं—

१. तथ्य का प्रतिपादन या प्रेरणा। (तथ्यात्मकता)
२. भाषा की प्राञ्जलता एवं सुगठितता। (साहित्यिकता)
३. संक्षिप्तता या सारगर्भितता। (सारवत्ता)
४. सामान्यात्मकता। (सर्व-सामान्यता)
५. अर्थ की पूर्णता। (पूर्णार्थता)

और सूक्ति की प्रभावोत्पादकता के लिए **उत्कर्षाधायक** गुण ये दो हैं—

१. काव्यात्मकता—सरसता एवं अलंकृत भाषा-शैली।
२. व्यञ्जनात्मकता।

(ग) **परिभाषा**—इस प्रकार सूक्ति का स्वरूप निम्न शब्दों में प्रकट किया जा सकता है—

प्राञ्जल एवं सुगठित भाषा में ऐसी संक्षिप्त, सारगर्भित, सामान्यात्मक एवं पूर्ण उक्ति जो किसी मानवीय तथ्य का प्रतिपादन करे या मानव को प्रेरणा दे, और परिस्थिति-साम्य होने पर उद्धरणीय हो, सूक्ति कहलाती है।

५. सूक्ति तथा लोकोक्ति

पिछले अनुच्छेद में सूक्ति का जो स्वरूप दिखाया गया है वह लोकोक्ति का स्मरण करा देता है। वस्तुतः, दोनों में तात्त्विक रचना की दृष्टि से बहुत साम्य है। अतः यहां दोनों के अन्तर को स्पष्ट करना वांछनीय हो जाता है।

(क) **लोकोक्ति का स्वरूप**—काव्यशास्त्रीय दृष्टि से श्री अप्पय दीक्षित लोकप्रवाद की अनुकृति को लोकोक्ति अलंकार कहते हैं।[८४] यथा—'विश्व-प्रसिद्ध-तर-विप्रकुल-प्रसूतेर् यज्ञोपवीतवहनं हि न खल्वपेक्ष्यम्।'[८५]—'संसार में खूब प्रसिद्ध ब्राह्मण के घर उत्पन्न सन्तान के लिए जनेऊ पहनना आवश्यक नहीं।' यह कहावत की अनुकृति है। इसी प्रकार 'लोचने मीलयित्वा' इस मुहावरे की अनुकृति को भी उन्होंने लोकोक्ति माना है।[८६] अतः श्री अप्पय दीक्षित को 'लोकोक्ति' अलंकार के अन्तर्गत मुहावरा और कहावत दोनों अपेक्षित हैं।

आधुनिक विद्वानों ने लोकोक्ति का पर्याप्त विस्तार से अध्ययन किया है। उन्होंने लोकोक्ति की अनेक विशेषताएं दी हैं। इस क्षेत्र के एक धुरन्धर अध्येता श्री चैम्पियन की परिभाषा इस प्रकार है—'लोकोक्ति एक ऐसा **जातीय सूत्र** है जो **जन-सामान्य के प्रयोग** में रह चुका हो, या वर्तमान में भी हो, तथा जो रूपक या दृष्टान्त के **छद्म-वेश** में **वाच्य-भिन्न** (लाक्षणिक या व्यंग्य) अर्थ देने के कारण अनिवार्यत: **प्रच्छन्न रूप से शिक्षा या परामर्श** देता है।[८७]

इस परिभाषा में कृष्णाक्षरों में छः गुणों का संकेत है परन्तु जेम्स हेस्टिंग्स चार गुणों का निश्चय कर इसको सरल कर देता है—(१) संक्षिप्तता (२) भाव एवं विचार, (३) सरसता या लावण्य तथा (४) लोकप्रियता।[८८]

(ख) सूक्ति तथा लोकोक्ति की तुलना—उल्लिखित चारों गुण सूक्ति में भी कुछ न्यूनाधिक मात्रा में रहते हैं। अत: सूक्ति-लोकोक्ति की तुलना करने पर उनमें समानताएं अधिक और भिन्नताएं कम दिखाई देती हैं। चैम्पियन ने तो 'सूक्ति' के समानार्थक शब्द 'सुभाषित' को 'कहावत' का पर्याय ही कह दिया है।[८९] तो फिर, शैली, भाषा, विषय और क्षेत्रगत दृष्टियों से इन दोनों की तुलना कर ली जाए।

(१) शैलीगत—ऊपर चैम्पियन की परिभाषा में लोकोक्ति के वाच्य-भिन्न अर्थ की, और लोकोक्ति में केवल प्रच्छन्न रूप से शिक्षा या परामर्श देने की कल्पना की गई है। वस्तुत: ऐसा है नहीं। वाच्य अर्थ में भी लोकोक्तियां कही जाती हैं, जैसे—'गत: कालो न चायाति।' या 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।' हिन्दी में भी,—'मित्र वह जो काम आए।' या 'बुरे दिनों में अक्ल मारी जाती है।' अंग्रेजी में भी—'Something is better than nothing'. या 'A friend in need is a friend indeed.'

अत: शब्द के तीनों अर्थों—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य—में लोकोक्ति कही जा सकती है। सूक्ति के साथ भी ऐसा ही है। इतना अन्तर अवश्य है कि वाच्य अर्थ देनेवाली लोकोक्तियों की संख्या पर्याप्त स्वल्प होती है। जबकि इसके विपरीत सूक्तियों के विषय में वास्तविकता यह है कि अभिधेय अर्थ में उनका पर्याप्त संख्या में सृजन होता है और वहां उनकी भाव-प्रवणता और भाषा शैली की चारुता ही उनको स्वीकरणीय वनाती है। व्यंजनापूर्ण वाक्य में कही जाने पर उनका प्रभाव असंदिग्ध रूप से बढ़ जाता है।[९०]

सूक्तियों व लोकोक्तियों दोनों में विशाल अनुभवों का सारांश दिया जाता है।[९१] अत: दोनों में सारीकरण की प्रवृत्ति के साथ-साथ वाक्यों का रूप सामान्यात्मक, संक्षिप्त और सरस होता है। सूक्ति में कवि की कवित्वशक्ति के अनुसार और लोकोक्तियों में अनेक कण्ठों से निकलते-निकलते जनसमुदाय के बुद्धिवैभव के अनुसार एक विशेष सरसता एवं प्राञ्जलता का स्वत: आधान हो जाता है।

इसके अतिरिक्त लोकोक्तियों के विषय में कहा जाता है कि—"उनमें प्रकार-वाचक क्रिया-विशेषणों, (modifying adverbs), जैसे-प्राय:, कभी-कभी, अधिकतया, स्वल्पतया—का परिहार किया जाता है। जो बात बाहुल्येन (on the whole), या

चाहे अपवादरूपेण सत्य हो उसे भी लोकोक्तियां सार्वभौमिक सत्य के रूप में कहती हैं।"[६२] सामान्यत: सूक्तियों के विषयों में भी यह सही है, तथापि कभी-कभी वे 'प्राय:' जैसे क्रिया-विशेषणों से युक्त हुआ करती है।[६३]

(२) **भाषागत**—सूक्तियों और लोकोक्तियों की भाषा में थोड़ी भिन्नता रहती है। सूक्तियों की भाषा कुछ क्लिष्टता सह सकती है, परन्तु लोकोक्ति की नहीं। इसका सीधा-सा कारण यह है कि सूक्ति की भाषा कवि द्वारा परिष्कृत होती है और लोकोक्ति की लोक द्वारा व्यवहृत। उदाहरणार्थ—'वसुधाधरकंदराभिसर्पी प्रतिशब्दोऽपि हरेर्भिनत्ति नागान्'[६४]—जैसे दुरूह शब्दों और विशेषणों से युक्त उक्ति सूक्ति ही रहेगी, लोकोक्ति नहीं बनेगी। बनी भी तो पर्याप्त परिवर्तन संभाव्य है जैसाकि आगे (ग) (२) में दर्शाया गया है। किन्तु निश्चय ही, उचित भाषा-संघटन के बिना न सूक्ति-सूक्ति है, न लोकोक्ति लोकोक्ति।

(३) **विषयगत**—विज्ञ-जन मानते हैं कि किसी जाति की लोकोक्तियों में जातिगत आलोचना अधिक होती है, जातिगत अच्छे गुणों का प्रकटीकरण उनमें नहीं के बराबर होता है।[६५] सूक्तियों के विषय में ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता। उनमें जातिगत तथ्यों का उल्लेख रहता है, चाहे वह अच्छाई व्यक्त करे या बुराई। उदाहरणार्थ, अदूरकोपा हि मुनिजनप्रकृति:[६६]—यह सूक्ति मुनियों के क्रोधी स्वभाव की परिचायक है। यह कोई प्रशंसनीय तथ्य नहीं कहा जा सकता। यदि इसे आक्षेपात्मक सूक्ति कहा जाए तो प्रशंसात्मक सूक्तियों की संख्या भी बड़ी है और शायद ज्यादा। जैसे—"अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम"[६७] या—"सर्वसत्त्वानुकम्पिनी प्राय: प्रव्रज्या '[६८]

वास्तविकता यह है कि सूक्ति में विषय और उसका प्रतिपादन साहित्यिक स्तर का होता है तथा लोकोक्ति में लौकिक स्तर का। लोक-मानस अपनी प्रतिक्रियाकी अभिव्यक्ति जो स्वभावत: सामाजिक दोषों पर तीव्रतर होनी ही चाहिए, सीधी-सादी(unpolished) भाषा में करता है। परन्तु, कवि उसी को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत कर देता है, और सहित्यकार होने के नाते, विशेषत:, संस्कृत-परम्परा का पालन करते हुए, आदर्श और उदात्त पर ही अधिक ध्यान केन्द्रित करता है, दोषों और बुराइयों पर कम।

सूक्ति और लोकोक्ति दोनों तथ्यात्मक विषय लिये रहती हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि ये तथ्य पूर्ण सत्य हों। जीवन और जगत् में जिस तथ्य की अनुभूति होती है उसी को सूक्ति और लोकोक्ति में सार्वभौम तथ्य के रूप में प्रकट कर दिया जाता है। परिस्थितियों के अनुसार परस्पर विरोधी तथ्य भी अनुभव का विषय हुआ करते हैं, अत:, सूक्ति व लोकोक्ति में भी परस्पर विरोधी तथ्यों का प्रतिपादन हो जाया करता है। इसीलिए लोकोक्तियों के विषय में कहा गया है—"जीवन के किसी भी प्रश्न के निर्णयार्थ उभयपक्ष का समर्थन करने वाली लोकोक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं।··· इसका अर्थ केवल यही है कि लोकोक्तियां मानवीय अनुभवों का स्फटिक-समान प्रतिबिम्बक और घनीभूत (crystalized) रूप हैं और जैसे मानवीय अनुभव किसी समस्या का निश्चित हल नहीं दे सकता वैसे ही लोकोक्तियां भी नहीं कर सकतीं। वे

किसी प्रश्न के दोनों पक्ष स्पष्टतया प्रस्तुत करके मनुष्य पर चुनाव छोड़ देती हैं।"[९९] इस प्रकार का पारस्परिक विरोध सूक्तियों में भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ—भाग्य और उद्यम की सूक्तियां।

(४) क्षेत्रगत—सूक्ति लोकोक्ति की पारस्परिक भिन्नता मूलरूप से उनके क्षेत्र पर आधारित है। क्षेत्र से यहां इनकी उत्पत्ति और प्रयोग का स्थान अभिप्रेत है। सूक्ति का मुख्य क्षेत्र साहित्य है और लोकोक्ति का लोक।[१००] यह क्षेत्र का विभाजन सीमा-विभाजन नहीं है। केवल इतना ही कि सूक्ति की उत्पत्ति और प्रयोग अधिकतः साहित्य में होते हैं और लोकोक्ति का उद्‌भव तथा प्रचलन अधिकतः लोक में। इस आधार पर सूक्ति को एक साहित्यिक उक्ति कहा जा सकता है और लोकोक्ति को एक लौकिक उक्ति। 'सु' और 'लोक' ये पद भी इसी ओर इंगित कर रहे हैं। यह क्षेत्र का अन्तर सूक्ति तथा लोकोक्ति के शैली, भाषा व विषयगत सूक्ष्म भेद का आधार भी स्पष्ट करता है।

सूक्ति-लोकोक्ति के प्रयोग की उपयोगिता एक जैसी है। दोनों का कार्य है वाणी को प्रभावशाली बनाना। दोनों ही वक्ता के तर्क को पुष्ट करती हैं और अन्यों द्वारा स्वीकरणीय बनाती हैं। सूक्तियों की प्रभविष्णुता के कारण ही उन्हें स्मरण करने के लिए विद्यार्थियों का प्रयत्न भी रहता है।[१०१]

(ग) सूक्ति-लोकोक्ति का पारस्परिक सांकर्य—लोक और साहित्य दोनों एक-दूसरे से सभी क्षेत्रों में आदान-प्रदान करते हैं। फिर उक्तियों के क्षेत्र में ही कैसे पीछे रहते ? इसीलिए अनेक लोकोक्तियां सूक्तियों के रूप में कविमुख से निस्सृत हुई हैं और अनेक सूक्तियां लोक में लोकोक्तिवत् अपना ली गई हैं।[१०२] यह आदान-प्रदान उतना ही प्राचीन है जितना कि साहित्य। तबसे अब तक इन दोनों प्रकार की उक्तियों का आपस में इतना सम्मिश्रण हुआ है कि यदि किसी सूक्ति में लोकोक्ति को स्पष्टतः परिलक्षित करना टेढ़ी खीर है तो लोकोक्तियों में से सूक्तियों को छांट देना भी सरल कार्य नहीं।

(१) लोकोक्ति से सूक्ति—लौकिक स्तर की कोई उक्ति जब सूक्ति बनने लगती है तो कवि की उत्कृष्ट पैनी छैनी उसे परिष्कृत एवं परिमार्जित कर देती है। यह दूसरी बात है कि कभी-कभी साहित्यकार लोकोक्ति का प्रयोग प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में करे।[१०३]

जिन स्थानों पर—'यदुच्यते,' 'सत्यमदः', 'सत्योऽयं लोकप्रवादः', या 'सूक्तिखलु कस्यापि'—जैसे पदों के साथ कोई उक्ति दी होती है वहां निस्सन्देह कहा जा सकता है कि कवि द्वारा किसी लोकोक्ति या लोकप्रचलित सूक्ति का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ—यदुच्यते पार्वति, पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः[१०४] तथा—इदं तत् प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते[१०५], इन पदों में पापवृत्तये न रूपम् तथा—प्रत्युत्पन्न-मति स्त्रैणम् अंश स्पष्ट ही लोकोक्ति माने जा सकते हैं।

कुछ और उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—

सत्योऽयं लोकप्रवादो यद्—विपद्विपदं सम्पत्सम्पदमनुबध्नातीति।[१०६]
एतदपि न श्रुतं त्वया—आलाने गृह्यते हस्ती, वाजी वल्गासु गृह्यते।
हृदये गृह्यते नारी, यदीदं नास्ति गम्यताम्॥[१०७]
सुष्ठु खलूच्यते—अकन्दसमुत्थिता पद्मिनी...अलुब्धा गणिकेति दुष्करमेते सम्भाव्यन्ते।[१०८]

इसी प्रकार जहाँ प्राकृतभाषी पात्र प्राकृत छोड़कर, संस्कृत का आश्रय लेकर कुछ वाक्य कहते हैं[१०९] वहां यह भी माना जा सकता है कि कवि किसी लोकविश्रुत उक्ति का प्रयोग कर रहा है। किन्तु ऐसा सदा स्पष्टरूपेण नहीं होता। अनेकधा कवि या लेखक भाषा-सौष्ठव तथा स्वाभाविक प्रवाह आदि बनाये रखकर भी बिना कोई संकेत दिये हुए, अनजाने में ही लोकोक्ति का प्रयोग कर लिया करता है। उदाहरणार्थ यह कहना संभवतः निराधार न हो कि—

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः[११०]—यह सूक्ति किसी लोकोक्ति का सूक्तिरूप प्रतीत होती है। कारण, यह दृष्टान्त—'लोग आग को नहीं राख को लांघते हैं।' इतना सीधा-सादा और दैनिक लोक-व्यवहार से जुड़ा हुआ है कि लोकोक्ति का अंग बनने में इसे कोई कठिनाई नहीं हुई होगी। भारवि की सूक्ति के शब्द यद्यपि बहुत सहज नहीं हैं, फिर भी इसने मूल-लोकोक्ति का स्थान ले लिया होगा, ऐसी कल्पना अन्य किसी लोकोक्ति के अभाव में की ही जा सकती है।

इस प्रकार की लोकोक्तियों या लोकोक्ति-प्रसूत सूक्तियों को पहचानने में कठिनाई इसलिए होती है कि कवि के काल में व्यवहृत लोक-साहित्य से आज का पाठक परिचित नहीं होता। संस्कृत जैसे प्राचीन साहित्य के विषय में यह पूर्णतः सही है।

एक बात और, गद्य लिखते समय लोकोक्ति को उसी रूप में रख देना कठिन नहीं है। जैसे—सुष्ठु खल्विदमुच्यते—रत्नं रत्नेन संगच्छते इति।[१११] या सुष्ठु एतद् भण्यते—सदृशाः सदृशेषु रज्यन्ते इति।[११२] परन्तु पद्य लिखते समय यदि लोकोक्ति की भाषा आदि में परिवर्तन करने की इच्छा न हो तो भी छन्द की आवश्यकतानुसार क्रम में एवं शब्दों में परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार, संस्कृत कवियों की ऐसी अनेक गद्य-पद्य-मयी सूक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं जिनके लोकोक्ति होने या उससे निर्मित होने का सन्देह होता है, परन्तु स्पष्ट संकेत के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।[११३]

कुछ स्थलों का स्वरूप भी विश्वास दिलाता है कि वहां लोकोक्ति का प्रयोग हुआ होगा। यथा कालिदास की ये सूक्तियां—

लोत्रेण गृहीतस्य कुम्भीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम्?[११४]
तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम्[११५]।
छिन्नहस्तो मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति धर्मो मे भविष्यतीति।[११६]

—इनका लौकिक स्तर तथा दैनिक जीवन के क्रिया-कलाप से सम्बन्ध द्रष्टव्य है।

लोकोक्ति से निर्मित सूक्ति के लोकप्रचलित हो जाने पर लोकोक्ति का विस्मरण स्वाभाविक है। हिन्दी में प्रयुक्त एक कहावत 'का वर्षा जब कृषि सुखाने' कवि तुलसीदास की है। स्पष्ट है कि यह सूक्ति है और इसने अपनी मूल लोकोक्ति का स्थान ले लिया है। संस्कृत जगत् में भी यह प्रवृत्ति रही होगी, परन्तु प्राचीन लोकोक्तियों के ज्ञानाभाव में तथा आज प्रयोग की क्षीणता में निश्चित उदाहरण दिखाना संभव नहीं।

इसके अतिरिक्त संस्कृत-कवियों में एक प्रवृत्ति यह भी दृष्टिगोचर होती है कि एक सूक्ति में अनेक लोकोक्तियों का एकसाथ प्रयोग कर दिया जाता है। जैसे— **ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निः, विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।** और उनके निष्कर्ष रूप में वाच्यार्थक सूक्ति दे दी जाती है— **प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते जन्तुः।**[११७] ऐसे स्थलों पर कवि ने लोक-प्रवादों का उपयोग किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

(२) **सूक्ति से लोकोक्ति**—सूक्ति बहुधा लोक द्वारा अपना ली जाती है, तथा कालान्तर में लोक-स्वीकृति से वह ही लोकोक्ति बन जाती है।[११८] इसका कारण होता है—सूक्ति में प्रस्तुत लौकिक स्तर की तथा दैनिक जीवन के उपयोग की बातें। भाषा और भाव की सरलता और सरसता आदि गुण तो उनमें अनिवार्यतः अपेक्षित होते ही हैं। यदि कवि का नाम जीवित है और उसकी कृतियां प्राप्य हैं तब तो लोकोक्तियों के बीच से सूक्तियां छांटी जा सकती हैं। परन्तु संस्कृत के क्षेत्र में इसकी सीमाएं हैं। संस्कृत भाषा आज कुछ विद्वानों तक सीमित है। उसके वक्ताओं के मध्य जो उक्तियां चलती हैं वे सूक्ति या लोकोक्ति दोनों ही हो सकती हैं, पर इतना निश्चित है कि उन्हें उनकी प्राप्ति साहित्य से ही होती है। उदाहरण के लिए—**विभूषणं मौनमपण्डितानाम्**[११९], **विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।**[१२०] ऐसी अनेक उक्तियां हैं जो संस्कृत न जानने वाले लोगों द्वारा भी प्रयुक्त होती हैं। इन्हें सूक्ति से लोकोक्ति-प्रचलन का निदर्शन माना जा सकता है।

सूक्ति से लोकोक्ति बनते समय कुछ परिवर्तन भी हो सकते हैं। उसका कलेवर छोटा किया जा सकता है तथा उसमें से कुछ परिहार्य विशेषण हटाए जा सकते हैं। जैसे— **कः इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति ?**[१२१] के स्थान पर— **कः शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति ?** का ही प्रयोग प्रायः होता है। इसी प्रकार भाव-सौकर्य, मुख-सुख आदि के लिए क्रिया आदि में भी कुछ परिवर्तन किया जा सकता है। जिन सूक्तियों के जितने अधिक पाठान्तर मिलते हैं[१२२], वे उतनी ही अधिक लोकप्रचलित रही होंगी, ऐसा कहा जा सकता है।

ऊपर यद्यपि सूक्ति और लोकोक्ति की कुछ भिन्नताओं का भी निरूपण किया गया है, तथापि इन दोनों में भाव, संघटन और स्वरूप की दृष्टि से इतना अधिक साम्य है कि जन-साधारण ही नहीं विदग्धजन भी इन दोनों को पृथक् करने में कठिनाई अनुभव करते हैं। विशेषतः संस्कृत साहित्य में तो ये दोनों इतनी घुलमिल गई हैं कि प्रायः पहचानना भी अत्यन्त कठिन हो जाता है।

६. सूक्ति की सुभाषित आदि से तुलना

कई शब्द ऐसे हैं जो सूक्ति के समानार्थक-से प्रतीत होते हैं या उससे मिलते-जुलते अर्थ

के द्योतक हैं, अतः सन्देहोत्पादक हैं। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनके साथ सूक्ति के कुछ गुण मिलते हैं। उन सबसे सूक्ति की तुलना करने पर सूक्ति का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

(क) सुभाषित—सुभाषित और सूक्ति दोनों ही शब्द पर्याप्त प्राचीन हैं। मोनियर विलियम्स के अनुसार 'सुभाषित' शब्द महाभारत व कुछ कोषों में तथा 'सूक्ति' शब्द काठक व रामायण में मिलता है।[१२३] मनुस्मृति में[१२४] 'सुभाषितम्' शब्द का प्रयोग हुआ है।

वस्तुतः नपुंसक-लिङ्ग 'सुभाषित' और स्त्रीलिङ्ग 'सूक्ति' शब्द पूर्णतः समानार्थक हैं। जिस प्रकार के संग्रहों के लिए 'सूक्ति-संग्रह' शब्द आता है उसी प्रकार के संग्रहों के लिए 'सुभाषित-संग्रह' शब्द का प्रयोग होता है। आधुनिक विद्वानों का भी यही मत है कि ये समानार्थक हैं।[१२५]

ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि प्रस्तुत प्रबन्ध के लिए सूक्ति नाम क्यों चुना गया, जब कि डा० क० म० मुन्शी, डा० जे० गौण्डा, एवं डा० लुडविग स्टर्नबक[१२६] का भी यह परामर्श है कि सुभाषित नाम का प्रयोग अधिक उपयुक्त रहेगा। कठिनाई यह है कि सूक्ति-संग्रहों व सुभाषित-संग्रहों दोनों में ही वर्णनात्मक एवं कुछ तथ्यरहित उक्तियों का समावेश हो गया है। 'सुभाषित' शब्द के सूक्ति की अपेक्षा अधिक प्रचलित (श्री लुडविग के अनुसार Common, और श्री मुन्शी के शब्दों में Well-understood होने के कारण उससे इस प्रबन्ध में अनभिप्रेत (तथ्य-रहित, केवल वर्णनात्मक) उक्तियों का द्योतन न होने देना अधिक कठिन होता। प्रस्तुत प्रबन्ध में 'सूक्ति' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में हुआ है।[१२७] ऐसे विशिष्ट और वैज्ञानिक अर्थ में सूक्ति शब्द को पारिभाषिक रूप में ढालना सुभाषित की अपेक्षा सरल प्रतीत हुआ। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध के लिए डा० भार्गव[१२८] के संकेतानुसार 'सूक्ति' शब्द को ही उचित समझा गया है।

(ख). ऐपोफ्थैम (Apophthegm)—सूक्ति और सुभाषित दोनों ही शब्दों का अंग्रेजी पर्याय है—एपोफ्थैम, जिसका अर्थ है—"एक संक्षिप्त (short) और मार्मिक (pointed) उक्ति, जैसे यह टिप्पणी—'ज्ञान ही शक्ति है।' समय और स्वीकृति से जिस प्रकार सूक्ति उसी प्रकार एपोफ्थैम भी लोकोक्ति बन जाते हैं।"[१२९] फन्क एण्ड वैग्नल्स ने ऐपोफ्थैम को लोकोक्तियों के अत्यन्त निकट का माना है, और इन्हें 'नैतिक निर्णय का संक्षिप्त कथन' कहा है।[१३०]

इसका सूक्ति या सुभाषित से एक यही अन्तर है कि यह तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी शब्द है,[१३१] जबकि सूक्ति और सुभाषित साहित्य से सम्बन्धित हैं।

(ग) सूक्त—सूक्ति से मिलते जुलते शब्द "सूक्तम्" का नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग वेदों में एक-देवतापरक मन्त्रों के समूह के लिए होता है। वहाँ इसके अर्थ हैं—अच्छी तरह उक्ति या उच्चारित, स्तुतिगत, प्रबुद्ध उक्ति, वैदिक ऋक्समूह।[१३२] इनमें से प्रबुद्ध उक्ति अर्थ सूक्ति के निकट का है।

"सूक्त" शब्द का प्रयोग 'अच्छी तरह कथित'[१३३] के अतिरिक्त 'सूक्ति'[१३४] एवं 'सुभाषित'[१३५] के अर्थ में भी मिलता है। अतः वेदों के उद्गाता ऋषियों के सूक्तों से पृथक्

करने के लिए उत्तरकालीन मनीषियों के शोभन एवं विचारपूर्ण उद्‌गारों को 'सूक्ति' शब्द से अभिहित किया गया प्रतीत होता है।

(घ) सूत्र (Aphorism)—सूत्र का अर्थ है संक्षिप्त नियम। विधि, दर्शन, व्याकरण आदि की शिक्षा देने के लिए संक्षिप्ततम वाक्यों का प्रणयन आवश्यक हुआ और इसलिए सूत्रशैली का आविर्भाव हुआ। विधि के लिए जैसे श्रौतसूत्र, कल्पसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र। दर्शन के लिए सांख्य आदि के संस्थापक कपिल आदि मुनियों के सूत्र। व्याकरण के लिए पाणिनि के सूत्र। संभवतः नियम का वाचक होने के कारण सूत्र का अर्थ बौद्धों व पाशुपत धर्मावलम्बियों में मौलिक पाठ होता है।[१३६]

सूत्र की यह परिभाषा दी जाती है—

स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥[१३७]

अधिकतर सूत्रों में संघटन और संक्षिप्तता के अतिरिक्त सूक्ति से और कोई साम्य दृष्टिगत नहीं होता। यद्यपि धर्म-सूत्रों के कुछ सूत्र सूक्ति के समान प्रतीत होते हैं तथापि उन में साक्षात् उपदेश दिया जाता है। प्रच्छन्नरूप से सरसतया जीवन के किसी तथ्य को व्यक्त करने की भावना जो सूक्तियों में उपलब्ध होती है, वह उन सूत्रों में नहीं है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और नीतिसूत्रों में जो सूत्र उपलब्ध होते हैं उनके विषय में भी यही सही है। सूक्ति और लोकोक्ति के अनिवार्य तत्त्व उनमें नहीं मिलते। हाँ, कहीं-कहीं सूत्रकारों की कविप्रतिभा उद्‌बुद्ध हुई है और फलतः कतिपय सूत्रों में सूक्ति के गुणों का समावेश देखा जा सकता है। यथा—'बिल्वं बिल्वेन हन्यताम्'[१३८] 'दारिद्र्यं पुरुषस्य जीवितं मरणम्।' 'विरूपोऽर्थवान् सुरूपः।'[१३९] ऐसे कुछेक अपवादों को छोड़कर सूत्रों में सु-उक्त होना अनिवार्य नहीं और वे प्रायः व्यवस्थापक होते हैं। कई बार ऊपर की अनुवृत्ति के बिना वे पूर्ण नहीं होते, जैसे पाणिनिसूत्र। इन विशेषताओं के कारण 'सूत्र' सूक्ति से बहुत भिन्न ठहरते हैं।

सूत्र के अंग्रेजी पर्याय 'ऐफ़ोरिज़्म' का अर्थ है—'एक परिभाषा या किसी विज्ञान के किसी नियम का संक्षिप्त कथन।'[१४०] यह 'सूत्र' का ही स्थानापन्न हो सकता है उस सूक्ति का नहीं; जिसमें केवल संक्षिप्तता ही नहीं सरसता भी होती है।

(ङ) नीतिपरक एवं उपदेशात्मक पद (Gnomes & didactic stanzas)—नीति-वाक्यों में संक्षिप्तता होने पर भी सही व्यवहार की शिक्षा देने वाली दृष्टि होती है।[१४१] सूक्तियों में नीति-कथन हो सकता है परन्तु वहां दृष्टि उपदेशात्मक नहीं होती। श्रोता या पाठक को जहां पता लगा कि उसे शिक्षा दी जा रही है, वहीं उसका रसभंग हो जाता है। बहुत-से नीति-वाक्यों में ऐसा ही होता है। परन्तु सूक्ति का सूक्तित्व ही इसमें है कि वह रस का आस्वादन होने दे। नीति जहां बुद्धि को प्रभावित करना चाहती है, वहां सूक्ति प्रायः हृदय को रसान्वित करते हुए अपना आशय व्यक्त करती है। यही इन दोनों का अन्तर है।

फिर भी, बहुत-से नीति-वाक्य सूक्ति शैली के हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। ऐसे

नीतिपरक पदों को नीतिकाव्यों में होने पर भी सूक्ति ही कहा जायेगा।[१४२] यथा —

एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा॥
दूरतः शोभते मूर्खो लम्ब-शाट-पटावृतः।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत् किंचिन्न भाषते॥[१४३]

नीतिकथन जब हृदयग्राही ढंग से होता है, जैसे कि ऊपर के वाक्यों में, तब जनता उन्हें अपना लेती है[१४४] और फिर कई बार तो इन्हें लोकोक्तियों से पृथक् करना भी कठिन हो जाता है।[१४५]

जो ध्येय नीति का है उसे सूक्ति एवं लोकोक्ति दोनों श्रोता को इसका भान कराए बिना ही पूरा करती हैं। इसलिए कुछ विद्वानों की दृष्टि में लोकोक्तियां नीति-साहित्य का ही अंग हैं।[१४६] किन्तु सूक्तियों के विषय में यह पूर्णतः सही प्रतीत नहीं होता। हां नीतिपरक सूक्तियां काव्य-गुणों से विभूषित नीति-साहित्य अवश्य कहला सकती हैं।

यहां एक भेद स्पष्ट कर देना आवश्यक है। सूक्तियों में प्रायः उदात्तीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है, जबकि नीति-वाक्यों में व्यावहारिकता की। इसी कारण कहीं-कहीं उनमें विरोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ—

नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रियै। विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः।[१४७] यह सूक्ति अर्थशास्त्र के **'अभियास्यत्-कर्म'** में निर्दिष्ट 'दुर्बल शत्रु पर आक्रमण करने की नीति[१४८] का स्पष्ट विरोध करती है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सूक्ति सदा ही नीति का विरोध करती है या यथार्थ को भुला देती है। उदारणार्थ एक अन्य सूक्ति **जयो रन्ध्रप्रहारिणाम्।**[१४९]—शत्रु के छिद्र (दौर्बल्य) पर ही आक्रमण करने वाले की विजय का संकेत करती है।

वस्तुतः नीति में केवल व्यावहारिक औचित्य का प्रतिपादन होता है, जबकि सूक्ति या तो वास्तविक जीवन के व्यवहार को कहती है अथवा उसके आदर्श स्वरूप को प्रस्तुत करती है। यथा **स्वहस्तोऽपि विषदिग्धश्छेद्यः।**[१५०] इस नीति का यथार्थ जीवन में ममत्व के वशीभूत होकर पालन करना अत्यन्त कठिन है। अतः सूक्ति वास्तविकता में ही औचित्य ढूंढ़ती है--**विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।**[१५१] स्पष्ट है कि सूक्ति यथार्थ जीवन को धिक्कारना अच्छा नहीं मानती। वह तो यथार्थ और आदर्श में, वास्तविकता और उदात्तता में सन्तुलन करने का प्रयत्न करती है।

(च) मुक्तक काव्य—मुक्तक का अर्थ होता है—"पृथक्कृत, भिन्न, स्वतन्त्र"।[१५२] दूसरे से निरपेक्ष स्वतन्त्र रचना।[१५३] आचार्य वामन ने इसी अर्थ को ध्यान में रखकर इसके लिए 'अनिबद्ध'[१५४] नाम दिया है। सूक्ति से इसकी कुछ भिन्नताएं द्रष्टव्य हैं—

१. मुक्तक की अपेक्षा सूक्ति संक्षिप्त होती है।
२. सूक्ति सामान्य-तथ्यात्मिका होती है और मुक्तक वर्णनात्मक भी होते हैं। मुक्तक में जीवन का वर्णन होता है तो सूक्ति में उस पर टिप्पण रहता है।

जैसे 'अमरूक-शतक, में प्रायः प्रेम-जीवन का दृश्य खींचा गया है, पर 'श्रृंगार-शतक' की सूक्तियों में (सब मुक्तकों में नहीं) उस पर अपना मन्तव्य भी प्रकट किया गया है।[१५५]

३. किसी प्रवन्ध-काव्य के एक अंश को मुक्तक नहीं, सूक्ति कहा जा सकता है, और सूक्ति मुक्तक-काव्य में भी हो सकती है।[१५६]

४. कोई कवि संकल्प करके मुक्तक-काव्य-रचना में प्रवृत्त होता है, किन्तु यह सोचकर कि—मैं सूक्तियां ही सूक्तियां लिखूंगा—वह सूक्ति-रचना में प्रवृत्त नहीं होता। उसकी रचना—प्रबन्ध या मुक्तक—में सूक्तियां अनायास ही समाविष्ट हो जाती हैं।

५. सूक्ति गद्यमयी भी हो सकती है परन्तु मुक्तक प्रायः पद्यमय या छन्दोबद्ध ही उपलब्ध होते हैं फिर चाहे वह मुक्तच्छन्द ही क्यों न हो, यद्यपि संस्कृत में अभी इस प्रकार के मुक्तक नहीं हैं।

६. मुक्तक पद्य-काव्य का एक भेद है, जब कि सूक्तियां काव्य का भेद न होकर सभी प्रकार के काव्यों के माध्यम से प्रकाशित सामान्य रूप से तथ्य को कहने वाली कवि की अप्रयासजन्य स्वतः-स्यूत अभिव्यक्तियां हैं।

(छ) चित्र-काव्य—आचार्य मम्मट के अनुसार शब्द में या उसके वाच्य अर्थ में (उक्तिवैचित्र्य आदि द्वारा) चमत्कार उत्पन्न करने वाला काव्य अधम काव्य होता हैं।[१५७] इसे ही चित्रकाव्य के नाम से ज़ाना जाता है। इसमें उक्ति का वैचित्र्य रसास्वाद-वर्धक नहीं हुआ करता।

सूक्ति के लिए आवश्यक गुण है—शोभन एवं रमणीय होना। वह शोभन उक्ति-प्रकार अपनाती है; विचित्र-प्रकार नहीं। चित्रकाव्य से इसके विषय और उद्देश्य का भी बहुत अन्तर है। चित्रकाव्य बुद्धिविलास की वस्तु है तो सूक्ति भावोद्रेक की।[१५८]

(ज) लौकिक न्याय (लोकन्याय)—डा० व्हूलर ने 'न्याय' का अर्थ किया है—परिचित उदाहरणों के निष्कर्ष (inferences from familiar instances)[१५९], जैसे अजाकृपाणीयन्याय, दण्डापूपिकान्याय, देहलीदीपन्याय आदि। न्याय का लोकप्रसिद्ध होना आवश्यक है।[१६०] डा० जे० गोण्डा के अनुसार—'सामान्य जनता द्वारा पालनीय नियम' लोकन्याय हैं।[१६१] किन्हीं घटनाओं, पूर्वप्रचलित कथाओं अथवा लोकोक्ति से इनका निर्माण हुआ है। जितने न्यायों के साथ न्याय शब्द का प्रयोग होता है, वे सब वाक्यांश के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों तथा कुछ संस्कृत काव्यों में भी इनका प्रयोग देखा जाता है।[१६२]

अधिकांशतः लौकिक न्याय वाक्यांशों के रूप में तथा मुहावरों के समान प्रयोज्य हैं, परन्तु कतिपय लौकिक न्याय स्वतन्त्र वाक्य भी हैं और लोकोक्ति या सूक्ति के रूप में प्रयोज्य हैं। जैसे—अशक्तोऽहं गृहारंभे शक्तोऽहं गृहभंजने।[१६३] ऐसे लोकन्याय मूलतः किसी कवि की सूक्ति थे या लोकोक्ति यह कहना कठिन है। पर इतना निश्चय है कि कभी-न-कभी वे लोक-व्यवहृत भागों के अंग अवश्य रहे हैं। फिर भी, सभी लौकिक न्यायों

में सूक्ति के स्तर की सरसता और हृदय-ग्राहिता नहीं होती। अतः वे सूक्तियों से पृथक् ही समझे जाते हैं।

(झ) मैग्ज़िम (Maxim)—अंग्रेजी का 'मैग्ज़िम' शब्द सूक्ति के पर्याप्त निकट बैठता है। लौकिक न्याय के लिए डा० जैकोब ने 'मैग्ज़िम' का प्रयोग किया है, परन्तु साथ ही इसे उसके अर्थ का सही द्योतक नहीं माना है।[१६४] 'मैग्ज़िम' शब्द को 'न्याय' या 'सूक्ति' का पूर्णानुवाद तो नहीं कहा जा सकता परन्तु निस्सन्देह स्वरूप की दृष्टि से यह सूक्ति की कोटि का है। 'मैग्ज़िम' के ये अर्थ किये गए हैं—'प्रायः अनुभव से उद्भावित एक ऐसा संक्षिप्त सिद्धान्त जिसे सत्य मानकर नियम या निदर्शन के रूप में व्यवहृत किया जाता है।'[१६५] 'सूत्रात्मक या कथनात्मक रूप में एक सिद्धान्त जो विज्ञान या अनुभव के किसी सामान्य सत्य को निर्दिष्ट करता है।'[१६६] तथा 'तथ्य के प्रसंगों के निरीक्षण का निष्कर्ष मैग्ज़िम होता है।'[१६७]

मैग्ज़िम के ये सभी स्पष्टीकरण सूक्ति से इसका साम्य दर्शाने के लिए पर्याप्त हैं। किन्तु सूक्ति में सरसता के साथ किसी तथ्य को अभिव्यक्त करने की जो एक मुख्य विशेषता है उसे 'मैग्ज़िम' में आवश्यक नहीं माना गया है। अतः यह भी सूक्ति का पूर्णतः समानार्थक नहीं कहा जा सकता।

(ञ) वक्रोक्ति—साहित्यशास्त्र में वक्रोक्ति एक अलंकार के रूप में जानी जाती है। वक्रतापूर्ण उक्ति या अनूठा कथन ही 'वक्रोक्ति' है, इसलिए भामह ने सामान्यतः सभी अलंकारों का इसे प्राण मान लिया है।[१६८] आगे चलकर कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन ही स्वीकार कर लिया है।[१६९]

वक्रोक्ति सम्प्रदाय में वक्रता को अर्थात् उक्तिवैचित्र्य (कथन-भङ्गी के आकर्षण) को प्रमुखता दी गई है। सूक्ति के कथन-प्रकार का सौष्ठव भी उक्त सौन्दर्य पर आधृत है। अतः जहां तक उक्ति की चारुता का प्रश्न है, दोनों में समानता है। पर वक्रता के नाम पर चमत्कार और लोक-भिन्न प्रयोग को वक्रोक्ति में तो स्थान मिल सकता है, सूक्ति में नहीं। 'सहृदय के मनः-प्रसादन की क्षमता'[१७०] के अभाव में चित्रमूलक अलंकारों से युक्त कथन को सूक्ति अपने अंगरूप में कभी नहीं स्वीकारेगी, वक्रोक्ति चाहे जो करे।

सूक्ति-वक्रोक्ति में एक स्पष्ट अन्तर यह भी है कि कथित भाव की सामान्य तथ्यात्मकता सूक्ति में अनिवार्य है, वक्रोक्ति में नहीं।

(ट) छेकोक्ति—छेक का अर्थ है 'विदग्ध', अतः इसका शाब्दिक अर्थ तो विदग्धोक्ति हुआ। परन्तु श्री अप्पय दीक्षित ने इसे एक अलंकार मानकर परिभाषा दी है—'लोकोक्ति का अर्थान्तरगर्भित अनुकरण छेकोक्ति कहाता है।'[१७१] उन्होंने वहीं पर यह उदाहरण भी दिया है—"भुजंग एव जानीते भुजंगचरणं सखे"—इसमें अभीष्ट अर्थ के समर्थन के लिए लोकप्रसिद्ध वाक्य को सूक्ति में परिवर्तित करके रख दिया गया है। लोकोक्ति-सूक्ति का भेद दर्शाते हुए दोनों के आदानप्रदान की बात ऊपर कही गई है।[१७२] शास्त्रकारों ने उसे स्वीकार कर अलंकारों में जोड़ दिया है। इस प्रकार छेकोक्ति सूक्ति का ही एक अंग हुई, क्योंकि जिसमें लोकोक्ति छुपी हो ऐसी सूक्ति को

छेकोक्ति कह सकते हैं। पर सूक्ति में इससे अधिक बहुत कुछ है जो साहित्यकार की अपनी अनुभूतियों व अभिव्यक्तियों से जुड़ा है, केवल लोक से अनुकृत नहीं।

इस प्रकार सूक्ति का स्वरूप लोकोक्ति, सुभाषित आदि से कुछ तत्त्वों में समता रखते हुए भी स्वयं में विशिष्ट है, और इनसे पृथक समझते हुए ही उसका विवेचन अपेक्षित है।

७. सूक्तियों का कलापक्ष

(क) सूक्ति-संघटना के दो पक्ष : कला और भाव—सूक्ति-रचना में प्रयुक्त कवि-प्रतिभा पर सूक्तियों के कलापक्ष की श्रेष्ठता आधारित होती है। इस कलापक्ष के निर्णायक तत्त्वों के रूप में अलंकार, छन्द, भाषा, शैली को माना जा सकता है।

कवि द्वारा पाठकों तक प्रेषणीय भाव या विचार की परिपक्वता, उत्कृष्टता सम्पूर्णता आदि से सूक्तियों की आत्मा की या उनके भावपक्ष की श्रेष्ठता परिलक्षित होती है, जैसा कि आगे सूक्तियों के वर्गीकरण में स्पष्ट किया गया है।[१७३] प्रस्तुत प्रवन्ध में सूक्तियों के अध्ययन का आधार इसी भावपक्ष और विचारपक्ष को वनाया गया है।

सूक्ति-सौन्दर्य पर साहित्यिक कलापक्ष के तत्त्व किस प्रकार प्रभाव डालते हैं, इसका यहाँ विवेचन किया जा रहा है।

(ख) शब्दालंकार—उक्ति का अनूठापन ही अलंकार है, और यह उक्ति के शब्दों या अर्थों को अलंकृत करता है। सूक्ति के शब्दों को सजाने वाले मुख्य शब्दालंकार द्रष्टव्य हैं।

(१) **अनुप्रास—यथा—सद्‌भिः सहीया हि सतां समृद्धिः।**[१७४]
सकलजनोपकारसज्जा सज्जनता जैनी।[१७५]
विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।[१७६]
सर्वः स्वार्थं समीहते।[१७७]

शब्दालंकारों में से सर्वाधिक इसी का प्रयोग सूक्तियों में दिखाई देता है। इसमें उच्चारण-माधुर्य और मुख-सौकर्य के कारण स्मरण करने में सरलता होती है। सूक्तियों पर यह लादा हुआ सा प्रतीत नहीं होता, प्रायः स्वाभाविकता ही रहती है। पर माघ जैसे कवि इसे भारी-भरकम शब्द भी पांडित्य से बोझिल बना देते हैं। यथा—

ग्रसते हि तमोपहं मुहुर्ननु राहु-वाहु-महर्पतिं तमः।[१७८]

(२) **श्लेष**—श्लेष का प्रयोग सूक्तियों को दुरूह बना देता है। बाण द्वारा प्रयुक्त कठिन श्लेष का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—**श्रियो हि दोषा अन्धतादयः कामला विकाराः।**[१७९] इसका अर्थ है—लक्ष्मी के अन्धता आदि दोष कामल[१८०] विकार हैं। माघ जैसे कवि भी श्लेष को पसन्द कर सकते हैं। उनकी यह सूक्ति है—**कस्मिन् वा सजलगुणे गिरां पटुत्वम्?**[१८१] जिसका भाव यह है—"जड़ता की विशेषता से युक्त[१८२] किस व्यक्ति में वाणी की चतुराई होती है?" कठिन श्लेष मूलक होने से इन सूक्तियों की चारुता ही नष्ट हो गई है, केवल बुद्धि-व्यायाम शेष रह गया है।

अन्य यमक[१८३] आदि शब्दालंकारों के उदाहरण भी सूक्तियों से दिये जा सकते हैं। ये शब्दालंकार जहां सूक्तियों को सजाते हैं वहां इनका अनुचित प्रयोग सूक्तियों की चारुता को नष्ट कर देता है।

(ग) **अर्थालंकार**—अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास आदि मुख्यतया तथा अन्य अनेक अलंकार गौणतः या सूक्ति के अर्थ को चारुता से मण्डित करते हैं।

(१) **उपमा**—उपमेय और उपमान का सादृश्य दिखा कर एक चित्र-सा प्रस्तुत करती हुई उपमाएँ सूक्तियों में बहुत बड़ी संख्या में प्रयुक्त हुई हैं। जितनी सही उपमा दी जाती है उतने ही वास्तविक चित्र का चित्रण होता है और उतना ही अधिक सौन्दर्य आ जाता है। उदाहरणार्थ—

कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः।[१८४]
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।[१८५]

इस प्रकार उपमा द्वारा सूक्ति का भाव स्पष्टतर ही होता है।

इसके अतिरिक्त उपमाओं की एक उल्लेखनीय विशेषता है। सूक्तियों से पृथक् होते हुए भी कभी-कभी उनकी पृष्ठभूमि में लोकोक्तियां छुपी हुई प्रतीत होती हैं। ऐसी उपमाएं कालिदास के काव्य में विशेषरूपेण प्राप्य हैं। यथा—**प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः**[१८६]—'लम्बा व्यक्ति ही जिसे तोड़ सकता है ऐसे फल को लेने के लिए लोभ से जैसे बौना व्यक्ति हाथ ऊपर उठाता है।'[१८७] इस उपमा में प्रयुक्त लोकोक्ति का तात्पर्य हुआ—'लालची व्यक्ति लालच में पड़कर सामर्थ्य से अधिक कार्य करने में प्रवृत्त होता है और हँसी का कारण बनता है।' इसी प्रकार—**दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम्**[१८८], जैसे, शरत्कालीन दिवस प्रारम्भ में ही दर्शन-सुभग होता है।' निहित भाव यह कि—"वस्तु अनुकूल अवस्था में ही प्रिय लगती है।" शरदऋतु का दिन सूर्य से गरम होने के कारण मध्याह्न की अपेक्षा प्रातःकाल में अधिक प्रिय होता है, अतः उसकी इस विशेषता के आधार पर 'अवस्था-भेद में प्रियत्व व अप्रियत्व' दर्शाने वाली लोकोक्ति बन जाना सहज संभाव्य है। उपर्युद्धृत उपमा में ऐसी ही लोकोक्ति का प्रयोग परिलक्षित होता है। अतः यह निश्चय करना दुरूह हो जाता है कि ऐसी उपमाएं कवि की मौलिक हैं या लोक से अनुकृत।

दूसरी ओर जैसा कि श्री जे० गोण्डा ने दर्शाया है, कई उपमाएं सामान्य लोगों की भाषा में प्रवेश पाकर लोकोक्तिवत् स्थिर वाक्यांश बन जाती हैं।[१८९] उदाहरणार्थ—ऊपर उद्धृत उपमाएं तथा कवि-प्रयुक्त अन्य अनेकानेक उपमान ('अनाघ्रातं पुष्पं', 'सञ्चारिणी दीपशिखा' जैसे विशिष्ट वाक्यांश भी) संस्कृत-भाषियों के वाक्यों को आज भी मण्डित करते हैं।

(२) **रूपक**—यथा—**वामाः कुलस्याधयः।**[१९०]
वीणा हि नामासमुद्रोत्थितं रत्नम्।[१९१]
तपोवनानि नामातिथिजनस्य स्वगेहम्।[१९२]

रूपक के द्वारा किसी का जो गुण प्रकट करना हो उस गुण की समग्रता से भरपूर उपमान को उपमेय पर आरोपित कर दिया जाता है। उपमान के उन गुणों की उद्भावना पाठक या श्रोता को स्वयं करनी होती है। उपर्युद्धृत सूक्तियों में रूपक की यही सार्थकता है कि गुणहीन स्त्रियों की समता मनोवेदना से, वीणा की रत्न से और तपोवन की अपने प्यारे घर से स्वयं तुलना करके और समानताएं पाकर पाठक की अनुभूति में विशिष्टता आ जाती है।

(३) दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तरन्यास—ये तीनों अलंकार ऐसे हैं कि एक ही वाक्य में पूर्ण नहीं होते। वर्णनीय उपमेयों को एक पूर्ण वाक्य में रखा जाता है और उपमान को दूसरे पृथक् वाक्य में। इनमें उपमान वाक्य अनेक स्थानों पर सूक्ति का स्वरूप धारण कर लेता है। यह कहीं तो सूक्ति के रूप में किसी व्यंग्य अर्थ को प्रकट करता है और कहीं वाच्य द्वारा ही किसी सामान्य तथ्य को प्रस्तुत करता है।

दृष्टान्त—यथा—त्वयि दृष्टे कुरंगाक्ष्याः स्रंसते मदनव्यथा।
दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुद-संहतेः॥[१६३]

इसमें दूसरी पंक्ति में जो दृष्टान्त है वह सूक्ति है। उसका वाच्यार्थ है—'चन्द्रमा के न उगने पर कुमुद-समूह म्लान हो जाता है।' और यह व्यंग्य अर्थ के रूप में इस सामान्य तथ्य को प्रकट करता है—'प्रिय को देखे विना प्रेमी प्रसन्न नहीं होता।'

प्रतिवस्तूपमा—यथा—

धन्यासि वैदर्भि, गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।[१६४]

यहाँ भी उत्तरार्ध व्यंग्यात्मक सामान्य तथ्य को व्यञ्जित करने के कारण सूक्ति बन गया है।

अर्थ—'चाँदनी की स्तुति इससे अधिक क्या होगी कि वह समुद्र को भी चलायमान कर देती है।' सूक्ति रूप में प्रयुक्त होने पर भाव होगा—'किसी सुन्दरी की प्रशंसा तभी सर्वाधिक है जब वह किसी गम्भीर, धीर पुरुष को भी आकृष्ट कर सके।'

अर्थान्तरन्यास—समर्थन के लिए प्रयुक्त इस अलंकार ने बहुत-सी सूक्तियों को जन्म दिया है। उदाहरणार्थ—

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा॥[१६५]

यहां पूर्वार्ध में सामान्य तथ्य वाच्य अर्थ में है तो उत्तरार्ध में विशेष से समर्थन करते हुए व्यंग्यार्थ में। दोनों ही वाक्य स्वतन्त्रशः सूक्तिरूपेण प्रयोज्य हैं। ऐसी सूक्तियों की संख्या बहुत बड़ी है। किन्तु जहाँ विशेष का समर्थन सामान्य से होता है वहां केवल समर्थक वाक्य ही सूक्ति बनता है। यथा—

इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्।
शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः॥[१६६]

(४) अप्रस्तुत-प्रशंसा—अप्रस्तुत से प्रस्तुत को प्रकट करने वाली अप्रस्तुतप्रशंसा

सामान्य, विशेष, कार्य, कारण अथवा समान वस्तु का वर्णन करके[१९७] प्रायः व्यंग्यात्मक सूक्तियों को जन्म देती है। कुछ विद्वान इसी को अन्योक्ति कहते हैं। उदाहरण के लिए—

अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः।
कथं कमलनालस्य मा भूवन् भङ्गुरा गुणाः? [१९८]

यहां वाच्यार्थ तो अप्रस्तुत है, अन्य को कहता है, जबकि प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य-मात्र है, जो जीवन के इस तथ्य को कहता है—'जो व्यक्ति आन्तरिक दुर्बलताओं और वाह्य तीक्ष्णताओं से युक्त होता है उसके गुण विनश्वर क्यों न होंगे ?' यह व्यञ्जित सामान्य मानवीय भाव इस पद को सूक्ति की कोटि में रखता है।

इसी प्रकार अनेक सूक्तियों और लोकोक्तियों में कुछ शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के कारण विशेष प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य दृष्टिगत होता है।

(घ) छन्द—छन्दोवद्ध सूक्तियों में अनेक प्रकार के छन्द प्रयुक्त होते हैं। छन्द कोई भी हो उसका एक लाभ यह है कि सूक्ति सहज स्मरणीय हो जाती है। दूसरा लाभ यह भी है कि इससे सूक्ति की रूप-रेखा स्थिर एवं संयत हो जाती है।

सूक्तियां पूरे पदों के रूप में भी होती हैं और पदांश के रूप में भी। जहां इस आंशिकता से उनकी गेयता भंग नहीं होती, वहां तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु कभी-कभी सूक्ति के शब्द अनेक भागों में बंट जाने के कारण, अथवा वृत्त या उसका पद पूरा होने से पहले ही सूक्ति के पूरा हो जाने पर, या अन्य किसी कारण से, जब उनकी गेयता भंग हो जाती है तब सूक्तियों में श्रवणप्रियता कम हो जाती है। उदाहरणार्थ—

सतां··· संगतं ·· साप्तपदीनमुच्यते।[१९९]

अथवा —**न क्षुद्रोपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय**
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः ·······[२००]

इसी प्रकार—**समय एव करोति बलाबलं······शरीरिणाम्।[२०१]**

(ङ) भाषा—सूक्तियों में भाषा-सौष्ठव का अर्थ यह है कि उनकी शब्द-योजना अर्थानुसार हो और वह समास-बाहुल्य से बोझिल न हो। कवि की उक्तियों में जब तक इस गुण का समावेश नहीं होता तब तक उनमें वह गठन नहीं आ पाती, जो उन्हें सूक्ति पद पर आसीन कर सके, क्योंकि सारवत्ता, संक्षिप्तता, और सुबोधता सूक्तियों में अपरिहार्य गुण हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए बाण की निम्न दो उक्तियों को लिया जा सकता है-

हरिणार्थमतिहेपणः सिंहसंभारः।
न हि कुलशैल-निवहवाहिनो वायवः सन्नह्यन्त्यतितरले तूलराशौ न सुमेरुवप्रप्रणयप्रगल्भा वा दिक्करिणः परिणमन्त्यणीयसे वल्मीके।[२०२]

यद्यपि दोनों में एक सा व्यंग्य भावार्थ है तथापि पहली उक्ति जहां सूक्ति कहला सकती है और प्रचलित भी हो सकती है, वहां दूसरी उक्ति सूक्ति नहीं बन सकती। यदि कहीं कोई इसको यथाकथंचित् रटरटा कर बोल भी दे तो यह बाण का उद्धरण ही मानी जाएगी सूक्तिवत् ग्राह्य नहीं हो सकती।

(च) **शैली**—सूक्ति में सामान्य बात भी इस प्रकार कही जाती है कि श्रोता पर प्रभाव अधिक होता है। वह उसमें स्वत: रुचि लेने के लिए बाध्य हो जाता है। ऐसी रोचक शैलियों में कतिपय विशेष उल्लेखनीय हैं :—

(१) **व्यंग्यात्मक शैली**—सूक्तियों में कहीं अर्थ अभिधा द्वारा वाच्य होते हैं, कहीं वे लाक्षणिक होते हैं, और कहीं 'व्यञ्जना' द्वारा प्रतीयमान भी। यदि सूक्ति का अर्थ व्यञ्जनापूर्ण शब्दों से प्रतीत होता है तो वह श्रोता या पाठक के हृदय पर विशेष प्रभाव डालता है। उदाहरण के लिए—

> **लीलावतीनां सहजा विलासास्त एव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति।**
> **रागो नलिन्या हि निसर्गसिद्धस्तत्र भ्रमत्येव मुधा षडंघ्रि:।**[२०३]

इन दोनों पंक्तियों को ही स्वतन्त्र सूक्ति के रूप में समझा जा सकता है किन्तु पहली पंक्ति में तथ्यात्मक अर्थ वाच्य है और दूसरी में वही अर्थ व्यंग्य है। सहृदयों का अनुभव इस बात का साक्षी है कि दूसरी की तथ्यात्मक प्रतीति हृदय को अधिक आह्लाद देती है। इसका कारण यह है कि व्यंग्यार्थ खोजने में पाठक या श्रोता को जो अपने जीवन के अनुभवों का प्रयोग करना पड़ता है वह उसे प्रफुल्लित करता है। गोपनीयता में वैसे भी अधिक आकर्षण होता है। दूसरे, कवि द्वारा अपना मत न थोपना भी पाठक के अहं को चोट नहीं पहुंचने देता। अभिधेय अर्थ में कही गई सूक्तियों में यह बात नहीं आ पाती।

(२) **प्रश्न शैली**—सूक्तियों के प्रश्न रूप को अधिक आकर्षक कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि कवि अपने आप न पक्ष में बोलता है, न विपक्ष में। सोचने का भार पाठक या श्रोता पर रहता है। वह स्वयं निर्णय लेता है। अत: उसे यह अनुभूति होती है कि यह उसका अपना मत है। उदाहरणार्थ—

> **प्रिय: को नाम योषिताम् ?**[२०४]
> **किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ?**[२०५]
> **कं न वशीकुरुते भुवि रामा ?**[२०६]
> **स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव न हि रम्यं मृगदृश: ?**[२०७]

भर्तृहरि की ये सूक्तियाँ अश्वघोष की निम्न सूक्तियों से, जो नारी के विषय में इसी प्रकार के भाव व्यक्त करती हैं, निश्चय ही अधिक प्रभावशाली हैं—

> **प्रमदानां तु मनो न गृह्यते।**[२०८]
> **व्यसनान्ता हि भवन्ति योषित:।**[२०९]
> **मधु तिष्ठति वाचि योषितां, हृदये हालहलं महद्विषम्।**[२१०]

शूद्रक ने इसी बात को ध्यान में रखकर भास की कुछ सूक्तियों में परिवर्तन किए हैं। उदाहरणार्थ—भास की सूक्ति है—

> **उद्धूतपुष्पं सहकारं मधुकरा उपासते।**[२११]

इसको शूद्रक ने प्रश्नवाचक रूप दे दिया है—

> **किं हीनपुष्पं सहकार-पादपं मधुकर्य: पुन: सेवन्ते ?**[२१२]

(छ) कलापक्ष का महत्त्व—सूक्तियों की यह कलात्मकता उनकी प्रभावोत्पादकता और प्रसार का एक मुख्य आधार है। इसी हेतु मनीषियों के पूर्ण सत्य को व्यक्त करने वाले श्रेयस्कर वाक्यों की अपेक्षा भी इन सूक्तियों का लोक में कहीं अधिक स्वागत होता है।

कवि के अनेक सुन्दर पदों को सुभाषितों के रूप में स्मरण करने के लिए पाठक को प्रेरणा देने में भी इस का पर्याप्त हाथ होता है।

सूक्ति के रूप में प्रचलन के लिए यह आवश्यक है कि किसी उक्ति में विशिष्ट भाव हो। पहले से विद्यमान सूक्ति यदि उसी भाव की हो तो बाद में आने वाली सूक्ति पहली को अपने कलापक्ष के आधार पर ही पछाड़ सकती है, अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए—

समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ?[२१३]

यह कालिदास की सूक्ति माघ की निम्न सूक्ति की अपेक्षा संस्कृतज्ञों में अधिक प्रचलित है, यद्यपि भावार्थ दोनों का समान ही है—

किमु चोदिताः प्रियहितार्थकृतः कृतिनो भवन्ति सुहृदः सुहृदाम् ?[२१४]

कारण यही है कि माघ की सूक्ति में कालिदास जैसी—व्यंग्यात्मकता नहीं है। इसके विपरीत भावसाम्य होने पर भी पश्चाद्भावी भर्तृहरि की सूक्तियों का प्रचलन अश्वघोष की सूक्तियों की अपेक्षा अधिक होने का श्रेय इसी कलात्मकता को जाता है।

८. सूक्तियों का काव्यत्व

(क) काव्यत्व का प्रश्न—सूक्तियों में काव्यत्व के विषय में सामान्यतः कोई शंका नहीं होनी चाहिए। परन्तु कुछ विद्वान हैं, जो सूक्तियों को दूसरी दृष्टि से देखते हैं। उनमें हिन्दी जगत् के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[२१५] का मत यहां उद्धरणीय है—"ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन भाव या मार्मिक भावना···में लीन न होकर एक-बारगी कथन (से ?) के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है।···जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागृत कर दे · वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।"[२१६]

इस मत के कारण सूक्ति के काव्यत्व का विषय विचारणीय हो जाता है। कुछ प्रश्न स्वभावतः उठते हैं—सूक्ति काव्य का अंग है या नहीं ? सूक्ति में काव्यत्व है या नहीं ? यदि सूक्ति में काव्यत्व है तो किस कोटि का ?

(ख) काव्य का अंग ?—जहां तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है ऐसा कोई विद्वान् न होगा जो भावोद्रेक करनेवाली रसमयी सूक्तियों को काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत करने के लिए तत्पर हो, स्वयं आचार्य शुक्ल भी नहीं।[२१७] उपर्युद्धृत अंश में जिस प्रकार की उक्ति को उन्होंने 'सूक्ति' शब्द से पुकारा है वह चमत्कारवाद एवं क्लिष्ट कल्पनाओं चित्रकाव्य को उत्तमकाव्य से पृथक करने की अभिलाषा[२१८] में दिया हुआ नाम प्रतीत होता है।

उनके मत की पर्याप्त आलोचना हुई है।[२१६] शुक्ल जी ने सूक्ति को काव्य से पृथक् वर्ग के रूप में प्रस्तुत किया है जो कदापि स्वीकरणीय नहीं हो सकता। किसी भी भाव को इस रूप में कहना कि रसोद्रेक हो सके, कवि की विशेषता है। संस्कृत विद्वान् तो शब्दों के चारु प्रयोग को भी कवि की सम्मोहिनी शक्ति मानते हैं।[२२०] विशिष्ट अर्थ के द्योतक हों तो सामान्य शब्द भी काव्य बन जाते हैं।[२२१] इस प्रकार संस्कृत के आचार्य भावों को जितना महत्त्व देते हैं, शब्दों के सुप्रयोग को भी उतना ही मान देते हैं। सूक्ति में या तो दोनों ही गुण होते हैं या कोई एक गुण विशिष्ट होता है। केवल कथन के अनूठेपन या चमत्कार के आधार पर कोई पद सूक्ति नहीं कहला सकता।

(ग) **सूक्तियों में काव्यत्व ?**—काव्य की ऐसी अनेक परिभाषाएं हैं जो एक-एक करके काव्यत्व के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालती हैं। प्राचीन आचार्यों में से कोई 'शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप को[२२२], कोई 'गुण और अलंकार से सुसंस्कृत शब्दार्थ'[२२३] को, कोई 'रसात्मक वाक्य[२२४] को कोई 'रमणीयार्थक शब्द'[२२५] को काव्य कहता है। सूक्ति की रमणीयता और रसवत्ता इसी एक तथ्य से स्वतः सिद्ध है कि इनका पाठक इनके भाव से प्रभावित होकर इन्हें अपनी स्मृति में संजो लेना चाहता है।

उदाहरण के लिए—**न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं कांक्षति षट्पदाली**[२२६] —यह सूक्ति संयोग श्रृंगार रस की अनुभूति सहृदयों को कराती है। इसी प्रकार—**सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा**[२२७]—यह सूक्ति राज-विषयक रति-भावको सहृदयों के हृदय में उद्बुद्ध कर उन्हें आनन्द देती है। इन सूक्तियों में अनुकूल अभिव्यंजनाशैली (भाषा, अलंकार आदि) से युक्त ऐसे शब्दार्थ-युगल हैं जो किसी रस, भाव आदि को व्यक्त करते हैं। अतः ये दोनों ही सूक्तियां काव्य कहाने योग्य हैं।

आधुनिक आचार्यों ने काव्य के तीन अन्तस्तत्त्व माने हैं—विचार (बुद्धि), कल्पना, तथा भाव (रागात्मकता)।[२२८] ये काव्य के काव्यत्व का सम्पादन करने वाले धर्म हैं। हर सूक्ति में विचारपक्ष तो होता ही है, भावपक्ष भी प्रायः हुआ करता है और कल्पनापक्ष भी अधिकतर रहा करता है। केवल विचारपक्ष को लेकर चलने वाली सूक्तियों का काव्यत्व यदि न माना जाय तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु भाव-प्रसूता एवं भावोत्पादिका सूक्तियों को तो काव्य कहना ही होगा।

(घ) **सूक्तियों के काव्यत्व की कोटियां**—इन तीनों अन्तस्तत्त्वों के साथ-साथ काव्य के बहिरंग को संवारने के लिए भी कुछ प्रयास किये जाते हैं जिन्हें कलापक्ष के नाम से कहा गया है। इन सभी तत्त्वों के उत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर ही कोई काव्य उत्तम, मध्यम और अधम आदि[२२९] कोटि में रखा जाता है। इसी प्रकार इन्हीं की दृष्टि से सूक्तियों की भी उत्तम, मध्यम, अधम, आदि कोटियां हो सकती हैं, इसमें सन्देह नहीं।

काव्य का मुख्य उद्देश्य है—"आह्लादित करना" यद्यपि गौण रूप से वह शिक्षा भी देता है।[२३०] अतः काव्य जितना अधिक प्रसादक और जितना कम उपदेशात्मक होगा उतना ही अधिक वह उत्कृष्ट होगा। रूखे और नीरस उपदेश काव्य की भूमि में आदरास्पद नहीं होते, क्योंकि काव्य का मुख्य प्रयोजन तो—"सद्यः परनिर्वृति"[२३१]—

अर्थात् 'श्रवणान्तर ही एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति कराना' है। काव्य जो उपदेश देता है वह रसात्मकता के साथ होता है, जिसे वाग्देवतावतार मम्मट ने "कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे"[२३२] इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है। सूक्ति के काव्यत्व की कोटि निर्धारित करते हुए भी काव्य की इस विशिष्टता का ध्यान रखना आवश्यक है।

सूक्ति में कवि का कथन विचारात्मक होता है इसलिए उसमें शिक्षा की भावना आ जाना सहज है। कोई कवि इस भावना पर जितना अधिक संयम करता है उतनी ही अधिक प्रसादिका सूक्ति की रचना हो सकेगी।[२३३] काव्यत्व से युक्त होने के लिए सूक्ति को तथ्य का प्रतिपादन प्रसादपूर्ण शैली में ही करना होगा। सैमुअल जानसन का विचार है—"तर्क की सहायता के लिए कल्पना का आह्वान करके सत्य के साथ आह्लादकता के नियोजन की कला ही काव्य है।"[२३४]

तथ्य को व्यक्त करने वाली होने के कारण सूक्तियों में तथ्य की सर्वग्राह्यता या व्यापकता भी उसके रसास्वादन पर प्रभाव डालती है। तथ्य जितना सत्य के निकट होगा उतना ही अधिक बुद्धिगम्य होगा परन्तु उत्कृष्ट कलापक्ष के द्वारा एकांगी तथ्य भी सूक्ति की रसचर्वणा कराने में बाधक नहीं हो पाता।

इस विवेचन के बाद सूक्तियों के काव्यत्व की उत्कृष्टता के आधार रूप में भाव एवं कला के इन तत्त्वों को संयुक्त रूप में स्वीकारा जा सकता है— १. व्यंजनापूर्ण (व्यंग्यात्मक) शैली, २. भाव की हृदयस्पर्शिता, ३. भाषा-सौष्ठव, ४. संक्षिप्तता और सारवत्ता, ५. विचार की बुद्धि-गम्यता। इनमें से १, ३ व ४ का संकेत ऊपर भी हो चुका है, क्रमशः कलापक्ष तथा स्वरूप के विवेचन में।

६. सूक्तियों पर द्रष्टव्य कुछ प्रभाव

परम्परा और वातावरण—कवि के विचार, चिन्तन व अनुभूतियों से अनुप्राणित सूक्तियां केवल कवि के व्यक्तिगत भावों और विचारों का ही दिग्दर्शन नहीं करातीं अपितु उन पर तात्कालिक वातावरण और परम्परा का भी प्रभाव परिलक्षित होता है।

इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि किसी भी मनुष्य के सामाजिक अनुभवों से संयुक्त क्रियाओं में तीन संश्लिष्ट अवयव विद्यमान रहते हैं—प्राणिशास्त्रीय दाय, मानव-प्रकृति या व्यक्तित्व और वातावरण। और इनमें से कोई भी तत्त्व व्यक्ति-विशेष में तब तक क्रियाशील नहीं होता जब तक कि वह स्वयं उनकी अनुभूति नहीं करता।[२३५] साहित्य के क्षेत्र में प्राणिशास्त्रीय दाय को 'परम्परा' शब्द से पुकारना अधिक उचित है। और, कवि-विशेष की प्रकृति या व्यक्तित्व के साथ ही उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों को भी सम्बद्ध किया जाय तो कोई हानि न होगी।

युग के वातावरण और देश की परम्परा से कवि की अनुभूतियों और विचारों को दिशा मिलती है, जिन्हें वह साहित्य के माध्यम से अपनी रचना में बिम्बित करता है। सूक्तियों में उनका बिम्ब तथा बिम्ब में निहित वातावरण और परम्परा की छवि और भी स्पष्ट हो जाते हैं।

साहित्य और सूक्तियों को सार्वभौमिकता से नीचे उतारकर देश-काल के बन्धन में बांधने वाले या पूर्ण से आंशिक सत्य की ओर ले जाने वाले तीन तत्त्वों, 'परम्परा वातावरण और कवि-व्यक्तित्व' को इस प्रकार समझा जा सकता है—

१. परम्परा —(क) तात्कालिक व क्रमागत धार्मिक मान्यताएं।
(ख) पहले से वर्तमान शास्त्रीय अध्ययन।
(ग) दार्शनिक दृष्टिकोण।

२. वातावरण —(घ) सामाजिक अवस्था।
(ङ) राजनीतिक दशा।
(च) देश की भौगोलिक स्थिति।

३. कवि-व्यक्तित्व—(छ) कवि का जीवन और उस की व्यक्तिगत अनुभूतियां।

ये सब तत्त्व संश्लिष्ट रूप में कवि के चिन्तन को प्रभावित करते हैं। संस्कृत सूक्तियों में भी इनका प्रभाव समन्वित रूप से ही देखने को मिलता है। परन्तु कभी-कभी किसी कवि की सूक्ति-विशेष पर किसी एक अंग-विशेष का प्रभाव भी मुख्यरूपेण प्रति-भासित हुआ करता है। यह स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है कि किस अंग का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है और संस्कृत-सूक्तियां उससे कहां तक परिचालित हैं।

(क) धार्मिक—भारतीय मानव परम्परागत धर्म के प्रति विशेष श्रद्धावान् रहा है। उसके मन में चाहे तथाकथित धर्म के प्रति विद्रोह उत्पन्न होता हो परन्तु बाहर व्यक्त नहीं होता। सूक्तियों में धार्मिक कथन प्रायः नहीं है, तो कहीं उसका विरोध भी दृष्टि-गोचर नहीं होता।

कवि जिस धर्म के विचारों को मानने वाला है, वह उनसे प्रभाव लेकर सूक्तियों में उतार देता है। जैसे बौद्ध अश्वघोष, बुद्ध भगवान् की दया को ही धर्म का सार समझते हैं—**सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः।**[२३६] इसी प्रकार याज्ञिक क्रियाकलाप को अनावश्यक मानने वाले बौद्धधर्म के अनुरूप ही वे पूछते हैं—**क्रतोः फलं यद्यपि शाश्वतं भवेत्, तथापि कृत्वा किमु यत् क्षयात्मकम्।**[२३७] इसी प्रकार कालिदास की सूक्तियों में देवताओं को विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न मानने वाले हिन्दूधर्म की प्रतिध्वनि देखिये—**को देवता-रहस्यानि तर्कयिष्यति?**[२३८] या—**कं नाभिनन्दयत्येषा दृष्टा पीयूषवाहिनी?**[२३९] और धार्मिक क्रिया-कलाप से उपमान लेकर निर्मित इस सूक्ति की भारतीयता पृथक् ही प्रतिबिम्बित होती है—**दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता।**[२४०] इन उदाहरणोंमें सूक्तियों के भाव और कला दोनों पक्षों पर धार्मिक विश्वासों और व्यवहारों का प्रभाव परिलक्षणीय है।

(ख) शास्त्रीय—विभिन्न विषयों पर जो शास्त्रीय विवेचन हो चुका है, उसका महत्त्व कम नहीं है। सब ही कवियों पर उसका कुछ न कुछ प्रभाव है। राजनीतिक सूक्तियों पर अर्थशास्त्र का प्रभाव कई वार स्पष्ट दृष्टिगत होता है और उसका यथा-

स्थान संकेत कर दिया गया है। इसी प्रकार प्रेम-परक सूक्तियों पर कामशास्त्र का प्रभाव पड़ा है तथा नीतिपरक सूक्तियों पर नीतिशास्त्रों का।

मानव-जीवन में शास्त्रीय वाङ्मय के महत्त्व को स्पष्ट स्वीकारने वाली कालिदास की यह सूक्ति यहां द्रष्टव्य है—**चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थ-दर्शिना।**[२४१]

(ग) दार्शनिक—किसी भी देश का दर्शन उस देश के प्रत्येक प्रबुद्ध शिक्षित व्यक्ति के चिन्तन को प्रभावित करता है। कवि उससे अछूता कैसे रह सकता है। भारतीय वैदिक-दर्शन की सभी विचार-धाराओं (schools) को ६ भागों में बांटा गया है। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि वैशेषिक आदि सारे दार्शनिक ग्रन्थ एक दूसरे के पूरक हैं।[२४२] इनमें जिन सिद्धान्तों का सामान्य रूप से प्रतिपादन हुआ है उन्हें कवियों ने अस्वीकार किया हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। इसके विपरीत भारतीय दर्शन के मुख्य मन्तव्यों की झलक सूक्तियों में यत्र-तत्र मिल जाती है। उदाहरणार्थ, पुनर्जन्म के सिद्धांत का प्रभाव सूक्तियों पर देखा जा सकता है।—**मनो हि जन्मांतरसंगतिज्ञम्**[२४३] या—**सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि।**[२४४]

(घ) सामाजिक—यह शंका हो सकती है कि संस्कृत काव्य के आधार पर तत्कालीन समाज, सभ्यता या संस्कृति का निर्धारण कैसे किया जा सकता है, जब कि वह परम्परागत आचार व्यवहारों का वर्णन करता है। यही कारण है कि विभिन्न काल के काव्यों में वर्णन-साम्य भी देखा जाता है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि, भास, कालिदास, भवभूति सभी ने राम का चरित्रचित्रण करते हुए भ्रातृस्नेह, पत्नीव्रत आदि सामाजिक आदर्शों का समान रूप से उल्लेख किया है।

वस्तुतः यह सत्य है कि संस्कृत-साहित्य मुख्यतः आदर्शवादी दृष्टिकोण लेकर चला है।[२४५] फलतः विभिन्न कालों के कवियों ने जीवन के आदर्शों का प्रायः एक-सा निरूपण किया है। भारतीय समाज का जीवन तो अवश्य बदलता रहा है और साथ ही उसकी धर्म और परलोक की भावनाओं में भी परिवर्तन हुआ है, परन्तु फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के मूल्यों में भी उसी गति से परिवर्तन नहीं हुआ। आज भी हम रामायण-महाभारत-कालीन आदर्शों को अनुकरणीय मानते हैं। अतः यह मानना होगा कि जिन सूक्तियों में आदर्श और परम्परा का निर्वाह किया गया है उनसे समाज का वास्तविक चित्र खड़ा नहीं हो सकता।

आदर्शों के प्रति इस प्रकार का परम्परागत मोह होने पर भी समाज के यथार्थ चित्र की झलक संस्कृत साहित्य में कहीं-कहीं मिल ही जाती है। उदाहरण के लिए राजा के सम्बन्धियों का (विशेषतः सालों का) अनेक नाटकों में खलत्वपूर्ण दुर्व्यवहार,[२४६] राज-पुरुषों का जनता पर अनुचित दबाव[२४७] आदि।

वास्तविकता यह है कि कुछ सूक्तियों में सामाजिक यथार्थ को कहने की अपेक्षा आदर्श के प्रसार का अधिक ध्यान रखा गया है। ऐसी सूक्तियां वे हैं जिनमें सामाजिक व्यवस्था स्पष्टतः कही गई है।[२४८] इसके विपरीत जिन सूक्तियों में जीवन के किसी क्षेत्र-विशेष का वर्णन है, उनमें कहीं-कहीं समाज का चित्र अपने आप उभर आया है। वहां

यथार्थ की रेखाएं हैं, आदर्श का रंग नहीं। उदाहरणार्थ— दरिद्रता-सम्बन्धी शूद्रक की सूक्तियों में अर्थ-प्रधान समाज का और सामाजिक विषमताओं का ही उल्लेख है।

(ङ) राजनैतिक—सूक्तियों पर राजनीति का प्रभाव संस्कृतसाहित्य के क्षेत्र में स्पष्ट देखा जा सकता है। संस्कृत-साहित्य अधिकतः राजाओं के प्रश्रय में ही लिखा गया है। राजनीतिक सुव्यवस्था का सीधा प्रभाव साहित्यरचना की उत्कृष्टता और मात्रा पर पड़ता है। सूक्ति भी साहित्य का अंग होने के कारण उससे प्रभावित हुए विना नहीं रहती।

जो सूक्ति राजा से या राज्य से सम्बन्धित होगी उसमें कवि को अपने राजा का ध्यान अवश्य ही रखना पड़ता है। उदाहरण के लिए बाण ने 'हर्ष-चरित' में प्रसंग आने पर भी सती-प्रथा की आलोचना के लिए लेखनी नहीं उठाई, जबकि 'कादम्बरी' में सतीप्रथा को खुलकर व्यर्थ सिद्ध किया है।[२४६] कारण यही है कि पहले में आश्रयदाता राजा से सम्बन्धित प्रसंग है, दूसरे में नहीं।

राजाओं को सम्बोधित करके भी कई सूक्तियां कही गई हैं।[२५०] ऐसे स्थलों पर 'राजन्' शब्द सामान्य श्रोता का स्थान ले सकता है अन्य शब्द नहीं। कालिदास द्वारा एक सूक्ति में प्रयुक्त 'कल्याणि' शब्द[२५१] उसकी सामान्यात्मकता नष्ट कर रहा है जबकि 'राजन्' शब्द से यह कमी नहीं भासती।

(च) भौगोलिक—भूगोल से किसी भी देश का समाज, राजनीति और दर्शन आदि प्रभावित होते हैं। भारत की शान्तिप्रियता के लिए भारत का जलवायु भी किसी अंश तक उत्तरदायी है। इसी प्रकार उदात्त भावनाओं को उच्च स्थान मिलने का कारण भौगोलिक भी हो सकता है।

साहित्यगत प्राकृतिक वर्णनों में देश के भूगोल को स्पष्ट परिलक्षित किया जा सकता है। सूक्तियों के अन्तर्गत भी प्राकृतिक व्यवहारों से मानव जीवन की तुलना करने में या अन्योक्ति शैली द्वारा प्रकृतिगत विशेष घटनाओं को मानव जीवन पर घटाने में देश का भूगोल निश्चय ही मुख्य भूमिका रखता है। 'आग से खेत के ठूंठ जला कर खाद बनाना' आजकल भी पर्वतीय प्रदेशों एवं समतल गाँवों में भी प्रचलित है। पहले भी यह प्रथा रही होगी। इससे यह सूक्ति निर्मित हुई है—**कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति**[२५२]— अग्नि, जोतने योग्य भूमि को जलाकर भी बीज उगाने में समर्थ करती है।' यह तथ्य मानव व्यवहार पर इस प्रकार घटता है कि 'जिससे कुछ हानि होती है, उसी से कुछ लाभ भी हो जाता है।'

ऐसा ही एक और उदाहरण द्रष्टव्य है—**ओदकान्तात् स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः**[२५३]—'स्नेही जन का अनुगमन जल के किनारे तक करना चाहिए, प्राचीन नगर नदियों के किनारे बसने प्रारम्भ हुए यह एक भौगोलिक तथ्य है। कारण यह कि जल का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसी स्थिति में नगर की सीमा प्रायः नदी ही होती थी। सीमा तक पहुंचाने के लिए और नदी को पार करने की कठिनाई के कारण यह परिपाटी चली होगी कि जिसे विदा करने जाएं, नदी तक जाएं, और फिर जहां नदी न हुई, किसी

झील आदि के किनारे तक सीमा मान ली जाती होगी। इस प्रकार भौगोलिक कारणों से बनी ये रीतियाँ सूक्तियों को भी प्रभावित करती हैं।

(छ) **व्यक्तिगत अनुभूतियां**—कोई भी कवि किसी विशेष देश-काल में जीवन-यापन करता है। उस युग की विशेष परिस्थितियों और प्रवृत्तियों आदि का प्रभाव तो उसे छूता ही है, साथ ही उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियां—जो किसी एक के अनुभव में आती हैं और दूसरे के नहीं—सूक्ति को पर्याप्त प्रभावित करती हैं। हर कवि की अपनी शैली होती है। उसका ठीक-ठीक विश्लेषण करना तो संभव नहीं हो पाता, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि सूक्तियों की सृष्टि में इनका वहुत बड़ा हाथ है। मानव-जीवन के अनेक क्षेत्रों के अनेक रूपों में से जो-जो किसी एक कवि की अनुभूति में आ जाते हैं, वे उसके दृष्टिकोण को और अभिव्यक्ति-प्रकार को प्रभावित करते हैं।[५५] उसके साहित्य का मुख्य विषय भी उसके रुझान का द्योतक है। उदाहरणार्थ दरिद्र चारुदत्त की दरिद्रता को मुख्यता देने वाले शूद्रक दरिद्रता के जीवन की अनुभूति से रहित रहे हों, यह असम्भव प्रतीत होता है। यह अनुभूतियां ही किसी कवि को प्रेरणा देती हैं और जिस विषय से सम्बन्धित होती हैं, उन्हीं के विषय में कवि कुछ कहता है।

कहते हैं कि कवि त्रिकालदर्शी होता है। वह अपने वातावरण और परम्परा के प्रभावों से ऊपर उठ कर देश-काल के बन्धनों को छिन्न-भिन्न करता हुआ सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सार्वत्रिक तथ्य प्रस्थापित करने का प्रयत्न करता है। यह बहुत कुछ ठीक है, और यह भी सही है कि विशिष्ट अवस्थाओं से निकाले हुए उसके निष्कर्ष जितने पूर्ण होते हैं उतनी ही कवि की उत्कृष्टता प्रकट करते हैं। किन्तु ऐसा पूर्णतः नहीं हो पाता कि कोई कवि अपनी परम्परा और वातावरण को बिल्कुल भुला दे। उसकी रचनाओं में उनकी छाप कवि के न चाहने पर भी आये बिना नहीं रहती।

कवि की अनुभूतियों को प्रभावित करने वाले जो ये विविध तत्त्व ऊपर दर्शाये गये हैं उनका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अनुशीलन साहित्यिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व रखता है।

१०. प्रस्तुत प्रबन्ध के अध्ययन का क्षेत्र एवं प्रकार

(क) **विषय-सामग्री की सीमाएं**—सूक्ति-सर्जन की पृष्ठभूमि में कार्य करने वाले तत्त्वों-देश, भाषा, काल, कवि आदि के आधार पर सूक्ति की विषय-सामग्री का सीमांकन किया जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन की विषय-सामग्री का चयन संस्कृत भाषा के चौथी शती ई०पू० से आठवीं शती तक के साहित्यकारों में भास से माघ तक चुने गये ग्यारह प्रतिनिधि कवियों के काव्य से किया गया है। विपुल संस्कृत वाङ्मय के एक सीमित अंश को ही अध्ययन का विषय बनाना संभव हो सकता है। इसलिए इस प्रबन्ध में लौकिक-संस्कृत के ललित साहित्य के एक विशिष्ट अंश की झांकी सूक्तियों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

इसी अंश विशेष को चुनने के कुछ कारण हैं। एक तो, जैसा कि पीछे कहा जा

चुका है,[२५५] सूक्तियां यद्यपि स्फुटरूप में सभी कालों के सभी प्रकार के साहित्य में प्राप्त होती हैं, तथापि शास्त्रीय की अपेक्षा उनका मुख्य आधार ललित-साहित्य ही है। इसके अतिरिक्त ललित-साहित्य की सूक्तियों में विशिष्ट लालित्य की संभावना भी अधिक है।

दूसरे, लौकिक-संस्कृत-साहित्य जिस युग की देन है वह युग आज से दो सहस्र वर्ष से भी अधिक पूर्व प्रारंभ हुआ था, फिर भी इतिहासवेत्ताओं के अनुसार उस युग का धर्म आधुनिक हिन्दू धर्म के जितना निकट है उतना वैदिक धर्म के नहीं।[२५६] ठीक इसी प्रकार तत्कालीन साहित्य एवं समाज को आधुनिक हिन्दू समाज के अधिक निकट माना जा सकता है। प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य भी विशेषत: मनोवैज्ञानिक आधार पर सूक्तियों में प्रतिफलित मानव जीवन का विश्लेषण करना ही है। अत: आधुनिक हिन्दू समाज को समझने में भी यही साहित्य अधिक उपयोगी हो सकता है।

तीसरे, भास से माघ तक के काव्य में भारतीय मानव का स्वरूप लगभग चौथी शती ई० पू० से लेकर आठवीं शती तक आ जाता है। इतिहास में ज्ञात, 'साम्राज्य सम्बन्धी एकता का युग' (The Age of Imperial Unity), 'गुप्तकालीन स्वर्णयुग' (The Golden Age of Guptas), तथा हर्षवर्धन जैसे राजाओं का महत्त्वपूर्ण युग भी इसी समय के अन्तर्गत आ जाता है। इस समय के अन्त में भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होना प्रारंभ हो गया था। अत: यह काल भारत को समग्ररूपेण प्रस्तुत करने में अधिक समर्थ होगा ऐसी आशा की जा सकती है।

चौथे, इस प्रबन्ध के लिए कवियों का चुनाव इस दृष्टि से भी किया गया है कि ललित काव्य के गद्य, पद्य दोनों रूपों का प्रतिनिधित्व हो सके, तथा कविता, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि सभी प्रकार के काव्यों से सूक्तिचयन हो सके। साथ ही, प्रसादमयी शैली के भावप्रधान कवि अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्यों तथा संस्कृत महाकाव्य की अलंकृत शैली के प्रतिनिधि कवि भारवि और माघ के काव्यों से सूक्तियों का दिग्दर्शन कराया जा सके।

इस दृष्टि से निम्नलिखित कवियों को तथा उनकी रचनाओं को निर्दिष्ट काल-क्रमानुसार रख कर देखा गया है। इन कवियों के काल-क्रम का निर्धारण विशेषत: कीथ के आधार पर किया गया है; तथापि जहां किसी कारण कीथ के कालनिर्णय में परिवर्तन करना आवश्यक प्रतीत हुआ है वहां उसकी उपेक्षा भी नहीं की गई है—

१. भास	४ शती ई०पू० से लेकर ३ शती ई०	भास-नाटक चक्र (१३ नाटक)[२५७]।
२. अश्वघोष	१०० ई०	बुद्धचरित, सौन्दरनन्द[२५८]।
३. कालिदास	प्रथमशती ई०पू० से ४०० ई०	ऋतुसंहार[२५९] मेघदूत, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, अभिज्ञान-शाकुन्तल, कुमारसंभव, रघुवंश।
४. शूद्रक	५ से ६ शती ई०[२६०]	मृच्छकटिक।
५. विशाखदत्त	६ शती ई०[२६१]	मुद्राराक्षस।

६. भारवि	५५० ई०	किरातार्जुनीय।
७. हर्ष	६०६-६४८ ई०	प्रियदर्शिका, रत्नावली, नागानन्द।
८. बाणभट्ट	६४० ई०	हर्षचरित, कादम्बरी।
९. भर्तृहरि	६५० ई०	शतकत्रय (नीति०, शृंगार०, वैराग्य०)।
१०. भवभूति	७०० ई०	मालतीमाधव, महावीरचरित, उत्तररामचरित।
११. माघ	७०० ई०	शिशुपालवध।

(ख) सामग्री के विभाजन का आधार—किसी भी विषय के वैज्ञानिक अध्ययनार्थ उसके सीमा-निर्धारण के समान ही विषय-सामग्री का विभाजन भी नितान्त आवश्यक है। तदर्थ, सामग्री के विभिन्न अंगों पर दृष्टि जाती है, और यह निश्चय करना आवश्यक हो जाता है कि किस आधार पर सामग्री का विभाजन किया जाए तथा उसके किस अंग को प्रमुखता दी जाए।

सूक्ति में प्रयुक्त प्रथम या किसी महत्त्वपूर्ण शब्द को आधार मानकर अकारादि-क्रम से भी सूक्तियों का विभाजन किया जा सकता है। किन्तु इस प्रकार का विभाजन संकलन की दृष्टि से ही उपयोगी हो सकता है और हुआ है, किन्तु अध्ययन की दृष्टि से नहीं।

सूक्ति के दो अंगों को स्पष्टत: देखा जा सकता है—बाह्य और आन्तरिक। सूक्ति के वाह्य रूप में उसमें प्रयुक्त अलंकार, छंद, भाषा और शैली आते हैं। इनके आधार पर सूक्तियों के विभाजन और विवेचन से सूक्तियों के कलापक्ष का अध्ययन हो पाता है। ऐसे अध्ययन से जिन परिणामों पर पहुंचा जा सकता है उनका संक्षेप में पीछे निर्देश किया जा चुका है।[६२] उनका और अधिक विस्तार से अध्ययन करना या उनके आधार पर सामग्री का विभाजन करना प्रस्तुत अध्ययन के लिए अनुपयोगी होने से वांछनीय नहीं है।

सूक्ति के आन्तरिक रूप में भावों और विचारों का स्थान है। सूक्ति में मानव-जीवन सम्बन्धी जो तथ्य निहित रहते हैं उन्हें उनका विचार या भावपक्ष कहा जा सकता है। कवि की व्यक्तिगत अनुभूति और प्रतिक्रिया-जन्य भावों का समावेश भी सूक्तियों में होता है और हर सहृदय पाठक उनका अनुभव किया करता है। हृदय को छूने वाला यह तत्त्व ही सूक्ति का भाव है, किन्तु इसे विचार से पृथक् करके दिखाना टेढ़ी खीर है।

भाव और विचार को क्रमश: सूक्ति की आत्मा और प्राणतत्त्व कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। इन्हीं को जानने से मानव जीवन की गुत्थियां सुलझती हैं। मानव-जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से सूक्ति के विचारों का अन्य सभी अंगों की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। इनके आधार पर किया हुआ विभाजन सूक्ति के अन्तस् से सम्बद्ध होने के कारण तात्त्विक एवं सांस्कृतिक जानकारी देने वाला हो सकता है। इसी विचारात्मक विभाजन में कवि के भावों का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन भी संभव है।

जहां सूक्ति का बाह्य रूप कवि की काव्य-प्रतिभा का परिचायक है वहां आन्तरिक रूप ही वह तत्त्व है जो जितना अधिक खरा, व्यापक और उत्कृष्ट होगा उतना ही अधिक

स्वीकरणीय और हृदयगम्य होगा तथा मानव-प्रकृति में कवि की पैठ प्रदर्शित करेगा। सूक्ति का यह विचारपक्ष ही कवि के साहित्य की गहराई और समाज की ऊंचाई जानने का तथा मानव जीवन के स्तर को मापने का मापदण्ड प्रस्तुत करता है।

अतः आन्तरिक तत्त्व के आधार पर किया सूक्तियों का विभाजन प्रस्तुत अध्ययन के लिए अधिक उपयोगी होगा ऐसा स्वीकारना उचित ही है।

(ग) अध्ययन की दिशा—सूक्ति के भाव और विचार पक्ष का आश्रय लेकर अध्ययन की कई दिशाएं हो सकती हैं। साहित्यिक दृष्टि से सूक्ति के भाव-सौन्दर्य को परखा जा सकता है, तो सांस्कृतिक दृष्टि से मानव जीवन के विविध रूपों को सजाया जा सकता है। आलोचनात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि लेकर सूक्तियों के विचारों का औचित्य स्थापित किया जा सकता है, तो तुलनात्मक दृष्टि से विभिन्न कवियों में कल्पना, भाव और विचार का साम्य दिखाया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से सूक्ति के कलात्मक, भावात्मक और विचारात्मक विकास का क्रमिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।[२६३] सूक्तियों के सर्वांगीण अध्ययन के लिए इन सब दृष्टियों को यथास्थान अपनाना उचित है। किन्तु इन सबके सही उपयोग के लिए और कवि के मूल भावों को समझने के लिए सर्वत्र मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना अपेक्षित है। कवि की अन्तर्निहित भावना को समझने के लिए सूक्तियों के आन्तरिक रूप के अनुसार जहां जिस दृष्टि को आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समझा गया है वहां उसे अपना लिया गया है।

जैसाकि पीछे निर्देश किया गया है[२६४] सूक्ति के सृजन में परम्परा, वातावरण और कवि-व्यक्तित्व सभी का योगदान हुआ करता है। इन्हीं के आधार पर सूक्तियों में साहित्य, संस्कृति, इतिहास आदि से सम्बद्ध भावों का समावेश होता है तथा मानवजीवन के विविध अंगों, उसकी प्रवृत्ति, प्रकृति आदि का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। संक्षेप में सूक्ति-सृजन की आधारभूत ऐसी कोई भावना या भावनाएं हुआ करती हैं जो स्पष्ट रूप में पाठक के समक्ष नहीं आतीं। अस्पष्ट रूप से झलकने वाली, सूक्ति में व्याप्त इन मूक भावनाओं का अन्वेषण करना इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य है, क्योंकि सूक्तिसृजन के पीछे छुपी भावना खोजने पर उसमें बिम्बित चित्र स्पष्ट हो जाता है। यहां मनोवैज्ञानिक विश्लेषण; का भी यही अभिप्राय है कि सूक्ति के पीछे जो मनोभाव छिपे हैं उन्हें परखा जाए। वस्तुतः किन परिस्थितियों में मानवमन में क्या-क्या प्रतिक्रियाएं होती हैं, और उनसे प्रभावित होकर मानव कैसे व्यवहार करता है इसका निरीक्षण, प्रयोग एवं विवेचन ही मनोवैज्ञानिक का कार्य है। इस अध्ययन में उस समस्त प्रक्रिया का निर्वाह करना न तो सम्भव है और न अपेक्षणीय ही, तथापि उसके कुछ अंश की पूर्ति यह अध्ययन अवश्य करता है। इस दृष्टि से किसी अंश में इसे मनोवैज्ञानिक अध्ययन कहना समुचित जान पड़ता है।

(घ) प्रस्तुत वर्गीकरण और अध्ययन-प्रकार—सूक्ति के आन्तरिक पक्ष (विचार) के आधार पर वर्ग बनाते हुए सूक्तियों में बिम्बित मानव-जीवन के विविध चित्रों को समग्ररूप से सजाने का प्रयत्न आगे के अनुच्छेदों में हुआ है। विषय-सामग्री को देखते हुए

निम्न वर्ग प्रस्तुत अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए हैं—

१. समाज-संगठन, २. राजा और राज्य, ३. परिवार, ४. नारी, ५. मानव-स्वभाव, ६. धार्मिक धारणाएं और विश्वास, ७. प्रेम एवं सौन्दर्य, ८. महनीय गुण, स्वभाव और आचार, ९. निन्दनीय दोष, स्वभाव और आचार, १०. व्यवहार एवं नीति।

सूक्तियां मानवजीवन के इन बाह्य एवं आन्तरिक अंगों पर मुख्यरूपेण प्रकाश डालती हैं। इनमें से पहले चार वर्ग ऐसे हैं जो मानव को प्रायः बाहर से नियन्त्रित और प्रभावित करते हैं तथा मुख्यतः बाह्य सम्बन्ध रखते हैं। बाद के पांच वर्ग (५ से ९) मानव के अन्तःकरण अथवा आन्तरिक पक्ष से सम्बन्धित हैं। इन सब बाह्य और आन्तरिक तत्त्वों से परिचालित मानव का मानवके साथ व्यवहार और उसकी नीति बताने वाली सूक्तियों की समीक्षा अन्तिम १०वें वर्ग में की गई है।

प्रस्तुत वर्गीकरण के अन्तर्गत किसी एक वर्ग से सम्बद्ध सभी सूक्तियों को वर्ग के अंगों के अनुरूप ग्रथित किया गया है, और उसके फलस्वरूप निर्मित चित्र की एकरूपता पूर्णता सौष्ठव, औचित्य आदि को परखने का प्रयास किया गया है। कुछ सूक्तियां ऐसी भी हैं जो एक साथ अनेक वर्गों के विषयों को छूती हैं। ऐसी सूक्तियों का विषय-निर्धारण या तो उनके प्रधान विषय के आधार पर किया गया है या फिर जिस विषय के सम्बन्ध में उस सूक्ति को सर्वाधिक संगत समझा गया, उसके अंतर्गत लिया गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से कवि के कालक्रम का ध्यान रखा गया है। परन्तु जहां भी विषय की स्पष्टता के लिए आवश्यक हुआ है, वहां यदि विचारों में किसी ऐतिहासिक परिवर्तन का अवसर नहीं है तो कवियों के काल-क्रम को छोड़कर विषय को अधिक महत्त्व दिया गया है। उदाहरणार्थ, 'मानव-स्वभाव' संबन्धी सूक्तियों में ऐसा करना ही उत्तम प्रतीत हुआ है।

इस प्रकार विचारात्मक वर्गीकरण करते हुए यथासंभव वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने का यत्न किया गया है। तथापि नाना विषय-विषम और उलझे हुए मानवजीवन के विविध क्षेत्रों को संश्लिष्ट रूप में छूने वाली सूक्तियों के बहुत वैज्ञानिक वर्गीकरण और विश्लेषणात्मक विवेचन का दावा करना भूल होगी। □□

संदर्भ-संकेत

१. उनमें संकलित सूक्तियों की बानगी देखिए—

"He that dies pays all debts."

"Heaven is above all yet; there...sits a judge that no king can corrupt."

(—Shakespeare : The Tempest-III, ii, 140; King Henry VIII-III, i, 100.)

—quoted, Everyman's Dictionary of Quotations & Proverbs, p. 340

२. उदाहरणार्थं हिन्दी की ये सूक्तियां देखिए—

'भय की चरम सीमा ही साहस है'—प्रेमचन्द, सेवासदन, पृ० ४६

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो'—प्रसाद, कामायनी, पृ १०८

'तखति सलामु होवै दिनुराती'—नानकवाणी १५।१।१८, पृ० ६५४

३· 'अवेस्ता' प्रथम भाग, p. xxvi

४. ऋ० १।१७६।३।मिला०—मंगल देव शास्त्री, सुभाषित सप्तशती, पृ० २६

५. ऋ० १०।११७।६। मिला०—वही पृ० ३१

६. ऐत० २।२। (?) मिला०—वही पृ० ३५

७. शत० १।८।१३। मिला०—वही पृ० ३८

८. मुण्डको० ३।१।६। उद्धृत—उपनिषद्वाक्यमहाकोश, पृ० ६२७

९. कठो० १।१।२७।

१०. निरुक्त १।५।२। पृ० ३१

११. महाभाष्य १।१।२। पृ० ४६, ('ऋलृक् ।२।' की समाप्ति पर)

१२. अर्थ० ६।२। पृ० ५६४

१३. योगवासिष्ठ भाग २, १६३।५६

१४. मनु० २।१५४

१५. श्रीमद्भागवत १।१८।२३

१६. भगवद्गीता—२।३४

१७. पञ्चतन्त्र ५।४१ से आगे, तथा ५।४९ से आगे

१८ हितो०, मित्रलाभ १६३

१९. वा० रा० ४।८।४०, ४।३६।११। तथा ५।५५।२३। (क्रमशः)

२०. धम्मपद ३९ । मिला० "There is no fear for him while he is watchful."

—The Dhammapada, translated by Irving Babbitt, p. 8.

२१. "good···right, virtuous, beautiful, easy, . much...willingly, quickly" —Monier Williams, P. 1219

२२. अमरकोश—३।४।२,५

२३. उद्धृत, मानुजी दीक्षित द्वारा, अमरकोश ३।४।५ की टीका पर

२४. (क) 'स्त्रियां क्तिन्' अष्टा० ३।३।९४

२५. "...to speak, say, tell, utter, announce, declare, mention, proclaim, recite, describe..." —Monier Williams p. 912

२६. "In the majority of the IE languages there are distinctive verbs

for 'speak,' denoting the actual speech activity, and for 'say' with emphasis on the result rather than the action..."

—A Dictionary of Selected Synonyms in the Principal Indo-European Languages, p. 1253

२७. वही पृ० १२५३-५६

२८. शब्द-कल्पद्रुम प्रथम भाग—पृ० २१८

२९. "Sentence, proclamation, speech, expression, word, a worthy speech or word" —Monier Williams, p. 172

३०. "a good or friendly speech, wise saying, beautiful verse or stanza". —Monier Williams, p. 1240

३१. 'सुष्ठूक्तौ स्त्री० ।' वाचस्पत्यम्, भाग ६, पृ० ५३२३

३२. "A good or clever saying, a correct sentence"

—V. S. Apte, p. 605

३३. इनके आधार पर परिलक्षित अर्थविकास के लिये देखिए—पृ० ३ से ४ आगे अनु० ३, एवं इन संग्रहों के संक्षिप्त परिचयार्थ देखिए पीछे प्राक्कथन

३४. काव्यादर्श १।३४

३५. हर्ष च० १।१६।पृ० ५

३६. "सान्द्राः—घनाः, गाढतया प्रयुक्ताः सुरसा इति यावत्"

—श्री मज्जीवानन्दविद्यासागर हर्षचरित-टीका पृ० १२

३७. "मधुरसाद्रासु इतिपाठे—मधु—क्षौद्रं, तद्वत् अतीव सुस्वाद इति भावः। रसः—श्रृङ्गारादिः"—वही

३८. "राज्ञेव मन्त्रिवर लङ्कक सूक्तिदेव्या सर्वाधिपत्यपदवीमधिरोपितोऽसि।"

—श्री कण्ठचरितम् २५।४३

३९. "वन्दे कवीन्द्र वक्त्रेन्दुलास्यमन्दिरनर्तकीम्।
देवीं सूक्तिपरिस्पन्दसुन्दराभिनयोज्ज्वलाम्॥" —वक्रोक्तिजीवितम् १।१

"...सूक्तिपरिस्पन्द अर्थात् सुभाषितों का विलास, वही है सुन्दर अभिनय, अर्थात् सुकुमार सात्त्विकादि भाव, उनसे उज्ज्वला अर्थात् प्रकाशमान"...

—आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, पृ० ५

४०. "किञ्चित्कदाचन कथञ्चन सूक्तिपाकाद् वाक्तत्त्वमुन्मिषति कस्यचिदेव पुंसः"

—काव्यमीमांसा, अध्याय १०, कविचर्या पृ० १३२

४१. कर्पूरमञ्जरी १।८

४२. Quoted, Dr. Raghavan, Bhoja's Sṛngāra Prakāśa, p.109.

४३. "केचिच्छोभाकरत्वाविशेषात् रसगुणयोरलङ्कारत्वं मन्यन्ते। तन्मते त्रिविधा सूक्तिः। स्वभावोक्तिः, वक्रोक्तिः, रसोक्तिरिति। तत्र गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः; उपमारूपकाद्यलङ्कारप्राधान्ये वक्रोक्तिः, विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्

रसनिष्पत्तौ रसोक्तिः।"

—दशरूपक व्याख्या, 1, 3, 41; quoted ibid, p.112

४४. "उचितेन विचारेण चारुतां यान्ति सूक्तयः।
वेद्यतत्त्वावबोधेन विद्या इव मनीषिणाम्।।" —औचित्यविचारचर्चा ३७

४५. "रीतिं-विचिन्त्य, विगणय्य गुणान् विगाह्य,
शब्दार्थ-सार्थम्, अनुसृत्य च सूक्तिमुद्राः।
कार्यो निबन्धविषये विदुषा प्रयत्नः,
के पोतयन्त्ररहिता जलधौ प्लवन्ते ?"

—काव्य-मीमांसा, अध्याय १०, कविचर्या पृ० १३१

४६. "मुद्रा…6An image, sign, badge, token." —V.S. Apte, p. 442

४७. —"सुललितपदविन्यासा रुचिरालंकारशालिनी मधुरा।
मृदुलापि गहनभावा सूक्तिरिवावाप सोर्वशी विजयम्।।" (कालकेयवध)
—उद्धृत, वी० ए० केशवन नंपूत्तिरि—"केरलीय नाट्य-विधाएं,' माध्यम, मई १९६६, पृ० १५०

४८. "सूक्तियां छन्दोबद्ध होती हैं और लोकोक्तियों के लिए ऐसा कोई नियम नहीं।"

—पं० सीताराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सर्वस्व, पृ० ३१०

४९. दशकुमारचरित, उच्छ्वास ६, पृ० २०७ व २१३

५०. काद० पृ० ३०४—कपिञ्जल, पुण्डरीक को उपदेश देते हुए

५१. उदाहरणार्थ —डा० आर्येन्द्र शर्मा, "सूक्तिमाला"
डा० रामजी उपाध्याय, "संस्कृत-सूक्ति-रत्नाकर"
मंगलदेव शास्त्री, "सुभाषित सप्तशती"
एम० आर० काले०, मृच्छकटिकस्थ "सुभाषितसंग्रह" पृ० ४०८-११
चन्द्रबली पाण्डे, कालिदास", पृ० ५८५-५९९
R. D. Kārmarkar, "Kadambarl of Bāṇa", p. 196, and "Nāgā- nanda of Harsa" Appendix c.

५२. "… but may be purely descriptive"—Dr. A.L. Basham, The Australian National University, Letter dated 17.2.66

५३. प्रकृति और काव्य, पृ० १३९

५४. यहां सूक्ति के साथ "वर्णनात्मक" विशेषण रखकर डॉ० साहब ने 'सामान्य तथ्यात्मक' सूक्तियों के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय दिया है।

५५. विक्र० १।८

५६. यथा, सुभाषित रत्नभाण्डागार पृ० सं० ६३।५९

५७. विक्रमोर्वशीय, साहित्य अकादमी १९६१, सुभाषित सूची पृ० १४७

विक्रमोर्वशीय, केशव भीका जी घवले, १९४८, परिशिष्ट ३, पृ० ३२०
विक्रमोर्वशीय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १५३, पृ० २४९

५८. आगे १।३। (ग, घ, ङ, च),
५९. आगे १।४।
६०. शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से यदि वर्णनात्मक पदों को भी, सुभाषित या सूक्ति के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत लेकर 'तथ्यात्मक' और 'सामान्यात्मक' सूक्तियों के सीमित अर्थ से पृथक् माना जाय तो कोई आपत्ति नहीं उठायी जा सकती; परन्तु जहां तक उपयोगिता का प्रश्न है और इस प्रवन्ध का विषय है, ऐसे पदों को सूक्ति से भिन्न मानना ही समीचीन होगा।
६१. ऊपर अनु० ३ (ख), टि० ५१
६२. विक्र०, परिशिष्ट ५
६३. नागा०, Appendix C, Proverbial passage No. 12
६४. विक्र०, Appendix V, entry No. 1
६५. सुभाषितावली पृ २०३
६६. नागा० १।१९
६७. मृच्छ० १।३४
६८. सुभाषितावली पृ० ३२१
६९. R. D, Karmarkar, Kādambari of Bāna, Appendix-1.
७०. विक्र०, परिशिष्ट ५, पद सं० ३
७१. नागा०, परिशिष्ट सी, पद सं० ११
७२. एक ऐसा वाक्य या वाक्यांश जो पुनः-पुनः प्रयुक्त होता है, जैसे किसी मित्र का स्वागत करते हुए, विदा लेते या देते हुए, क्षमा माँगते या आदर प्रकट करते हुए यथा—"किस प्रदेश की श्री नष्ट करके आप आ रहे हैं ?", 'फिर मिलेंगे, शुभविदा", "गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनीय" आदि। 'आपका अनुग्रह है, वंधन कैसा ?' यह भी किसी का कार्य करने पर उसके द्वारा कष्ट के लिए धन्यवाद देने पर कहा जाने वाला प्रचलित सा वाक्य है।
७३. मालवि० ३।३
७४. "...A happy phrase from the treasury of the classics is often found to be no mean ally in enforcing an argument."
—Dictiontry of Foreign Phrases and classical quotations, Introduction, p. x.
७५. हिन्दी-साहित्य-सर्वस्व, पृ० ३१०
७६. हिन्दी साहित्यकोश, भाग १, पृ० ९३५
७७. "परिचय", सूक्तिसागर, पृ० ९
७८. हिन्दी नीतिकाव्य, पृ० ४१

७९. "The choice sayings marked by beauty of thought and language embodied in the work of a poet may be called Subhāsita, Sūkti or Sadukti"—Dr. Vishva Bandhu, M. A., D. Lit. Letter No. 1.11.10751, dt. 9.3.66

८०. ऊपर अनु० ३ (ग),

८१. डा० लुगविग ने (पत्र ता० २८-२-६६ में) "...Containing some important truths" and "Sententious remarks in verse."
—ये दो समान गुण सूक्तियों में सुझाए हैं। तथ्यात्मकता में इन दोनों का समावेश हो गया है।

८२. यह संक्षिप्तता डा० लुगविग (पत्र ति० २८-२-६६) के अनुसार आवश्यक नहीं है, क्योंकि पूर्ण पद उसमें सम्मिलित नहीं किए जा सकते।

८३. ऊपर अनु० ३ (च)

८४. 'लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।"—कुवलयानन्द, १५७

८५. वहीं १५७ के उदाहरण में

८६. वहीं १५७ के उदाहरण में

८७. "A proverb is a racial aphorism which has been, or still is, in common use, conveying advice or counsel, invariably camouflaged figuratively, disguised in metaphor or allegory."
—Champion, Racial Proverbs, Introduction, p. xv

८८. "...brevity, sense, piquancy or salt, and popularity...it must in every case present a serious thought .."
—Encyclop aedia of Religion and Ethics, vol. X, p. 412

८९. Champion, Racial Preverbs, Introduction, p. xvii.

९०. आगे 'शैली' में इस पर सोदाहरण प्रकाश डाला गया है। दे० १।७ (च)

९१. (क) ' Proverbs are short sentences drawn from long experiences."
—"Don Quixote"—quoted by Champion, Racial proverbs p.6.
(ख) रमाशंकर गुप्त, सूक्ति सागर निवेदन, पृ० १३

९२. "They (proverbs) avoid modifying adverbs, like often, sometimes, mostly, scarcely; they state as a universal truth what is true on the whole or even what is true in exceptional cases."
—Prof. Westermark Edward Ph.D., 'Introduction to the proverbs of morocco, in "Racial Proverbs'i by Champion, p. LXXVI

९३. उदाहरणार्थ—'प्रायः प्रप्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः।'—कु० ६।२०
तथा—'प्रायश्च जनस्य जनयति सुहृदपि दृष्टो भृशमाश्वासम्।' हर्षच० ८। पृ० २३३, पृ० १९

९४. विक्र० १।१५

९५. दे०—"In so far as they touch upon morals and manners, the proverbs of a race seldom display its good points. They are practically the race's criticisms of its own salient defects."

Frank Cundall—"Introduction to the Negro Proverbs" in Racial proverbs by Champion, p. LXXXI

९६. काद० पृ० २९०

९७. शाकु० १।२३—प्रियंवदा

९८. हर्ष च०—८। पृ० २४४। पं १६—राजा हर्ष

९९. "...in any question in life which has to be decided there are always proverbs which can be quoted on both sides, ...This merely means that proverbs are crystallized forms of human experience, and as human experience gives no definite solution to any problem, proverbs cannot do so either...they present clearly both sides of any question, thus putting the choice on man himself."

—Prof. Denis Saurat, D. es. L.: 'Introduction to the Proverbs of France, in 'Racial proverbs' by Champion, p. lvii

१००. "To attain the rank of a proverb a saying must either spring from the masses or be accepted by the people as true. In a profound sense it must be vox Populi."

—Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol.X, p. 412

१०१. डा० अमरनाथ झा : फॉरवर्ड—सूक्तिमुक्तावली (हरिहरसुभाषितम्)

१०२. 'जहाँ अनेक कवियों की रचनाओं में लोक-प्रचलित उक्तियों का प्रयोग देखने में आता है वहाँ बहुत से कवियों की पंक्तियां भी कहावतों का रूप धारण कर लेती हैं।"

—डा० क० ला० सहल : राजस्थानी कहावतें, पृ ४४

१०३. "In course of time it (the proverb) was quoted by a writer either in its obvious sense, or with a transferred meaning."

—The oxford Dictionary of English Proverbs, introduction, p. Vili.

[संस्कृत के कवियों ने भी ये दोनों ढंग अपनाए होंगे।]

१०४. कु० ५।३६

१०५. शाकु० ५।२१—राजा

१०६. काद० पृ० १५५, तारापीड पुत्रजन्म का समाचार सुनकर

१०७. मृच्छ० १।५०
१०८. वहीं ५।६ —विदूषक
१०९. उदाहरणार्थ—मृच्छ० ५।१६,८।३२,३३
११०. किरात० २।२०
१११. मृच्छ० १।३२ विट
११२. प्रिय० ३।५—आरण्यिका
११३. इस अनिश्चय का कारण है किसी प्राचीन अथवा अर्वाचीन लोकोक्ति-कोष का अभाव। उदाहरण के लिए "कैनेष हस्तिग्रहणोद्यतेन यूथे प्रयाते कलभोगृहीतः (भास, पञ्च० ३।३) इस उक्ति के पीछे 'भागते भूत की लंगोटी ही सही' जैसे भाव को व्यक्त करने वाली कोई लोकोक्ति छुपी हुई प्रतीत होती है।
११४. विक्र० २।२०—विदूषक
११५. वही १।१६
११६. वही ३।१३—विदूषक
११७. शाकु० ६।३१
११८. Encyclopaedia Britanica, vol. 2, p. 118, Apophthegm
११९. नीति० ७
१२०. भर्तृहरिसुभाषितसंग्रह, दा० ध० कौसम्बी, संकीर्ण श्लोक ५५६, पृ १६७
१२१. शाकु० ३।१२—सख्यौ
१२२. उदाहरणार्थ—"नोत्साहः परिधीरणावैरस्यमर्हति"—महावीर० २।१८—राम मिलाइए आगे परि० ११, अनु० ६
१२३. Monier Williams, p. 1229 and 1240
१२४. मनु० २।२४०
१२५. उदाहरणार्थ ये सम्मतियाँ देखिए—

—"It seems to me that the terms sūkti and Subhāsita are the same etymologically, and as far as I know they are used synonymously."—Dr. A L. Basham, Prof of Asian Civilization, the Australian National University, letter dated 17th Feb. 1966

—"As to Sūkti and Subhāsita I do not think there is any difference between them"—Prof. Dr, L. Alsdorf, Universität Hamburg, letter dt, 18.2.66

—"There is little difference between Subhāsita and Sūkti."
—Vishwabandhu—letter dt. 9.3.66

१२६. उनके पत्र क्रमिक दिनांक—१०.२.६६, १८.२.६६, तथा २८.२.६६ में

१२७. ऊपर १।४ सूक्ति का स्वरूप

१२८. Dr. P.L. Bhargava, Head, Sanskrit Deptt. University of Rajasthan, letter No. 447/Skt/65-66/23, dated 17.2.66

१२९. "···They become proverbs by age and acceptance."
—Encyclopaedia Britanica Vol.2, p. 188, Apophthegm.

१३०. "The literary forms most closely akin to the proverb are the apophthegm (a concise statement of a moral judgement) and the epigram."--The Standard Dictionary of Folklore, mythology and Legend Vol.2, (Column 2, line 2) p. 902

१३१. शास्त्रीय परिभाषा कोष, पृ० ३६

१३२. "Well or properly said or recited, song of praise,...wise saying, a vedic hymn"—Monier Williams, p. 1240

१३३. "सूक्त—(सु-वृक्त) —अच्छी तरह कथिक'—वैदिक कोष, पृ० ५६३

१३४. उदाहरणार्थं ये प्रयोग देखिए—

(क) 'विबुधैः सन्निवेशज्ञैः संगृहीतान्येनकश।
सुधारससनाभीनि सन्ति सूक्तानि यद्यपि।' (३८)
—सूक्तिमुक्तावली, भगदत्त जल्हण, अनुक्रमणिका, पृ० ५

(ख) "नेतुं वाञ्छति यः खलान् पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः।"
—नीति० ६ (चौखम्बा०)

(ग) "कविम्मन्यस्य हि फुरतेः सूक्तमरण्यरुदितं स्याद्विप्लवेत च।"
—राजशेखर, काव्यमीमांसा, अध्याय १०, पृ० १२७

१३५. 'सुभाषितं तु सूक्ते स्यात्' —शब्दरत्नसमन्वयकोष, पृ० १६५, पं०७

१५६. Monier williams, p. 1241

१३७. 'इति मुग्धबोधटीकायाम् दुर्गादासः'
—उद्धृत, शब्दकल्पद्रुम, भाग ५, पृ० ३९४

१३८. अर्थ० ९।२, पृ० ५६४

१३९. अर्थ० परिशिष्ट, 'चाणक्यसूत्राणि' २५६, २५७

१४०. "Aphorism...1. A definition or concise statement of a principle in any science" —Shorter Oxford English Dictionary p. 80

१४१. "Gnome...a saying pertaining to the manners, common practices of men, which declareth, with an apt brevity, what in this our life ought to be done, or not done."—
—Henry Peachman, quoted, Encyclopedia Britanica, vol. 10 p. 452

१४२. डा० भोलानाथ तिवारी ने नीति-साहित्य में सूक्त्यात्मक शैली दर्शाकर इस ओर संकेत भी किया है। देखिए—हिन्दी नीति-काव्य, पृ० ३७५

१४३ 'चाणक्य-नीति-शाखा-सम्प्रदाय' के अन्तर्गत चाणक्य-नीतिशास्त्र ११।१३

१४४. 'इस नीतिकाव्य के अनेकानेक छन्द और छन्दांश लोकोक्ति बन गए हैं।'
—डा० भोलानाथ तिवारी, हिन्दी नीतिकाव्य, पृ० १

१४५. "These pre-cepts (नैतिक शिक्षा सूत्र) are so closely akin to proverbs that the deviding line is difficult to define."
—P. Madeod Yearsley : 'Religious Proverbs' in Raciral Proverbs by Champien, p. xci.

१४६. 'लोकोक्ति साहित्य, यदि एक दृष्टि से देखा जाय तो, नीतिसाहित्य ही है।'
—डा० क० ला० सहल; राजस्थानी कहावतें: एक अध्ययन, पृ० २५

१४७. शिशु० २।६१

१४८. अर्थ० ६।१

१४९. रघु० १५।१७

१५०. अर्थ० परिशिष्ट, चाणक्यसूत्राणि २४७

१५१. कु० २।५५

१५२. "...detached, seperate, independent..."
—Monier Williams, p. 82

१५३. पारिभाषिक शब्दकोष, (राजेन्द्र द्विवेदी), पृ० १८७

१५४. 'तदनिबद्धं निबद्धं च'—काव्यालंकार—सूत्र १।३।२७

१५५. M. Winternitz, A History of Indian Literature, p. 145.

१५६. 'सूक्तिकाव्य मुक्तक रूप में तो लिखे ही जाते हैं, प्रबन्धों में भी कहीं-कहीं आ जाते हैं।' —हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ९३५

१५७. 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्'—काव्यप्रकाश १।५

१५८. यह भेद यहां दर्शाना सकारण है। आचार्य शुक्ल ने उक्ति-वैचित्र्य और फालतू कल्पना में बुद्धि लड़ाकर निर्मित रचना को सूक्ति कहा है। वस्तुतः ऐसा चित्र-काव्य में होता है, सूक्ति में नहीं। उनके मत की समीक्षा
देखिए—आगे १।८ 'सूक्तियों का काव्यत्व'

१५९. Dr. Buhlers Kashmir Report of 1877, quoted by Col. G. A. Jacob, लोकिकन्यायाञ्जलिः, प्रथमोभागः, Preface to the first edition, p.1

१६०. "लोकप्रसिद्धयुक्तिर्न्यायः"—भुवनेश-लोकिकन्याय-साहस्री, भूमिका। उद्धृत
—डा० क० ला० सहल : राजस्थानी कहावतें: एक अध्ययन, पृ० २९, टि० २

१६१. "A Lokanyāya, a rule for, or to be followed by, or adhered by

the general public."

--Dr. J. Gonda, Utrecht, letter dt. Feb. 18, 1966

१६२. (क) "मिथ्याज्ञानाद्धि काकतालीयाऽपि नास्त्यर्थसिद्धिः"

—न्यायबिन्दु—टीका पृ० ६—(सूत्र १।१।)

(ख) "अहो नु भोः तदेतत् काकतालीयं नाम"—मालती०, ५।२—माधव

(ग) "व्याघ्राघातमृगीकृपालुकुलमृग-न्यायेन हिंसारुचेः"—वही ५।२९

(घ) "एष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः।"—मृच्छ० १०।६०

(ङ) "कदापीदृशं घुणाक्षरं सम्भवत्येव।" रत्ना०—२।१८, सं० १८८

१६३. लौकिकन्यायाञ्जलिः, प्र०भाग, पृ० ८

१६४. "for the reasons given...the word maxim from the title page."

—लौकिकन्यायाञ्जलिः, द्वितीयोभाग : Preface

१६५ "A brief statement of a practical principle or preposition usually derived from experience; principle accepted as true and acted on as rule or guide."

—Funk and Wagalls, New Standard Dictionary of the English Language p. 1530

१६६. "A proposition (esp. in aphoristic or sententious form) ostensibly expressing some general truth of science or of experience." —The Oxford English Dictionary vol. VI, M, p. 254

१६७. "A maxim is a conclusion upon observation of matters of fact"—ibid, loc.cit.

१६८. "सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः—कोऽलङ्कारोऽनया विना ?" —काव्यालङ्कार २-८५

१६९. "अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहितजीवितम्"

—वक्रोक्तिजीवित ३-३, तथा ऐसा ही भाव देखिए—वही १-५६

१७०. डॉ० नगेन्द्र, भूमिका, 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित', पृ० ३३

१७१. कुवलयानन्द १५८

१७२. ऊपर १।५

१७३. आगे १।८ (घ)

१७४. बुद्ध० १०।२६

१७५. हर्षच०, पृ० २४४, प० १९

१७६. किरात० १।३७

१७७. शिशु० २।६५

१७८. शिशु० १६।५७

१७९. हर्षच० ६। पृ० १९०। पं० ७

१८०. यहां 'कामल' शब्द श्लेषार्थक है। पहला अर्थ—'कमल-सम्बन्धी'—लक्ष्मी के

कमल-निवास का ध्यान कराता है। और दूसरा अर्थ—'कमला-सम्बन्धी', पाण्डु-रोग से होने वाली पीत-दृष्टि एवं उससे उद्भूत रतौंधी आदि का स्मरण कराता है।

१८१. शिशु० ८।४५

१८२. इस सूक्ति में 'डलयोरभेदः' की मान्यता पर 'जड' के स्थान पर भी 'जल' शब्द को ही स्वीकार करना होगा। 'जल' रमणियों की मेखला में प्रविष्ट पानी के लिए है, तो 'जड' बुद्धि की जड़ता के लिए। मेखलाओं की ध्वनि जल ने छीन ली, अतः 'जलत्व=जडत्व' से वाणी का पटुत्व मारा जाता है, यह तथ्य यहां दर्शाया गया है।

१८३. यथा—'परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसहः'—शिशु० ६।४५
तथा—'रुदितमुदितमस्त्रं योषितां विग्रहेषु'—वहीं ११।३५

१८४. स्वप्न० १।४

१८५. मेघ० २।४६

१८६. रघु० १।३ [संभाव्य मूल—'प्रांशुलभ्ये फले वामनोऽप्युद्वाहुः!']

१८७. तुलनार्थ—'बौना चांद नहीं पकड़ सकता'—हिन्दी लोकोक्ति।

१८८. रघु० १०।६, [संभाव्य मूल—'शारदं दिवसं प्रारंभ एव सुखदर्शनम्']

१८९. "They (similies) are apt to become petrifid, they become cliches, standing phrases; ...Thus these similies pass into the general language...Also will do 'proverbial similles."
—Remarks on Similies in Sanskrit Literatute, p. 82-83

१९०. शाकु० ४।१८

१९१. मृच्छ० ३।२—चारुदत्त

१९२. स्वप्न० १।७—तापसी

१९३. साहित्यदर्पण, उदाहरण १०।५०

१९४. नैषध० ३।११६। साहित्यदर्पणकार ने इसे प्रतिवस्तूपमा के उदाहरण रूप में दिया है। किन्तु कुछ टीकाकार इसमें दृष्टान्त मानते हैं। देखिए—वही-नारायण राम आचार्य की टीका।

१९५. शिशु० २।१००

१९६. कु० २।४०

१९७. साहित्यदर्पण—१०।५८, ५९

१९८. वही १०।५९ की व्याख्या में, अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण

१९९. कु० ५।३९

२००. मेघ० १।१७

२०१. शिशु० ६।४४

२०२. हर्षच० पृ० १८५। पं०४-७

२०३. शृं० ४७
२०४. वही ५०
२०५. भर्तृहरिसुभाषितसंग्रह, संशयित श्लोक ३३६, पृ० १३१
२०६. शृं० ६
२०७. वही ६
२०८. सौन्द० ८।३६
२०९. वही ८।३१
२१०. वही ८।३५
२११. चारु० २।०। पं० ५१, चेटी
२१२. मृच्छ० २।०—मदनिका, पृ० ७०
२१३. कु० ३।२१
२१४. शिशु० ६।५७
२१५. चिन्तामणि (कविता क्या है ?) भाग १, पृ० १७१
२१६. ऐसी उक्ति को सूक्ति नहीं कहा जा सकता। इसे तो चित्रकाव्य कहना चाहिए। मिलाकर ऊपर अनु० ६ (छ) 'चित्रकाव्य'
२१७. "हां, भावों का उद्रेक करने वाली रस-सूक्ति को अवश्य कविता कह सकते हैं।"
—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रसमीमांसा, पृ० ८२
२१८. "फालतू कल्पना और फालतू बुद्धि जो संसार के किसी काम की न ठहरीं—कविता के मैदान में दखल जमाने लगीं।···फिर कविता सिर्फ एक मज़ाक की चीज़ या शब्द-चातुरी मात्र रह गई।" —वहीं
२१९. (क) "शुक्लजी ने सूक्ति शब्द का प्रयोग यहां (अपनी परिभाषा में) कोरी चमत्कारपूर्ण कविता के लिए किया है जो उचित नहीं कहा जा सकता।"
—डॉ० भोलानाथ तिवारी, हिन्दी नीति काव्य, पृ० १०
(ख) "सूक्ति के लक्षण में शुक्लजी ने जितनी बातें कही हैं समुचित प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार काव्य का भेद काव्यत्व का विघातक है।"
—विद्या-वाचस्पति पं० रामदहन मिश्र, काव्यदर्पण, भूमिका, पृ० २४। (उद्धृत वहीं)
२२०. "यानेव शब्दान् वयमालपामः यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यास-विशेष-भव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति"
—शिवलीलार्णव महाकाव्य, १-१३
उद्धृत—Bhoja's Srngara Prakasa, p. 106
२२१. 'अर्थविशेषास्त एव शब्दास्त एव परिणमन्तोऽपि।
उक्तिविशेषः काव्यं, भाषा या भवतु सा भवतु॥" —कर्पूरमञ्जरी, १।८
२२२. "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"—काव्यालंकार १।१६
"वाचको वाच्यं चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्।"
—वक्रोक्तिजीवितम् १।७ से आगे टीका में

२२३. "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।" —काव्यप्रकाश, १।४
"काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कार-संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते।"
काव्यालङ्कार सूत्र १।१।१ पर टीका

२२४. "वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ?" —साहित्यदर्पण, १।३

२२५. "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।" —रसगंगाधर, १।१

२२६. रघु० ६।६९

२२७. वही ५।१३

२२८. "काव्य के तत्त्व—'बुद्धि' (विचाराश्रित), 'कल्पना' (चित्रांकन की शक्ति), एवं 'रागात्मक' (=भावाश्रित)"
—श्यामसुन्दरदास, साहित्यलोचन, पृ० २०५

२२९. रसगंङ्गाधर में 'उत्तमोत्तम' नामक एक भेद और किया गया है।

२३०. "...delight is the chief, if not the only, end of poesy : instruction can be admitted but in the second place; for poesy only instructs as it delights"
—John Dryden, Defence of Dramatic Poesy, p. 62

२३१. मिला० काव्यप्रकाश १।२

२३२. वहीं

२३३. कालिदास और अश्वघोष को क्रमशः प्रसादक और उपदेशक कवियों के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उनकी सूक्तियों में इस अन्तर को स्पष्ट देखा जा सकता है।

२३४. "For Johnson poetry was, by definition, 'the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the aid of reason,".
—Lives of the English Poets, L. Archer Hind, Introduction, p. xii

२३५. "These three complex components, the biological heritage, human nature or personality, and the environment, are always present in any action involving man's social experience...almost nothing becomes operative on the personality unless it has been experienced by the personality in question."
—Dewy and Humber : The Development of Human behaviour, p. 25

२३६. बुद्ध० ९।१७

२३७. वही ११।६५

२३८. विक्र० ५।८। —विदूषक

२३९. कु० १०।४८

२४०. शाकु० ४।३—प्रियंवदा

२४१. रघु० ४।१३

२४२. (क) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने छहों दर्शनों में अविरोध माना है। देखिए—
सत्यार्थप्रकाश, समु० ८

(ख) 'सांख्ययोगौ' पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।' —गीता० ५।४

२४३. रघु० ७।१५

२४४. शिशु० १।७२

२४५. द्रष्टव्य आगे—उपसंहार

२४६. मृच्छकटिक में शकार का, और शाकुन्तल में श्याल का चरित्र।

२४७. शाकुन्तल के छटे अंक में रक्षकों का व्यवहार।

२४८. उदाहरण के लिए आश्रम-व्यवस्था बताने वाली वे सूक्तियां जिनमें 'क्या करना चाहिए' का आख्यान अधिक है 'क्या होता है' का कम। किन्तु उनमें भी कहीं-कहीं यथार्थ की झलक आ गई है। यथा—'नगर-परिभवान् विमोक्तुमेते वनमभिगम्य मनस्विनो वसन्ति' (स्वप्न० १।५।) यह सूक्ति समाज का वास्तविक परिचय देती है।

३४९. मिलाइए—आगे परि० ४, अनु० ३, 'पति-पत्नी'

२५०. 'निवारयति यो राजन् ! मित्रं रिपुरन्यथा।' —अभि० ६।२२
'सुलभाः पुरुषा राजन् ! सततं प्रियवादिनः
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः!'
—सुभाषितरत्नभाण्डागार, ४६६ हितोक्तिनिदर्शनम् १

२५१. 'जातरूपेण कल्याणि ! (मणिः) नहि संयोगमर्हति।' मालवि० ५।१८

२५२. रघु ६।८०

२५३. शाकु० ४।१५—शार्ङ्गरव

२५४. इस सन्दर्भ में देखिए—कालिदास और माघ की दृष्टि का अन्तर—आगे परि० ५ अनु० ३ 'नारी का स्वभाव एव व्यवहार'

२५५. पीछे अनुच्छेद १ —'सूक्ति और साहित्य'

२५६. "As a matter of fact Brahmanical religion, as it developed at the end of this period (600 BC—320 A.D.) more than 1500 years ago, is far more akin to modern Hinduism than it is to the Vedic cult which immediately preceded it."
—R. C. Majumdar, the Age of Imperial Unity, preface, XLVII

२५७. भास का समय और रचनाएं तीव्र विवाद का विषय हैं। उस विवाद में न पड़कर श्री गणपति शास्त्री प्रभृति भारतीय विद्वानों के परम्परा-सम्मत मत को भी

प्रश्रय देने के लिए भासको अश्वघोष से पहले रखकर किए गए सूक्तियों के अध्ययन में कोई गतिरोध उत्पन्न नहीं हुआ है। अतः भासको यहां पहले ही स्थान दिया गया है।

२५८. 'शारिपुत्र-प्रकरणम्' के कुछ खण्डित अंश मिलते है जिन्हें डा० लूडर्स ने सम्पादित किया है। परन्तु सूक्ति-चयनार्थ उनका प्रयोग संभव नहीं हो सकता।
मिलाइए —'The Sanskrit Drama', A. B. Keith, p. 80

२५९. कालिदास के ऋतुसंहार में प्रायः सभी पद वर्णनात्मक हैं, अतः मुक्तक के अधिक निकट हैं, प्रस्तुत प्रबन्ध में निर्धारित सूक्ति की परिभाषा के अन्तर्गत वे नहीं आते।

२६०. "Hence it seems very much likely that Śūdraka flourished in the 6th century A. C." —Manmohan Ghosh, Contributions to the History of the Hindu Drama, p. 45

२६१. (क) "belonging to the older group of dramatists who succeeded Kalidasa,...at some period anterior to the 9th century A.D." —Dr. S.K. De, in B C. Law Volume, Part I,p. 51
(ख) "देवीन्द्रगुप्तम्' की प्रति अप्राप्य होने के कारण नहीं ली जा सकी।

२६२. पीछे अनु० १—सूक्तियों का कलापक्ष, तथा अनु० ८—सूक्तियों का काव्यत्व

२६३. विषय सामग्री की सीमाओं के कारण इस प्रकार सूक्तियों का विकास ही दिखाया जा सकता है, उनका मूल खोजना यहां सम्भव नहीं हो सकता।

२६४. पीछे परि० १, अनु० ९

००

परिच्छेद-२

समाज-संगठन

१. सामाजिक सूक्तियां और उनका महत्त्व

जैसाकि पीछे दर्शाया गया है,[1] सूक्तियां मानव के व्यक्तित्व एवं सामाजिक जीवन की अनुभूतियों से अनुप्राणित होती हैं। मनुष्य को अधिकांश अनुभव समाज का सदस्य होने के नाते ही प्राप्त होते हैं। वह अपने संचित अनुभवों को समाज तक पहुंचाने के लिए ही सूक्ति या लोकोक्ति का प्रयोग भी करता है। इस आधार पर प्रायः सभी सूक्तियों का समाज से सम्बन्ध माना जा सकता है। अतः यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक सूक्ति में समसामयिक सामाजिक ढाँचे का प्रभाव परिलक्षित होता है और इस प्रकार वह सामाजिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब होती है। परन्तु वर्गीकरण की दृष्टि से सामाजिक सूक्तियों में समाज-संगठन के विषय में कही गई सूक्तियों को ही लेना उपयुक्त होगा।

उदाहरण के लिए—'स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः'[2] इस सूक्ति से समाज का स्त्रियों पर कठोर शासन और उसके कारण उनका ढीठ हो जाना प्रकट होता है। इसी प्रकार 'अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात् संगतं रहः'[3] से यह तथ्य व्यंजित होता है कि उस काल के समाज में प्रेमी-प्रेमिका के प्रणय में विवाह से पूर्व भी कभी-कभी एकान्तसेवन हो जाता था, क्योंकि इस सूक्ति में उन्हें एकान्तमिलन से पूर्व एक दूसरे की परीक्षा (जो अविवाहित स्थिति में ही सम्भव है) कर लेने की सलाह दी जा रही है।

इन दोनों सूक्तियों से सामाजिक व्यवस्था के जो अंग झलकते हैं वे हैं—समाज के स्त्री-सम्बन्धी एवं विवाह-सम्बन्धी व्यवहार। अतः ये क्रमशः नारी एवं परिवार विषयक सूक्तियां हुईं। इन्हें सामाजिक सूक्तियों में रखना यद्यपि अप्रासंगिक न होगा तो भी ऐसा करने से एक तो, सामाजिक सूक्तियों का वर्गीकरण पुनः करना पड़ेगा जिसमें केवल समाज से सम्बन्धित और अन्य विविध पहलुओं को छूने वाली सूक्तियों को पृथक् करना पड़ेगा। दूसरे, प्रायः सभी सूक्तियां सामाजिक सूक्तियों के वर्ग में आ जाएंगी। अतः सामाजिक सूक्तियों में केवल समाज की रूपरेखा को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने वाली सूक्तियों का समावेश ही अधिक वैज्ञानिक रहेगा।

मुख्यत: संस्कृत-काव्य का विषय ऐतिहासिक, लोकविश्रुत या पौराणिक रहता है, जैसे कि कालिदास की रचनाओं में। ऐसी स्थिति में तत्कालीन समाज के अनुमान का आधार कवि के वर्णनात्मक प्रसंगों को बनाया जा सकता है और भारतीय समाज को प्राय: अपरिवर्तित बताते हुए इसे सही भी कहा जा सकता है।[४] परन्तु सूक्तियों में कवि के लिए केवल परम्परागत विचार देना ही अनिवार्य नहीं है। उनमें वह अपनी और लोक की अनुभूति को भी अवश्य प्रतिफलित करता है। अत: सूक्तियों के आधार पर कवि के समाज का चित्र और भी अधिक प्रामाणिक रूप से आंका जा सकता है।

जो सूक्तियां सामाजिक व्यवस्था पर कही गई हैं, उनमें समाज का स्वरूप कवि के स्पष्ट शब्दों में सामने आता है, उसको पाठक के विश्लेषण (Interpretation) की अपेक्षा नहीं रहती। वे अपने युग तथा कवि के समाज का विश्वसनीय और प्रामाणिक मानक (Standard model) प्रस्तुत करती हैं। उनके आधार पर हम तत्कालीन समाज की रूपरेखा का सही अनुमान लगा सकते हैं। किसी कवि की सामाजिक सूक्तियों का अध्ययन जहाँ उसके कालनिर्णय में सहायक हो सकता है वहाँ किसी राष्ट्र के कवियों की सामाजिक सूक्तियों का कालक्रमानुसार अध्ययन उनके समाज की भूतकालीन रूपरेखा पर प्रभूत प्रकाश डालता है।

२. वर्ण-व्यवस्था

भारतीय समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था बहुत प्राचीन समय से चली आयी है। सूक्तियों से विदित होता है कि लौकिक-संस्कृत-साहित्य के समय वर्ण और कर्म का पारस्परिक सम्बन्ध क्या रहा होगा।

(क) **वर्ण और कर्म**—भास के समय वर्णव्यवस्था को पूर्ण मान्यता प्राप्त थी, परन्तु जहां तक कर्म करने का प्रश्न है वह वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अत्यन्त दृढ़तापूर्वक नहीं अपनाया जाता था। चारुदत्त के ब्राह्मण होने पर भी उन्होंने उसे व्यापारी के रूप में दिखाया है। इसके विपरीत कालिदास के काल में पैतृक-परम्परागत आजीविका को ही श्रेष्ठ समझा जाता था, चाहे उसमें लाभ हो या हानि। मछलीमार की जीविका पर हंसने वाले राजश्याल को उत्तर देता हुआ उस कर्म को करने वाला पुरुष यही स्थापना करता है—

सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारण-कर्म-दारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ।[५]

'जन्म के साथ मिले (पैतृक) कर्म को नहीं छोड़ना चाहिए,[६] चाहे वह कितना ही निन्दित क्यों न हो। यज्ञबलि के लिए पशुहत्या का कठोर कर्म करने वाला श्रोत्रिय ब्राह्मण (यजमान या पशु पर) कृपा करने के कारण मृदु ही (माना जाता) है।'[७]

एक विद्वान्[८] ने इस सूक्ति से विपरीत ही भाव लिया है—'इससे स्पष्ट है कि कवि ने भी वर्णधर्म की मान्यता जन्म पर नहीं अपितु कर्म पर ही निर्धारित की थी।

धीवर, धीवर इसलिए था कि वह मांस मछली का व्यवसाय करता था न कि इसलिए कि वह धीवर के घर जन्मा था'। यह निष्कर्ष उचित प्रतीत नहीं होता। इस सूक्ति में 'सहजं' शब्द, जो कर्म के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, स्पष्ट ही पैतृक कर्म को कह रहा है। कथन की पुष्टि में प्रदत्त उदाहरण भी वर्णानुसार क्रियमाण कर्म को अनिन्दनीय बताता है। इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में यह कहीं नहीं आया कि वह धीवर कर्म के कारण धीवर है। इसके विपरीत धीवर अपने द्वारा स्वीकृत कर्म के समर्थन में जन्म के अनुसार कर्म को प्रशंसनीय बता रहा है। अतः निश्चय ही वर्ण का निर्णय उस समय कर्मानुसार नहीं, अपितु जन्मानुसार ही होता था, इसीलिए परम्परागत व्यवसाय निन्दित होने पर भी ग्राह्य समझा जाता था।

भारवि के युग में भी वर्णधर्म न त्यागने का नियम और अधिक दृढ़ता से पाला जाता था। इन्द्र से संवाद के प्रसंग में अपने धर्म-पालन को अर्जुन सूक्तिरूप कहता में है—

स्वधर्ममनुरुन्धन्ते नातिक्रममरातिभिः
पलायन्ते कृतध्वंसा नाहवान्मानशालिनः ॥[९]

'मानी (क्षत्रिय) अपने धर्म का पालन करते हैं, अतिक्रमण नहीं। वे शत्रुओं से ध्वस्त (अपकृत) होकर युद्ध से भागा नहीं करते'।

इस प्रकार वर्णानुसार निश्चित वंशानुगत कर्मों में भारतीय समाज क्रमशः कठोर होता गया है और हर जाति अपनी आजीविका की रक्षा में सन्नद्ध रही है।[१०] अब स्वतन्त्र भारत में कुछ प्रगतिशील नागरिकों ने निम्न समझे जाने वाले पेशों को अवश्य त्यागा है।

आज भारत में अनेकानेक जातियां दिखाई देती हैं परन्तु उनमें चार वर्ण ही सदा मुख्य रहे हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इनमें से प्रथम दो पर तो पर्याप्त संख्या में सूक्तियां कही गयी हैं, जो इनकी उच्च मान्यता का पुष्ट प्रमाण हैं। किन्तु वैश्य एवं शूद्र पर नहीं के बराबर सूक्तियां इन्हें कुछ हेय दृष्टि से देखने के कारण हैं। इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट जातियों पर भी किसी-किसी कवि की टिप्पणी सूक्ति रूप में प्राप्त हो जाती है।

(ख) ब्राह्मण (१) ब्राह्मण का विशेष मान—वर्णव्यवस्था के आरम्भ के साथ ही ब्राह्मणों को श्रेष्ठतम माना गया हैं।[११] किन्तु जन्म के आधार पर वर्ण का निश्चय हो जाना इस वर्ण-विभाजन को थोथा बना गया। जन्मना वर्ण-मान्यता के कारण शनैः-शनैः ब्राह्मणत्व के लिए आवश्यक गुण—अध्ययनाध्यापन की योग्यता पाना भी उनके लिए अनिवार्य नहीं रह गया था। ऐसा प्रतीत होना है कि भास के समय तक ब्राह्मणों में शिक्षा का अभाव होने लगा था—**ब्राह्मणो दुर्लभोऽक्षरज्ञोऽर्थज्ञश्च**[१२] "अक्षर जानने वाला और अर्थ जानने वाला ब्राह्मण दुष्प्राप्य है।"

ब्राह्मणों की परिवर्तित स्थिति की ओर ध्यान दिलाने के लिए ही सम्भवतः भास ने सज्जलक जैसे पात्र की सृष्टि की है। वह बिचारा आफ़त का मारा, ब्राह्मण होने पर भी सैंध लगाने पर उतारू हो जाता है। सैंध की लम्बाई चौड़ाई नापने के लिए जनेऊ

का उपयोग करते हुए वह द्विजों की दिखावे की प्रवृत्ति पर व्यंग्य करता है—**दिवा ब्रह्मसूत्रं रात्रौ कर्मसूत्रं भविष्यति**[१३] 'दिन में जो पवित्र यज्ञोपवीत होता है वही रात में काम को नापने की रस्सी (Measuring Tape) हो जाएगा'। चौर्यकर्म में प्रवृत्त व्यक्ति के वचन को यद्यपि गम्भीरतापूर्वक नहीं लेना चाहिए परन्तु निस्संदेह उसकी यह उक्ति धार्मिक चिह्नों के प्रति उदासीन ब्राह्मणों की उपहासास्पदता की द्योतक अवश्य है।

इसी प्रकार के प्रसंग में शूद्रक ने यज्ञोपवीत को ब्राह्मण का अनेक प्रकार का साधन[१४] माना है, और उससे लिए जाने वाले कार्यों का विवरण इस प्रकार दिया है—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गम्, एतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे, दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनं च॥[१५]

'इसी (यज्ञोपवीत) से भीत तोड़ने में चौर्य-कर्म के मार्ग को नापता है। आभूषण के अटकाव (जैसे कर्णभूषण में कील के अटकने) को इससे खोल सकता है। यन्त्र से दृढ़ बने किवाड़ों को (जैसे कुण्डी को) भी यह खोलने वाला है और कीड़ों या सर्पों से काटे (अंग) को बाँधने का काम देता है।'

यज्ञोपवीत को केवल चिह्न के रूप में धारण करने वाले और उसको धार्मिक पवित्रता से न संभालने वाले ब्राह्मणों पर कवि ने सुन्दर चुटकी ली है। भास और शूद्रक दोनों के द्वारा प्रस्तुत ब्राह्मणों का एक सा व्यवहार देखकर ऐसा भान होता है कि समाज में वास्तविक जीवन आदर्शों की परिधि में बंधकर नहीं चलता था। अन्य कवि उस यथार्थ को दिखाना सम्भवतः अश्रेयस्कर समझते थे और उस प्रकार के व्यवहार को प्रोत्साहित भी नहीं करना चाहते थे।

दूसरी ओर, ब्राह्मणों में अपने वर्णश्रेष्ठत्व का दर्प कम होने में नहीं आ रहा था—**चैत्याग्निर्लौकिकाग्निं द्विज इव वृषलं पार्श्वे न सहते**[१६] 'वेदी की आग सामान्य आग को अपने पास वैसे ही नहीं सहती जैसे ब्राह्मण शूद्र को।' प्रतीत होता है कि ब्राह्मण वर्ग शूद्र के प्रति इतना असहनशील था कि उसका व्यवहार असहिष्णुता का उपमान बन गया था। यह भास के समय की विशिष्टता के रूप में ध्यान देने योग्य है।

इसके अतिरिक्त भास के समय तक न तो ब्राह्मण ही अपनी डावाँडोल स्थिति के प्रति सचेत हुए थे और न ही समाज ने उनको उनके पूज्य स्थान से अपदस्थ किया था।[१७] सूक्तियों से ऐसा ही विदित होता है—**(जानामि सर्वत्र सदा च नाम) द्विजोत्तमाः पूज्यतमाः पृथिव्याम्**[१८], **पूज्यतमाः खलु ब्राह्मणाः**[१९] —"(जानता हूं सर्वत्र और सर्वदा) ब्राह्मण[२०] पृथ्वी पर पूज्यतम है, ब्राह्मण निश्चय ही पूज्यतम हैं।" इत्यादि।

शूद्रक भी ब्राह्मण की कामना-मात्र को हर भांति से पूरणीय मानते हैं—**अनतिक्रमणीया भगवती गोकाम्या ब्राह्मणकाम्या च**[२१]—'भगवती गौ की इच्छा और ब्राह्मण की कामना इन दोनों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।' स्पष्ट ही ब्राह्मण गौ के समान आदर के पात्र थे। इस सूक्ति को यद्यपि हास्य के प्रसंग में प्रयुक्त कर अपने प्रयोजन की सिद्धि की गई है, तथापि इससे ब्राह्मण के प्रति विद्यमान विशेष सम्मान का निश्चय तो हो ही जाता है।

वाण स्पष्ट कहते हैं कि ब्राह्मण का मान तो इसलिए करना चाहिए कि वह ब्राह्मण जाति का है, उसकी बुद्धि चाहे संस्कार (परिष्कार) से विहीन ही क्यों न हो—**असंस्तकृतमतयोऽपि जात्यैव द्विजन्मानो माननीयाः।**[२२] जन्म से निर्धारित वर्ण-व्यवस्था एवं तज्जन्य जड़ता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण होगा ?

भवभूति की एक सूक्ति से ब्राह्मणों की व्यवहार-कटुता के प्रति भी अन्य वर्ण-वालों के लिए सहनशीलता अपेक्षणीय प्रतीत होती है—**कस्य द्विजे परुषवादिनि चित्त-भेदः ?**[२३] 'कर्कश बोलने वाले ब्राह्मण पर कौन मन बिगाड़ेगा ?' इस सूक्ति से भारतीय समाज की सहनशीलता का विशेष परिचय मिलता है। और वह भी इतनी कि आज तक धर्मकार्य में ब्राह्मण ही जिमाए जाते हैं। यह धर्मवीर भारत समाज ही है जहां ब्राह्मणों के विरुद्ध किसी विद्रोह को सफलता नहीं मिली। भगवान् बुद्ध का शान्त प्रहार भी व्यर्थ हो गया और ब्राह्मण का मान एवं पद यथावत् बना रहा।

(२) **ब्राह्मण के चरित्र के प्रति आस्था**—आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व भी यद्यपि ब्राह्मण अपने वर्णधर्म से कुछ-कुछ च्युत हो रहा था, तथापि यह विश्वास किया जाता था कि उसमें जन्मजात रूप से ही चरित्र की दृढता विद्यमान है। कालिदास की सामाजिक सूक्तियों में वह अपने प्रतिष्ठित पद पर आसीन दृष्टिगत होता है। कालिदास को गुप्त-काल का मानने में बहुत से विद्वान् इसी तथ्य से पुष्टि भी प्राप्त करते हैं कि उन्होंने ब्राह्मणों की उत्कृष्टता को तथा उनके विधिविधान को पूर्णतया स्वीकारा है।[२४] निम्न-लिखित सूक्ति ब्राह्मण को सत्यसन्ध (सत्यप्रतिज्ञ) कहकर अन्य वर्णों से उसकी विशिष्टता द्योतित करती है—**न खल्वन्यथा ब्राह्मणस्य वचनम्**[२५]—'ब्राह्मण का वचन अन्यथा नहीं हो सकता।' अर्थात् अन्य जाति का हो तो वचन का अन्यथात्व भी संभव हो सकता है, ब्राह्मण हो तो नहीं।

दक्षिणी ब्राह्मण भवभूति की सूक्तियों में ब्राह्मणों को विश्वसनीय और उत्तम वाणी से सम्पन्न कहा गया है—

आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां ये व्यवहारास्तेषु मा संशयो भूत।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता,[२६] नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति।[२७]

—'ब्रह्मसाक्षात्कार करने वाले ब्राह्मणों की जो उक्तियां हैं, उनमें आपको संशय न हो, क्योंकि इनकी वाणी में मंगलकारिणी सिद्धि नित्य सम्बद्ध रहती है। ये मिथ्या वाणी नहीं बोलते।' इस सूक्ति में 'ब्राह्मणानां' से स्पष्ट है कि ब्राह्मणों को ही अभ्यर्थ सत्य वाणी का स्वामित्व दिया गया है।

(३) **श्रोत्रिय**—ब्राह्मणों के उस वर्ग को, जो वेदपाठी होता था तथा श्रोत्रिय कहलाता था पाठ करने का अवसर तो रहता था, परन्तु लिखने का अवसर कम ही मिलता था। अतः उसका लेख प्रायः अस्पष्ट हो जाता था। विशाखदत्त इस तथ्य को सूक्ति द्वारा प्रकट करता है—**श्रोत्रियाक्षराणि प्रयत्नलिखितान्यपि नियतमस्फुटानि भवन्ति**[२८] —"श्रोत्रियों के अक्षर प्रयत्न से लिखे जाने पर भी निश्चय ही अस्पष्ट होते हैं।"

ये सभी सूक्तियां ब्राह्मणों की कतिपय दुर्बलताएं दिखला कर भी उनके प्रति भारतीय समाज का श्रद्धासूचक भाव ही व्यक्त करती हैं।

(ग) क्षत्रिय (१) शारीरिक शक्ति का प्राधान्य—वर्णों की श्रेष्ठता की दृष्टि से क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों के पश्चात् आता है। वर्णधर्मानुसार कर्म के विभाजन से यह स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक वर्ण को अपने कार्यक्षेत्र में विशेषता प्राप्त हो जाये। अतः राष्ट्ररक्षा में प्रवृत्त क्षत्रियों में शारीरिक शक्ति तो विशिष्ट होती ही है—**सिद्धं ह्येतद् वाचि वीर्यं द्विजानां, बाह्वोर्वीर्यं यत्तु तत् क्षत्रियाणाम्।**[२६]—'यह तो स्वयं सिद्ध है कि ब्राह्मणों का पराक्रम वाणी में और क्षत्रियों का बाहुओं में होता है।' ब्राह्मणों के लिए अध्ययन, यजन आदि से उत्पन्न शान्ति ही शोभाकारक है, शस्त्रास्त्र नहीं—**क्व ब्राह्मणः प्रशमनपराः क्षत्रधार्यं क्व चास्त्रम्?**[३०]—'कहां तो शान्तिप्रिय ब्राह्मण और कहां क्षत्रियों द्वारा धारणीय अस्त्र?' अस्त्र-शस्त्र क्षत्रियों के लिए होते हैं, ब्राह्मणों के लिए नहीं। स्पष्टतः प्रत्येक वर्ण के लिए अपने धर्म में ही उत्कृष्टता पाना प्रशस्य समझा जाता था।

ज्ञान-बल का अधिकारी जहां ब्राह्मण होता था, वहां क्षत्रिय शारीरिक शक्ति का स्वामी था। क्षत्रियों की समग्र समृद्धि का मुख्य आधार उनकी शक्ति थी—**बाणाधीना क्षत्रियाणां समृद्धिः।**[३१]—"क्षत्रियों की समृद्धि बाणों के अधीन है।" प्राचीन-काल में और भास के समय भी युद्ध मुख्यतया बाणों से लड़े जाते थे, अतः उनका सुचारु प्रयोग जानना ही उनकी शक्ति का प्रतीक कहा जा सकता था।

कालिदास के समय भी क्षत्रिय के लिए शस्त्रों का महत्त्व सर्वाधिक था, वही उनकी शक्ति और क्षमता का मापदण्ड था—**शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्ष्यं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति।**[३२]—'जो द्रव्य शस्त्र से रक्षणीय नहीं है, उसकी रक्षा न कर सकने से शस्त्र-धारियों (क्षत्रियों) की कीर्ति क्षीण नहीं होती।' इसमें जहां असमर्थ क्षत्रिय पर व्यंग्य है, वहां यह भी ध्वनि निकलती है कि क्षत्रिय का मुख्य बल शस्त्र-बल ही था।

भारवि की सूक्तियों में क्षत्रिय जाति की शक्तिसम्पन्नता का अत्यन्त ओजस्वी चित्रण हुआ है। शक्तिवान् द्वारा किसी अन्य की वस्तु ले लेना उस समय अपराध नहीं था—**अथास्ति शक्तिः कृतमेव याच्ञया, न दूषितः शक्तिमतां स्वयंग्रहः।**[३३] 'यदि शक्ति है तो याचना से बस। शक्ति सम्पन्न लोगों द्वारा दूसरे की वस्तु का बलपूर्वक स्वयंग्रहण दोषयुक्त नहीं माना जाता।' उस समय शक्ति का साम्राज्य था, ऐसा एक अन्य सूक्ति से भी प्रतीत होता है—**वनाश्रयाः कस्य मृगाः परिग्रहाः? शृणाति यस्तानु प्रसभेन तस्य ते।**[३४]—'वनवासी पशु किसके स्वामित्व में हैं? जो उन्हें बलात् मार ले, उसी के वे होते हैं।'

स्पष्ट है कि आज की भांति वन्य पशु राष्ट्र की सम्पत्ति नहीं माने जाते थे। भारवि की इन दो सूक्तियों से ऐसा द्योतित होता है कि उनके समय देश में कुछ-कुछ अराजकता भी छा गई थी। भारवि का समय कीथ ने ५५० ई० के आसपास निश्चित किया है। इस समय से लगभग ५० वर्ष पूर्व ही गुप्त साम्राज्य का सूर्यास्त हो कर चुका था और तभी आन्तरिक अराजकता एवं अनुशासनहीनता ने विदेशी आक्रमण को निमन्त्रित किया था।[३५]

(२) क्षत्रियों का धर्म—धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों में वर्णों का सामान्य धर्म बताया गया है। तदनुसार क्षत्रियों का विशेष धर्म है शस्त्र द्वारा जीविकार्जन और

प्राणि-रक्षा।[३६] ऐसी स्थिति में उनके लिए युद्ध करना आवश्यक हो जाता है, किन्तु वह धर्म-प्रेरित हो तभी उचित है। भास के अनुसार धर्मयुद्ध में मरना या जीतना क्षत्रियों के लिए समानरूपेण प्रशस्य है—

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः।
उभे बहुमते लोके, नास्ति निष्फलता रणे ॥[३७]

—"युद्ध में निष्फलता नहीं है क्योंकि उसमें मारा हुआ भी स्वर्ग पाता है, जीत कर तो यश पाता ही है। स्वर्ग और यश दोनों ही संसार में बहुमान्य हैं।"

क्षत्रियों के बीच युद्ध के कुछ सर्वस्वीकृत नियम होते थे, जिन्हें क्षत्रियों के व्यापक धर्म का अंग कहा जा सकता है। नीचे दी हुई सूक्तियां इस सामान्य धर्म के कुछ नियमों का संकेत करती हैं—

न्यस्तशस्त्रं हि को हन्यात्?[३८] "जिसने शस्त्र रख दिया है उसे कौन मारेगा?" **न तु दीनं वीरो निहन्ति समरेषु।**[३९] "वीर व्यक्ति दीन हीन को युद्ध में नहीं मारा करता।" **न रथिनः पादचारमभियुञ्जन्ति।**[४०] "रथवाले पैदल योद्धा से नहीं भिड़ते।" धर्मशास्त्र आदि ग्रंथों में दिये नियम इनसे तुलनीय हैं।[४१]

इसके अतिरिक्त एक वर्ण की अंगभूत जातियों के अपने-अपने धर्म और नियम होते थे। भवभूति से एक उदाहरण लीजिए—सुग्रीव से युद्ध के लिए उद्यत होकर बाली युद्धस्थल पर उतर आया और उन दोनों के युद्ध के शस्त्रास्त्रों में प्रस्तरखण्डों का भी प्रयोग हुआ। लक्ष्मण उनके युद्ध के तौर-तरीकों पर यह टिप्पण करते हैं—**स्वजातिसमयव्यवस्थिता युद्धधर्मा इति।**[४२]—"युद्धधर्म वाले क्षत्रिय लोग (या युद्ध के धर्म) भी निजी जातियों के नियमों से व्यवस्थित होते हैं।" प्रतीत होता है कि जातियों में इस प्रकार के गणीय विभाजन हो गये थे। इस सूक्ति से प्रतीयमान क्षत्रियों की भिन्न शाखाओं के युद्ध सम्बन्धी नियम क्षत्रियों के वर्गगत या गणीय विभाजन के आधार पर बने होंगे।

(घ) **वैश्य**—यह उल्लेखनीय है कि संस्कृतकाव्य के प्रस्तुत अंश में वैश्य वर्ण पर कोई सूक्ति प्राप्त नहीं हुई। यदि ब्राह्मण और क्षत्रियों के अतिरिक्त वैश्य आदि जातियों को कवि की दृष्टि में समाज का उपेक्षित अंग कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। शूद्र आदि के विषय में नगण्य सूक्तियाँ भी यही सिद्ध करती हैं।

(ङ) **शूद्र**—शूद्रों की अशिक्षा और मंत्रविषयक अनधिकार दर्शाने वाली भास की एक सूक्ति प्राप्त होती है—**वार्षलस्तु प्रणामः स्यादमन्त्रार्चितदैवतः।**[४३]—मंत्र से अर्चना किये बिना देवता को प्रणाम करना शूद्र का होता है।' अर्थात् शूद्र ही ऐसा प्रमाण कर सकते हैं जिसमें मन्त्र-स्तुति न हो। इस सूक्ति से यह भी ध्वनित होता है कि शूद्रों के अतिरिक्त शेष द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) को ही मन्त्राधिकार था।[४४]

(च) **अन्य जातियां**—इन परम्परागत वर्णों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट जातियों के विषय में भी सूक्तियां उपलब्ध होती हैं।

(१) **कायस्थ**—श्री पी० वी० काणे के मतानुसार कायस्थ जाति मुख्यतः लेखक जाति थी।[४५] विशाखदत्त के समय में भी ऐसा रहा होगा। उन्होंने शकटदास से

लेखक का ही काम लिया है। उसके विषय में चाणक्य कहता है—**कायस्थ इति लघ्वी मात्रा।**[४६]—'कायस्थ, ऐसा ! यह तो छोटी सी बात है (उसकी क्या गिनती ?)।' यहां दो सम्भावनाएं हैं। एक तो यह कि चाणक्य ने क्रोधाभिभूत होकर शकटदास को शत्रु जान, उसके सामर्थ्य को क्षुद्र बताया है। दूसरी ओर यह भी संभव है कि यह लोकोक्ति के रूप में व्यवहृत होता हो और कायस्थ जाति को उस समय सरलता से वशीभूत होने वाला समझा जाता हो।

(२) **शबर**—बाण के समय भील जैसी घुमक्कड़ जातियों को निन्दनीय माना जाता था और विवेकरहित भी—**अहो ! मोहप्रायमेतेषां (शबराणां) जीवितं साधुजन-गर्हितं च चरितम्।**[४७]—'इन शबर लोगों का जीवन मोहप्राय है और चरित्र सज्जनों द्वारा निन्दित।' ऐसा प्रतीत होता है कि बाण के समय ऐसी वन्य जातियों और विचित्रतापूर्वक जीवन बिताने वाले लोगों की पर्याप्त संख्या थी। "हर्षचरित" और "कादम्बरी" में यत्र-तत्र इनका नाम तो लिया ही गया है, साथ ही विस्तृत वर्णन भी किया गया है।[४८]

इस प्रकार लौकिक-संस्कृत के युग में चार वर्णों के अतिरिक्त एकाध जाति का उल्लेख मिल जाता है। श्री घूरिये द्वारा विभाजित चार युगों में से यह तीसरा युग है।[४९] और यह आधुनिक विशाल जाति-विभाजन का विकासशील काल जैसा प्रतीत होता है।

३. कुलीनता

भारत में सामान्यतः लोगों का सदा से यह विश्वास रहा है कि कुलीन व्यक्तिही चरित्र-वान् हो सकते हैं, अकुलीन विश्वसनीय नहीं होते। इसीलिए विवाह जैसे कार्य में सर्व-प्रथम कुल देखा जाता है। भास की एक सूक्ति है—**यदि च विभवरूपज्ञानसत्त्वादयः स्युर्नतु कुलविकलानां वर्त्तते वृत्तशुद्धिः।**[५०]—'चाहे वैभव, रूप, ज्ञान, शक्ति आदि गुण हों फिर भी अकुलीनों का चरित्र शुद्ध नहीं होता।' यहाँ कुल को इतना महत्त्व दिया गया है कि भास की एक अन्य सूक्ति, जो कि कर्म को कुल से श्रेष्ठ बताती है, विचारणीय बन जाती है—**अकारणं रूपमकारणं कुलं, महत्सु नीचेषु च कर्म शोभते।**[५१] 'रूप और कुल से क्या ? कर्म ही महान् और नीच में शोभित होता है।'

पहली सूक्ति में अन्य गुणों के होने पर भी चरित्र की शुद्धि कुल के द्वारा ही मानी गई है, जबकि दूसरी में कुल के स्थान पर कर्म से ही सब की शोभा बतायी गयी है। इन दोनों विचारों के विरोध का परिहार इस मध्यमार्ग से किया जा सकता है—'जहां तक बड़े कामों का प्रश्न है, नीच या अकुलीन भी उन्हें कर सकता है, परन्तु चरित्र तो कुलीनों का ही शुद्ध होता है।' या दूसरे शब्दों में 'सत्कुल से सच्चरित्रता का विश्वास होता है, और सत्कर्म से सभी शोभा पा सकते हैं।' ऐसी कुछ भावना भास की रही होगी।

कालिदास के युग में भी उच्चकुल के लोगों का मान-सम्मान था, यह कई वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है। इस सन्दर्भ में उनकी दो सूक्तियां द्रष्टव्य हैं—**न प्रभातरलं**

ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ।[५२]—'प्रकाश से चमचमाती ज्योति धरातल से प्रकट नहीं हो सकती।' तथा—**रत्नाकरे युज्यत एव रत्नम् ।**[५३]—'रत्नों की निधि समुद्र से रत्न का प्रादुर्भाव संगत ही है।' इन दोनों सूक्तियों के द्वारा उत्तम की उत्पत्ति उत्तम से ही मानी गयी है। यहां श्रेष्ठ कुल और श्रेष्ठ माता की परोक्ष प्रशंसा भी है। इन सूक्तियों में कवि की दृष्टि आदर्शवादी रही है और कुलीनता को उत्कृष्टता का आधार माना गया है।

भास और कालिदास के समान भवभूति का भी कुलीनता में पूरा विश्वास है। उन्हें निश्चय है कि सत्कुल को छोड़ कर उत्तम व्यक्ति जहां-कहीं जन्म ले ही नहीं सकता। अपने इस मत का प्रतिपादन उन्होंने "महावीरचरित" में भी किया है और "मालतीमाधव" में भी—**दुग्धार्णवादृते जन्म चन्द्रकौस्तुभयोः कुतः ?**[५४]—'चन्द्रमा और कौस्तुभ मणि[५५] का जन्म क्षीरसागर के अतिरिक्त और कहां से हो सकता है—एवं, **कुतो वा महोदधिं वर्जयित्वा पारिजातस्योद्गमः ?**[५६] कल्पतरु का जन्म महान् समुद्र (क्षीरसागर) को छोड़कर और कहां से हो सकता है ?' इन दोनों सूक्तियों पर कालिदास की उपर्युद्धृत सूक्तियों के भाव और विचार का प्रभाव द्रष्टव्य है।

बाण ने कुलीनता के दोनों रूप प्रस्तुत किये हैं। एक ओर तो उन्होंने कुलीनों में गुण परिलक्षित किये हैं और दूसरी ओर दोष। 'हर्षचरित' में पहला रूप प्रदर्शित है और उसमें कई सूक्तियां इस प्रकार की हैं जो गुणों का और कुलीनता का सीधा सम्बन्ध दिखाती हैं। वहां कुलीनों की सज्जनता का गुणगान करते हुए कहा गया है—**अलोहः खलु संयमनपाशः सौजन्यमभिजातानाम् ।**[५७]—'कुलीनों की सज्जनता ही उनके संयम के लिए बिना लोहे का पाश है।' इसके अतिरिक्त कुलीन व्यक्ति स्वयं कष्ट झेलकर भी सत्पथ से विचलित नहीं होता। माता यशोवती के प्रेम में विह्वल होने पर भी हर्ष ने उन्हें अनुमरण से नहीं रोका क्योंकि ऐसा करने पर उसे तत्कालीन प्रथा के प्रतिकूल कुछ कहना पड़ता। इस पर कवि का टिप्पण इस सूक्ति द्वारा हुआ है—**अभिनन्दति हि स्नेहकातराऽपि कुलीनता देशकालानुरूपम् ।**[५८]—'स्नेह से कातर होने पर भी कुलीनता देशकाल के अनुरूप व्यवहार का स्वागत करती है।'

इसी प्रकार कुलीन व्यक्ति अपना नाश उपस्थित होने पर भी प्रियजन से अप्रिय तथ्य नहीं कहता। राजा का वंश-परम्परागत वैद्यपुत्र दाहज्वर की असाध्यता से राजा की मृत्यु निश्चित जान कर स्वयं अग्नि में जीवित ही जल मरा। वह अपनी विवशता और राजा हर्ष के प्रति अत्यधिक प्रेम के कारण राजा के रोग की असाध्यता को स्वयं हर्ष से नहीं कह सकता था। इस मार्मिक प्रसंग में उस वैद्य की स्मृति में आंसू बहाते हुए हर्षवर्धन को उसकी इस उच्चता के पीछे कुलीनता के दर्शन होते हैं—**कामं स्वयं न भवति न तु श्रावयति अप्रियं वचनमरतिकरमितर इव अभिजातो जनः।**[५९]—'कुलीन व्यक्ति स्वयं न होना (मर जाना) भी पसन्द करता है परन्तु साधारण नीच की भांति अप्रिय और दुःखद बात नहीं सुनाता।'

इतने महान् बलिदान को कुलीनता के कारण हुआ बताने वाले बाण ही यदि इसके विपरीत सूक्ति कहें तो एक बार तो आश्चर्य होता है। 'कादम्बरी' में चन्द्रापीड

के यौवराज्योत्सव पर शुकनास का उपदेश बड़ा ही मार्मिक माना जाता है। उसी में से एक अंश है[६०]—

चन्दनप्रभवो न दहति किमनलः ?
किं वा प्रशमनहेतुनापि न प्रचण्डतरीभवति वडवानलो वारिणा ?
अकारणं च भवति दुष्प्रकृतेरन्वयः श्रुतं वा विनयस्य।[६१]

"क्या चन्दन से लगी आग जलाया नहीं करती ?"
"क्या (समुद्र के) अग्नि-शामक जल में वडवाग्नि तीव्रतर नहीं होती ?"
"दुष्ट प्रकृति वाले का कुल और ज्ञान विनय का कारण नहीं होता।"

कुलीनता के प्रति इन दो परस्पर-विरोधी विचारधाराओं का एक ही कवि द्वारा प्रकट करना यही सूचित करता है कि लोगों में यद्यपि कुलीनता के प्रति आज की ही भांति विशेष आस्था थी, परन्तु कवि बाण को अनुभव से ज्ञात हुआ था कि सज्जनता के लिए कुलीनता को प्रमुखता देना ठीक नहीं। कांटे सभी जगह हो सकते हैं—वन हो या उपवन। बाण को इस तथ्य का ज्ञान प्रौढ़ता प्राप्त करने पर हुआ होगा, क्योंकि कुल की प्रशंसा उन्होंने 'हर्षचरित' में की है, और अपनी प्रौढ़ रचना 'कादम्बरी' में सज्जनता के इस आधार पर कवि ने स्वयं अविश्वास प्रकट करते हुए उस विचार में संशोधन कर दिया है।

कुलीनता के प्रति बाण ने अनास्था को एक पक्ष के रूप में ही प्रकट किया है, किन्तु शूद्रक परम्रा से चली आ रही कुलीनता की महत्ता के प्रति कोई आस्था नहीं रखते। वे ही एक मात्र ऐसे कवि हैं जो दृढ़तपूर्वक उस पर प्रहार करते हैं—

किं कुलेनोपदिष्टेन, शीलमेवात्र कारणम्।
भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः।[६२]

—'कुल की बात करने से क्या ? (उत्कृष्टता का) सच्चा कारण तो शील ही है। अच्छे खेत में भी कंटीली झाड़ियां खूब खिलती हैं।' यहां कवि ने यथार्थ जीवन का ध्यान रखते हुए कुलीनता के प्रति समाज की परम्परागत आस्था को अस्वीकृत कर दिया है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है कि जीवकोषों के संक्रमण के कारण वंश-परम्परा का प्रभाव व्यक्ति के गुणों और विशेषताओं पर पड़ता है।[६३] किन्तु साथ ही वातावरण का बहुत महत्त्वशाली प्रभाव होता है,[६४] जिसके कारण वैयक्तिक क्षमताओं में अन्तर आ जाता है।[६५] इसलिए कुलीनता को यथोचित से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

४. आश्रम-व्यवस्था

(क) आश्रमों का क्रम और व्यतिक्रम—आदर्श भारतीय मानव का जीवन चार अवस्थाओं में विभक्त किया गया है, जिन्हें 'आश्रम' नाम से अभिहित किया जाता है। वे हैं —ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। भारतीय समाज इन्हें प्रायः इसी क्रम से स्वीकार करता आया है। क्रमपालन की एक झलक अश्वघोष की सूक्ति में मिलती है।

विम्बसार का राजदूत बुद्ध को राज्य में लौटने की प्रेरणा देता है—**पुरुषस्य वयःसुखानि भुक्त्वा रमणीयो हि तपोवनप्रवेशः**।[६६]—'युवावस्था के सुखों का उपभोग करके ही तपोवन में (अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में) प्रवेश करना सुन्दर लगता है।' पर कवि इससे सहमत नहीं, क्योंकि इस सूक्ति में स्थापित 'आश्रमों का क्रम से पालन करना चाहिए' इस भावना को वुद्ध ने वैराग्य की प्रधानता के कारण अस्वीकृत कर दिया है।[६७] प्रतीत होता है कि पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट आश्रम-व्यवस्था के स्थान पर अश्वघोष ने बौद्ध होने के कारण बुद्ध द्वारा उपदिष्ट जीवन-व्यवस्था को प्राथमिकता दी है।

सम्भवतः भारवि के युग में आश्रमव्यवस्था का क्रमिक पालन दृढ़तापूर्वक होता था और उसका उल्लंघन अनुचित समझा जाता था। यौवन में ही अर्जुन को तपः-रत देख कर इन्द्र को मुख्य शंका आश्रम-व्यवस्था के उलट-पलट जाने की हुई, यद्यपि मुनिवेश में होने के कारण उन्होंने इन्द्रिय-संयम की भूरि-प्रशंसा भी की। अर्जुन स्पष्ट कहता है कि उसने अपना आश्रम त्यागा नहीं है, क्योंकि—**आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः**।[६८] 'पूर्वजों ने आश्रमों का अनुक्रम बताया है, उल्लंघन नहीं।' धर्मशास्त्रों में जो क्रम बताया गया है वह है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और परिव्राजक।[६९] कुछ शास्त्रकारों ने[७०] इस क्रम में व्यतिक्रम को वैराग्य के आधार पर स्वीकारा है। भारवि ने व्यतिक्रम को स्मृतिभिन्न कहा है अतः वे इससे असहमत प्रतीत होते हैं। यह कहना कठिन है कि व्यतिक्रम स्थापित करने वाले शास्त्र उन्हें दृष्टिगत हुए थे या नहीं।

(ख) ब्रह्मचर्य (गुरु-शिष्य-सम्बन्ध)—मुख्यतः विद्याध्ययन और ज्ञानोपार्जन के लिए निर्धारित इस आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को किसी विद्यादाता गुरु का शिष्य बनना पड़ता है। गुरु शिष्य-सम्बन्ध को व्यक्त करने वाली सूक्तियों द्वारा ही इस आश्रम की चर्चा हुई है। अश्वघोष कहते हैं—**शिष्ये यद्यपि विज्ञाते शास्त्रं कालेन वर्ण्यते**।[७१]—'शिष्य के पहचान लिए जाने पर भी, (कि वह उपदेश का पात्र है या नहीं) शास्त्र का उपदेश समय पर ही दिया जाता है।' यथोचित समय पर दी हुई शिक्षा सफल होती है, इसका ध्यान रखा जाता था। विद्या चाहे देर से दी जाय परन्तु यथायोग्य दी जाय, और शिष्य की अपनी हो जाय, इस के लिए सही समय का चुनाव आवश्यक है ही।

जितने समय शिष्य गुरु के संरक्षण में रहता था, उतने समय वह पूर्णतः गुरु के अधिकार में समझा जाता था। कालिदास मानते हैं—**प्रभवति आचार्यः शिष्यजनस्य**[७२]—"आचार्य अपने शिष्यों का पूर्णतः अधिष्ठाता है।" व्यवस्था की दृष्टि से ऐसा प्रभुत्व गुरु को देना आवश्यक[७३] समझा गया होगा। क्योंकि शिष्य के व्यवहार का निरीक्षण गुरु का ही कार्य था।

विशाखदत्त ने गुरु-शिष्य-सम्बन्ध पर सर्वाधिक सूक्तियां कही हैं। वे दिखाते हैं कि राज्यमन्त्री होने के नाते चाणक्य अपने शिष्यों से सेवकों की भांति काम लेता है परन्तु फिर भी उसका उनसे गुरु-शिष्य-सम्बन्ध बना रहता है। चाणक्य स्वीकार करता है—**उपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता**।[७४] 'शिष्यों से कठोर व्यवहार गुरु के लिए सहज सम्भाव्य है।' प्रकट है कि सामान्यतः शिष्यों के प्रति गुरुजन कठोर व्यवहार रखते

थे। परन्तु ऐसा न था कि चाणक्य के शिष्य उसका सम्मान न करते हों और उस पर श्रद्धा न रखते हों। यह उसकी राजनीतिक चालों की तीव्रता और बुद्धि-प्रखरता के कारण भी हो सकता है, और गुरु-शिष्य के मधुर सम्बन्धों के कारण भी।

गुरुओं की कठोरता के प्रति आदर्श शिष्यों का भाव कैसा रहता होगा, यह चन्द्रगुप्त द्वारा कही इस सूक्ति से प्रकट होता है—'ठीक क्रिया को करता हुआ शिष्य यहां नहीं रोका जाता। परन्तु जब वह मोहवश सन्मार्ग से भटकता है तभी गुरु अंकुश का कार्य करता है। इसलिए विनयशील सच्चे शिष्यों को तो कभी भी अंकुश की आवश्यकता नहीं होती।'[७५] गुरुओं की कठोरता और नियन्त्रण को अच्छे शिष्य सदा इसी रूप में लेते हैं तथा इन्हें उनका सही निर्देशन और कृपा समझते हैं।

गुरु चाणक्य के आदेश पर उनसे कलह करने को उद्यत चन्द्रगुप्त पुनः-पुनः दुःखी होते हैं। उनमें ऐसे आज्ञाकारी और श्रद्धावान् शिष्य के चरित्र की अवतारणा हुई है, जो अपने गुरु की आज्ञा तो लांघ ही नहीं सकता, और साथ ही दिखावटी तौर पर भी गुरु का अपमान करना जिसके लिए कठिन कार्य है। इधर उसके लिए गुरु की इच्छा महत्त्वपूर्ण है—विज्ञापनीयानाम् (गुरूणाम्) अवश्यं शिष्येण रुचयोऽनुरोद्धव्याः।[७६] —'मानपूर्वक निवेदन के योग्य गुरुओं की रुचि का शिष्यों को अवश्य ही आदर करना चाहिए।' और उधर वह शिष्य द्वारा गुरु की अवहेलना की निन्दा करता है— ये सत्यमेव हि गुरूनतिपातयन्ति तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा ?[७७]—'जो वास्तव में गुरुओं का निरादर करते हैं, कैसे उनके हृदय को लज्जा विदीर्ण नहीं कर देती ?' वस्तुतः, गुरु शिष्यों का और शिष्य गुरुओं का जहाँ ध्यान रखते हैं, वहीं गुरु-शिष्य-सम्बन्ध प्रशंसनीय होता है।

गुरु-शिष्य-सम्बन्धी सूक्तियों में बाण भी यह वाक्य जोड़ते हैं—गुरवो हि दैवतं बालानाम्।[७८]—"गुरु वस्तुतः बालकों के देवता होते हैं।" इस सूक्ति में शिष्य द्वारा गुरु की पूजनीयता पर बल दिया गया है, गुरु ही उसका भाग्य-निर्माता होता है—यह भाव है, और उसके प्रभुत्व की स्वीकृति भी है। प्रतीत होता है कि शिष्यों को प्रशिक्षित करते समय कठोर अनुशासनार्थ एवं गुरुजन और सदाचरण के प्रति यथासम्भव श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए उपदेशात्मक प्रवृत्ति से काम लिया जाता था। इसके विपरीत आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि अध्यापक के अनुचित शासनभाव में हानियां अधिक देखती है।[७९] आज परोक्षरूपेण तथा सन्तुलित व्यवहार द्वारा सदाचरण तथा आज्ञापालन में प्रवृत्त करना अधिक अच्छा समझा जाता है।[८०] प्राचीन और आधुनिक शिक्षाविज्ञान में यह एक बड़ा दृष्टिभेद है।

(ग) गृहस्थ—समाज की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आश्रम है—गृहस्थ।[८१] शेष आश्रमों में मनुष्य का जीवन वैयक्तिक अधिक हो जाता है। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते ही व्यक्ति एक परिवार की वृद्धि करता है और इस प्रकार समाज के जीवन को अग्रसर करता है। अतः यह आश्रम कवि का विशेष ध्यान आकर्षित करता है और सूक्तियों का विशेष विषय बनता है। तत्सम्बन्धी सूक्तियों की संख्या और महत्त्व को

देखते हुए पृथक् परिच्छेद सं० ४ में 'परिवार' शीर्षक के अन्तर्गत उनका विवेचन करना सार्थक समझा गया है।

(घ) **वानप्रस्थ और तपोवन**—गृहस्थ जीवन को यथासमय त्यागकर वानप्रस्थी जीवन बिताना व्यक्ति के लिए आदर्श माना गया है।[८२] वन के जिस प्रान्त में इस अवस्था के लोग रहते थे, वह आश्रम या तपोवन कहाता था। वहां रहने वाले आश्रम-वासी, तपस्वी वानप्रस्थ या आरण्यक कहलाते थे। आश्रमव्यवस्था के अनुसार वानप्रस्थी को वनों में ही रहना चाहिए। भवभूति के अनुसार यदि कभी उसे नगरों में जाना भी पड़े तो वहां अधिक समय तक नहीं ठहरना चाहिए—**न चिरं जानपदे[८३] ष्वारण्यकास्तिष्ठन्ति**[८४]—'अरण्यवासी जन नगरों में (या भीड़-भाड़ में) देर तक नहीं ठहरा करते।' भवभूति के समय यह नियम कहाँ तक पाला जाता था, निश्चय से नहीं कहा जा सकता। हो सकता है कवि ने आदर्श द्वारा प्रेरणा देने के लिए ऐसा दर्शाया हो।

अल्पशिक्षित और साधारण जन वानप्रस्थियों को सामान्य से अधिक सम्मान न देते थे, परन्तु समझदार व्यक्ति इनका विशेष ध्यान रखते थे। भास ने दिखाया है कि किस प्रकार राजपुरुष तपोवन में भी 'उत्सारणा' करता हुआ चलता है। इस पर वयोवृद्ध और समझदार कञ्चुकी उसे रोकता है—**न परुषमाश्रमवासिषु प्रयोज्यम्। नगरपरिभवान् विमोक्तुमेते वनमभिगम्य मनस्विनो वसन्ति।**[८५]—'आश्रमवासियों के प्रति कठोर वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ये मनस्वीजन नगरों के परिभवों से मुक्त होने के लिए ही तो वनों में जाकर रहते हैं।' भास के इन विचारों में वास्तविकता है, आदर्श की सजावट नहीं। वानप्रस्थीजन नगरों को इसलिए छोड़ते हैं कि (वृद्धत्व के कारण सहज सुलभ) तिरस्कार से बचे रहें। इस सूक्ति का समर्थन और प्रशंसा वहीं पर यौगन्धरायण[८६] भी करता है, अतः यह कवि का स्वीकृत मत है। प्रतीत होता है भास के समय वानप्रस्थाश्रम-विषयक सम्मानभाव डगमगा गया था।

सम्मान का भाव कम होने पर भी तपस्विजन की सज्जनता और विश्वसनीयता बनी हुई थी—**अनियन्त्रणानुयोगस्तपस्विजनो नाम**[८७]—'तपस्वियों से प्रश्न करने में कोई बाधा नहीं होती।' अर्थात् उनसे सब प्रश्न पूछे जा सकते हैं और निस्संकोच व्यवहार किया जा सकता है। कालिदास की यह सूक्ति तपस्वियों के प्रति विश्वास की द्योतक है। साथ ही यह तपस्वियों के निर्व्याज सौजन्य की भी प्रतीक है।

तपोवन—तपोवनों में रहने वाले वानप्रस्थियों की सुजनता के कारण ही वे आश्रम सबके लिए खुले थे—**तपोवनानि नामातिथिजनस्य स्वगेहम्।**[८८]—**सर्वजन-साधारणमाश्रमपदं नाम।**[८९]—'तपोवन तो अतिथियों का अपना घर है।' अर्थात् 'आश्रम का स्थान सबके लिए सामान्यतः खुला है।'

ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास के समय राज्य का ध्यान तपोवनों की ओर आकृष्ट किया गया था या स्वयं हुआ था। **राजरक्षितव्यानि तपोवनानि नाम**[९०]—'तपोवन तो राजा द्वारा रक्षणीय होते हैं।' यह सूक्ति तपोवनों की रक्षा के लिए राज्य को उत्तरदायी ठहराती है। कालिदास की ही एक अन्य सूक्ति है—**विनीतवेषेण प्रवेष्ट-**

व्यानि तपोवनानि नाम।[९१]—तपोवनों में विनीत वेशभूषा से (नम्रतापूर्वक) प्रवेश करना चाहिए।' अत: उस समय तपोवनों के प्रति विनम्रभाव की अपेक्षा रहती थी।

(ङ) **संन्यास**—चतुर्थ आश्रम के लिए 'प्रव्रज्या' या 'संन्यास' शब्द प्रयुक्त होता है। तृतीयाश्रम से इसका भेद यही है कि इसमें सङ्गों (आसक्तियों) को त्यागकर परिव्रजन किया जाता है।[९२]

आश्रमविधि से परिव्राजक जीवन अपनाने वाले हर संन्यासी में वाण ने विशेष श्रद्धा से गुणों की विशेषता दिखायी है।[९३] उनके अनुसार—**सर्वसत्त्वानुकम्पिनी प्राय: प्रव्रज्या।**[९४]—'प्राय: प्रव्रज्या सब जीवों पर दयालु होती है।' इसी प्रकार—**अखिलमनोज्वरप्रशमनकारणं हि भगवती प्रव्रज्या। ज्याय: खल्विदं पदमात्मवताम्।**[९५]—'मन के समस्त ताप के प्रशमन का कारण है देवी प्रव्रज्या। संयमियों का यह महान् पद है।' इन सूक्तियों से वाण संन्यासियों में दया, शान्ति और महनीयता प्रदर्शित करते हैं।

(च) **ऋषि-मुनि**—तपोवन में रहने वाले कुछ सिद्ध पुरुष ऋषि या मुनि की कोटि तक पहुंच जाते हैं। उनको कई वार अन्तिम प्रमाण माना जाता है। भास के अनुसार—**निष्प्रतिवचनं ऋषिवचनं।**[९६]—'ऋषि के वचन का प्रतिवाद नहीं हो सकता।' वाण ने ऋषि-मुनियों के प्रति अगाध श्रद्धा द्योतित की है। वे कहते हैं—**कस्य न प्रतीक्ष्यो मुनिभाव: ?**[९७]—'मुनित्व किसके लिए आदरणीय नहीं है ?'

वाण ने 'कादम्बरी' में ऐसे कथानक की सृष्टि की है जिसका सारा आधार ऋषि मुनियों का वर और शाप है। इसलिए यदि वे यह कहें तो आश्चर्य नहीं—**परं हि दैवतं ऋषय:......अमोघफला हि महामुनिसेवा भवन्ति।**[९८]—'ऋषि लोग परम देवता हैं। —महामुनियों की सेवाएं अव्यर्थ फलों को देती हैं।' तथा—**पुण्यानि हि नामग्रहान्यापि महामुनीनां, किं पुनर्दर्शनानि।**[९९]—'महामुनियों के नाम लेना भी पुण्य देता है, दर्शनों के तो क्या कहने ?' इस तरह वे मानते हैं कि ऋषियों और मुनियों को यत्नपूर्वक प्रसन्न करने से वांछित फल दुर्लभ होने पर भी प्राप्त होते हैं।'[१००]

वाण की आंखों पर श्रद्धा का रंग चढ़ा होने पर भी उसकी सूक्ष्म दृष्टि से कुछ मुनियों के स्वभाव में शीघ्रकोप की विशेषता छुपी न रही—**अदूरकोपा हि मुनिजनप्रकृति:।**[१०१] 'मुनियों के स्वभाव से क्रोध दूर नहीं रहता।' तपस्या की कठोरता से, और सिद्धियां पाकर किसी अहम्मन्य मुनि में क्रोध की मात्रा वढ़ सकती है परन्तु प्राय: सिद्ध मुनियों से शान्त स्वभाव की आशा करना ही अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। हो सकता है वाण को वहुत से अधूरे मुनियों के दर्शन का अवसर प्राप्त हुआ हो।

(छ) **साधु—जैन एवं बौद्ध**—'साधु' शब्द सामान्यत: गुणी, पूज्य एवं पवित्र सज्जन[१०२] के लिए प्रयुक्त होता है; परन्तु अवस्थाविशेष में सन्त संन्यासी या जैन—संन्यासी[१०३] के लिए भी प्रयोज्य है। साधुओं की प्रशंसा में वाण कहते हैं—**साधुजनश्च सिद्धक्षेत्रमार्त्तवचसाम्।**[१०४]—'साधुजन पीड़ित के वचनों को सफल करते हैं।' इस सूक्ति में 'साधु' से वाण का अभिप्राय 'सज्जन' भी हो सकता है, संन्यासी भी और जैन सन्त भी। जैन धर्मावलम्बियों की परोपकारी भावना की प्रशंसा करते हुए इस सूक्ति से दो

पंक्ति पहले ही वे कहते हैं—**सकलजनोपकारसज्जा सज्जनता जैनी ।**[१०५]—'समस्त मानवों के उपकार के लिए जैनियों की सज्जनता उद्यत रहती है।'

जिस प्रकार जैनसाधुओं और सामान्य जैनियों की परोपकारेच्छा को बाण ने स्वीकारा है, उसी प्रकार बौद्धों की करुणा को भी—**प्रतिपन्नदुःखक्षपणदीक्षादक्षाश्च भवन्ति सौगताः। करुणाकुलगृहं च भगवतः शाक्यमुनेः शासनम्।**[१०६]—'शरणापन्न के दुःख को नष्ट करने की विद्या में बौद्ध लोग बड़े चतुर होते हैं।' 'भगवान् बुद्ध का शासन तो करुणा का वंशपरम्परागत घर है।'

स्वयं शैव होते हुए भी बौद्ध व जैन गुणों के प्रति आदरभाव दिखाकर बाण ने अपनी उदारता का परिचय दिया है। साथ ही उनके गुणों के कारण तत्कालीन समाज में उनके प्रति सम्मान और राज्य की सहिष्णुता को सूचित किया है।

(ज) बौद्ध भिक्षु—अश्वघोष ने 'सौन्दरनन्द' में नन्द द्वारा संन्यास लेने पर उस की संकल्प विकल्पात्मिका मनोदशा चित्रित करते हुए बौद्ध भिक्षुओं के जीवन पर प्रकाश डालने वाली कई सूक्तियां कही हैं। नन्द ऐसे श्रावकों का प्रतीक बन गया है, जिन्होंने क्षणिक आवेग में आकर विहार में प्रविष्ट होकर श्रमण का जीवन अपना तो लिया परन्तु सच्चा और स्वयमुद्भूत वैराग्य न होने के कारण जिनका मन चंचल रहता है। कवि के मतानुसार इस प्रकार के चलचित्त व्यक्ति का संन्यासधारण उचित नहीं—**न ह्यन्यचित्तस्य चलेन्द्रियस्य लिङ्गं क्षमं धर्मपथाच्युतस्य ।**[१०७]—'अन्यत्र आकृष्ट चित्तवाले चञ्चल इन्द्रियों वाले और (इसलिए) धर्मपथ से भटकने वाले व्यक्ति के लिए संन्यासी का वेश उपयुक्त नहीं है।'

उस समय बौद्धविहारों में इस प्रकार के चञ्चलेन्द्रिय व्यक्तियों का प्रवेश पर्याप्त संख्या में हो चुका होगा। राजा कनिष्क के समय तीसरी संगीति बौद्धधर्म व विहारों को व्यवस्थित करने के लिए हुई ही थी। नन्द की चञ्चलता और घर लौटने की उत्सुकता दिखाकर अश्वघोष इस अवस्था का संकेत भी देते हैं। ऐसे लोगों की मूर्खता पर वे सूक्तियां कहते हैं—

> **कृपणो बत यूथलालसो महतो व्याधभयाद्विनिसृतः ।**
> **प्रविविक्षति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः ।।...**
> **कलभः करिणा खलूद्धृतो बहुपङ्काद् विषमान्नदीतलात् ।**
> **जलतर्षवशेन तां पुनः सरितं ग्राहवतीं तितीर्षति ।।**[१०८]

—'व्याध के बड़े भय से बचा हुआ दीन सा मृग झुण्ड में लौटने की इच्छा होने पर भी गीत शब्द से ठगा-सा फिर दुबारा पाश में फंसने चलता है।' 'हाथी द्वारा बहुत कीच वाले ऊंचे-नीचे नदीतट से बाहर निकाला हुआ गज-शिशु पानी की तृष्णा से फिर भी ग्राहवाली नदी में ही तैरना चाहता है।'

इस प्रकार बलात् संन्यासी बनाये हुए व्यक्ति दुःखी होते थे और नन्द के समान ही सम्भवतः अश्रुमोचन किया करते थे। उनको अश्वघोष सावधान करते हैं—न हि

वाष्पश्च शमश्च शोभते ।[१०९]—'सन्तोष, शान्ति और संयम के साथ आंसू नहीं सजते ।' ऐसे या अन्य उपदेशों के दिये जाने पर भी बहुत लोग विहार त्यागने को उद्यत रहते होंगे—**काषायम् अनात्मनादाय गृहोन्मुखस्य पुनर्विमोक्तुं क इवास्ति दोषः ?**[११०]—"अनिच्छा से गेरुए वस्त्र धारण करके गृहेच्छुक द्वारा उन्हें छोड़ने में क्या दोष है ?" ऐसा ही प्रश्न उस समय के सामाजिकों के मन में अवश्य घूमता होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि जो लोग किसी प्रलोभन या आवेश में आकर सच्चे वैराग्य के बिना ही काषाय धारण कर लेते थे और भिक्षु होने पर भी 'विनय' के पथ का भलीभांति अनुसरण नहीं कर पाते थे, उनके लिए बुद्धिमान लोग यही उचित समझने लगे थे कि वे फिर से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर लें और गृहस्थधर्म का ही पालन करें। विहारों के गुरु निश्चय ही इससे असहमत रहे होंगे, तभी तो नन्द के इस विचार का खण्डन अश्वघोष ने भिक्षु द्वारा करवाया है।[१११]

(झ) श्रमणक—शूद्रक के काल में श्रमणकों को आदर से नहीं देखा जाता था और उनका सामने पड़ना अपशकुन के रूप में माना जाता था—**अभिमुखमनाभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम् ।**[११२]—'सामने ही श्रमणक को देखना अकल्याणकारी है।'

श्रमणक वर्ग के प्रति इस विराग का कारण बौद्ध व जैन धर्म के प्रति विरोधी भाव अथवा उनका घटता हुआ प्रभाव ही हो सकता है। मन में परिवर्तन आये बिना केवल मात्र वस्त्रादि को परिवर्तित करने वाले भिक्षुओं के वेशविन्यास के प्रति उनकी अपनी आस्था का चित्र भी शूद्रक ने खींचा है। एक बौद्ध श्रमणक की अपने वस्त्रों पर टिप्पणी है—

शिरो मुण्डितं, तुण्डं मुण्डितं, चित्तं न मुण्डितं, किमर्थं मुण्डितं ?
यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं, साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम् ॥[११३]

—'सिर और चेहरा मुंडाकर भी चित्त नहीं मुंडा (स्वच्छ हुआ) तो कहां और क्यों मुण्डन किया ? जिसका मन मुंड गया, उसका सिर भी ठीक ही मुंडा'।[११४] इस उक्ति से तत्कालीन श्रमणक भिक्षुओं के डांवाडोल मन की झलक मिल जाती है। हर युग के गृह-त्यागियों के लिए भी यह एक सही निर्देश है।

५. निष्कर्ष

यद्यपि सामाजिक सूक्तियां संस्कृत काव्यों में बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त नहीं होतीं, तथापि निस्संदेह वे तत्कालीन समाज के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई हैं। उनसे कुछ विशिष्ट तथ्य सम्मुख आये हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय समाज वर्णाश्रम-व्यवस्था से नियन्त्रित था। वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत बंटे हुए वर्ण, जातियों में विभक्त हो गये थे। और उनके धर्म भी जाति के आधार पर पृथक् होने लगे थे। इस प्रकार वर्णों के सामान्य धर्म के अतिरिक्त वर्गगत विशिष्ट धर्म या परम्पराएं जन्म ले चुकी थीं।[११५]

कवियों का मुख्य ध्यान ब्राह्मणों और क्षत्रियों पर ही रहता था। उनकी रचनाओं में उन्हीं का प्राधान्य है। सूक्तियों में भी इनके अतिरिक्त अन्य वर्णों या जातियों के संबंध में अत्यल्प मात्रा में कहा गया है। अतः उन्हें कवि द्वारा उपेक्षित कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह प्रतीत होता है कि भारतीय समाज में ब्राह्मण का धार्मिक प्रभुत्व रहा है, तथा क्षत्रिय का शासकीय आधिपत्य। वैश्य और शूद्र की ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जो कवि को प्रभावित करती। कवि की आजीविका का मुख्य आधार भी तो शासक वर्ग ही था, सामान्य धनी वर्ग नहीं।

कालिदास के काव्य में क्षत्रिय राजाओं का विशेष वर्णन होने पर भी उनके आचार और स्वभाव को व्यक्त करने वाली सूक्तियों की संख्या बहुत कम है। इसका संभावित कारण तत्कालीन ब्राह्मण-धर्म का प्रभुत्व ही प्रतीत होता है। इसके विपरीत भारवि ने क्षत्रियों पर अधिक सूक्तियां कही हैं, जो क्षात्रधर्म की प्रमुता का ही नहीं 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का भी साम्राज्य प्रदर्शित करती हैं।[११६]

शूद्रक की सामाजिक सूक्तियों की अपनी विशिष्टता है और वह यह कि उनमें केवल आदर्शवादिता ही नहीं, आलोचनात्मक यथार्थवादी दृष्टि भी मिल जाती है।[११७] उनकी समाज-सम्बन्धी सूक्तियाँ अन्य किसी भी कवि से अधिक हैं, यद्यपि उनकी एक ही रचना में वे सब आ गई हैं। इससे समाज के प्रति उनकी जागरूकता प्रकट होती है, साथ ही उनकी प्रगतिशीलता और जनवादिता भी। वे ब्राह्मणों के दुर्गुणों का व्यंग्यात्मक संकेत करते हैं, किन्तु पूर्णतः खुलकर नहीं, जिसके मूल में ब्राह्मणों का सामाजिक प्रभाव और उनके प्रति परम्परागत श्रद्धा-भावना प्रतीत होते हैं। दूसरे, कटु आलोचना करना उन्हें अपेक्षित भी नहीं है।

भास और शूद्रक के समय ब्राह्मणों में अध्ययन का अभाव तथा दिखावट की प्रवृत्ति दिखाई देती है। भारवि के समय क्षत्रियों की प्रधानता रही, जिससे लगता है कि गुप्तकालीन प्रभाव के साथ ही ब्राह्मणों का प्रभाव भी कम हो गया था। बाण के समय फिर से ब्राह्मण अपने प्रतिष्ठित पद पर आसीन दिखाई देते हैं, उनकी बुद्धि में वृद्धि भले ही न हुई हो। सम्भवतः इसका कारण यह है कि हर्षवर्धन के समय में ब्राह्मणों को सन्मान की पुनः प्राप्ति हो गई थी।

संस्कृत कवियों का चिन्तन प्रधानतया शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से प्रभावित रहता था। अतः वह समाज को भी आदर्शरूप में देखना और प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त समझते थे। पर यह अवश्य मानना होगा कि काव्य का क्षेत्र विषयानुसार सीमित होने पर भी संस्कृत कवियों ने कहीं-कहीं कुछ विस्तार से सोचने का यत्न भी किया है। संस्कृत कवियों ने मुख्यतः पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथानक ही लिए हैं। 'चारुदत्त' और 'मृच्छकटिक' जैसे एकाध काव्य ही सामाजिक कथानक से सम्बद्ध कहे जा सकते हैं। ऐसे काव्य में ही कवि को समाज के सम्बन्ध में कुछ कहने का अवसर अधिक मिल सकता है और इसीलिए इनके कवियों ने ही समाज को व्यापक दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है।

सूक्तियों में समाज की कतिपय दुर्बलताओं का संकेत मात्र किया गया है। उन्हें दूर करने का उपाय सुझाना या सुधार के उपाय करना तो समाजशास्त्रियों या सुधारकों का कार्य जो ठहरा, कवि तो उनका इंगित भर कर देता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत का कवि सामाजिक मर्यादाओं से कुछ अधिक ही आबद्ध रहता है। सम्भवतः इसीलिए उसने समाज को आलोचक की दृष्टि से कम ही देखा है।

इस प्रकार समाज-संगठन-सम्बन्धी सूक्तियां जहां सूक्तियों में निहित भावना की मूलभूत परिस्थितियों को समझने में सहायक हो सकती हैं, वहां उस भावना से प्रेरित होने वाले समाज के व्यवहार और समाज के प्रति कवि के दृष्टिकोण को भी दर्शा देती हैं। □□

संदर्भ संकेत

१. देखिए पीछे परि० १, अनु० ४ तथा अनु० ६ (ङ), (न)
२. विक्रमो० ३।१—विवेचनार्थ देखिए आगे परि० ५ अनु० ५
३. शाकु० ५।२४
४. "···The description evidently is traditional, but since in this respect the Hindu community has hardly changed, it may as well reflect Kālidāsa's own age".

—B.S. Upadhyaya : **INDIA IN KALIDASA** p. 171

५. शाकु० ६।१
६. तुलनार्थ—"Everyone should labor in his own vocation".

—S. P, L., p. 126

७. तुलनार्थ —"By custom what they did begin was with long use account'd no sin".

—Shakespeare, (S. P. L., p. 34) line 4 under N. 94)

८. शंकरदत्त ओझा, एम० ए०—'वर्णाश्रम धर्म के उद्गाता कालिदास', सरस्वती (फरवरी, १९६५) पृ० १२२
९. किरात० ११।७८
१०. "Castes have also certain hereditary occupations which used to be zealously guarded by them".

—Iravati Karve : **Kinship Organisation in India, P. 6**

११. "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्......" ऋ० १०।६०।१२
१२. अवि० २।०—पं० ४७, विदूषक
१३. चारु० ३।६। पं० १४, सज्जलक
१४. "यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम्"।
    मृच्छ० ३।१५—शर्विलक, भीत में सेंध का नाप जनेऊ से लेते हुए।
१५. मृच्छ० ३।१६
१६. पञ्च० १।६
१७. 'In Bhasa's days, the Brahmanical caste system, though threatened by the attacks of the Budhists aud the Jains, was not shaken badly. The Brahmins still retained the foremost position in Hindu Society." A. S. P. Ayyar M. A. —"Bhasa" p.544
१८. मध्य० ६
१९. वही ४०। पं० १, भीम
२०. यहां "द्विजोत्तम" शब्द का प्रयोग भीमसेन ने केवल ब्राह्मणों के लिए किया है, तीनों द्विजन्मा वर्णों के लिए नहीं।
२१. मृच्छ० ३।१७—शर्विलक, विदूषक द्वारा "गोब्राह्मणकाम्या" की शपथ दिये जाने पर
२२. हर्षच० १, पृ० ११, पं०१७
२३. महावीर० ३।३१, जनक, परशुराम के कटु वचनों पर भी क्रोध न करते हुए
२४. "उनका ब्राह्मण धर्म के विधान को पूर्णतया स्वीकार करना,...इन सबको एक महान् गुप्त शासक के समाश्रय पाने के आनन्द के परिणाम के रूप में ही ठीक तरह से समझाया जा सकता है।"
    —ए० बी० कीथ—संस्कृत साहित्य का इतिहास, अनुवादक मंगलदेव शास्त्री, पृ० ६८
२५. विक्र० ३।६—विदूषक का अपने विषय में कथन
२६. भवभूति पर यहां वैदिक प्रभाव है। यह सूक्ति वेद के इस अंश की अनुकृति-मात्र है—"भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि"—ऋक्० १०।७१।२
२७. उत्तर० ४।१८, अरुन्धती, कौशल्या को गुरु वशिष्ठ के वचन पर विश्वास करने का परामर्श देती हुई
२८. मुद्रा० १।२०।सं० १०४—चाणक्य
२९. उत्तर० ५।३२, परशुराम को जीतने वाले राम की प्रशंसा करते हुए सुमन्त्र को लव का उत्तर
३०. महावीर० ३।३४—दशरथ, शस्त्रों का डर दिखाने वाले परशुराम से
३१. पञ्च० १।२२
३२. रघु० २।४०, नन्दिनी गाय पर आरूढ सिंह दिलीप के शस्त्रों से उसे अरक्षणीय बताते हुए

३३ किरात० १४।२० अर्जुन, किरातराज को शक्तिप्रयोगार्थं उत्तेजित करने के लिए दूत से

३४. किरात० १४।१३, अर्जुन, वन्यशूकर पर अपना अधिकार बताते हुए

३५. "The internal anarchy and disorder invited foreign aggression which ultimately resulted in the occupation of some of the North-West and Western regions by the Huns"
—O. P. Singh Bhatia, M. A., The Imperial Guptas, P. 255.

३६. क्षत्रियस्याध्ययनं, यजनं दानं शस्त्राजीवो भूतरक्षणम् च।" —अर्थ० १।३

३७. कर्ण० १२। इस श्लोक का न केवल भाव अपितु रचना भी श्रीमद् भगवद्गीता से प्रभावित है—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्" —गीता २।३७

३८. पञ्च० २।५२

३९. ऊरु० २२

४०. उत्तर० ५।२०, सं० २५,चन्द्रकेतु, लव को पैदल देखकर

४१. यथा—'न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीवं न कृताञ्जलिम" —मनु० ८।९१
अंग्रेजी में "Hittng below the belt" का अर्थ है—"अनैतिक रूप से दूसरे को हानि पहुंचाना।" महाभारत काल में भी भीम-दुर्योधन के गदायुद्ध में कटि से नीचे जंघा पर प्रहार करना अनैतिक माना गया था।

४२. महावीर० ५।५१—लक्ष्मण

४३. प्रतिमा० ३।५ भरत मन्त्र के विना देवार्चन को शूद्र का अर्चन समझते हुए

४४. "The Brahmins, the Kshatriyas and the Vysyas were all legally entitled to study the Vedas." A. S. P. —Ayar, Bhasa, P. 546

४५. "Kāyastha a scribe. Its primary meaning is 'a writer', without any reference to caste"—(P.V. Kane NVA—74B)—Quoted by B. Kakati, New Indian Antiquary, Vol. VI, 1943-44, P. 49

४६. मुद्रा० १।१९।सं० ८०, चाणक्य, शकटदास के राजद्रोहमय व्यवहार को जानकर

४७. काद०, पृ०६६ शुक, मातङ्ग को देखकर

४८. हर्षच० उच्छ्वास ५, हर्षवर्धन के राजधानी लौटते समय तथा कादम्बरी में चन्द्रापीड के राजधानी लौटते हुए मार्ग में मन्दिर के पुजारी का वर्णन।

४९. G. S. Ghurye : Caste, Class and Occupation, P. ४२

५०. अवि० २।५। धात्री और नलिनिका के द्वारा अविमारक के कार्य की प्रशंसा होने पर नेपथ्य से

५१. पञ्च० २।३३ विराट, बृहन्नला को नीच कुल का समझते हुए

५२. शाकु० १।२३। दुष्यन्त शकुन्तला को अप्सरा और राजर्षि की सन्तान जानकर

५३. कु० ११।११, वन में पड़े कार्त्तिकेय के मातृत्व के लिए झगड़ती गंगा, अग्नि और कृत्तिकाओं को देखकर पार्वती के प्रश्न के उत्तर में शिवजी बताते हैं कि ऐसे तेजः-पुञ्ज का जन्म तुमसे ही हो सकता है।

५४. महावीर० १।२३। राम लक्ष्मण को रघुकुल का जानकर प्रसन्न राजा

५५. १४ रत्नों में से एक मणि जिसे विष्णु अपने वक्षपर धारण करते हैं।

५६. मालती० २।११— लवङ्गिका, माधव को श्रेष्ठ कुल का जानकर मालती से

५७. हर्ष च० ८, पृ० २३८, पं० २१

५८. वही—५,पृ० १६८, पं० ५

५९. वही—५, पृ० १६१, पं० २, [यहां 'सायं' पाठ अशुद्ध प्रतीत है।]

६०. इस अंश में ३ सूक्तियां दी गयी गई हैं। पहली दो लोकोक्तियों के क्षेत्र की लगती हैं, और तीसरी में उनका भावार्थ कवि ने दिया है।

६१. काद० —शुकनासोपदेश, पृ० २१८

६२. मृच्छ० ८।२९ एवं ९।७, शकार की आत्मप्रशंसा पर पुष्पकरण्डकोद्यान में विट द्वारा, और न्यायालय में अधिकरणिक द्वारा भर्त्सना

६३. "People inherit through the germ cell...... the closer the blood relationship the greater the correspondence in abilities and characteristics"

—Herbert Sorenson, Psychology in Education, P. 347

६४. "......the strength of heridity persists but that the environment has its effects also." — ibid. P. 366

६५. 'The potentialities from which personality springs change with each generation." —Gardner Murphy, Personality, P. 45

६६. बुद्ध० ५।३३

६७. वही, ५।३७

६८. किरात० ११।७६

६९. "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्, गृहाद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्"— ना० प० ३।७७

—उपनिषद्वाक्य महाकोश, गजानन, पृ० ४०५

७०. "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।" —जाबालो० ४, (वही) पृ० ४८८

७१. बुद्ध० १२।१०, अराड मुनि, सिद्धार्थ से

७२. मालवि० १।१९—देवी किसी भी प्रकार गणदास को मालविका की शिक्षा के प्रदर्शन से निवारित न कर सकने पर

७३. "He (the teacher) was always to keep aguard over the conduct of his pupil"

—Dr. A. S. Altekar, education in Ancient India, p. 56

७४. मुद्रा० १।१०, सं० ३५ चाणक्य, शिष्य से।

[यहां यह भी उल्लेखनीय है कि काव्य में यद्यपि इसका प्रयोग वाक्यांश के रूप में हुआ है, किन्तु क्रिया के अभाव में भी पूर्ण अर्थ देने की सामर्थ्य के कारण यह सूक्तिवत् प्रयोज्य है।]

७५. इह विरचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते।
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात् तदा गुरुरङ्कुश ॥
विनयरुचयस्तस्मात् सन्तः सदैव निरंङ्कुशः ॥ —मुद्रा ३।६
७६. वही, ३।१६। सं० ७६—चाणक्य राजा से
७७. वही, ३।३३
७८. काद० पृ० ५८०—तारापीड, वैशम्पायन को कोसने वाले शुकनास से।
तुलनार्थ—"आचार्य-देवो भव" —तैत्ति० उपनिषद १।११।१
७९. —"When teachers domihate and control the learning situation more than is necessary, there is a tendency for students to become apathetic, to lose interest in learning and to do only what is required of them."—Henry Clay Lindgren, Educatioal Psychology in the class room p. 307
८०. फ्लोरा एच० विलियम्स—हमारे बालक-बालिकाएं, अनु० एम० टामस, एम ए०, पृ० ९—१५
८१. सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥ —मनु० ६।८९
८२. गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ —मनु० ६।२
८३. "जनमदेषु"—पाठान्तर
८४. महावीर० २।५०—जामदग्न्य (परशुराम) राम से
८५. स्वप्न १।५
८६. "सविज्ञानमस्य दर्शनम्" —स्वप्न० १।५ यौगन्धरायण
८७. शाकु० १।२३—प्रियंवदा, राजा द्वारा प्रश्न की इच्छा व्यक्त किये जाने पर
८८. स्वप्न० १।७, पं० १४—तापसी तपोवन में वासवदत्ता का स्वागत करती हुई
८९. वही, १।१२, पं० ४,५—कंचुकी तपोवन में स्त्रियों को देखकर संकोच करने वाले ब्रह्मचारी से
९०. शाकु० १।२१—उभे (शकुन्तला की दोनों सखियां)
९१. वही, १।१४—राजा, तपोवन में प्रविष्ट होने से पहले
९२. "चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत्" —मनु० ६।३३
९३. मुनि आदि में तो बाण ने दोष भी देखे हैं। देखिए आगे (च)—'ऋषि मुनि'
९४. हर्ष च० ८।पृ०२४४, पं० १६, राजा हर्ष राज्यश्री की खोज में
९५. वही, ८।२५५, पं० १९
९६. अवि० ६।१४, पं० १—राजा, नारद के मुख से अविमारक और कुरंगी के विवाह को यथोचित जानकर
९७. हर्षच० ८।पृ०२३३, पं० २१

९८. काद० पृ० १३४—तारापीड, पुत्रप्राप्त्यर्थ ऋषियों के प्रभाव का महत्व विलासवती को समझाते हुए

९९. वही, पृ० ९२, शुक का जावालि के विषय में विचार

१००. "यत्नेनाराधिता यथासमीहितफलानां दुर्लभानामपि वराणां दातारो भवन्ति।"
—काद० पृ० १३४

१०१. वही पृ० २९७, महाश्वेता पुण्डरीक से भय खाती हुई

१०२. "साधुः—१ A gocd or virtuous man"—V. S. Apte, p. 597

१०३. "साधुः—२ A sage, saint......५ A Jaina saint"— ibiel loc cit.

१०४. हर्षच० ८।पृ०२४४,पं० २१

१०५. वही, ८।पृ०२४४, पं० १९

१०६. वही, पं० १७,१८

१०७. सौन्द० ७।४७

१०८. वही ८।१५,१७ ['कृपणं' पाठ उचित प्रतीत नहीं होता।]

१०९. वही, ८।२

११०. वही, ६।४८

१११. वही, ८।२६

११२. मृच्छ० ७।९ से आगे चारुदत्त आर्यक को विदा देने के बाद श्रमणक को देखकर

११३. वही, ८।३, भिक्षु स्नान के बाद गीले कपड़ों से पुष्पकरण्डकोद्यान में प्रविष्ट होता हुआ

११४. तुलनार्थ—"केसौं कहा बिगारिया, जे मूड़ै सौ बार।
मन कौं काहे न मूड़िए, जामैं बिखै विकार।"
—कबीर ग्रन्थावली, पारसनाथ तिवारी, पृ० २२।१४

११५. मिलाइए ऊपर २।२ (ग) (२) 'क्षत्रियों का धर्म'

११६. ,, ,, २।२ (ख) (१)

११७. ,, ,, २।२ (ग) (१) 'शक्ति का प्राधान्य'

□□

परिच्छेद-३

राजा और राज्य

१. एतद्विषयक सूक्तियों का परिचय

सामाजिक जीवन के सम्यक् निर्वाह के लिए किसी भूमि विशेष के निवासी उस देश में स्थापित राज्य-संस्था का शासन स्वीकार किया करते हैं। उस देश के नागरिकों के जीवन में राज्य का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अतः मानव-जीवन से सम्बद्ध साहित्य में राज्य का वर्णन और सूक्ति-सृजन पर राजनीतिक दशा का प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है।[1]

भारत में राजतन्त्रात्मक शासन ही अधिकतर रहा है, यद्यपि गण-(संघ-) राज्यों का भी उल्लेख मिल जाता है।[2] इस व्यवस्था का स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि भारतीय जीवन में और साहित्य में भी राजभक्ति को ही देश भक्ति के स्थान पर देखा गया। साथ ही, जो कर्त्तव्य गणतन्त्र में सरकार द्वारा पूरणीय माने जाते हैं उन सबके एकमात्र राजा पर आधारित होने के कारण सारा महत्त्व और प्रभाव राजा में केन्द्रित हो गया। राजा अपने सेवक-मण्डल सहित आधुनिक सरकार (Government) का स्थानापन्न हुआ और राजा की नीति, अधिकार और कर्त्तव्यों में ही शासन-प्रबन्ध (Administration) समा गया। सम्भवतः राजा के इस राष्ट्रीय महत्त्व को देखते हुए ही संस्कृत के अधिकतर काव्य राजाओं के जीवन से सम्बन्धित हुए हैं। वे राजाओं के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को चित्रित करने के साथ-साथ राजा और राज्य सम्बन्धी सूक्तियां भी कहते हैं।

राजा को पृथ्वीपालन के कार्य में नियमित करने के लिए प्राचीन भारत में प्रागैतिहासिक काल से ही राजनीतिशास्त्रों (या अर्थशास्त्रों) का निर्माण विभिन्न आचार्यों द्वारा होता रहा।[3] उन सबके आधार पर एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न 'अर्थशास्त्र' नाम से आचार्य चाणक्य ने किया है।[4] यही एकमात्र प्राचीन अर्थशास्त्र आज उपलब्ध है। इससे कवियों को राजवर्णन के लिए प्रभूत सामग्री उपलब्ध हुई है। उदाहरणार्थ मुद्राराक्षस को देखा जा सकता है। प्रस्तुत अध्ययन से पूर्ववर्त्ती होने के कारण 'अर्थशास्त्र' का प्रभाव राज्य-सम्बन्धी सूक्तियों पर परिलक्षित होता है।

राजनीति-सम्बन्धी ग्रन्थों की परम्परा में अर्थशास्त्र के अतिरिक्त धर्मसूत्रों, धर्मशास्त्रों, स्मृतियों तथा महाभारत के शान्तिपर्व में राजधर्म का भी स्थान है।[५] राजनीति के इस शास्त्रीय अध्ययन को राजा द्वारा व्यवहार में कहां तक अपनाया जाता था, इसके निर्णयार्थ इतिहासलेखक डा० वेनीप्रसाद ने ग्रीकलेखकों, अर्थशास्त्र एवं स्मृतियों पर निर्भर करना उचित माना है।[६] परन्तु यदि इन स्रोतों के साथ संस्कृत कवियों की राज्य-सम्बन्धी सूक्तियों को भी स्थान दे दिया जाय तो अनुचित न होगा। कारण, संस्कृत-रचनाओं के राज्य-सम्बन्धी चित्रों को जिस प्रकार तत्कालीन राज्य-प्रबन्ध से प्रभावित माना जा सकता है, उसी प्रकार राजा और राज्य-सम्बन्धी सूक्तियों को भी।

अगले अनुच्छेदों में यह विवेचन किया जा रहा है कि विविध काव्यों की सूक्तियों में किन राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रायः सभी कवियों ने यत्र-तत्र राजा के जीवन का वर्णन किया है। ऐसे स्थलों पर अथवा अन्य स्थानों पर प्रजा के नाते किसी अन्य पात्र के मुख से भी ऐसी सूक्तियां निःसृत हुई हैं जो राज्य के विभिन्न अंगों पर प्रभूत प्रकाश डालती हैं।

राजाओं से सम्बन्धित सूक्तियों में से कुछ ऐसी हैं जो सर्वसाधारण के समझने योग्य राजनीति के सामान्य नियम बताती हैं।[७] ऐसी उक्तियां शोभन होने पर ले ली गई हैं। कुछ उक्तियां ठेठ राजनीति के नियमों से बोझिल हैं।[८] उन्हें सूक्ति न कहकर नीति-वचन कहना चाहिए। अतः उन्हें यहां स्थान नहीं दिया गया है। परन्तु जिनमें विशिष्ट राजनीति का कथन होने पर भी रमणीयता बनी रही है[९] उन उक्तियों में सूक्तित्व मानकर इस प्रबन्ध में सम्मिलित कर लिया गया है।

राजा और राज्य-सम्बन्धी इन सब सूक्तियों का अध्ययन इन मुख्य अंगों में बांट कर किया जा रहा है—राजा का महत्त्व, राजा का पारिवारिक जीवन, राजा की नीति, राजा के गुण तथा स्वभाव, राजा और प्रजा के सम्बन्ध, राजा की कर्त्तव्य-निष्ठा, न्याय-व्यवस्था, रक्षा-व्यवस्था, राजकीय सेवा तथा अमात्य। अर्थशास्त्र में निर्दिष्ट राज्य की प्रकृतियों[१०] को भी इन अंगों में खोजा जा सकता है। पहले छः अंगों में "स्वामी" और "जनपद" का उल्लेख है। "कोश" का संकेत राजा के वैभव गुणों में अस्पष्ट-रूपेण आ गया है। रक्षा-व्यवस्था में "दण्ड" (सेना), "दुर्ग" और "मित्र" का समावेश हुआ है। इसके अतिरिक्त न्याय-व्यवस्था और राजकीय सेवा को अर्थशास्त्र के "धर्मस्थीय" और "अध्यक्षप्रचार" का पूरक कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

२. राजा का महत्त्व

राजा राज्य के लिए कितना महत्त्वपूर्ण होता है—यह कौटिल्य के इसी एक वाक्य से स्पष्ट है कि 'राजा और राज्य इन दो में राजतंत्र की सब प्रकृतियां सिमट जाती हैं।'[११]

राज्य शासन का केन्द्र होने के कारण उस समय सारा राज्य राजा पर ही निर्भर करता था। सच्चे अर्थों में राजा युगप्रवर्त्तक होता था, इसीलिए कालिदास और

बाणभट्ट कहते हैं "राजा कालस्य कारणम्।[12] '(अच्छे या बुरे) समय का निर्माता राजा ही होता है।' इस सूक्ति से पहले ये शब्द कहे गये हैं—मुनयोऽपि व्याहरन्ति—ऐसा मुनि लोग भी कहते हैं। यहां "अपि" शब्द से यह भाव प्रकट होता है कि इस लोकोक्ति को सामान्य लोग तो प्रयोग में लाते ही हैं, मुनिजन भी ऐसा ही मानते हैं।

अश्वघोष के समय राजा की दिव्यता में विश्वास किया जाता था। वे कहते हैं—नृपः प्रजाभाग्यगुणैः प्रसूयते।[13]—'राजा प्रजा के सौभाग्यगुणों से उत्पन्न होता है।' ईश्वर द्वारा दैवी शक्तियों के अंश लेकर राजा का सृजन किया जाता है—यह स्थापना मनु[14] ने भी की है। राजा को दिव्य-शक्ति से सम्पन्न मानने के कारण राजा के सेवक भी उसकी सर्वज्ञता में विश्वास करते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल में इन्द्र का सारथि मातलि इन्द्र के विषय में कहता है—किमीश्वराणां परोक्षम्?[15] ऐश्वर्यशालियों (शक्तिशाली राजाओं[16]) के लिए अप्रत्यक्ष क्या है?

इन सभी सूक्तियों में राजा की अलौकिकता और महत्ता स्वीकार की गयी है।

३. राजा का पारिवारिक जीवन

राजा के जीवन का प्रत्येक पहलू राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। सम्भवतः इसी को दृष्टि में रखकर आचार्य चाणक्य ने उसकी दिनचर्या तक का निर्देश किया है।[17] राजा का पारिवारिक जीवन भी राज्य की दृष्टि से महत्त्व रखता था और वह सर्व-सामान्य की अपेक्षा कुछ विशिष्टता लिये हुए था।

सुरक्षा के विचार से राजा और उसके परिवार के जीवन को गोपनीय रखा जाता था। सामान्य जनता तो क्या राजपरिवार के सदस्य भी अन्तःपुर में घटने वाली घटनाओं से पूर्णतः परिचित नहीं रहते थे। भास दिखाते हैं कि राम का अभिषेकोत्सव मनाते समय नगाड़े के बजकर रुक जाने का कारण सीता को अज्ञात था। उस समय वह स्वीकार करती है—बहुवृत्तान्तानि राजकुलानि नाम[18] "राजकुल बहुत घटनाओं से संकुल होते हैं।" इससे राजपरिवार की रहस्यमयता बोधित होती है।

दूसरी ओर, राजा के सम्बन्धी उससे यह अपेक्षा रखते थे कि यथासम्भव उसका व्यवहार अपने बन्धु-बान्धवों के प्रति सहायतापूर्ण हो। और इतना ही नहीं, वह उन्हें उचित अनुचित अधिकारों से सम्पन्न करे—

> पुण्य-सञ्चय-सम्प्राप्तामधिगम्य नृपश्रियम्।
> वञ्चयेद् यः सुहृद्बन्धून् स भवेद् विफलश्रमः॥[19]

—"पुण्यों के संचय से राज्य-लक्ष्मी को पाकर जो राजा मित्र और बन्धुओं को ठगता है उसका श्रम निरर्थक हो जाता है।" इस सूक्ति में "पुण्य-संचय-सम्प्राप्त" इस विशेषण से यह भी प्रकट होता है कि उस समय नीतिविद्[20] भी 'पूर्वपुण्यों के प्रभाव से राजा को राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति' में विश्वास रखते थे।

राज-परिवार का अंग होने से राज-सन्तति का पालन-पोषण भी राज्य की दृष्टि से ही विचारणीय था। राजकुमारों को राज्य-रक्षा में समर्थ बनाने के लिए

विभिन्न प्रकार की विद्याओं में प्रवीण बनाया जाता था। भास की दृष्टि में राजकुमारों की शस्त्रास्त्र-सम्बन्धी शिक्षा कोश-वृद्धि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—**विप्रोत्सङ्गे वित्तमावर्ज्य सर्वं राज्ञा देयं चापमात्रं सुतेभ्यः**[21]—"सारी सम्पत्ति विप्रों की झोली में डालकर राजा द्वारा अपने पुत्रों को केवल धनुष दिया जाना चाहिए।" इस सूक्ति के आधारभूत तथ्य दो प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि उस समय ब्राह्मणों को दान देना नृप का महत्त्वपूर्ण गुण समझा जाता था। दूसरे राज्य की रक्षा राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था और इसके लिए धनुर्विद्या को विशेष महत्ता प्राप्त थी। इन दोनों तथ्यों के मेल से कवि ने धन की अपेक्षा शक्ति और शस्त्रविद्या के प्रतीक धनुष को राजकुमार की सच्ची पैतृक सम्पति माना है।

राजकन्या के प्रति आस-पड़ौस के राजाओं की भावदृष्टि निम्न सूक्ति से प्रकट होती है—**सर्वे नरेन्द्रा हि नरेन्द्रकन्यां मल्लाः पताकामिव तर्कयन्ति।**[22] सभी राजा लोग राजकुमारी को वैसे ही समझते हैं जैसे मल्ल लोग पताका को।' स्पर्धा-विशेष में पताका पा लेने के समान स्वयंवर में राजकन्या की प्राप्ति किसी भी राजा को गौरवान्वित करने के लिए पर्याप्त थी। यह उसकी शक्ति का मानदण्ड मानी जाती होगी।

प्राचीन भारत में राजा के बहुविवाह का प्रचलन निस्संदिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है।[23] कालिदास के नाटकों में सभी नायक कई विवाह करते हैं। इस कारण राजा का प्रेम किसी एक पर केन्द्रित नहीं रह सकता और यह स्वाभाविक ही है कि राजा की प्रेमिका उस पर अविश्वास करे—**बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते।**[24]—सुना गया है कि राजा लोग बहुतों के प्रेमी होते हैं। राजा के बहु-विवाह और अनेकान्तिक प्रेम पर कवि ने इस सूक्ति द्वारा मीठी चुटकी ली है।

इन कतिपय सूक्तियों में राजा के व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन का संकेत हुआ है तो अनेकानेक सूक्तियों में राजा के राजकीय जीवन के आधार पर कुछ कहने का प्रयास हुआ है।

४. राजा की नीति

राजकीय जीवन के सुचारु संचालन के लिए राजा राजनीति[25] का प्रयोग करता है। भर्तृहरि राजनीति के स्वरूप के विषय में कहते हैं—**वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।**[26] —"नगर-वधू के समान राजनीति अनेक रूपों वाली है।" यहां कवि ने सत्य-असत्य, कठोर-प्रिय, हिंस्र-दयालु, आय-व्यय आदि विरोधों के समावेश के कारण राजनीति को एक वेश्या के रूप में देखा है।

राजनीति से ही राजा का सामान्य व्यवहार निर्धारित होता है। उसकी मैत्री भी प्रायः किसी प्रयोजन से प्रवृत्त होती—**मैत्री च प्रायः कार्य-व्यपेक्षिणी क्षोणी-भृताम्।**[27]

यद्यपि राजा को यथासंभव राजनीति के अनुसार चलना चाहिए किन्तु कालिदास के अनुसार इसका यह अर्थ नहीं कि वह हर कार्य डर-डर कर करे—**कातर्यं केवला नीतिः,**

शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।[२८] "(शूरताविहीन) केवल नीति का उपयोग करना कायरता है और केवल शौर्य (नीति-अनीति का विचार न कर शक्ति-प्रदर्शन करना) जंगलीपन है।" अत: इन दोनों का समन्वय ही सच्ची राजनीतिज्ञता है।

५. राजा के गुण तथा स्वभाव

सूक्तियों में राजा के अनेक गुणों का उल्लेख हुआ है जिनसे ऐसा भान होता है कि राजा से सर्वगुणसम्पन्न होने की आशा की जाती थी। भास ने उसके कुछ प्रमुख गुणों का संकेत किया है, जिनमें उत्साह, कुलीनता, शक्ति, अदैन्य आदि प्रमुख हैं—

कातरा येऽप्यशक्ता वा नोत्साहस्तेषु जायते।
प्रायेण हि नरेन्द्रश्री: सोत्साहैरेव भुज्यते॥[२९]

—"जो अधीर या असमर्थ होते हैं, उनमें उत्साह उत्पन्न नहीं होता है, और निश्चित है कि राजलक्ष्मी का उपभोग प्राय: उत्साही ही करते हैं।" और भी—

राज्यं नाम नृपात्मजै: सहृदयैर्जित्वा रिपून् भुज्यते।
तल्लोके न तु याच्यते न तु पुनर्दीनाय वा दीयते॥[३०]

—"शत्रुओं को युद्ध में जीतकर सहृदय[३१] (वीर) राजपुत्रों द्वारा राज्य का उपभोग किया जा सकता है। इस संसार में न तो यह मांगा जाता है और न दीन के लिए दिया ही जा सकता है।"

हर तरह से राजा को यह यत्न करना पड़ता है कि प्रजा में उसका सम्मान और प्रतिष्ठा बनी रहे, क्योंकि—**मानशरीरा राजान:**[३२]—"मान ही राजाओं का शरीर है।" राजा में ऐसा प्रताप होना चाहिए कि कोई उसकी आज्ञा का उल्लंघन न कर सके।[३३] तभी वह सच्चा राजा होता है।[३४]

राजवंश का होने पर राजा की शक्ति भी अधिक हो जाती है, ऐसा कालिदास के समय विश्वास किया जाता था। यही कारण है कि—'गन्धहाथी जब शिशु होता है, तभी दूसरे बड़े-बड़े हाथियों को ठंडा कर देता है।' 'भुजंगशिशु का विष भी सब प्रकार से तीव्र वेगवाला होता है।' 'बाल्यावस्था वाला राजा भी पृथ्वी की रक्षा कर सकता है।' 'निश्चय ही अपने कार्यभार को सहने की क्षमता अवस्था से नहीं, अपितु जाति से ही आती है।'[३५]

कुलीनता के साथ-साथ राजा की वैभव-सम्पन्नता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि उसी के द्वारा वह किसी पर कृपा करने में समर्थ होता है। कालिदास के शब्दों में—**अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते**[३६]—'जल वाले मेघों का ही अभिनन्दन चातकों द्वारा होता है।" यह सूक्ति राजा के प्रसंग में कही गयी है, इसलिए इसे राजा के वैभव गुण से सम्बद्ध माना गया है, अन्यथा स्वतन्त्र रूप से देखने पर इससे सामान्यतया धन की प्रशंसा ही स्पष्ट प्रतीत होती है। राजा की कोष-सम्पन्नता इसलिए भी आवश्यक है कि राजकीय व्यय के अतिरिक्त अनेक रूपों में प्रजा उससे अनुदान की अपेक्षा करती है। भर्तृहरि राजा के दान-गुण की प्रशंसा में कहते हैं—**कलाशेषश्चन्द्र:,**

सुरतमृदिता बालवनिता, तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु (नराः) नृपाः।[३७]—"एक अंशमात्र अवशिष्ट चन्द्रमा, काम-केलि के कारण शिथिल किशोरी तथा याचकों पर वैभव बरसाकर (मनुष्य या) राजा क्षीणता से सुशोभित होते हैं।" सचमुच, परोपकार के कारण प्राप्त वैभवक्षीणता भी श्लाघ्य है, फिर चाहे वह राजा में ही क्यों न हो ?

राजा को ध्यान रखना होता था कि प्रजा उसी राजा के प्रति सम्मानयुक्त होती है, जो उदीयमान हो। राजा चाहे क्षीण और दुर्बल ही हो, परन्तु यदि उसकी भावी समृद्धि के प्रति जनता आश्वस्त है तभी वह उसे प्रतिपदा के चांद के समान सम्मान देती है।[३८] इसलिए विजिगीषु राजा वही है जो सदा अभ्युदय के प्रयत्न में रत रहता है। भारवि के अनुसार—'राजा को अभ्युदय के लिए अपने क्रोधरूपी अन्धकार को नष्ट कर देना चाहिए। रात्रिजनित अन्धकार को प्रभात द्वारा भेदे विना सूर्य भी उदित नहीं होता।'[३९] राजा द्वारा अपने व्यवहार में समता और अवसर-ज्ञान का उपयोग करना कवि आवश्यक समझता है—"सन्तुलित व्यवहार वाला जो राजा यथासमय मृदुता और चण्डता का विस्तार करता है वह सूर्य के समान इस संसार में अपनी ओजस्विता से अधिष्ठित होता है।"[४०]

राजनीति के अनुसार चलने वाले राजा का चरित्र या व्यवहार सामान्यजन की बुद्धि से परे की वस्तु है—निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः?[४१] —'कहां तो राजाओं का प्रकृति से ही दुर्बोध चरित्र और कहां अज्ञानपीड़ित सामान्य प्राणी !' राजा की अज्ञेय-चरित्रता का उद्देश्य सामान्य प्रजा में राजा के प्रति श्रद्धा व भय उत्पन्न करने के साथ-साथ अनेक राजनीतिक कारणों से भी आवश्यक हो सकता है।

वाणभट्ट के अनुसार राजा की महत्ता इसी में है कि वह केवल अपने नाम के प्रभाव से ही राज्य को नियंत्रित कर ले—

योगं स्वप्नेऽपि नेच्छन्ति कुर्वते न करग्रहम्।
महान्तो नाममात्रेण भवन्ति पतयो भुवः।।[४२]

—"महान् राजा स्वप्न में भी 'योग' की कामना नहीं करते और न ही 'कर' लेते हैं। वे तो केवल अपने नाम से ही पृथ्वी के स्वामी होते हैं।" इस सूक्ति का 'योग' शब्द पारिभाषिक है। प्रतीत होता है कि कौटिल्य द्वारा 'योगवृत्त'[४३] के अन्तर्गत बताये हुए कूटनीतिक और क्रूर प्रयोगों को वाणभट्ट अच्छा नहीं समझते।[४४] कर-ग्रहण को अनावश्यक मानने में सम्भवतः दण्ड रूप में अधिक कर-ग्रहण का अनौचित्य प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि प्रत्येक राजा के लिए सामान्य कर लेना तो शास्त्र एवं लोक द्वारा सम्मत है ही।

शुकनासोपदेश के प्रसंग में बाण ने विस्तार से दर्शाया है कि किस प्रकार कुछ राजा लोग सम्पत्ति की चकाचौंध में अपनी वस्तुस्थिति को भुला देते हैं। इनमें से एक सूक्ति इस प्रकार है—छत्रच्छायान्तरितरवयो विस्मरन्त्यन्यं तेजस्विनं जडधियः।[४५]—"छत्र (जो राज्यलक्ष्मी का प्रतीक है) की छाया से सूर्य (जो तेजस्वी राजा के समान है) के छिप जाने के कारण मूर्ख (राजा) दूसरे तेजस्वी को भूल जाते हैं।" तात्पर्य यह है

कि राज्यलक्ष्मी के आवरण से कुछ अदूरदर्शी राजा अन्य राजाओं की शक्ति को ठीक-ठीक नहीं आंक पाते। इसे वैभव-जनित अदूरदर्शिता का दोष कहा जा सकता है।

राजा अपने गुणों के द्वारा ही राज्यलक्ष्मी को प्रसन्न कर पाते हैं। विशाखदत्त कहते हैं—दुराराध्या हि राजलक्ष्मीरात्मवद्भिरपि राजभिः।[४६]—"आत्मसम्पद्[४७] से सम्पन्न राजाओं द्वारा भी राजलक्ष्मी का आराधन कठिन है।" वस्तुतः राजलक्ष्मी को वश में करना अत्यन्त कठिन कार्य है—श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम्।[४८] "लब्धप्रसरा (अविच्छिन्न गति वाली)[४९] वेश्या के समान लक्ष्मी का सेवन अति दुष्कर है।" इसी सूक्ति में कवि ने राजलक्ष्मी को जिस प्रकार के अवगुणों से युक्त राजाओं का विरोधी बताया है, उससे स्पष्ट है कि राजा के लिए सब गुणों में सन्तुलन लाना आवश्यक है।

६. राजा और प्रजा के सम्बन्ध

राजा का प्रमुख उत्तरदायित्व प्रजा के प्रति है। सूक्तियों में प्रजा के साथ उसका घनिष्ट सम्वन्ध व्यक्त हुआ है। राजा और प्रजा का सर्वप्रमुख सम्वन्ध रक्षक और रक्षणीय का है इसलिए भास कहते हैं—

गोपहीना यथा गावो विलयं यान्त्यपालिताः।
एवं नृपतिहीना हि विलयं यान्ति वै प्रजाः।[५०]

—"जिस प्रकार ग्वाले के अभाव में अरक्षित गौएं नाश को प्राप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार राजा से विहीन प्रजाएं नष्ट हो जाती हैं।" राजा-प्रजा के इसी सम्बन्ध को ध्यान में रखकर कालिदास कहते हैं—आपन्नस्य विषयनिवासिनो जनस्यार्त्तिहरेण राज्ञा भवितव्यम्।[५१]—"राजा अपने राज्य में रहने वाले आपत्तिग्रस्त लोगों के संताप को दूर करने वाला हो।" आचार्य चाणक्य ने भी राजा का मुख्य कर्त्तव्य प्रजा के प्रति ही बताया है।[५२]

राजा द्वारा रक्षणीय होने के कारण प्रजा से उसके सम्वन्ध को पिता-पुत्र के सम्वन्ध के रूप में भी व्यक्त किया गया है। भास के अनुसार—सर्वाः प्रजाः क्षत्रियाणां पुत्रशब्देनाभिधीयन्ते।[५३]—"सभी प्रजाएं क्षत्रियों[५४] (राजाओं) के द्वारा पुत्र शब्द से पुकारी जाती हैं।" बाणभट्ट भी प्रजा के सम्वन्ध को सर्वोपरि घोषित करते हैं—प्रजाभिस्तु बन्धुमन्तो राजानो न ज्ञातिभिः।[५५]—"प्रजाओं के द्वारा ही राजा बन्धुवाले बनते हैं, अपने बन्धु-बान्धवों के द्वारा नहीं।" इसी सम्वन्ध के कारण प्रजा को प्रसन्न रखना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है, जिसको निभाये बिना राजा का अपने व्यक्तिगत सुख में लीन रहना कवि को विडम्बना प्रतीत होता है।[५६]

प्रजा-पालन ही भास की दृष्टि में राजा का सबसे बड़ा धर्म है—

धर्मो हि यत्नैः पुरुषेण साध्यो भुजङ्गजिह्वाचपला नृपश्रियः।
तस्मात् प्रजापालनमात्रबुद्ध्या हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते॥[५७]

—"पुरुष को धर्मसाधना यत्नपूर्वक करनी चाहिए, राजलक्ष्मी सर्पजिह्वा सी चपल है, अतः प्रजापालन की बुद्धि से (किये हुए कर्त्तव्य पालन के कारण) ही देह के नष्ट होने पर

गुण ही शेष रहते हैं।" यह सूक्ति कर्ण ने राजा के लिए प्रजा-पालन को सर्वोच्च बताते हुए कही है।

प्रजा के अनुशासन के लिए राजा का तेजस्वी एवं उग्र रूप भी अपेक्षणीय समझा गया था। प्रजा के मन में राजा का भय भास की इस सूक्ति से व्यक्त हुआ है—स्मरतापि भयं राजा भयं न स्मरतापि वा। उभाभ्यामपि गन्तव्यो भयादप्यभयादपि।[५८] —"चाहे कोई व्यक्ति राजा से डरता है अथवा नहीं डरता, दोनों हालतों में, भय से भी और अभय से भी राजा के पास जाना पड़ता है।"[५९]

राजा का सामान्य जनता से ही सम्पर्क नहीं होता था अपितु उसे प्रजा के विशिष्ट अंगों के प्रति कुछ विशेष व्यवहार भी करने होते थे—उदाहरणार्थ तपस्वियों के प्रति, जिनके लिए भारतीय समाज में सर्वदा से आदर भाव रखने का आदर्श रहा है।[६०] कालिदास इन्हें राजा से विशिष्ट व्यवहार पाने का अधिकारी बताते हैं।

तपस्वियों को करसे विशेष छूट देने का विधान जिस प्रकार कौटिल्य[६१] ने किया है, उसी प्रकार कालिदास ने भी उन्हें करमुक्त माना है—

> यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
> तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः॥[६२]

—"राजा को चारों वर्णों द्वारा दिया हुआ कर आदि का फल क्षीण हो जाता है, परन्तु अरण्यवासी तपस्वीगण निश्चय ही अपनी तपस्या का छटा भाग देते हैं और वह अक्षय होता है।" तपस्वियों द्वारा संचित पुण्य में राजा का भी अधिकार हो जाता है, इस मान्यता के आधार पर कालिदास ने तपस्वियों की करमुक्ति का औचित्य सिद्ध किया है।

उपर्युक्त सूक्तियों में प्रजा के प्रति राजा का व्यवहार जहां कर्त्तव्यभावना से प्रभावित है, वहां सामाजिक मान्यताओं से भी परिचालित प्रतीत होता है, तथा उनमें राजा को अधिकारपूर्ण होने के साथ-साथ आत्मीयता से युक्त भी दर्शाया गया है। राजा के इस आदर्श व्यवहार और वास्तविकता में सम्भवतः कुछ अन्तर रहा हो; और हो सकता है कि राजा का व्यवहार कुछ-कुछ मनमाना रहा हो या उसने प्रजा के प्रति अपने उत्तरदायित्व को कभी-कभी भुला भी दिया हो। किन्तु ऐसा होने पर असंतुष्ट प्रजा ने राजाओं को उखाड़ भी फेंका है, यह तथ्य इतिहास-स्वीकृत है।[६३]

७. राजा की कर्त्तव्यनिष्ठा

प्रजा से ही प्रमुख सम्बन्ध होने के कारण राजा का मुख्यतम कर्त्तव्य प्रजा के प्रति है, जिसे वह राज्यव्यवस्था के सुचारु संचालन के द्वारा पूरा कर सकता है। भास के अनुसार—राज्यं नाम मुहूर्त्तमपि नोपेक्षणीयम्।[६४] —"(राजा को) क्षणभर भी राज्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।" यही भाव कालिदास ने इन शब्दों द्वारा व्यक्त किया है—धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य।[६५]—"राजा के लिए अपने धर्मकार्य (राजधर्म)[६६] का समय बिताने योग्य नहीं होता।" अतः राज्य-संबंधी प्रत्येक कार्य राजा के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

राज्य का कर्त्तव्यभार राजा के व्यक्तिगत सुख में कितना बाधक हो सकता है, इसका संकेत करते हुए भास के 'अविमारक' का राजा कुन्तिभोज कह उठता है—**अहो महद्भारो राज्यं नाम**[६७]—"अहो ! निश्चय ही राज्य बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है।" —"पहले तो धर्म की चिन्ता करना, फिर मन्त्रियों की बुद्धि और चालों को अपनी बुद्धि से परखना, प्रेम और क्रोध को गुप्त रखना, कोमलता और कठोरता—गुणों का प्रयोग यथावसर करना, अपने राज्य की घटनाएं जानना, उत्कृष्ट गुप्तचरों की आंखों से 'मण्डल'[६८] की देखभाल करना, अपनी रक्षा यत्नपूर्वक करना और फिर रणाभिमुख होकर अपनी भी चिन्ता न करना (यह सब कष्ट राज्य में होता है)[६९]।" राज्यभार के कारण राजा के सतत परिश्रम का उल्लेख कालिदास ने भी अनेक सूक्तियों में किया है—**सुखोपरोधिवृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम्**[७०], **अविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः**[७१]—"राजाओं का व्यापार बंधे हुए (कैदी) के समान है, अतः सुख का अवरोधक है।" "प्रजा के शासन का अधिकार विश्रामरहित है।" राजा को निरन्तर अपने कर्त्तव्यपालन में लगे रहना पड़ता है—

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव, रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः, षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥[७२]

—'सूर्य दिन में केवल एक बार ही घोड़े जोतता है, पवन रातदिन बहता रहता है, शेष-नाग सदा ही धरा का भार उठाये रहता है, छठे अंश को कररूप में लेने वाले राजा का भी यही धर्म है।" यहां राजा के लिए 'षष्ठांशवृत्ति' शब्द के प्रयोग से यह भावना भी व्यक्त होती है कि अपनी प्रजा से छठा अंश कर के रूप में लेने के कारण उसके प्रतिदान-स्वरूप राजा का अपने कर्त्तव्य में सतत लगे रहना उचित ही है।

सूक्तियों में ऐसा भाव भी व्यक्त हुआ है कि राजा के लिए राज्यभार दुःख का ही कारण अधिक है। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में राजा कहता है—**सर्वः प्रार्थितमर्थम-धिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः। राज्ञां तु चरितार्थता दुःखोत्तरैव।**[७३] —"सभी प्राणी अभीष्ट विषय को पाकर आनन्दित होते हैं। परन्तु राजा की राज्यप्राप्ति[७४] भी परि-णाम में दुःखद होती है।" 'विशाखदत्त' का राजा भी आचार्य चाणक्य के साथ 'कृतक-कलह' करने से पूर्व यह विचार व्यक्त करता है—**राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरस्य नृपतेर्महद् अप्रीतिस्थानम्।**[७५] —"राजधर्म के अनुसरण में तत्पर राजा के लिए राज्य बहुत दुःख का स्रोत है।"

वह कौन सा कारण है जिससे राज्य आनन्ददायक नहीं रहता ? सम्भवतः राजा का वह कर्त्तव्य, जो उसे अपनी चिन्ता छोड़ प्रजा की भलाई में लगाता है। अश्वघोष के शब्दों में—**श्रमः परार्थे ननु राजभावः।**[७६]—"राजा होना निश्चय ही दूसरों के लिए परिश्रम करना है।" इस तथ्य के आधार पर अश्वघोष ने उसी स्थल पर राज्य को त्याज्य रूप में अंकित किया है। इसी प्रकार कालिदास[७७] ने राज्य को श्रमोत्पादक रूप में और विशाखदत्त ने अप्रीतिकर रूप में चित्रित किया है। दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करने में राजा को उसकी स्वार्थपरता छोड़ देती है, और स्वार्थ को बिल्कुल छोड़ देने के कारण

पृथ्वी का स्वामी कहलाना निश्चय ही यथार्थ नहीं है। जब स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ अधिक प्रिय है तो वह पराधीन है। और पराधीन पुरुष भला प्रसन्नता के रस को कैसे जान सकता है?"[७८]

अपने कर्त्तव्यपालन में राजा को चाहे कितना भी कष्ट उठाना पड़े किन्तु कालिदास मानते हैं कि जो राजा अपने राजधर्म का सही ढंग से पालन करता है, उसको उसकी प्रजा तो क्या, उसकी भूमि भी यथेष्ट समृद्धि से सम्पन्न करती है। इस प्रकार उसका कष्ट उठाना व्यर्थ नहीं जाता—**किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम्।**[७९]—"यदि अपने वृत्त (व्यवहार) में स्थित (अर्थात् निज कर्त्तव्य पालन में रत) राजा की भूमि उसके लिए कामदुघा (सब अभिलषित वस्तुओं को देने वाली) हो तो क्या आश्चर्य !" भर्तृहरि ने भी इस विचार का समर्थन करते हुए लिखा है—**राजन् दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां, तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण!**[८०]—"हे राजन्! यदि तुम पृथ्वीरूपी धेनु को दुहना चाहते हो तो अभी इस बछड़े रूपी लोक (प्रजा) का पोषण करो।" इस पद के उत्तरार्ध में प्रजापालन का यह सुफल बताया गया है कि इससे भूमि कल्पलता के समान अनेक फलों से भरी-पूरी होती है।

इन सब सूक्तियों के द्वारा कर्त्तव्यपालन के प्रति राजा की आस्था और उसके कर्त्तव्यों की दुरूहता किन्तु महत्ता प्रकट होती है। इनमें यह विश्वास भी निहित है कि प्रजा के पालन-पोषण से ही राजा और राज्य समृद्धिशाली होते हैं।

८. न्यायव्यवस्था (दण्ड-व्यवस्था)

शासन प्रबन्ध का एक प्रमुख अंग है—न्याय। सूक्तियों में उससे सम्बन्धित कुछ तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। यह एक विडम्बना ही है कि अनेक बार अधिकारीगण दोषों और अपराधों का सही ज्ञान नहीं कर पाते। शूद्रक के अनुसार इसका कारण यह है—**व्यवहारपराधीनतया दुष्करं खलु परचित्तग्रहणमधिकरणिकैः।**[८१]—"व्यवहार (Judicial Trial) के अन्य तत्त्वों (साक्षी, लेख, मुक्ति, शपथ)[८२] पर आधारित होने के कारण न्यायाधिकारियों के द्वारा दूसरों के (वादी, प्रतिवादी के) चित्त को जानना कठिन है।" इस सूक्ति से अगले श्लोक में कार्यार्थी (व्यवहारार्थी, वादी) तथा प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) द्वारा अपने दोष को छिपाने का वर्णन है। पक्ष और विपक्ष के झूठे-सच्चे प्रमाणों द्वारा सिद्ध बात दोषयुक्त भी हो सकती है, अतः न्यायाधीशों (अधिकरणिकों) को निन्दा मिलना ही अधिक सहज है।[८३] इस प्रकार यह सूक्ति न्यायाधीश की कठिनताओं की भी परिचायक है।[८४]

न्यायालय में होने वाले अन्यायपूर्ण निर्णयों के कारण कहा जा सकता है—**चन्द्रालोकेऽप्यन्धकारः!**[८५]—"चांद के प्रकाश में भी अंधेरा?" शासनकर्ता के होने पर भी धोखाधड़ी के अस्तित्व को व्यक्त करने वाली इस प्रकार की सूक्तियों से शूद्रक ने अपने समय के शासन-प्रवन्ध की आलोचनात्मक झलक दे दी है।

सूक्तियों में अपराध के लिए यथोचित दण्ड व्यवस्था को राज्यप्रबन्ध का महत्त्व-

पूर्ण अंग दिखाया गया है। दण्ड कई प्रकार के हो सकते हैं। उनमें से कई अपराधों पर मृत्युदण्ड भी दिया जाता था। इसलिए यदि अपराधी वश से बाहर हो तो गुप्त रूप से उसका वध करना भी उचित बताया गया है—**वागुराच्छन्नमाश्रित्य मृगाणामिष्यते वधः।**[८६]—"वन में (हिंस्र) पशुओं का वध गुप्त रूप से पाश द्वारा करना चाहिए।" राम ने भी बालि में दोनों बातें देखी थीं—वध्यत्व और मृगत्व।[८७] बालि का वध राम ने इसलिए किया कि वह वध्य था, पर छिपकर इसलिए किया कि उसकी शक्ति मृग (एक जंगली पशु)[८८] जैसी थी या उसकी स्थिति ऐसी थी कि उसे शिकार (मृग)[८९] बनाया जाए। इस प्रकार विशेष अपराधी के लिए गुप्तवध का औचित्य सिद्ध किया गया है।

कालिदास भी कहते हैं—**अपराधी शासनीयः।**[९०] "अपराधी को दण्ड द्वारा नियंत्रित करना ही चाहिए।" दण्डनीय को दण्ड देना अत्यावश्यक है—चाहे वह अपराधी किसी वर्ग, जाति या परिवार का हो।[९१] इसी विषय पर माघ की एक सूक्ति है—**निपातनीया (विपादनीया) हि सतामसाधवः।**[९२]—"दुष्टों को नीचा दिखाना या मार देना प्रत्येक सज्जन का कर्त्तव्य है।" दुष्टनाश की यह नीति जहां सत्पुरुषों से सम्बन्धित है, वहीं राजा की सामान्य शासनव्यवस्था की ओर भी संकेत करती है।

राज्य के विरुद्ध अपराध करने वाले अपराधियों के लिए चाणक्य के विधान का[९३] ध्यान रखकर ही सम्भवतः विशाखदत्त ने भी तीक्ष्ण दण्ड का निर्देश किया है।[९४] इसके साथ ही वे राजा का अमंगल करने वालों को चेतावनी देते हैं—

भवति पुरुषस्य व्याधिर्मरणं वा सेवितेऽपथ्ये।
राजापथ्ये पुनः सेविते सकलमपि कुलं म्रियते।[९५]

—"अपथ्य का सेवन करने से पुरुष को रोग या उसकी मृत्यु हो जाती है, किन्तु राजा का अपथ्य करने से सारा कुल ही मर जाता है।" सम्भवतः राज्यविरोधी को न सहने का कारण, जैसाकि शेक्सपीयर ने भी माना है, यह है कि राज्य के लिए विरोध क्षयकारक होता है।[९६] प्राचीन रोम में भी राजनीतिक अपराध को राज्य के विरुद्ध युद्ध के समान माना जाता था।[९७]

कवि भवभूति ने राजदण्ड का औचित्य स्थापित किया है। वे कहते हैं—**प्रायश्चित्तमिव राजदण्डमप्येनसो निष्क्रयामामनन्ति धर्माचार्याः।**[९८] "राजा द्वारा दिये गए दण्ड को आचार्यगण प्रायश्चित के समान पाप का निष्क्रय (प्रतिकार, शुद्धि) मानते हैं।" इस प्रकार राजदण्ड भुगतकर अपराधी अपने अपराध के पाप से मुक्त हो जाता है।

इस प्रसंग में पूर्व और पश्चिम की तुलना से एक महत्त्वपूर्ण अन्तर प्रकट होता है। जहां भारतीय कवि धार्मिक दृष्टि से देखता हुआ अपराधी को पाप-पुण्य का ध्यान दिलाता है वहां पाश्चात्य कवि शेक्सपीयर को अपराध के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिणामों व प्रभावों का ध्यान है। वह कहता है कि—"अपराधी को मुक्त करना निरीह को (उस निर्दोष को, जिसका उसने अपराध किया है) कष्ट देना है," "क्षमा अपराधियों को बढ़ाती है," तथा "एक छोटी सी उपेक्षित चिनगारी प्रचण्ड अग्नि भड़का सकती है"।[९९] भारत के प्रायश्चित्त जैसे विचार में तर्क-प्रधान पाश्चात्य मानव का विश्वास हो भी कैसे

सकता है ? वह तो शेक्सपीयर के समान ही मानता है, "जो हो चुका, मिटाया नहीं जा सकता"[१००]।

६. रक्षा-व्यवस्था

आन्तरिक व्यवस्था के अतिरिक्त राजा पर राज्य की सुरक्षा का पूरा उत्तरदायित्व आता है। राज्य की भूमि से राजा का सम्बन्ध दिखाने वाली—**वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः**[१०१]—"राजा लोग वसुन्धरा से पत्नीवाले होते हैं," इस सूक्ति द्वारा कालिदास स्पष्ट शब्दों में ३ राज्य को राजा के लिए पत्नी के समान न केवल प्रिय, अपितु उसके द्वारा रक्षणीय भी बताते हैं। भास के अनुसार भी राज्य के प्रति राजा का भाव रक्ष्य-रक्षक का होना चाहिए और देश की रक्षा में ही उसकी रक्षा है—

परचक्रं रनाक्रान्ता धर्मसङ्करवर्जिता।
भूमिर्भर्त्तारमापन्नं रक्षिता परिरक्षति॥[१०२]

—"शत्रु के आक्रमणों से अनाक्रान्त और धर्म की संकरता से रहित, (राजा द्वारा) सुरक्षित धरनी दुःख में पड़े अपने स्वामी की सब प्रकार से रक्षा करती है।"

राज्य की रक्षार्थ बहुत से कार्य करने होते हैं, जिनमें से सर्वप्रमुख है—देश की सीमा-रक्षा। सीमाओं पर प्रायः गड़बड़ होती रही है—**दुरारक्षतयाऽऽसन्नदोषाणि विषयान्तराणि**[१०३]—'कठिनता से रक्षणीय होने के कारण देश की सीमाएं[१०४] प्रायः दोषों से सन्निहित रहती हैं।" सीमा का संकट प्रत्येक देश की नित्य समस्या है। कारण, अपना पड़ोसी देश किसी भी देश के लिए कभी मित्र नहीं हुआ करता। आचार्य कौटिल्य ने उसे स्वाभाविक शत्रु माना है।[१०५] अतः सीमा पर जहां दो पड़ोसी शत्रु मिलते हैं, शान्ति कैसे मिल सकती है ?

देश की रक्षार्थ सेना राज्य का एक अनिवार्य अंग हो जाती है। वह भी विश्वसनीय और स्वामिभक्त होनी चाहिए। उसके प्रति राजा का भाव अपने परिवार के समान रहता था। जिस प्रकार परिवार प्रिय होता है उसी प्रकार सेना भी राजा को प्रिय होती थी। भास के शब्दों में—**सर्वं हि सैन्यमनुरागकृते कलत्रम्**[१०६]—"सारी सेना अनुराग करने वाले राजा के लिए पत्नी के समान है।' इस सूक्ति का यह पाठान्तर भी मिलता है—**सर्वं हि सैन्यमनुरागमृते कलत्रम्**।—"सारी सेना अनुराग के बिना स्त्री के समान (भारवत्) है।" इससे यह भाव द्योतित होता है कि सेना पत्नी के समान पालनीय एवं पोषणीय है तथा राज्यप्रेम के अभाव में वह राज्य पर केवल बोझा ही है। सेना को पत्नी के समकक्ष रखकर उसकी अनिवार्यता, उसमें अनुराग की आवश्यकता और राज्य पर उसके पालनपोषण का उत्तरदायित्व भास को अभिप्रेत प्रतीत होता है।

देश की रक्षार्थ युद्ध में जूझ पड़ने का दायित्व सेना का है। युद्ध में अनेक बार सेना को प्रेरणा देने की आवश्यकता पड़ती है। तदर्थ भास ने यह सूक्ति दी है—**नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्। तत्तस्य मा भून्नरकं स गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युद्ध्येत्।**[१०७] "जो योद्धा भर्ता के अन्न के लिए युद्ध न करे, उसको

जल से पूर्ण सुसंस्कृत और दर्भ (कुश) से ढंका हुआ (श्राद्ध का) नया शराव (सकोरा) प्राप्त न होवे और वह नरक में जावे। इस प्रेरणा में परलोक के विश्वास को आधार बनाया गया है। इसी पद को आचार्य कौटिल्य ने भी युद्ध के प्रोत्साहनार्थ प्रयोग करने योग्य बताया है।[१०८]

युद्ध के पश्चात् सेना का यथोचित सम्मान, सहायता आदि उचित है। इससे सैनिक अपने बलिदान का पुरस्कार पाने की प्रसन्नता में युद्ध के कष्टों और आघातों को भूलने में समर्थ हो पाता है—**ताडितस्य हि योधस्य, श्लाघनीयेन कर्मणा। अकालान्तरिता पूजा, नाशयत्येव वेदनाम्।**[१०९]—"समय बीतने से पहले (—यथासमय) (युद्ध जैसे साहसपूर्ण और इसलिए) श्लाघनीय कर्म करते हुए आहत होने वाले का सत्कार उस (वीर) की वेदना नष्ट करता है।" इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर युद्ध में प्राप्त लूट का माल सैनिकों में बांटने की प्रथा का जन्म हुआ होगा—**समरावर्जितानां रत्नानामिष्ट-सम्भोगः प्रीतिमुत्पादयति।**[११०] —"समर में जीते हुए रत्नों (मूल्यवान् पदार्थों) का यथेष्ट उपभोग हर्षजनक होता है।" आचार्य कौटिल्य ने भी युद्धोद्यत योद्धाओं के प्रोत्साहनार्थ पारितोषिक देने की घोषणा के प्रसंग में ऐसा ही ढंग बताया है—"सेनापति सेना को अर्थ व मान से सम्मानित करके घोषणा करे—'शत्रु के यहां से लूट कर सैनिक जो कुछ भी लायेगा, वह उसी का होगा।' "[१११]

सेना के सम्बन्ध में इस प्रकार की सूक्तियों के अतिरिक्त युद्ध की भयंकरता, अनिवार्यता और नीति के विषय में भी बताया गया है। भास कहते हैं—**न च दहति न किञ्चित् सन्निकृष्टो रणाग्निः।**[११२]—"ऐसा कोई नहीं, जिसे समीप होने पर युद्धाग्नि न जलाये।" युद्ध की ऐसी भयंकरता निश्चित होने पर भी राज्य के लिए युद्ध अनिवार्य है, सम्भवतः इसीलिए अश्वघोष ने शान्ति और राज्य को परस्पर विरोधी बताया है—"**शमे रतिश्चेच्छिथिलं च राज्यम्।**[११३]—"यदि शान्ति से प्यार है तो राज्य शिथिल हो जाता है।" भारवि ने भी शान्ति को राज्य के लिए उपयोगी नहीं पाया—**व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः।**[११४]—"निस्स्पृह मुनिजन ही शन्ति द्वारा शत्रुओं को हतप्रभ करके सफलता पा सकते हैं, राजा नहीं। शत्रुनाश के लिए राजा को तो युद्ध का ही मार्ग अपनाना पड़ता है।

युद्ध के लिए नीति का एक सारगर्भित वाक्य पशुओं के व्यवहार के प्रसंग में माघ कह जाते हैं—**मन्दोऽपि नाम न महान् अवगृह्य साध्यः।**[११५] "मन्दबुद्धि होने पर भी विशाल (शक्तिशाली) को (मन्द हाथी के समान ही) केवल युद्ध करके नहीं जीता जा सकता।"[११६] विशाल शक्तिशाली शत्रु के प्रति इस नीति का ध्यान रखना आवश्यक है।

युद्ध से पूर्व स्वयं दृढ और शक्तिशाली होना अपेक्षणीय है। प्राचीन समय में इसीलिए दुर्ग आदि का निर्माण हुआ करता था। दुर्ग का आश्रय लेना राजा के लिए नीति की दृष्टि से आवश्यक था। इससे उसका भय प्रकट होता हो, ऐसी बात नहीं। दृष्टान्त के लिए—**न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरि-गुहाशयः।**[११७]—"हाथियों पर आक्रमण करने वाला सिंह भय के कारण कभी गिरिगुफा में नहीं सोता।" राजा का दुर्ग

में रहना सैनिक दृष्टि से उसकी शक्ति में वृद्धि करता था, अतः यह राज्य की सुरक्षा-व्यवस्था के लिए आवश्यक माना जाता था।

सैनिक सुदृढता के निमित्त मित्र देशों में मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना आवश्यक है। तदर्थ दूत-सम्प्रेषण भी हर राज्य के लिए आवश्यक हो जाता है। दूतों को विशेषाधिकार और छूट बहुत पहले से प्राप्त होते आये हैं। उनके प्रति अवांछनीय व्यवहार जहां दूत के राष्ट्र का अपमान है, वहीं राज्यों के पारस्परिक व्यवहार की दृष्टि से भी अनुचित है। इसलिए दूत को एक विशेष सुविधा यह दी गयी थी कि —**सर्वापराधेष्ववध्या खलु दूताः।**[११८]—"सभी अपराधों में दूत अवध्य होते हैं।" और प्रायः सभी राष्ट्र यह जानते हैं कि—**दूतवधः खलु वचनीयः।**[११९]—"दूत की हत्या निन्दनीय मानी जाती है।"

इस भांति सूक्तियां राज्य की सुरक्षाव्यवस्था से सम्वन्धित इन कुछ पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं। उनमें स्पष्ट ही परम्परागत राजनीति का ध्यान रखा गया है।

१०. राजकीय सेवा

राज्य की विस्तृत कार्यव्यवस्था के सम्यक् निर्वाह के लिए राजा द्वारा अनेक अधिकारियों एवं सेवकों की नियुक्ति की जाती थी। राज-सेवकों की उपयोगिता को ध्यान में रखकर कही गयी विशाखदत्त की यह सूक्ति है—**यत्स्वयमभियोगदुःखैरसाधारणैरपाकृतं तदेव राज्यं सुखयति।**[१२०]—"स्वयं कार्य में लगे रहने के असाधारण दुःखों से रहित राज्य ही राजा को सुख देता है।" राजा को तो ऐसा स्वभाव बनाना पड़ता है कि वह केवल आदेश दे, कार्य दूसरे ही करें। अतः—

स्वयमाहृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः।
गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति दुःखिताः ॥[१२१]

—"स्वभावतः बलिष्ठ होने पर भी गजेन्द्र और नरेन्द्र स्वयं अर्जित करके उपभोग करते हुए प्रायः दुःखी होते हैं।" इस कारण राज्यव्यवस्था को सुख-सुविधापूर्वक चलाने में राजसेवकों का सतत सहयोग अपेक्षित रहा है।

राजकार्य के संचालन में अनेक त्रुटियां होनी भी स्वाभाविक हैं। सेवकों के द्वारा होने के कारण उन्हे सेवकों का दोष कहा जा सकता है और राजा के निरीक्षण में होने के कारण राजा का भी। इस सम्बन्ध में भास की एक सूक्ति है—**न भृत्यदूषणीया राजानः।**[१२२]—'सेवकों को राजा का दोष नहीं निकालना चाहिए' या 'सेवकों के दोष से राजा दोषी नहीं माना जा सकता।'[१२३] इस सूक्ति का प्रयोग राजा के मन्त्री ने किया है और इसलिए हो सकता है कि राजा को प्रसन्न करने के लिए हुआ हो। सामान्य मानव स्वभाव की दृष्टि से तो इसके विरुद्ध होना अधिक स्वभाविक है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपना दोष दूसरे के सिर पर ही मंढ़ना चाहता है।[१२४]

राजा के शासन से नियंत्रित राज-सेवक के लिए गर्व करना अकारण है। विशाखदत्त ऐसे अधिकारी को विनाशोन्मुख समझते हैं।[१२५] राजसेवक तो अधिकार

पाकर गर्व न करने का परामर्श देते हुए कवि के मन में यह भाव कार्य कर रहा है—**अधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशङ्कास्थानम्** ।[१२६]—"निर्दोष पुरुष के लिए भी उसका अधिकारपद महान् आशंका का स्थान है', अर्थात्, अधिकारी होना भय का कारण है। इस भय का आधार अगली सूक्ति में स्पष्ट किया गया है। राजा के सामीप्य के कारण सेवक को सदा भय तो रहता ही है, साथ ही ऊंचा पद दुर्जनों में ईर्ष्या भी भर देता है। अत:—**गतिः सोच्छ्रायाणां पतनमनुकूलं कलयति** ।[१२७]—"उन्नत व्यक्तियों की गति पतन को ही अपने अनुकूल समझती हैं।" अथवा यों कहें कि 'उच्चाधिकारियों का पतनोन्मुख होना उचित ही है।' राजा के प्रति राजसेवक का भय इस वचन से भी प्रकट होता है—**न निष्प्रयोजनमधिकारवन्तः प्रभुभिराहूयन्ते** ।[१२८]—'अधिकारीगण राजा द्वारा अकारण नहीं बुलाये जाते।' बुलाने का कारण चाहे कुछ भी हो, किन्तु राजा द्वारा आहूत राजसेवक पर भय छाया रहता है। फल स्वरूप—

तत्क्षणमपि निष्क्रान्ताः कृतदोषा इव विनापि दोषेण।
प्रविशन्ति शङ्कमाना राजकुलं प्रायशो भृत्याः ।[१२९]

—"उसी समय राजसभा से निकले हुए भृत्यलोग भी विना दोष के भी दोषी के समान शंका करते हुए राजकुल में प्रवेश करते हैं।"

इन सूक्तियों से राजसेवक के लिए राजा की चण्डता और विभीषिका का परिचय मिलता है। इसके विपरीत हर्ष की एक सूक्ति राजसेवकों के प्रति राजा का स्नेह संकेतित करती है—**सुखनिर्भरोऽन्यथापि स्वामिनमवलोक्य भवति भृत्यजनः** ।[१३०]—'वैसे भी (सामान्यतया भी) स्वामी को देखकर सेवकगण सुख से भर जाते हैं।' जहां इसमें राजा को प्रसन्न करने की इच्छा से मिथ्या प्रशंसा भी संभावित है, वहीं राजा के इन दोनों स्वरूपों में विरोधाभास की अनुभूति होती है, परन्तु राजा में दोनों प्रकार का व्यक्तित्व राजकीय अनुशासन की दृष्टि से अनिवार्य है। कालिदास द्वारा वर्णित राजा दिलीप अपने ऐसे ही 'भीमकान्त नृपगुणों के कारण अपने आश्रितों द्वारा अधृष्य (न दवाने योग्य) और अभिगम्य (उनके लिए आश्रयस्थान) था'।[१३१]

११. अमात्य

राजा के अधिकारी वर्ग का मुखिया 'अमात्य' होता था। अर्थशास्त्रीय भाषा में प्रयुक्त 'अमात्य' शब्द राज्य की मूल प्रकृतियों में राजा के वाद स्थान पाता है। सूक्तियों में उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। भास के अनुसार—**स्वामिनो हि स्वाम्यममात्यानाम्** ।[१३२]—'अमात्यों पर निश्चय ही राजा का अधिकार होता है।' अत: अमात्य को आदेश देने वाला केवल राजा है, अन्य कोई नहीं।

जिस प्रकार अमात्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान कौटिल्य ने[१३३] उसी प्रकार कवियों ने भी दिखाया है। अनेक वार तो राजा की चिन्ता का भार भी सचिवों पर रहता है और तब उसका महत्त्व और भी वढ़ जाता है, क्योंकि—**तस्मिन्सर्वमधीनं हि यत्राधीनो नराधिपः** ।[१३४]—'सभी कुछ (राजतन्त्र का भार) उसी पर आधारित होता है जिस पर

राजा आश्रित हो।' राजा से अमात्य का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहता है। राजा का कार्यकलाप अधिकतर अमात्य के परामर्श से अग्रसर होता है, इसलिए विशाखदत्त का विचार है—

स दोषः सचिवःस्यैव यदसत्कुरुते नृपः।
याति यन्तुः प्रमादेन गजो व्यालत्व वाच्यताम्।[१३५]

—"यदि राजा दुष्कर्म करता है तो वह सचिव का ही दोष है। पीलवान के प्रमाद से ही हाथी मतवालेपन की निन्दा पाता है।"

कभी-कभी राजा हर कार्य में अमात्य के सहारे चलने लगता है। यह स्थिति राजा के लिए आत्मघात के समान है—

नृपोऽपकृष्टः सचिवात्तदर्पणः स्तनंधयोऽत्यन्तशिशुः स्तनादिव।
अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीर-मुहूर्तमप्युत्सहते न वर्त्तितुम्।।[१३६]

—सचिव पर जिसका दृष्टिकोण आश्रित हो, ऐसा मन्दबुद्धिवाला, लोकव्यवहार से अपरिचित राजा मन्त्री से पृथक् किया हुआ, स्तन से छुड़ाए स्तन—पायी शिशु के समान क्षण भर भी जीवित रहने में असमर्थ होता है।' जो राजा बुद्धिमान् नहीं होता, वही मन्त्री के हाथ में अपने राज्य की बागडोर दे देता है। और फिर मलयकेतु के समान छुप-कर उसकी बातें सुनता तथा उसपर अविश्वास करता है—

सत्त्वभङ्गभयाद्राज्ञां कथयन्त्यन्यथा पुरः।
अन्यथाविवृतार्थेषु स्वैरालापेषु मन्त्रिणः।।[१३७]

—'मन्त्रिगण अपनी प्रतिष्ठा के भंग होने के डर से राजा के सामने तो और प्रकार से कहते हैं और प्रकट अर्थवाले स्वच्छन्द वार्तालापों में भिन्न प्रकार से।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि अमात्य हो या कोई और उच्चाधिकारी, राजा के सम्मुख वह खुल कर बात नहीं कर सकता।

अमात्य चाहे कितना ही बुद्धिमान् हो, फिर भी राजा ही उसका एकमात्र सहारा होता है तथा उसकी नीति का चरमोत्कर्ष भी राजा की योग्यता के बिना नहीं हो सकता—'योग्य विजिगीषु (उन्नति के लिए प्रयत्न शील राजा) को पाकर राज्य का नेतृत्व करने वाले मूर्ख मन्त्री की भी यशस्वी पद पर प्रतिष्ठा निश्चित है, परन्तु अयोग्य राजा को पाकर सुनीतिसम्पन्न मन्त्री भी तट के वृक्ष की नाईं छिन्नमूल होकर गिर पड़ता है।'[१३८]

राजा और अमात्य के बीच शक्तिसंघर्ष भी हुए हैं।[१३९] विशाखदत्त की एक सूक्ति राजा और अमात्य के शक्ति-सन्तुलन को वांछनीय बताती है—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति।।[१४०]

—'अत्यन्त ऊंचे उठे हुए मन्त्री और राजा पर राज्यलक्ष्मी अपने दोनों पैर सम्भाल कर रखती है और दोनों की सेवा करती है, परन्तु स्त्रीस्वभाव (की कोमलता) के कारण भार को न सहती हुई उन दोनों में से किसी एक को छोड़ देती है।' अतः राज्यसंचालन की दृष्टि से मन्त्री को महत्त्व देना अनिवार्य है, किन्तु सीमा के भीतर ही।

भारवि ने अमात्य को राजा के मित्र के रूप में देखा है—**स किं-सखा साधु न शास्ति योऽधिपम्? हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।**[१४१]—'जो (मन्त्री) राजा को सही सीख न दे, वह उसका कैसा मित्र? (अथवा बुरा मित्र है।) जो राजा हितों को न सुने, वह कैसा राजा? (अथवा बुरा मित्र है।)' इस सूक्ति में राजा और मन्त्री के वांछनीय सम्बन्धों का कथन हुआ है।

कुछ सूक्तियों में अमात्य के कष्टों का भी वर्णन हुआ है। राजकार्य की सारी योजनाएं अमात्य के द्वारा ही चलायी जाती थीं। असफल होने पर उसे दोष दिया जाता था और सफल होने पर राजा की प्रशंसा होती थी। अतः भास कहते हैं कि 'अमात्य' पद तो एक प्रकार से दण्ड देने के लिए होता है।[१४२] यदि कहीं दुष्ट राजा का साचिव्य स्वीकार करना पड़े तो अमात्य को पछतावे के अतिरिक्त और क्या मिलेगा? वह तो रावण के अमात्य माल्यवान् के समान यही कहेगा—**साचिव्यं नाम महते सन्तापाय।**[१४३] —"मन्त्रित्व निश्चय ही बड़े सन्ताप के लिए होता है।"

निष्कर्ष

इस प्रकार संस्कृत के कवियों ने अपने काव्यों में राजा तथा राज्य के सम्बन्ध में जिन सूक्तियों का प्रयोग किया है वे शास्त्रीय परम्परा तथा तत्कालीन राज्य-व्यवस्था के प्रकार और गुण-दोष से प्रभावित हैं, और उन पर यथार्थ प्रकाश डालती हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों में राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी सैद्धान्तिक पक्ष उपलब्ध होता है और व्यावहारिक पक्ष का परिचय सूक्तियों के माध्यम से प्राप्त होता है, क्योंकि प्रायः कवि समसामयिक राजनीति से प्रत्यक्षरूपेण परिचित रहते थे।

प्राचीन राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में राज्य की समस्त शक्तियां राजा में केन्द्रित हो गयीं थीं। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र उसे नियन्त्रित एवं निर्देशित करते थे। राजा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने की दृष्टि से राजा की दिव्यता उद्घोषित हुई, उसे युग-निर्माता बताया गया किन्तु प्रत्येक कार्य की सफलता अथवा असफलता के लिए राज्य कर्मचारियों एवं प्रजा के कर्म तथा पुण्यापुण्य को प्रभावी माना गया।

भास, कालिदास, विशाखदत्त, आदि की सूक्तियों में तत्कालीन राजसी जीवन के आन्तरिक और वाह्य स्वरूपों का चित्रण हुआ है जिससे राजा के प्रेम, बन्धुबान्धव, राजकुमार, राजकन्या आदि के विषय में कतिपय तथ्य सामने आये हैं।[१४४]

राजा के जीवन का सामाजिक पक्ष राजनीति तथा प्रजा से सम्बद्ध होता है। राजनीति की परिवर्तनशीलता, गुरुता, संशयात्मकता आदि का संकेत सूक्तियों में किया गया है। प्रजा के प्रति राजा के कर्त्तव्यों का निर्देश भीसूक्तियों में हुआ है।[१४५] राजा को प्रजा के लिए' माना गया है और अपना कर्त्तव्य सम्पन्न करने के लिए उसमें उत्साह, वैभव, राजकुल से उद्भव, अनुल्लंघ्य आदेश, उन्नतिशीलता, अवसरज्ञान, चरित्र की दुर्बोधता, प्रताप, अलोभ, दान आदि गुणों की वाञ्छा की गयी है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि अधिकांश संस्कृतकवि राजदरबार से वृत्ति पाते थे और तदर्थ

उन्हें राजप्रशंसा करनी पड़ती थी, तथापि वे अपने कविधर्म (काव्य द्वारा उद्बोधन) से च्युत नहीं हुए थे।

राजप्रबन्ध की दृष्टि से की गई अनेक व्यवस्थाओं में से कुछेक का उल्लेख सूक्तियों में भी हुआ है। राज्य के आन्तरिक एवं बाह्य तत्त्वोंसे प्रजा की सुरक्षार्थ क्रियमाण न्याय-व्यवस्था और रक्षा-व्यवस्था का आलोचन भी हुआ है। शूद्रक की स्पष्टवादिता और आलोचनात्मक दृष्टि यहां भी उभर आयी है। वे ही ऐसे प्रमुख कवि हैं जो न्यायालयों के अन्यायपूर्ण निर्णयों का उल्लेख कर राज्य की दुर्बलताएं प्रकाश में लाते हैं।

इसके अतिरिक्त राजसेवक तथा अमात्य के व्यवहार एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्यों का कथन हुआ है। सेना की अनिवार्यता स्थापित की गयी है। संस्कृत-सूक्तिकार का मनीषी जानता था कि देश की रक्षा के लिए शान्ति की नहीं, सुदृढ़ सैन्यशक्ति की आवश्यकता है।[१४६]

प्रत्येक कवि की सूक्तियों में कुछ निजी विशेषताओं पर भी एकदम ध्यान आकृष्ट होता है, उनका यहां उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा।

सूक्तियों की संख्या और विशदता की दृष्टि से अन्य कवियों की अपेक्षा भास सर्वप्रथम ठहरते हैं। इसका प्रमुख कारण यही प्रतीत होता है कि उनके सभी नाटकों का कथानक राज्य-जीवन से सम्बद्ध है। उनका दृष्टिकोण पर्याप्त व्यापक है और इस विषय में वे अकेले ही संस्कृत सूक्तियों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। अश्वघोष राजा के कष्टों को जहां वैराग्यभावना के उद्दीपन रूप में देखते हैं, वहां कालिदास आदि कवि राजा की कर्त्तव्यभावना को सुदृढ करने के लिए उनका उपयोग करते हैं। कालिदास का राजा अपने कर्त्तव्यों के प्रति विशेष जागरूक दिखायी देता है। वे (कालिदास) राज्य द्वारा प्रदेय तपस्वियों के विशेषाधिकार का औचित्य भी दिखाते हैं। शूद्रक राज्य का व्यवस्थादोष सामने लाते हैं। विशाखदत्त राजद्रोहियों के प्रति विशेष कठोर हैं, राजसेवकों के चित्रों को अधिक स्पष्टता से चित्रित करते हैं और अमात्य एवं राजा में सन्तुलन लाना चाहते हैं। भारवि राजा को तेजस्वी रूप में अंकित करते हैं और बाण उसे उदात्त भावना से युक्त देखना चाहते हैं, इसीलिए वे अर्थशास्त्रीय 'योगतन्त्र' को अवाञ्छनीय मानते हैं। हर्ष राजसेवक को राजा से ही भयभीत और उसी से हर्षित भी दिखाते हैं। भर्तृहरि राजा को दानगुण से संयुक्त करना चाहते हैं। भवभूति राजदण्ड की उपयुक्तता सिद्ध करते हैं। माघ पर शास्त्रीय दृष्टि का विशेष प्रभाव है और वे असज्जन को सबसे बड़ा दोषी समझते हैं।

इस प्रकार इन सूक्तियों में कवियों की व्यक्तिगत अनुभूति के साथ-साथ राजकीय वातावरण का प्रभाव तथा दूसरी ओर शास्त्रीय परम्परा का आधार खोजा जा सकता है।

□□

संदर्भ-संकेत

१. पारि० १, अनु० ६ (च) "राजनीतिक प्रभाव"
२. वार्त्ताशस्त्रोपजीवी संघ राज्यों का उल्लेख—अर्थ० ११।१ पृ० ६२६
३. 'कौटिल्य ने अपने पूर्ववर्ती लगभग अठारह-उन्नीस अर्थशास्त्रविद् आचार्यों का उल्लेख किया है।'—वाचस्पति गैरोला, "कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्", भूमिका पृ० ६६
४. "पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि (प्रस्थापितानि प्रायशस्तानि, संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।" —अर्थ० १।१ पृ० १
५. The Age of Imperial Unity, p. 303
६. "For the administrative organisation our chief sources are the Greek accounts, Kaukilya's Arthṣāstra and the Smritis"—ibid. loc. cit.
७. किरात० १।५, २।११
८. किरात० २।८,१० तथा शिशु० दूसरा सर्ग जो ऐसी अनेक सूक्तियों से युक्त है।
९. किरात० २।१८ तथा शिशु० २।३४
१०. "स्वामी—अमात्य—जनपद—दुर्ग—कोश—दण्ड—मित्राणि—प्रकृतयः" —अर्थ० ६।१
११. "राजा राज्यम् इति प्रकृतिसंक्षेपः।" —अर्थ०८।२, पृ० ५२९
१२. विक्र० ४।३, राजापुरुरवा, विलाप करते हुए, तथा काद० पृ०५८६,चन्द्रापीड को निमित्तज्ञों का निवेदन
१३. बुद्ध० ८।५४
१४. मनु० ७।३,४
१५. शाकु० ७।२५—मातलि
१६. "mighty lords"—M. R. Kale, The Abhijṇānaśākunalam of Kalidasa, p. 293
१७. अर्थ० १।१९—"राजप्रणिधिः"
१८. प्रतिमा० १।४, पं० ८९, तथा १।५, पं० १५
१९. दूत० २५
२०. उपर्युद्धृत सूक्ति का प्रयोग नीतिविद् श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को समझाते हुए किया है।
२१. पञ्च० १।२२
२२. अवि० १।९
२३. भारतीय राजाओं में दशरथ से लेकर निज़ाम हैदराबाद तक के राजाओं के जीवन से यही तथ्य परिपुष्ट होता है। "राम" जैसे पत्नीव्रत राजा तो अपवाद ही हैं।
२४. शाकु० ३।१७—अनसूया, राजा से
२५. अर्थशास्त्र, चाणक्य-नीति, विदुर-नीति जैसे नीतिग्रन्थों में राजनीति का निर्धारण हुआ है, जिसके आधार पर कई कवियों ने भी राजनीति का सविस्तर

वर्णन किया है, यथा—किरात० एवं शिशु० के दूसरे सर्ग; किन्तु ऐसे प्रसंगों में सूक्ति-कथन कम ही हुआ है।

२६. नीति० ३८

२७. हर्ष च० ७, पृ० २२०, पं० १६

२८. रघु० १७।४७

२९. स्वप्न० ६।७

३०. दूत० २४

३१. आज "सहृदय" का अर्थ इस रूढार्थ में प्रयुक्त होता है—'अच्छे हृदय वाला, भावुक, रसिक।' किन्तु इस प्रसंग में इसका अर्थ 'हृदय युक्त', 'बड़े दिल वाला' या 'दृढचित्त' प्रतीत होता है।

३२. ऊरु० ६२, पं० १

३३. "आरूढप्रतापो राजा त्रैलोक्यदर्शीव सिद्धादेशो भवति।"

—काद०, शुकनासोपदेश, पृ० २३१

३४. तुलनार्थ—"भूषणाद्युपभोगेन प्रभुर्भवति न प्रभुः।
परैरपरिभूताज्ञस्त्वमिव प्रभुरुच्यते॥" —मुद्रा० ३।२३

३५. "शमयति गजानन्यान् गन्धद्विपः कलभोऽपि सन्।"
"भवति सुतरां वेगोदग्रं भुजङ्गशिशोर्विषम्।"
"भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुम्।"
"न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः॥" —विक्र० ५।१८

३६. रघु० १७।६०

३७. नीति० ३५। 'नृपाः' इस पाठ की सूचना देखिए—भर्तृहरि-सुभाषितसंग्रह, नीति-श्लोक ११, पृ० ५, टि० ११

३८. क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं समृद्धये।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम्॥ —किरात० २।११

३९. अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते॥ —वही, २।३६

४० समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः॥ —वही, २।३८

४१. वही, १।६

४२. हर्षच० ४।१, पृ० ११९

४३. अर्थ० ५।१-२, इस अधिकरण में गुप्तदण्ड, कपटहत्या, वंचना अदि के द्वारा दण्ड देने तथा कपट-उपायों से कोष-संग्रह करने आदि का वर्णन है।

४४. तुलनार्थ—"किं वा तेषां साम्प्रतं येषामतिनृशंसप्रायोपदेशनिर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्···इति कादम्बर्यां बाणेनापि कौटिलीयार्थशास्त्रे कण्टकशोधनाद्यधिकरणेषु प्रतिपादिता दूष्यवधाद्युपायास्स्पष्टं निन्दिता दृश्यन्ते।"

—Dr.R Shama Shastry, Arthashastra of Kautilya, Preface, P.V.

४५. हर्ष च० ६।१६०।७

४६. मुद्रा० ३।४। सं० ११, राजा

४७. अर्थ० ६।१—"स्वामीसम्पत्" के अन्तर्गत चौथा गुणसमुदाय, पृ० ४१६

४८. मुद्रा० ३।५

४९. "That whith has obtained free scope,···unimpeded"—Monier Williams, p. 896.

५०. प्रतिमा० ३।२३

५१. शाकु० ३।१६। पं० ७१—प्रियंवदा।

५२. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ —अर्थ० १।१६।५

५३. मध्य० ४०। पं० १७-१८, भीम। मिलाइए—'स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।' रघु० १२४

५४. इससे यह मान्यता प्रकट होती है कि राजा क्षत्रियवंशी होना चाहिए, किन्तु जैसा कि यू० एन० घोषाल मानते हैं, आगे चलकर विश्वरूप (आठवीं-नवीं शती) के समय तक यह आवश्यक नहीं रहा था—"Thus Viśvarūpa in one place quotes Manu to show that the royal title belongs to one who possesses Kingdom, and not to the Kshatriya alone."
—The age of Imperial Kannauj p. 232

५५. हर्षच० ५, पृ० १५८।२६

५६. प्रमुदितप्रजस्य परिसमाप्तसकलमहीप्रयोजनस्य नरपतेर्विषयोपभोगलीला भूषणम्, इतरस्य तु विडम्बना। —काद० पृ० १२७

५७. कर्ण० १७

५८. बाल० २।१३। तुलनार्थ—'गम्यो नृपः'—मृच्छ० ६।२—आर्यक

५९. सहगल, सीताराम—महाकविभास-विरचित बालचरितम्—अनुवाद, पृ० ३३

६०. पीछे, परि० २, अनु० ४ (घ)

६१. "अरण्यजातं श्रोत्रियस्वं च परिहरेत्।" —अर्थ० ५।२

६२. शाकु० २।१३

६३. तुलनार्थ—"In practice, doubtless, the absence of constitutional, as distinct from conventional, checks left many a crowned head comparatively free to indulge in luxury and vice, caprice and injustice. But it is only fair to remember that all despotic authority was tempered by rebellion or assassinations."
—The age of Imperial Unity, p. 312

६४. प्रतिमा० ४।२७।१-राम।

६५. शाकु० ५।३। सं०१६—कंचुकी, धर्मासन से तत्क्षण उठे राजा के पास कण्व-शिष्यों के आगमन की सूचना ले जाता हुआ।

६६. मिलाइए—"धर्मकार्यं शिष्टजनागमनप्रयोजनश्रवणकरणादिकम्"—वैखानस श्रीनिवासाचार्य, शाकु० (की व्याख्या पर) पृ० २५७

…"this office of supporting the world"—Monier Williams, Śakuntalā by Kālidāsa, p. 187

६७. अवि० १।११—राजा।

६८. 'विजिगीषु', 'अरि', 'मध्यम' और 'उदासीन' ये चार मण्डल आचार्यों ने बताए हैं। देखिए—अर्थ० ६।२

६९. "धर्मः प्रागेव चिन्त्यः, सचिवमतिगतिः प्रेक्षितव्या स्वबुद्ध्या।
प्रच्छाद्यौ रागरोषौ, मृदुपरुषगुणौ कालयोगेन कार्यौ।
ज्ञेयं लोकानुवृत्तं, परचरनयनैर्मण्डलं प्रेक्षितव्यम्।
रक्ष्यो यत्नादिहात्मा, रणशिरासि पुनः सोऽपि नावेक्षितव्यः।"—अवि. १।१२

७०. रघु० १८।१८

७१. शाकु० ५।३।सं० १६, कञ्चुकी। 'अविश्रमः' पाठ अधिक उचित प्रतीत होता है।

७२. वही ५।४

७३. वही ५।५।सं० २७—राजा।

७४. Monier Williams, Śakuntalā by Kālidāsa, p. 189

७५. मुद्रा० ३।३।९—राजा।

७६. बुद्ध० ११।४७

७७. शाकु० ५।६

७८. "परार्थानुष्ठाने रहयति नृपं स्वार्थपरता।
प्ररित्यक्त-स्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः।
परार्थश्चेत्स्वार्थादभिमततरो हन्त परवान्।
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः॥" —मुद्रा० ३।४

७९. रघु० ५।३३

८०. नीति० ३७

८१. मृच्छ० ९।२—अधिकरणिक

८२. 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में इन्हीं चार पर व्यवहार का निर्णय मुख्यरूपेण आधारित माना गया है। देखिए—याज्ञ०२।२२

८३. "छन्नं कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषाः न्यायेन दूरीकृतम्।"
"…संक्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरतः॥" —मृच्छ० ९।३

८४. Preface to mṛcchakatika, G. K. Bhat, p. 216

८५. मृच्छ० ९।५—श्रेष्ठि और कायस्थ।

८६. अभि० १।१९

८७. "वध्यत्वाच्च मृगत्वाच्च भवाञ्छन्नेन दण्डितः।"— अभि० १।१६
८८. "Mrga···a forest animal or wild beast",
—Monier Williams, p. 828.
८९. "मृगः···7 Pursuit, Chase, Hunting." —V. S. Apste, p. 445
९०. विक्र० ५।२—विदूषक
९१. तुलनार्थ— दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति।
राजा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समं धृतः।—अर्थ० ३।१।५
९२. शिशु० १।७३
९३. अर्थ० ४।९—'सर्वाधिकरणरक्षणम्'
९४. 'अपथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा।'—मुद्रा० १।२२। सं १७०-चाणक्य
९५. मुद्रा० ७।२
९६. 'Kingdoms decay by discord.'—S.P.L. p. 41
९७. 'Political offences··· In the ancient times of the Roman republic offenses of this nature were considered equivalent to making war upon ths State.'—Encyclopedia America Vol. 22, p. 309
९८. महावीर० ४।२६—विश्वामित्र
९९. "To Spare the guilty is to injure the innocent···"
"Pardon makes offenders···" "A little spark neglected may kindle a great fire".. S.P.L., p, 69, 111
१००. "What's done cennot be undone" S P..L., p. 42
१०१. रघु० ८।८३
अन्यत्र भी काव्य-वर्णनों में राजाओं की दो पत्नियों की चर्चा कालिदास को विशेष प्रिय है, जिसमें एक होती है राज्य-लक्ष्मी या वसुमती—देखिये रघु० १।३२, तथा शाकु० ३।१८
१०२. योग० १।९
१०३. वही—१।६। पं० ४६, ४७...हंसक
१०४, "विषयान्तराणि"—"विषययोरं-देशयोरन्तराणि मध्यभागानि"—इस विग्रह के अनुसार 'देश की सीमाएं' यह अर्थ करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि इसी प्रसंग में सीमाप्रान्त के निर्लज्ज और अकुलीन निवासियों का उल्लेख हुआ है—"तत्र निर्लज्जो निरभिजनः प्रत्यन्तवासीजनः।"—वहीं, १।६। पं० ४७
१०५. 'भूम्यन्तरः प्रकृत्यमित्र··।'—अर्थ०— ६।२। पृ० ३२१
१०६. योग० १।४
१०७. वही ४।२
१०८. 'अपीह श्लोकौ भवतः·····' अर्थ० १०।३। पृ० ६०७
१०९. पञ्च० २।२८

११०. योग० २।१२। पं० १—राजा

१११. 'सेनापतिरर्थमानाभ्यामभिसंस्कृतमनीकमभिभाषेत···भोगद्वैगुण्यं स्वयंग्राहश्चेति।'
—अर्थ० १०।३, स्वसैन्योत्साहनम्, पृ० ६०९

११२. पञ्च० २।१५। 'किञ्चित्, पाठ शुद्ध है।

११३. बुद्ध० ९।४९

११४. किरात० १।४२

११५. शिशु० ५।४६

११६. "साध्य···"To be conquered or subdued".... —V.S. Apte, p.597

११७. रघु० १७।५२

११८. अभि० ३।१५।६—विभीषण। तुलनार्थं—'दूतमुखा वै राजानः···तेषामन्तावसायिनोऽप्यवध्याः···' अर्थं० १।१६, दूतप्रणिधिः पृ० ४६

११९. अभि० ३।२१।१—रावण

१२०. मुद्रा० १।१५। सं० ४४—कौटिल्य

१२१. वही १।१६

१२२. अवि० १।६। पं० १४—भूतिक

१२३. 'भृत्यदूषणीयाः' का विग्रह—'भृत्यैः दूषणीयाः' अथवा 'भृत्यानाम् दोषैः दूषणीयाः।'

१२४. परि० ६, अनु० ६ (ड), परदोष-दर्शन

१२५. 'अमन्त्रौषधिकुशलो व्यालग्राही, प्रमत्तो मतंगजारोही, लब्धाधिकारो जितकाशी राजसेवकः, इत्येते त्रयोऽप्यवश्यं विनाशमनुभवन्ति।'
—मुद्रा० २।१। सं० २—अहितुण्डिक

१२६. वही, ५।११। सं० ११९—राक्षस

१२७. वही ५।१२। तुलनार्थ—'The higher the standing, the greater the fall'
—S.P.L., p. 71

१२८. वही ३।१९। सं० ७५—चाणक्य

१२९. प्रिय० १।८

१३०. वही ४।६

१३१. "भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥'—रघु०१।१६

१३२. अवि० १।९। पं० १४—भूतिक

१३३. 'अमात्यमूलाः सर्वारम्भाः'—अर्थं० ८।१। पृ० ५२५

१३४. स्वप्न० १।१५

१३५. मुद्रा० ३।३२

१३६. वही ४।१४

१३७. वही ४।८

१३८. 'द्रव्यं जिगीषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि, नेतुर्यशस्त्रिनि पदे नियता प्रतिष्ठा ।
अद्रव्यमेत्य तु विशुद्धनयोऽपि मन्त्री, शीर्णाश्रय: पतति कूलजवृक्षवृत्त्या ।।'
—वही, पृ० ७।१४

१३९. उदाहरण के लिए—मौर्यवंश का अंतिम राजा बृहद्रथ और उसका अंत करने वाला पुष्यमित्र ।

१४०. मुद्रा० ४।१३

१४१. किरात० १।५

१४२. 'प्रसिद्धौ कार्याणां प्रवदति जन: पार्थिवबलम्
विपत्तौ विस्पष्टं सचिवमतिदोषं जनयति ।
अमात्या इत्युक्ता: श्रुतिसुखमुदारं नृपतिभि:,
सुसूक्ष्मं दण्डचन्ते मतिबलविदग्धा: कुपुरुषा: ।। —अविं० १।५

१४३. महावीर० ६।२, पं० १—माल्यवान्

१४४. ऊपर, परि० ३, अनु० ३

१४५. ऊपर, परि० ३, अनु० ६

१४६. ऊपर, परि० ३, अनु० ९

००

परिच्छेद-४

परिवार

१. पारिवारिक सूक्तियां

मानव के निर्माण में सबसे प्रमुख हाथ उसके परिवार का होता है। परिवार का वातावरण शिशु के अपरिपक्व एवं स्वच्छ बुद्धि-पटल पर बहुत से बिम्ब अंकित करता है जिसके अनुरूप वह शिशु कार्य करता है। धीरे-धीरे किस स्थिति में वह किस प्रकार की प्रतिक्रिया करेगा, यह निश्चित होता जाता है और इस प्रकार उसका स्वभाव पक जाता है। अत: समाज के लिए उपयुक्त व्यवहार करने की पहली शिक्षा मानव को परिवार से प्राप्त होती है।[1] इस प्रकार व्यक्ति और समाज को मिलाने वाली कड़ी का काम भी परिवार करता है।

किसी भी व्यक्ति के मन में परिवार की रूपरेखा सर्वप्रथम अपने परिवार से आती है। तदनन्तर जब वह समाज में अन्य परिवारों को देखता है तब उनसे अपनी उस रूपरेखा का मिलान करता है। प्राय: तो उसे उनमें साम्य मिलता है परन्तु सदा ऐसा ही होना आवश्यक नहीं। कारण, जिस प्रकार परिवार की इकाई एक व्यक्ति है, वैसे ही समाज की इकाई परिवार है। जैसे एक परिवार के सभी सदस्य एक नहीं हो सकते, वैसे ही एक समाज में सभी परिवार एक से नहीं होते। फिर भी कुछ ऐसे व्यापक तथ्य होते हैं, जो प्राय: सभी परिवारों में समान रूप से पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ-माता का सन्तति के प्रति प्रेम एक ऐसा तथ्य है जो सभी पविवारों में उपलब्ध होता है। ऐसे अनेक तथ्य सूक्तिग्रों में प्रकट किये गए हैं। उन सूक्तिग्रों से तत्कालीन समाज के अनेक व्यवहारों और विचारों पर नया प्रकाश पड़ सकता है तथा उस समय के पारिवारिक सम्बन्धों के विषय में भी नवीन बातें मिल सकती है।

श्रीमती इरावती कर्वे ने किसी भी भारतीय समुदाय की संस्कृति के तीन महत्त्वपूर्ण पहलुओं में भाषा-क्षेत्र और जाति के बाद परिवार को भी रखा है।[2] इसलिए पारिवारिक सूक्तियों से तत्कालीन समाज को समझने में सुगमता होगी, ऐसी आशा की जा सकती है।

कवि को परिवार के विषय में विभिन्न पहलुओं का अनुभव होना स्वाभाविक

है। अपनी कृति में परिवार का वर्णन करते समय उसके मस्तिष्क में परिवार के एक निश्चित प्रारूप का खाका रहता है, और उसके द्वारा खींचे हुए पारिवारिक चित्र को तत्कालीन परिवारों का प्रतीक माना जा सकता है।

पति-पत्नी, पिता-पुत्रपुत्री, भाई-बहिन, आदि के सम्बन्ध; विवाह-प्रथा आदि के प्रति दृष्टकोण को पारिवारिक सूक्तियों के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

परिवार में अन्य मनोभावों के साथ-साथ स्नेह का भाव भी विकसित हुआ करता है। इस दृष्टि से विविध प्रकार के स्नेह-भाव जैसे माता-पुत्र का वात्सल्य, भाई-बहिन का स्नेह तथा पति पत्नी का प्रेम, इन सब से सम्बन्ध रखने वाली सूक्तियों का प्रस्तुत परिच्छेद में विवेचन किया जा रहा है किन्तु प्रेमी-प्रेमिका के सम्बन्ध में कही गई सूक्तियों को पृथक्शः (परि०८में) 'प्रेम'-परक सूक्तियों के रूप में रखना उपयुक्त समझा गया है, क्योंकि प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम अनिवार्यतः पारिवारिक प्रेम के अन्तर्गत नहीं आता। परिस्थिति के अनुसार कभी वह पारिवारिक भी हो सकता है, किन्तु प्रायः परिवार से पहले का, या बाहर का ही अधिकतर हुआ करता है। इसके अतिरिक्त इस अंग के चित्रण में संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में सूक्तियां मिलती हैं। अतः उनका पृथक् से ही अध्ययन करना समुचित होगा।

सूक्तियों में परिवार-विषयक उल्लेख मुख्यतः पारिवारिक सम्बन्धों का द्योतक है, इसलिए इसी आधार पर पारिवारिक सूक्तियों के विषय को विभाजित करना युक्तियुक्त समझा गया है। विभाजन इस प्रकार है-१-विवाह; २-पति-पत्नी; ३-माता-पिता और सन्तान; ४-पिता; ५-माता; ६-पुत्र; ७-पुत्री; ८-अन्य पारिवारिक सम्बन्ध; ९-पारिवारिक विशेषताएं।

२. विवाह

जिस दिन दो व्यक्ति—एक नर और एक नारी—विवाह के बन्धन में बंधते हैं उसी दिन परिवार की नींव रखी जाती है। भवन की आधारशिला के समान परिवार की दृढ़ता विवाह की दृढ़ता पर आधारित है। विवाह सम्बन्धी सूक्तियां इस भाव को ध्यान में रखकर ही लिखी गयी प्रतीत होती हैं।

विवाह के विषय में समाज की धारणाओं का प्रतिविम्ब सूक्तियों में अच्छी तरह दिखाई देता है। विवाह से पूर्ववर्ती परस्परानुराग, समझ-बूझकर विवाह करना, विवाह में सज्जनों द्वारा मध्यस्थता, विवाह-कार्यों में स्त्रियों की प्रगल्भता इत्यादि प्रसंगों पर कवियों ने अपने भाव व्यक्त किये हैं।

(क) परस्परानुराग—संस्कृत में पूर्वानुराग का चित्रण प्रायः सभी प्रेम-काव्यों में हुआ है। भवभूति ने इस विषय को सूक्तिबद्ध भी किया है। उनके अनुसार विवाह-पूर्व का परस्परानुराग विवाह के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है--इतरेतरानुरागो हि विवाह-कर्मणि परार्ध्यं मङ्गलम्।[3] 'एक दूसरे से अनुराग का होना विवाह कर्म में श्रेष्ठ मङ्गल

होता है।' यहां विवाह-पूर्वानुराग का ही संकेत है और उसे परम श्रेष्ठ बताया गया है। इससे प्रकट है कि पूर्वानुराग उत्पन्न होने पर माता-पिता और समाज को प्रसन्नता अवश्य होती थी परन्तु तब जबकि उसका परिपाक विधिवत् विवाह में हो जाए।

कवि भवभूति ने अपनी सूक्ति को पुष्ट करने के लिए आङ्गिरस का यह वचन भी उद्धृत किया है—'जिसमें मन और नेत्र जुड़ जाएं (आसक्त हों) उसी से समृद्धि मिलती है'।[४] इसलिए जिस विवाह से पूर्व युवती और युवक में परस्पर अनुराग उत्पन्न हो जाता था तो उसे अत्यन्त मंगलदायक समझा जाता था। काव्यों में गान्धर्व-विवाह के वर्णन भी इसी तथ्य के पोषक कहे जा सकते हैं।

पूर्वानुराग-जन्य युवक-युवती के मिलन में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। दुष्यन्त-शकुन्तला के पूर्वानुराग का परिणाम अवाञ्छनीय हो गया था। इस पर कवि को कहना पड़ा—

अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात् सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्॥[५]

—'इसलिए सहवास ('मैत्र्यं'[६] union[७]) और विशेषकर एकान्त का मिलन परीक्षापूर्वक करना चाहिए। अन्यथा अज्ञात् हृदयवालों में इस प्रकार सौहार्द वैर में बदल जाता है।' यहां पर कवि ने प्रेमियों को चेतावनी अवश्य दी है, परन्तु पारस्परिक अनुराग पर कोई आक्रोश व्यक्त नहीं किया। निश्चय ही वह पूर्वानुराग या गान्धर्व-विवाह का विरोधी नहीं है।

(ख) **वैवाहिक व्यवहार**—विवाह से पूर्व यदि किसी का किसी से पारस्परिक अनुराग न हुआ हो तो योग्य साथी ढूंढ़ने के लिए उसके माता-पिता अनेक स्थानों पर प्रस्ताव रखते थे जिससे यथेष्ट सम्बन्ध किया जा सके। अविमारक में कुरंगी के विवाहार्थ अनेक प्रस्तावों को चालू रखने की सम्मति देते हुए मन्त्री का कथन है—**बहुमुखा विवाहा यथेष्टं साध्यन्ते।**[८]—"वे विवाह जिनमें अनेक स्थानों से सम्भावनाएं हों[९] यथेच्छ पूर्ण किये जा सकते हैं।" व्यावहारिक दृष्टि से इस तरह चुनाव का क्षेत्र विस्तृत हो जाता हैं और किसी एक स्थान पर सम्बन्ध न बनने पर दूसरे का अवसर शेष रहता है। इससे प्रकट होता है कि कन्या के लिये यथेष्ट वर खोजना राज-परिवारों के लिये भी सुगम नहीं था। जनसाधारण में तो यह समस्या आज के समान ही रही होगी।

विवाह करने से पूर्व वर-वधू के माता-पिता को बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। एकदम भिन्न दो परिवारों को विवाह पास लाता है और नये-नये सम्बन्धों को ज़न्म देता है। इसलिए एक दूसरे परिवार को और पारस्परिक अनेक बातों को देखभाल कर विवाह करना आवश्यक है। कुरंगी के विवाह-सम्बन्ध में राजा देवी को परामर्श देता है—**विवाहा नाम बहुशः परीक्ष्य कर्तव्या भवन्ति।**[१०]—"विवाह तो बहुत सी परीक्षाएं करने के बाद करने योग्य होते हैं।"

इन अनेक परीक्षणों में से एक है होने वाले दामाद के वैभव, योग्यता, कुलीनता आदि की परीक्षा और अपनी कन्या से तुल्यता। विवाह के द्वारा एक नये सफल परीवार

के निर्माणार्थ वर-वधू की समानता होना अत्यन्त आवश्यक है। उपरि-निर्दिष्ट प्रसंग में ही राजा यह सूक्ति भी कहते हैं—

> जामातृ-सम्प्रत्तिमचिन्तयित्वा पित्रा तु दत्ता स्वमनोऽभिलाषात्।
> कुल-द्वयं हन्ति मदेन नारी, कूल-द्वयं क्षुब्धजला नदीव ॥[११]

—"जमाई के वैभव को सोचे बिना यदि पिता[१२] अपनी इच्छानुसार कन्या-दान कर देता है तो मद में भरी नारी दोनों (पिता और श्वशुर के) कुलों का वैसे ही नाश कर देती है जैसे विक्षुब्धजलवाली नदी दोनों कूलों (नदी-तटों) का।"

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नर को नारी की अपेक्षा उत्कृष्ट होना चाहिए। नारी का यह स्वभाव है कि वह अपने से योग्य तथा सम्पत्तिशाली पति को पाकर ही मर्यादा में रहती है, और पुरुष का भी स्वभाव है कि वह अधिष्ठित (dominating)[१३] होकर रहना चाहता है। उपर्युद्धृत सूक्ति में केवल धन-वैभव की ही नहीं गुण-स्वभाव की समानता भी ऐसी विशेषताएं हैं जो पति-पत्नी के दृढ सम्बन्ध को जन्म देते हैं और उसे अक्षत बनाये रखते हैं।

उस समय योग्य वर के समान ही योग्य वधू भी खोजी जाती थी। भारवि ने योग्य स्त्रियों के अभाव की सूचना दी है—**अनुरागी युवतिजनः खलु नाप्यतेऽनुरूपः**[१४] —"अनुराग रखने वाली और अपने अनुरूप युवती नहीं मिलती।" इससे यह भी प्रतीत होता है कि उस समय शिक्षा, स्वातन्त्र्य आदि के अभाव से स्त्रीजन के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता होगा और वे उन्नत दशा में नहीं रही होंगी।

विवाह-सम्बन्ध निश्चित कराने के लिए प्रायः कोई मध्यस्थ व्यक्ति होता है। एक पक्ष को दूसरे से मिलाने का कार्य इसी का है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। मध्यस्थ का सज्जन होना आवश्यक है, जिससे दोनों पक्षों के पारस्परिक अपरिचय का वह कोई अनुचित लाभ न उठा सके। कालिदास ने मध्यस्थ की महत्ता और सज्जनता के लाभ को दर्शाया है। गिरिराज से पार्वती की याचना के लिए सप्तऋषियों को नियुक्त करते हुए शिवजी का विचार है—**विक्रियायै न कल्पन्ते सम्बन्धाः सदनुष्ठिताः**[१५] —"सज्जनों द्वारा कराये हुए विवाह सम्बन्धों का बिगाड़ सम्भव नहीं।" इसके साथ ही यह भी माना गया है कि विवाह-सम्बन्धी मध्यस्थता एवं अन्य कार्यों में स्त्रियों की बुद्धि अधिक तीव्र होती है।[१६] यह एक व्यावहारिक तथ्य है। इसलिए आज भी विवाह-सम्बन्धी विशेष कार्यभार स्त्रियों को ही सौंपा जाता है।

(ग) विवाह में लज्जा—विवाह में वधू तो लज्जा अनुभव करती है, वर भी सङ्कोच का अनुभव करता है। देवी धारणी द्वारा उपहार-स्वरूप मालविका को पाकर लज्जावनत राजा पर विदूषक की टिप्पणी है—**सर्वो नववरो लज्जातुरो भवति**[१७] —"प्रत्येक नये वर को लज्जा व्याकुल करती है।" विवाह में वर का यह भाव अस्वाभाविक नहीं। प्रथमतः किसी भी नये व्यक्ति से मिलते समय संकोच हुआ करता है, फिर यदि वह भिन्न-लिङ्गी हो तो लज्जा का तीव्रतर होना स्वतः-सिद्ध है।

३. पति-पत्नी

(क) युगल के रूप में—विवाह के बाद वर—वधू दोनों पति-पत्नी सम्बन्ध में बंध जाते हैं। कई बार यत्नपूर्वक परीक्षा करके मिलाये गये युगल भी एक जैसे गुण तथा स्वभाव वाले नहीं निकलते। सौभाग्य से जब वे समान-गुण-शील-युक्त होते हैं तब गार्हस्थ्य-जीवन स्वर्गतुल्य हो जाता है।[१८] प्रतिमा नाटक में जब सीता राम के विषय में उनके चरित्र के अनुरूप व्यवहार की कल्पना कर लेती है तो राम कह उठते हैं —अल्पं तुल्यशीलानि द्वन्द्वानि सृज्यन्ते।[१६] —"एक जैसे शील-स्वभाव वाले विवाहित युगल का सृजन बहुत कम होता है।" पति-पत्नी एक दूसरे को सही-सही समझ सकें यह बड़ी कठिनता से होता है। इसलिए राम अपने भाग्य को सराहें तो ठीक ही है।

भास के समान ही अन्य कवियों ने भी वर-वधू की समानता को वाञ्छनीय माना है। कालिदास के अनुसार—रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन।[२०] "नग को सोने में जड़ा जाए"। यहां 'अज' को इन्दुमती के सदृश बताती हुई सुनन्दा का भाव यह है कि नारी और पुरुष का यथायोग्य सम्बन्ध अत्यन्त प्रशस्य है, इसे मणि-काञ्चन संयोग कहा जा सकता है। शकुन्तला को योग्य वर मिलने की सूचना से ऋषि काश्यप भी इसी प्रकार प्रसन्न हो उठे थे।[२१]

पति-पत्नी में किस प्रकार का पारस्परिक भाव अपेक्षित है, यह भवभूति ने एक सूक्ति द्वारा दर्शाया है। देव-मन्दिर में माधव को मालती का हाथ सौंपती हुई कामन्दकी यह शिक्षा देती है--प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा, सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा, स्त्रीणां भर्त्ता धर्मदाराश्च पुंसाम्।[२२]—'स्त्री के लिए पति और पुरुष के लिए धर्मपत्नी ही प्रियजन, मित्र, समूची बन्धुता, सारी कामनाएं, कोष या जीवन, सब कुछ है।' इस सूक्ति में "धर्म-दारा" का 'धर्म' शब्द पत्नी द्वारा पूरणीय धर्मकृत्यों को ध्यान में रखते हुए प्रयुक्त किया गया है। धर्म और प्रजा (सन्तान) से युक्त पत्नी के न होने पर ही शास्त्रों ने[२३] भी पुरुष को दूसरे विवाह की अनुमति दी है। पाणिनि[२४] ने भी यज्ञ से सम्बद्ध पत्नी को ही "पत्नी" शब्द का अधिकारी कहा है। इस प्रकार एक पुरुष की अनेक भार्याएं होने की स्थिति में[२५] धर्मकार्य में सहायक पत्नी के लिए ही ऊपर सूक्ति में निर्दिष्ट भाव की सम्भावना की जा सकती है।

(ख) एक दूसरे के पूरक—वस्तुतः पति-पत्नी एक दूसरे के पूरक हैं। गिरिराज पार्वती के लिए शिवजी को ही उपयुक्त वर समझते थे। अतः पार्वती के प्रगल्भावस्था में पदार्पण करने पर भी उन्होंने उसके लिए शिवजी के अतिरिक्त किसी अन्य वर की अभिलाषा नहीं की। इस पर कवि यह दृष्टान्त देता है—ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम्।[२६]—"मन्त्र से पवित्र की हुई हवि को ग्रहण करने में पावक के अतिरिक्त और कौन सा तेज समर्थ होता है।" जिस प्रकार हवि का ग्राहक अग्नि है उसी प्रकार पत्नी का पति है। हवि की सार्थकता जैसे अग्नि को

समर्पित होने में है, वैसे ही पति के निकट पत्नी की है। जैसे हवि अग्नि का वैसे ही पत्नी पति का सम्वर्धन करने वाली है। हवि और अग्नि के स्थान पर नदी और समुद्र से उपमा देते हुए धर्मशास्त्रकार[२७] भी इसी प्रकार के पति-पत्नी सम्बन्ध की अभिलाषा करते हैं।

(ग) **पत्नी पति पर आश्रित**—विवाह के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि पत्नी पति के पास रहे क्योंकि प्रथा ही ऐसी है। जो विवाहिता स्त्री पीहर में रहने लगे उसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। कालिदास इस सम्बन्ध में यह लोक-वृत्तान्त बताते हैं—

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रया जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतस्समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाऽप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः॥[२८]

"लोग पति वाली सन्नारी को भी सदा अपने पिता के घर रहने पर सन्देह से देखते हैं। अतः चाहे स्त्री अपने पति को प्रिय हो या अप्रिय. उसके बन्धुजन उसे पति के पास ही देखना चाहते हैं।" इसका कारण यह भी है कि लोग स्त्रियों में शीघ्रता से असाधुत्व खोज लेते हैं।[२९] अतः लोक-व्यवहार की दृष्टि से पत्नी पति के पास ही सुशोभित होती है।

इसके अतिरिक्त अपने पति के बिना वह अपूर्ण है, जैसे कि—**नक्षत्रताराग्रह-सङ्कुलाऽपि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः।**[30]—"नक्षत्रों, तारिकाओं और अन्य ग्रहों से भरपूर होने पर भी रात चन्द्रमा से ही ज्योतिर्युक्त होती है।" भाव यह कि स्त्री योग्य पुरुष से ही प्रकाशित होती है। यद्यपि पति-पत्नी एक दूसरे के पूरक हैं तथापि स्त्री को पुरुष के बिना निराश्रय समझा जाता है—**अबलानां हि पतिरपत्यं वावलम्ब-नम्।**[31]—"पति या सन्तान ही अबलाओं का सहारा है।" इन और अन्य अनेक कारणों से विवाहिता स्त्री को भारत में पति के साथ सम्बद्ध करके ही देखना पसन्द किया जाता है। स्वतन्त्ररूपेण उसकी सत्ता अवांछनीय ही समझी गयी है।

एक सूक्ति में कालिदास ने भी नारी-स्वतन्त्रता को अस्वीकृत करते हुए उसे पति के पूर्ण अधिकार में सौंप दिया है—**उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।**[३२]—"स्त्रियों पर (पति का) सर्वतोमुखी अधिकार स्वयंसिद्ध है।" इस सूक्ति में पति-वाचक कोई शब्द नहीं है। अतः प्रतीत होता है कि अन्य अवस्थाओं में भी स्त्री पर किसी न किसी पुरुष का अधिकार रहना कवि को अभिमत है। उपर्युद्धृत दोनों सूक्तियां मनु की इस भावना से प्रभावित लगती हैं—"कौमारावस्था में पिता, यौवन में पति और वार्धक्य में पुत्र नारी की रक्षा करता है। स्त्री को स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती।"[33] विद्वान् मानते हैं कि पुरुष का स्त्री पर अधिकार वैदिककाल से ही रहा है[३४] और बहुपत्नी-प्रथा भी यही सिद्ध करती है।[३५]

(घ) **पत्नी के कर्त्तव्य**—पत्नी का व्यवहार और भाव कैसा होना चाहिए, इसकी चर्चा करते हुए सूक्तिकार भी धर्मशास्त्रियों के समान ही उपदेश देने में आगे रहे हैं। सत्पत्नी कौन होती है? पतिव्रता के लिए क्या करना उचित है? इस विषय की

शिक्षात्मक सूक्तियां अधिक हैं। किन्तु पत्नी की भावना के चित्रण में बहुत कम सूक्तियाँ हैं। पति के व्यवहार पर टिप्पणी करने वाली सूक्तियाँ भी हैं अवश्य, परन्तु अपेक्षाकृत बहुत कम। पहले पत्नी के कर्त्तव्य बताने वाली सूक्तियों को ही लिया जाए।

(i) **पत्ति का अनुगमन**—पत्नी को पतिव्रता होना चाहिए। उसका प्रथम और अन्तिम धर्म कोई है तो वह है उसका पति के आदेश में रहना[३६]। पति की चिन्ता करना ही उसका सबसे बड़ा कर्त्तव्य है—**यद्भर्त्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्।**[३७]—"जो पति का ही भला चाहती है वही पत्नी है।"

भास ने पत्नी में पातिव्रत्य को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है। प्राण देने के लिए ब्राह्मणी घटोत्कच के साथ स्वयं जाना चाहती है और यह तर्क देती है—**पति-मात्रधर्मिणी पतिव्रतेति नाम**[३८]—"पतिव्रता पत्नी का एकमात्र धर्म उसका पति है।" इसलिए पति की रक्षार्थ पत्नी को प्राण त्यागने के लिए भी तत्पर रहना चाहिये। पति के पीछे-पीछे चलना ही पत्नी का धर्म है। राम का अनुगमन करने वाली सीता की प्रशंसा करते हुए लक्ष्मण इस भाव को व्यक्त करता है—

'अनुचरति शशाङ्कं राहुदोषेऽपि तारा।'
'पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च।'
'त्यजति न करेणुः पङ्कलग्नं गजेन्द्रम्।'
............'भर्तृनाथा हि नार्यः।'[३९]

"तारा (रोहिणी नक्षत्र) चन्द्रमा के राहु-ग्रस्त होने पर भी उसी के पीछे चलती है।" "आश्रय-वृक्ष के गिरते समय लता भी भूमि पर गिर पड़ती है।" "कीचड़ में लथपथ गजेन्द्र को हथिनी त्यागती नहीं है।" "नारियों का नाथ उनका भर्त्ता ही है।"

(ii) **अनुमरण या सती-प्रथा**—इस अनुगमन को पति-मरण पर भी पालन करना 'सती-प्रथा' के रूप में प्रचार पा गया। पत्नी द्वारा अनुमरण अर्थात् सती-प्रथा को आदर्श मानने वाली धर्मपत्नी का चित्र कालिदास ने खींचा है। काम का अनुगमन करने की इच्छा से विलाप करती हुई रति कहती है—

'शशिना सह याति कौमुदी', 'सह मेघेन तडित् प्रलीयते।'
'प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं विचेतनैरपि॥'[४०]

'चाँदनी चाँद के साथ अस्त हो जाती है,' 'बिजली मेघ के साथ विलीन हो जाती है।' 'जड़ पदार्थ भी यह जानते हैं कि पत्नियां पति के पथ का अनुसरण करती हैं।' इसी प्रसंग में एक अन्य सूक्ति द्वारा कवि ने पति-मरण पर पत्नी का मरण अवश्यंभावी दिखलाया है—**अनपायिनी संश्रयद्रुमे गजभग्ने पतनाय वल्लरी**[४१]—"आश्रय देने वाले स्थिर वृक्ष के हाथी द्वारा तोड़ कर फेंके जाने पर उस पर आश्रित लता भी गिर पड़ती है।" यहां पत्नी के पति पर आश्रित होने के कारण पति के साथ ही उसका विनाश भी अवश्यंभावी कहा गया है। कवि माघ ने एक सूक्ति में उपमा द्वारा सती स्त्री का पति के साथ अनु-गमन ही श्लाघ्य एवं प्राकृतिक व्यवहार जैसा[४२] दर्शाया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि नारी सामाजिक सुरक्षा और भरण-पोषण की दृष्टि से

पुरुष पर आश्रित रही है। इसी हेतु यह भावना दृढ़ होती गई कि नारी पुरुष के बिना जीवित ही नहीं रह सकती। सम्भवतः इस आर्थिक पराश्रितता[४३] के कारण ही 'भर्तृ-नाथा हि नार्यः,' जैसी भावनाओं का उद्‌भव हुआ। इसी से भारतीय मनीषियों द्वारा पातिव्रत्य का परम-धर्म के रूप में वर्णन किया जाने लगा तथा कालान्तर में पति की मृत्यु पर पत्नी के सती होने की प्रथा भी बन गई।

ऊपर की दोनों सूक्तियों में यद्यपि सतीप्रथा की गन्ध है परन्तु कालिदास को संभवतः यह अभिप्रेत न था। इसीलिये इन सूक्तियों को कहने वाली रति को वे जीवित रखते हैं। सती-प्रथा के सम्बन्ध में एक संकेत शूद्रक ने दिया है। सती होने को उद्यत पत्नी 'धूता' से चारुदत्त कहता है—**अम्भोजिनी लोचन-मुद्रणं किं भानावनस्तंगमिते करोति।**[४४]—"क्या सूर्यास्त हुए बिना ही कमलिनी नेत्र (अर्थात् पत्ते) मूंद लेती है?" अर्थात् पति के मरे बिना ही पत्नी सती नहीं होती, (या नहीं मरती)। इस सूक्ति से शूद्रक सती-प्रथा के विपक्ष में से किसका साथ देते हैं, नहीं कहा जा सकता। पर एक भाव काकु द्वारा इसमें से यह भी झलकता है कि पत्नी पति से पहले मरना अच्छा समझती थी। आज भी भारतीय नारी पति के हाथ से ही अपना क्रिया-कर्म कराना चाहती है। वैधव्य-दुःख की अपेक्षा वह मरण को अच्छा समझती है। वृद्धाओं का "बूढ़ सुहागन हो"—"बुढ़ापे पर्यन्त सुहाग बना रहे", यह आशीर्वाद भी इसी भाव की पुष्टि करता है।

सती-प्रथा के विरोध में बाणभट्ट ने लेखनी उठाई है। महाश्वेता को अनुमरण की व्यर्थता और अनुमरण करने वालों की मूर्खता बताने में चन्द्रापीड ने अच्छा खासा भाषण ही दे डाला है। उसमें से एक पंक्ति सूक्ति रूप से उद्धरणीय है—**यदेतदनुमरणं नाम तदतिनिष्फलम्।**[४५]—"यह जो किसी (प्रियजन) के मरने पर स्वयं मरना है, वह सर्वथा व्यर्थ है।" यहां अनुसरण से पिता, भाई, प्रिय या पति-पत्नी की मृत्यु पर स्वयं प्राण-परित्याग अभिप्रेत है।[४६] इस प्रसंग में इस प्रथा की बड़े कठोर शब्दों में भर्त्सना की गई है।[४७] सतीप्रथा को अस्वीकार करते हुए उन्होंने प्रमाणस्वरूप रति, कुन्ती, उत्तरा और दुश्शला के नाम गिनाये हैं जो अपने पतियों—क्रमशः काम, पाण्डु, अभिमन्यु एवं जयद्रथ के मरने पर भी जीवित रहीं।

'हर्ष-चरित' में प्रभाकरवर्धन के मरण से पूर्व ही देवी यशोवती के सती होने पर भी कवि ने सतीप्रथा पर कोई टिप्पणी अंकित नहीं की। हो सकता है, अपने आश्रय-दाता की माता से सम्बन्धित घटना होने के कारण बाणभट्ट चुप्पी लगा गये हों[४८]। फिर भी उस प्रसंग में कवि ने जिस प्रकार के दृश्य का सृजन किया है उसमें सन्ताप और घुटन ही पाठक के पल्ले पड़ते हैं; सती-प्रथा की पवित्रता, धर्मप्रवणता या महत्ता का प्रभाव नहीं। निश्चय ही यह कवि की मौन-प्रतिक्रिया का परिचायक है। 'कादम्बरी' लिखते समय जब कवि को अपने परिपक्व विचार व्यक्त करने का तथा अपने आश्रय-दाता को आहत न करने के कारण खुला अवसर मिला तो सती-प्रथा के प्रति उसका तीव्र रोष स्वतः फूट पड़ा।

(iii) **पतिपरायणता**—पतिव्रता नारी सती हो या न हो, इस पर तो मतभेद हो सकता है, परन्तु उसे कभी पति का विरोध नहीं करना चाहिये, इस पर वैमत्य का अवकाश नहीं। काव्य में पति की वशवर्त्तिनी, आज्ञाकारिणी नारी का ही चित्र मिलता है। कालिदास की एक सूक्ति से पतिपरायण नारी की प्रशंसा व्यक्त होती है। पर्वतराज की पत्नी 'मैना' ने पति की इच्छानुसार पार्वती को शिवजी के लिये देना स्वीकार कर लिया, इस पर कवि टिप्पणी करता है-- **भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः।**[४६] —"पतिव्रता नारियां पति के अभिमत से विपरीत व्यवहार वाली नहीं होतीं।" यहां पति के विरुद्ध आचरण को पातिव्रत्य का विरोधी देखा गया है। इसलिये पत्नी का पति के अनुकूल चलना उसके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य माना गया है।

पति के प्रति पत्नी का आदर-भाव ही मुख्य है। वह क्रोध कर सकती है पर अकारण नहीं—**प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः**[५०]—"स्वामी पर प्रभाव रखती हुई पत्नियां भी कारण होने पर ही क्रोध करती हैं।" अकारण क्रोध न करना पारस्परिक सद्व्यवहार के लिए, स्त्री-पुरुष दोनों के लिए ही वांछनीय है। परन्तु फिर भी सामान्यतया परिवार में पति के क्रोध को इतना बुरा नहीं समझा जाता जितना कि पत्नी के क्रोध को। इसके मूल में पत्नी पर पति का अधिकार-भाव कार्य करता प्रतीत होता है।

संभवतः पतिपरायणता का भाव जगाने के लिए ही ऐसे विश्वासों का प्रचार हुआ कि पतिव्रता नारी में अनेकानेक शक्तियां या सिद्धियां निवास करती हैं।[५१] कालिदास ने सूक्ति रूप में इस विश्वास को प्रकट किया है। शकुन्तला के लुप्त हो जाने पर राजा का विचार है कि आकाशगामी देवता के अतिरिक्त अन्य कोई उसे स्पर्श भी नहीं कर सकता, क्योंकि—**का पतिदेवतामन्यः परामष्टुं मुत्सहेत ?**'[५२]—"पति को देवता रूप में देखने वाली पतिव्रता नारी को कौन साधारण जन छू भी सकता है?" व्यावहारिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो लोक में आज भी यह स्पष्ट है कि जिन युगलों में पारस्परिक प्रेम होता है वे प्रायः समाज के अवांछनीय तत्त्वों से सुरक्षित रहते हैं। सम्भवतः, इसीलिए यह विश्वास था कि पतिव्रता को उसकी महनीय शक्ति के कारण उसके पति के अतिरिक्त कोई छू भी नहीं सकता।

(iv) **पर-पुरुष के प्रति व्यवहार**—पत्नी के कुछ ऐसे कर्त्तव्य भी होते हैं जो उसे एक सद्गृहिणी के रूप में करने चाहिए। उदाहरणार्थ—किसी सद्गृहिणी को पर-पुरुषों से कैसे व्यवहार करना चाहिए, अपनी सपत्नियों तथा पारिवारिकजनों से कैसे बरतना चाहिए, इन बातों पर धर्मशास्त्र की अपेक्षा साहित्य के वर्णन में कहीं अधिक प्रकाश पड़ता है। इनमें से कुछ तथ्य काव्यगत सूक्तियों से भी प्रकट होते हैं।

सत्पत्नी के सद्व्यवहार का संकेत भास की एक सूक्ति से इस प्रकार मिलता है। पद्मावती के विवाह के समय आवन्तिका-वेशधारिणी वासवदत्ता कहतीहै—**अयुक्तं पर-पुरुष-संकीर्तनं श्रोतुं (कामिनीनाम्)।**[५३] "अन्य पुरुष का वर्णन सुनना स्त्रियों के लिए उचित नहीं।" स्त्रीपात्र से इस सूक्ति को कहला कर इसे स्त्रियों के लिए अनुकरणीय बना

दिया गया है जिससे पति के लिए पत्नी की श्रद्धा बनी रहे, किसी अन्य के प्रति आकर्षण न उपजे। साथ ही इसका कारण जैसा कि कुछ लोकोक्तियों[५४] से प्रकट है यह भी हो सकता है कि स्त्रियों के चरित्र के विषय में पुरुष सदा ही सशंक रहे हैं। नारियां पर-पुरुष के वर्णनादि को सुनना इसी कारण उचित नहीं समझती थीं। आगे चलकर यह भी उनके धर्म का अंग बन गया होगा।

भर्तृहरि ने पति-भिन्न व्यक्ति के प्रति आकर्षण को अप्राकृतिक बताया है—**रमणीयेऽपि सुधांशौ न नाम (मनः) कामः सरोजिन्याः**[५५]—"सुन्दर चन्द्रमा में भी सरोजिनी (दिन—कमलिनी) का मन अभिलाषा नहीं करता।" अतः प्रकृति भी यही सिद्ध करती है कि अपने एक प्रिय से ही प्रेम हो सकता है अन्य से नहीं। इस सूक्ति में अन्योक्ति शैली द्वारा सत्पत्नी को पर-पुरुष का ध्यान न करने की प्रेरणा दी गयी है।

(v) **सौत के प्रति व्यवहार**—कालिदास ने अपने तीनों नाटकों के नायक ऐसे चुने हैं जो बहु-पत्नी वाले हैं पर नवोढा पर विशेष प्रेम रखते हैं, प्रौढ़ा के प्रति उनका अनुराग कम हो चुका है। परन्तु चूंकि वे सब नायक की विवाहित पत्नियां हैं, उनका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे पतिभक्ता बनी रहें और पति-प्रसन्नता के लिए सौत को भी सहें। ऋषिकण्व ने भी कहा, "प्रिय-सखीवृत्तिसपत्नीजने।"[५६] इतना ही नहीं कवि उन्हें उपदेश देता है कि नववधु की प्राप्ति में भी वे पति की सहायक बनें। देवी धारिणी द्वारा राजा के लिए मालविका का हाथ स्वयं थमा देने पर पतिव्राजिका प्रशंसा करती है—

प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः।
अन्यसरितामपि जलं (सरितां शतानि हि) समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम्।।[५७]

—"पति से प्रेम करने वाली साध्वी पत्नियां सौत के द्वारा भी पति की सेवा करती हैं।" "नदियां अन्य सैकड़ों सरिताओं के जल को भी समुद्र तक पहुंचा देती हैं।"

इस प्रकार की सूक्तियों में, निहित विचारों का आधार तत्कालीन सामाजिक परम्पराओं एवं धर्मशास्त्र के विधि-निषेधों में खोजा जा सकता है। उस समय बहुपत्नी-प्रथा शिष्ट-सम्मत थी इसलिए सपत्नियों के प्रति उदार-भाव वांछनीय बन गया था। इसके विपरीत यद्यपि बहु-पति-प्रथा का एकाध उदाहरण खोजा जा सकता है, तथापि वह प्रथा न तो शास्त्र-सम्मत ही थी और न शिष्टजन-सम्मत। फलतः तद्विषयक शास्त्र-वचन या सूक्तियां उपलब्ध नहीं होतीं।

सौत के प्रति स्त्री की स्वाभाविक ईर्ष्या को बाणभट्ट ने व्यक्त अवश्य किया है, परन्तु उपहास के प्रसंग में। 'कादम्बरी' के 'परिहास' नामक शुक से परिहास करते हुए चन्द्रापीड कहता है—**यदेतत् सापत्न्यकरणं नारीणां प्रधानं कोपकारणम्, अग्रणी-विरागहेतुः, परं परिभवस्थानम्।**[५८]—'यह जो सौत बनाना है वह नारियों के लिए प्रमुख क्रोध का कारण है, पति से विद्वेष का प्रथम कारण है, और तिरस्कार का विशेष स्थान है।" इस नारी-मनोविज्ञान को जानने पर भी बहुपत्नीत्व का विरोध बहुत धीरे-धीरे हुआ। बाणभट्ट के समय भी इसका उल्लेख करते हुए विशेष महत्त्व नहीं दिया गया।

बहुपत्नीत्व इण्डोयूरोपीय काल से चला आया है,[६०] और आज भी समाप्त नहीं हुआ हैं।[६१]

(ङ) पत्नी का परिवार में स्थान—पत्नी के जो कर्त्तव्य ऊपर निर्दिष्ट हुए हैं उनमें परिवार के संघटन में पत्नी के विशिष्ट स्थान का ध्यान रखा गया है। कालिदास के शब्दों में—**यान्त्येवं गृहणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।**[६२]—"इस प्रकार युवतियां गृहिणी के पद को प्राप्त करती हैं। इसके विपरीत आचरण करनेवाली कुल की व्याधि के समान (अपकर्ष का हेतु) हैं।" घर को संभालने का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य पत्नी का है और यदि वह इस कर्त्तव्य को ठीक से नहीं निभा सकती तो सारे परिवार के विघटन एवं नाश का कारण बनती है, इसलिए दुष्ट पत्नी को कुल-व्याधि कहना अयुक्त नहीं।

वस्तुतः परिवार का केन्द्र पत्नी के हाथ में होता है और संभवतः इसीलिए उसके सहारे ही परिवार के धार्मिक कृत्यों को सम्पन्न किया जाता है। अरुन्धती को गुरु वसिष्ठ के साथ देखकर शिवजी ने विचार किया—**क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्।**[६३]—"धार्मिक क्रियाओं का मूलाधार सत्पत्नी ही है।" धार्मिक एवं याज्ञिक क्रिया-कलाप में पत्नी का साथ वैदिक काल से ही अनिवार्य रहा है।[६४] ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्गार[६५] भी इस सूक्ति की पृष्ठभूमि में स्थित हैं। पत्नी के बिना याज्ञिक क्रियाओं को अपूर्ण बताकर सत्पत्नी को कुछ अधिकार दिये गए एवं पारिवारिक महत्त्व की अनुभूति कराई गई है। इससे सत्पत्नी बनने की इच्छा हर पत्नी में स्वतः जागृत होती होगी।

(च) पति के कर्त्तव्य—सूक्तियों में पत्नी के लिए इतने उपदेशों को देखकर इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचना चाहिए कि पुरुष-वर्ग को अर्थात् पतिदेव को सब कर्त्तव्यों से मुक्त मान लिया गया है। पति के व्यवहार में भी पत्नी के लिए कुछ कृत्य अपेक्षित हैं।

(i) पत्नी-पालन—पत्नी के आजीवन भरण-पोषण एवं संरक्षण का कर्त्तव्य पति के लिए बड़े गूढ़रूप से (indirectly) कवि भास ने सुझाया है। वन में प्रविष्ट कुछ लोगों के विषय में जानकर यौगन्धरायण कहता है—**सुखं खलु निष्कलत्राणां कान्तार-प्रवेशः।**[६६]—"पत्नी-रहित लोगों द्वारा वन में प्रवेश करना सुखपूर्वक हो सकता है।" पत्नी-रहित पति ही वन में इसलिए निश्चिन्त हो सकता है, क्योंकि उसे किसी की रक्षा या पालना की चिन्ता नहीं रहती। इससे प्रकट है कि पत्नी पति द्वारा रक्षणीया है। 'कान्तार-प्रवेश' से 'वनवास' अर्थ लेकर पत्नी रहते वनवास का सुख न मिलने का भाव भी व्यञ्जित होता है।

(ii) पत्नी-व्रत—जिस प्रकार पत्नी के पातिव्रत्य की अपेक्षा की जाती है उसी प्रकार पति भी पत्नीव्रत का पालन करे तभी सामञ्जस्य उत्पन्न हो सकता है। परन्तु प्राचीन प्रथा के अनुसार यह आवश्यक नहीं था कि वह एक-पत्नी-व्रतधारी हो। अपितु इतना ही पर्याप्त था कि वह पर-कलत्र के प्रति मर्यादा का पालन करे। राजा दुष्यन्त शकुन्तला को अस्वीकार करने का कारण बताता है—

कुमुदान्येव शशाङ्कः, सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि पर-परिग्रह-संश्लेष-पराङ्मुखी वृत्तिः॥[६७]

—"चन्द्रमा कुमुदों को और सूर्य कमलों को ही खिलाता है।" "संयमी लोगों का व्यवहार परनारी के आलिंगन से पराङ्मुख होता है।" इस सूक्ति से प्रतीत होता है कि आदर्श पति पर-नारी के प्रति संयत रहता था। इसके साथ ही अनेक पत्नी होने पर सभी के प्रति अपने कर्तव्य का पालन भी करता था। राजा पुरुरवा उर्वशी के प्रति आसक्त होने पर नागरिकों के इस व्यवहार का उल्लेख करता है—"अन्य पर प्रेमासक्त नागरिक (कुशल) लोग अपनी पत्नी के प्रति अधिक उदारता का व्यवहार करते हैं।"[६८] इसमें राजा ही नहीं सभी चतुर जनों के व्यवहार का इंगित है। अत: राजाओं के अतिरिक्त सामान्य नगरवासी[६९] भी पत्नीव्रत के पालनार्थ सभी पत्नियों का ध्यान रखा करते थे।

(iii) **पत्नीद्रव्य-त्याग**—हर विवाहिता स्त्री के पास कुछ व्यक्तिगत सम्पत्ति होती थी जिसे स्त्रीधन कहा जाता था। याज्ञवल्क्य-स्मृति में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है कि यह क्या होता है और इसका उपयोग परिवार के लिए कब हो सकता है।[७०] वहां सामान्यतया पति द्वारा इसका ग्रहण निषिद्ध है। परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में यह ग्राह्य हो सकता है और तब इसे स्त्री को लौटाने की आवश्यकता नहीं।[७१] परन्तु मनु[७२] के समान ही कवियों को पुरुष द्वारा स्त्रीधन का ग्रहण एकदम अरुचिकर लगता है। शूद्रक ने ऐसे पुरुष की, जो स्त्रीधन लेकर काम चलाता है, स्पष्ट निन्दा की है। अपनी पत्नी को रत्नावली देते देखकर चारुदत्त सन्तप्त हो उठता है—**आत्मभाग्यक्षतद्रव्य: स्त्रीद्रव्येणानुकम्पित:। अर्थत: पुरुषो नारी, या नारी साऽर्थत: पुमान्॥**[७३]—"जिस पुरुष का अपने भाग्य का (या अपने भाग्य से) द्रव्य नष्ट हो चुका है और जो स्त्री के धन से अनुकम्पित होता है वह पुरुष यथार्थ में (धनाभाव के कारण) नारी है, और उसकी नारी वास्तव में (धन के कारण) पुरुष।"[७४]

(iv) **पत्नी-प्रेम**—भवभूति ने पत्नी-प्रेम को राम के माध्यम से प्रस्तुत किया है। लव और कुश के सम्पर्क में पहुंचकर राम अधिक उत्कण्ठ हो उठते हैं और तब उन्हें सीता की स्मृति आ जाती है—**जगज्जीर्णारण्यं भवति च कलत्रे ह्युपरते।**[७५]—"पत्नी के मर जाने पर (पति के लिए) यह संसार उजड़े जंगल सा रह जाता है।" यद्यपि पति को दूसरा विवाह करने की अनुमति दी गई है[७६] परन्तु मृत पत्नी के प्रति अथाह प्रेम दूसरे विवाह में बाधा बन जाता है। ऐसे प्रेम को कवियों ने यथाशक्ति सराहा है। कवि भास भी 'स्वप्नवासवदत्त' में वासवदत्ता के लिए उदयन के प्रेम का पुन:-पुन: प्रदर्शन कर यही भाव द्योतित करते हैं।

४. माता-पिता और सन्तान (सामान्य सम्बन्ध)

परिवार-संस्था को जीवित रखने के उद्देश्य से उसके साथ वंश-संवर्धन की भावना को जोड़ दिया गया है। इसलिये हर परिवार में सन्तति की कामना रहती है। बिना सन्तति के परिवार की कल्पना नहीं हो सकती। जब तक विवाहित युगल—पति और पत्नी, सन्तान आने पर माता-पिता की श्रेणी में नहीं पहुंच जाते तब तक उनका

परिवार अपूर्ण माना जाता है। अपनी सन्तति के प्रति माता-पिता दोनों के हृदय में जो कामनाएं और भावनाएं होती हैं, उनके प्रति जो व्यवहार होता है उसमें उनका जनकत्व ही मुख्य कारण है। सन्तति से उनके कुछ सामान्य सम्बन्ध होते हैं जिनका संकेत इस अनुच्छेद में किया जा रहा है।

(क) **सन्तति-कामना**—सन्तति-कामना के मुख्य कारण की ओर कालिदास की एक सूक्ति इंगित करती है। राजा दिलीप पुत्र न होने से अत्यन्त सन्तप्त हैं। अतः अपने गुरु वशिष्ठ से इसका उपाय पूछने जाते हैं। पुत्राभाव में तपस्या और दान के पुण्य को भी तुच्छ बताते हुए वे अपना सन्ताप इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे।

—"तपस्या और दान से अर्जित पुण्य केवल परलोक में सुखकर होता है, परन्तु शुद्ध-वंश में होने वाली सन्तान परलोक में और इस लोक में भी सुखकर होती है।" यहां शुद्धवंश में उत्पन्न सन्तति-मात्र (पुत्र-या-पुत्री) को ऐहिक और पारलौकिक कल्याण का निमित्त कहा गया है। किन्तु शास्त्र एवं साहित्य में भी ('पुत्र') को ही अधिक महत्ता दी गई है, जिसका विवेचन विस्तार से आगे[७८] किया जाएगा। और, वस्तुतः कालिदास भी पुत्र को ध्यान में रखते हुए ही सन्तति शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, क्योंकि वे इस प्रसंग में राजा दिलीप को श्राद्ध के लिए बहुत चिन्तित दिखाते हैं।

(ख) **सन्तति-रक्षा**—सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् उसका यथोचित भरण-पोषण माता पिता का मुख्य कर्त्तव्य है। भवभूति ने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है। वनवासी राम और लक्ष्मण की देखभाल पर जटायु को नियुक्त करते हुए उसका अग्रज सम्पाति कहता है—**निपुणमनुपाल्या हि शिशवः**[७९]। "बच्चों का पालन कुशलता से करना चाहिए।" बच्चे अपने आप ही बड़े नहीं हो जाते, उनकी देखभाल करना बड़ों का कर्त्तव्य हो जाता है। इस सूक्ति में माता-पिता की ओर सीधा संकेत नहीं है और यहां इस कर्त्तव्य को अपना समझने वाले पिता के मित्र-मात्र हैं। पर यह तो सर्वविदित ही है कि प्रथमतः माता-पिता का कर्त्तव्य बच्चों के प्रति है, और उनके न होने की स्थिति में (जैसे यहां दशरथ के स्वर्गवास पर) यह कर्त्तव्य किसी अन्य (संरक्षक) का हो सकता है।

केवल आपत्तियों से ही नहीं धर्मनाश से बचाना भी माता-पिता तथा बड़े लोगों का कर्त्तव्य है। भवभूति ने इस ओर भी निर्देश किया है—**गुरुभिरेव शिशवो धर्मलोपात् पालनीयाः (पालयितव्याः)**।[८०] —'गुरुजन द्वारा ही शिशुओं की धर्मनाश से रक्षा की जानी चाहिए।" इस सूक्ति से पिता तथा आदरणीय सम्बन्धियों[८१]—सब पर यह उत्तरदायित्व डाला गया है कि बच्चों को कर्त्तव्यभ्रष्ट न होने दें।

(ग) **ममता**— ममता का भाव है – किसी वस्तु के प्रति अपनेपन की भावना होना। माता पिता में अपने और सपुत्र के प्रति तो वात्सल्य के साथ-साथ ममता होती ही है, किन्तु कभी-कभी किसी दत्तक आदि पुत्र के प्रति या किसी अन्य के प्रति भी ममता हो

जाती है, और वे उसके पालन-पोषण में रत हो जाते हैं। साधारणतया अपनी पाली-पोसी वस्तु, अपने द्वारा आश्रय दिये हुए व्यक्ति आदि के प्रति यह ममताभाव हो जाया करता है। जिसके प्रति यह भाव हो जाता है यदि वह आगे चलकर हानिकर या अपराधी भी सिद्ध होता है तो भी उसका विनाश तो क्या उसकी तनिक भी हानि सहन करना असह्य हो जाता है। साधारण मानव के ही नहीं, स्वयं प्रजापति ब्रह्मा के भी इस प्रकार के ममत्व का चित्रण करते हुए ऐसे ही भाव को व्यक्त करनेवाली एक सूक्ति कवि कालिदास ने कही है—**विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्**[८२]—"अपने आप से बढ़ाये हुए विषवृक्ष को भी स्वयं काटना उचित नहीं"। अपने से भिन्न शरीर से उत्पन्न राक्षस जैसे प्राणी के लिये केवल वर देने का सम्बन्ध होने के कारण ब्रह्मा के हृदय में भी करुणा जाग सकती है तो अपने शरीर से उत्पन्न सन्तति के लिये वात्सल्य कैसा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।

(घ) वात्सल्य—बाणभट्ट ने भी स्वयं लगाये वृक्षों के प्रति कालिदास के समान ही[८३] वात्सल्य दर्शाया है। अपने पुत्र वैशम्पायन को दोष देने वाले शुकनास से राजा तारापीड कहता है—**स्वयमारोपितेषु तरुषु यावदुत्पद्यते स्नेहः, किं पुनरङ्ग-सम्भवेषु अपत्येषु!**[८४] 'अपने आप रोपे हुए वृक्षों से भी स्नेह हो जाता है, फिर अपने शरीर से उत्पन्न सन्तान पर तो क्या कहना!'

यहां यद्यपि बाण ने बड़े सीधे शब्दों में कहा है तथापि औचित्य अनौचित्य का ध्यान रखते हुए एक ऐसी मार्मिकता से कहा है कि यह कालिदास की सूक्ति से भी अधिक प्रभावोत्पादक हो गयी है। कालिदास की सूक्ति (कुमारसंभव—वाली, रघुवंशीय उपमा से यह तुलना नहीं है) व्यञ्जनापूर्ण अवश्य है, परन्तु उसमें एक अवांछनीय तत्त्व के, 'विष-वृक्ष' के विनाश का अनौचित्य, अर्थात् उसके सम्वर्धन का औचित्य स्थापित किया गया है। इससे सूक्ति की ग्राह्यता या प्रभावोत्पादकता कम हो गई है। इसीलिए उसे प्रेम भरे 'वात्सल्य' से पृथक् मोहाधिक्य वाली 'ममता' के रूप में ऊपर देखा गया है।

माता-पिता पुत्र की रक्षा में क्यों तत्पर रहते हैं? विश्लेषण करने से प्रतीत होता है कि एक स्वाभाविक मनोवृत्ति के कारण वे ऐसा करते हैं। सन्तान के पालन व रक्षा की यह मनोवृत्ति पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है। सामान्य रूप से इसे वात्सल्य नाम दिया जाता है। मनोवैज्ञानिक मैग्डूगल ने मानव में मृदुता की मनोवृत्ति (tender emotion) को पितृ-प्रेम या मातृ-प्रेम के मूल में माना है[८५], जबकि सूक्तियों में अपनत्व की अनुभूति को (ममता को) अधिक महत्त्व दिया गया है।

(i) पारस्परिक प्रेम का जनक—वात्सल्य-प्रेम की पराकाष्ठा का एक चित्र 'उत्तर रामचरित' में मिलता है। सन्तान की स्मृति-मात्र से सीता के स्तनों में दूध भर आता है। तब तमसा कह उठती है—**प्रसवः खलु प्रकृष्टपर्यन्तः स्नेहस्य**[८६]—"सन्तान स्नेह की उत्कृष्टतम सीमा है।" इस सूक्ति में वात्सल्य को स्नेह के सर्वाधिक घनीभूत रूप में देखा गया है। एवंच, सन्तान माता-पिता को एक दूसरे के और अधिक निकट लाकर[८७] एक महत्त्वपूर्ण कार्य करती है—

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयम् अपत्यमिति बन्ध्यते (पठ्यते) ॥[८८]

—"पति-पत्नी के स्नेह का एकाधार होने के कारण सन्तान मानो उनके अन्तःकरण के तत्त्वों की एक आनन्द-ग्रन्थि बांधी (कही) जाती है ।" इस प्रकार सन्तान के प्रति माता-पिता का वात्सल्य जहां उनके हृदय को आह्लाद देता है वहां उनके दाम्पत्य सम्बन्ध को और अधिक दृढ बनाता है ।

(ii) वशीकरण शक्ति—वात्सल्य की तीव्र शक्ति का अनुभव भवभूति ने सर्वाधिक किया है । वे कहते हैं कि अकेला वात्सल्य ही सब इन्द्रियों को अपने अधिकार में कर लेता है । मानों यह उनके लिए वशीकरणचूर्ण की एक मुट्ठी है ।[८९] सामान्यजन तो इससे कहां बचेंगे जब बड़े-बड़े महात्मा भी इसके आधीन हैं—महात्मानोऽपि वात्सल्य-परतन्त्राः ।[९०]

(iii) सन्तान के विषय में ज्ञान कराने वाला—इस वशीकरण-शक्ति के अतिरिक्त वात्सल्य की एक क्षमता और है । इसी के कारण माता-पिता अपने बच्चों के कार्य और स्वभाव पर सूक्ष्म दृष्टि रखते हैं तथा उनसे भलीभांति परिचित हो जाते हैं । इसीलिए भास के अनुसार—

कथं पण्डित ! कूलेषु भ्रान्तानां बालचापलम् ।
नाभिजानन्ति वत्सानां शृङ्गस्थानानि गोवृषाः ॥[९१]

—"नदी-तीरों पर घूमते हुए बछड़ों द्वारा निर्मित सीगों के चिह्नों और अपने बच्चों की चपलता को क्या गौ और बैल नहीं पहचान लेते ?" पशु भी अपनी सन्तान के कामों को जानते हैं तो मनुष्य क्यों नहीं जानेंगे ? अपनी सन्तान के अत्यन्त प्रिय और निकट (dearest and neasrest);[९२] होने के कारण माता-पिता उनके व्यवहार; विशेषताओं और कार्य करने के प्रकारों को जानते हैं । बच्चों के सम्बन्ध में उनका यह आन्तरिक ज्ञान उनके कर्त्तव्य से और वात्सल्य से भी प्रेरित है तथा अति-सम्पर्क के कारण सशक्त हो जाता है ।

(iv) पुत्र-पुत्री दोनों पर—अपनी सन्तान को माता-पिता हर समय अपने नेत्रों के सामने रखना चाहते हैं । इसलिए पुत्र कार्तिकेय को देखने के लिए माता पार्वती सहस्रों नेत्रों की कामना करती हैं । इस पर कवि कहता है—नन्दनालोकनमङ्गलेषु क्षणं-क्षणं तृप्यति कस्य चेतः ?—"पुत्र को हर समय देखने के शुभ कार्य से किसका चित्त तृप्त होता है ?" पुत्र से बिछुड़कर वात्सल्य-पीड़ित राजा शुद्धोधन के विलाप में यह सूक्ति आती है—प्रियेण पुत्रेण सता विनाकृतं कथं न मुह्येद्धि मनो मनोरपि ?[९४]—"प्रिय और अच्छे पुत्र से वियुक्त होकर मनु का मन भी कैसे मोहित न हो ?" यहां 'पुत्र' में एक शेष मानना ही उचित है, क्योंकि पुत्री से बिछुड़कर तो कण्व सरीखे ऋषि भी 'स्तम्भित-वाष्प-वृत्ति-कलुष-कण्ठ' हो जाते हैं । वात्सल्य में पुत्र पर ही नहीं पुत्री पर भी ऐसी ही दृष्टि रहती है । यह भेद नहीं रहता कि किस पर विशेष प्रेम किया जाए । इसलिए सूक्तियों में जहां पुत्र पर वात्सल्य स्पष्ट है वहां पुत्री पर भी वात्सल्य का अभाव

नहीं है। कालिदास ने रघुवंश में दिखाया है कि अनेक पुत्र होने पर भी गिरिराज को अपनी सन्तान में से उमा ही सर्वाधिक प्रिय थी। कवि कहता है कि इस पर आश्चर्य का कोई कारण नहीं क्योंकि किसी पर भी माता-पिता को विशेष प्रेम हो सकता है—**अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा।**[६५]—"अनेक पुष्पों से पूर्ण मधुमास में भी भ्रमरपंक्ति रसाल में ही विशेष आसक्ति[६६] रखती है।"

(v) **बालक-मात्र पर**—अपनी सन्तति पर तो वात्सल्य उमड़ता ही है, अपने सम्बन्धियों की सन्तान पर या बालक मात्र पर भी होता है। परिवारों के आपसी संघर्ष में प्रायः बालकों को उसकी कटुता से पृथक् ही रखा जाता है। भास ने एक ऐसा ही मार्मिक प्रसंग उपस्थित किया है। 'पञ्चरात्र' में अभिमन्यु को युद्ध में पकड़ा गया जान कर सुयोधन सन्तप्त हो उठता है—**सति च कुलविरोधे नापराध्यन्ति बाला:**[६७]—"कुलों का विरोध होने पर बालक तो अपराधी नहीं माने जाते।" इस सूक्ति से वह अपने शत्रु पाण्डवों के पुत्र अभिमन्यु के प्रति वात्सल्य प्रकट करता है। कहना न होगा कि यह भावना हृदय की उदात्तता में ही जागती है, अत्यन्त क्रोधान्ध व्यक्ति के व्यवहार में इससे भिन्नता ही पाई जाती है। हां, जहाँ तक बाल-क्रीडाओं का प्रश्न है वे तो सभी के मन में एक बार सरसता का संचार कर ही देती हैं। कालिदास ने इसे स्वीकारा है—**मुदे न हृद्या किमु बालकेलि: ?**[६८]—"क्या हृदयहारी बालखेला प्रसन्नता नहीं देती ?" यद्यपि कार्तिकेय की बाललीलाओं को देखकर प्रसन्न होने वाले शिव-पार्वती पर कवि ने यह सूक्ति कही है, तथापि निस्सन्देह बाल-मात्र की मनोहारिता का इसमें संकेत है। यह कहा जा सकता है कि शिशु-मात्र पर एक स्नेह उमड़ता है और वह वात्सल्य का व्यापक रूप होता है।

इस प्रकार वात्सल्य को एक शक्तिशाली मनोभाव के रूप में सूक्तिबद्ध किया गया है। सन्तति के प्रति माता-पिता में मुख्य रूप से, और बालक के प्रति सब में सामान्य रूप से इसका अस्तित्व स्वाभाविक माना गया है। पारिवारिक सम्बन्धों में इसका स्थान अपरिहार्य है।

५. पिता

गत अनुच्छेद में माता-पिता का सामान्य व्यवहार देखा जा चुका है। यहाँ पिता का व्यवहार और परिवार में उसकी विशिष्टता पर प्राप्य सूक्तियों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) **पिता की संग्रह-वृत्ति**—सभी मनुष्य भविष्य के लिए धन-संचय करते हैं। किन्तु पिता द्वारा संग्रह-वृत्ति अपनाने के पीछे अपनी सन्तान के लिए बचत करने की भावना भी कार्य करती है। अपने व्यक्तिगत उपयोग के अतिरिक्त पिता का धन मुख्यतः बच्चों के लिए होता है। भास की दृष्टि इस भावना के प्रति आलोचनात्मक प्रतीत होती है—**पुत्रापेक्षी वञ्च्यते सन्निधाता।**[६९]—"पुत्र के लिए जोड़ने वाला ठगा जाता है।" इस सन्दर्भ में हिन्दी की यह लोकोक्ति स्मरण हो आती है—"पूत सपूत तो क्यों धन-संचय ? पूत कपूत तो क्यों धन-संचय ?" यद्यपि यह ठीक है कि पिता की सम्पत्ति

अधिकतर पुत्रों के अकर्मण्यता की ओर ले जाती है तथापि इससे पुत्र के प्रति ममता और वात्सल्य के कारण उसके उपयोगार्थ संग्रह करने की पिता की स्वाभाविक भावना तो कम नहीं होती। तदर्थ पिता कठोर परिश्रम करता है। पुत्र के समर्थ होने पर ही उसे कुछ विश्राम मिल पाता है—

सर्वः कल्ये वयसि यतते लब्धुमर्थान् कुटुम्बी।
पश्चात् पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय॥[१००]

—"सभी गृहस्थीजन प्रारंभिक वय में धन-प्राप्ति का यत्न करते हैं। वाद में पुत्रों द्वारा भार ले लेने पर वे विश्राम पाने में समर्थ होते हैं।"

(ख) पिता की आज्ञा—परिवार का मुखिया होने के कारण पिता को कुछ विशेषाधिकार देना आवश्यक हुआ। धर्मशास्त्रों में भी कुछ विशेषाधिकार दिये गए हैं। जैसे 'दाय-भाग' के समय।[१०१] सूक्तियों में भी उसके अधिकार को प्रकट किया गया है। सन्तति के लिए पिता की आज्ञा सर्वोपरि है ऐसा कई कवियों ने स्वीकार किया है। बाणभट्ट के अनुसार—गरीयसी गुरोराज्ञा प्रभवति देह-मात्रकस्य।[१०२]—"पिता की गरिमापूर्ण आज्ञा समस्त शरीर की अधिकारिणी है।" भाव यह कि यदि पिता शरीर भी चाहे तो सन्नान को दे देना चाहिए। इससे पिता की आज्ञा की महत्ता स्थापित होती है। हर्ष का विचार भी इसी के अनुरूप है—वरं तातज्ञैवानुष्ठिता।[१०३]—"पालन की हुई पिता की आज्ञा ही कल्याणकारी होती है।" इससे यह भाव भी व्यक्त होता है कि पिता की आज्ञा के उल्लंघन से अनिष्ट होता है।

पिता के समान ही अन्य सभी गुरुजनों की और विशेषकर संरक्षकों की आज्ञा परिवार में छोटे लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसी विचार से लक्ष्मण राम की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए सीता को वन में छोड़ने के लिए तत्पर हो गए। अतः—आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।[१०४]—"गुरुजन की आज्ञा विचारणीय नही होती", वह तो पालनीय होती है। यहां 'अविचारणीय' शब्द से ऐसा विदित होता है कि बड़ों की आज्ञा-पालन का भाव उस चरम सीमा तक पहुंच गया था जिसमें उसके औचित्य अथवा अनौचित्य का विचार करना भी अयुक्त समझा जाता था। फलतः यहां रघुकार ने लक्ष्मण को परशुराम के द्वारा पिता की आज्ञानुसार माता के वध का स्मरण कराया है, तथा यह ध्वनित किया है कि सीता-परित्याग को अनुचित समझते हुए भी लक्ष्मण बड़े भाई के आदेश से वैसा करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

६. माता

(क) वरदायिनी—परिवार में पिता के पश्चात् माता का स्थान आता है। जहां पिता पुत्र के लिए शक्ति और अधिकार का प्रतीक है वहां माता स्नेह और कर्त्तव्य का। बच्चों के पालन पोषण का कार्य माता ही निभा सकती है, जिसके अभाव में पला व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है। माता के इन विशिष्ट गुणों के कारण उसके प्रति अपार

स्नेह के साथ-साथ अमिट श्रद्धा भी उत्पन्न होती है। भास की दृष्टि में – माता किल मनुष्याणां दैवतानां च दैवतम्।[१०५]—"माता तो मनुष्यों की ही नहीं देवताओं की भी देवता है।" भास की यह भावना उपनिषदों के "माता को देवता मानने वाला बन"[१०६], इस आदेश से मेल खाती है। उन्होंने माता में देवत्व की कल्पना निराधार नहीं की है। वे उसकी क्षमताओं से परिचित हैं—हस्तस्पर्शो हि मातॄणामजलस्य जलाञ्जलिः[१०७]। "माताओं के हाथ का स्पर्श जलविहीन के लिए जलाञ्जलि के समान है।" माता अपने निश्छल और सशक्त वात्सल्य से परिपूर्ण कोमल स्पर्श से यदि पुत्र की मूर्छा भंग कर सके तो इसे उसकी वरद शक्ति ही कहा जाएगा।

(ख) मातृ-हृदय—माता का हृदय अपनी सन्तति के प्रति विशेष कोमल होता है। यहां उसमें और पिता में कुछ अन्तर है। पिता का क्षेत्र मुख्यतः घर से बाहर का है और माता का मुख्यतः घर के भीतर का। अतः माता व्यावहारिक या आर्थिक दृष्टिकोण नहीं रखती। साथ ही कोमल-भाव की अधिकता के कारण क्षमाशील अधिक होती है—का नाम माता पुत्रकस्यापराधं न मर्षयति?[१०८]—"कौन माता अपने पुत्र के अपराध को क्षमा नहीं करती?" यहां पुत्र के साथ-साथ पुत्री के प्रति भी माता की क्षमाशीलता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैसा आगे की सूक्तियां बताती हैं, माता का स्नेह पुत्री के प्रति कुछ विशिष्ट ही होता है।

(अ) पुत्री के प्रति—माता के हृदय में वात्सल्य का सागर पुत्र और पुत्री दोनों के लिए ही हिलोरें लेता है। परन्तु भास का विचार है—दारिकासु स्त्रीणामधिकतरः स्नेहो भवति।[१०९]—"स्त्रियों को पुत्री पर अधिक प्रेम होता है।" कह नहीं सकते कि इसमें कहां तक सचाई है, परन्तु इतना सर्व-विदित है कि कन्यादान का प्रसंग माता के लिए कितना कष्टकर होता है—दुहितुः प्रदानकाले दुःखशीला हि मातरः।[११०] "कन्यादान के समय माताएं अत्यन्त दुःख-सन्तप्त होती हैं।" उस विषय में उनका मन ऐसी द्विविधा में पड़ा होता है कि उनके लिए सिवाय मनस्ताप अनुभव करते रहने के और कोई उपाय नहीं रहता—

> अदत्तेत्यागता लज्जा दत्तेति व्यथितं मनः।
> धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता दुःखिताः खलु मातरः॥[१११]

—"'कन्या नहीं दी' इस बात पर लाज आती है और 'देदी' ऐसा सोचकर मन व्यथित होता है। इस प्रकार धर्म और स्नेह के बीच पड़ी माताएं वास्तव में दुःखी रहती हैं।"

(आ) पुत्र के प्रति—जिस प्रकार इन सूक्तियों में भास ने माता का विशेष प्रेम पुत्री के लिए दर्शाया है उसी प्रकार कालिदास ने पुत्र के प्रति माता के वात्सल्य का चित्रण किया है। अपने पुत्र कार्त्तिकेय को पाकर हर्षातिरेक में पार्वतीजी का ध्यान गंगा, अग्नि और कृत्तिकाओं के प्रणाम की ओर नहीं गया। स्पष्ट है—पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात्?[११२]—"पुत्र-सम्बन्धी आनन्द-प्रसंग में कौन मां हर्ष-विभोर नहीं हो उठती?" इसी प्रकार कार्त्तिकेय के देवताओं का सेनानी चुने जाने पर भी वे फूली न सम

—सुत—विक्रमे सति न नन्दति का खलु वीरसूः ?[११३]—"पुत्र के विक्रम पर कौन वीर-प्रसविनी आनन्दित नहीं होती ?" वीर सन्तान को जन्म देना माता के लिए भारत में बहुत मान का कारण रहा है। आशीर्वचनों में स्त्री को "वीरप्रसविनी भव" कहा जाता है। अतः पुत्र-जन्म पर उसके भावी वीरत्व की कल्पना भी माता को आह्लादित करती है।

पुत्र का जन्म और उसकी उन्नति ये दोनों बातें सारे परिवार के लिए ही हर्ष-कारी होती हैं। पर जहां तक माता के हृदय का प्रश्न है उसका वात्सल्य पुत्र और पुत्री दोनों पर समानरूपेण सरसता है। पुत्र जहां परिवार में अपनी सतत विद्यमानता से वात्सल्य का पात्र बनता है, वहां पुत्री अपने वास्तविक या कल्पनीय विछोह द्वारा माता के वात्सल्य-भाव को जगा देती है।

७. पुत्र

जिस प्रकार सन्तति के बिना परिवार को, उसी प्रकार पुत्र के अभाव में सन्तति को अपूर्ण माना जाता है। कोई भी व्यक्ति जब सन्तति की कामना करता है तो पुत्र को ही प्राथमिकता देता है। इसके पीछे वंशसम्वर्धन की भावना के साथ ऐसी अनेक आशाएं जुड़ी होती हैं जिन्हें पुत्र ही पूरा कर सकता है।

(क) पुत्र से आशाएं—भास ने माता-पिता की पुत्र पर निर्भर आशाओं का संकेत किया है। पिता के कार्यों में पुत्र ही मुख्यतः सहायक हो सकता है। भीम आशा करते हैं कि उनका पुत्र घटोत्कच धृतराष्ट्र के पुत्रों-रूपी वन को भस्मसात् करने वाली अग्नि का काम करेगा। कारण—पुत्रापेक्षीणि खलु पितृहृदयानि।[११४]—"पिता का हृदय अपने पुत्र पर आशाएं बांधा ही करता है।" पुत्र से जो अनेक आशाएं की जाती हैं उनमें एक यह भी है कि वह वंश की मर्यादा का पालन करेगा और यदि वंश में वीरता की प्रथा रही है तो वह भी शौर्य-पराक्रम का प्रदर्शन करेगा।[११५] इतना ही नहीं पूर्वजों से भी कुछ श्रेष्ठतर कर्म करके दिखाएगा। अश्वघोष मानते हैं कि—"अवस्था और वंश कोई मापदण्ड नहीं। कोई भी, कहीं भी संसार में श्रेष्टता पा लेता है। राजाओं और ऋषियों के पुत्रों ने ऐसे-ऐसे कार्य किये हैं जो पुरखों ने भी नहीं किये।"[११६]

हर परिवार में पुत्र से अनेक आशाएं की जाती हैं और उसमें हर प्रकार की उत्कृष्टता देखने के लिए परिवार उत्सुक रहता है। पुत्र को अपने से भी श्रेष्ठतर देखने की पिता की अभिलाषा भी सर्वविदित है। कहते भी हैं कि पुत्र और शिष्य से हारकर भी हर्ष होता है।[११७] इस प्रकार माता-पिता केवल पुत्र से ही कुछ आशाएं करते हैं, पुत्री के प्रति तो वे कर्त्तव्य-भावना से ही भरे होते हैं।[११८]

लौकिक आशाओं के अतिरिक्त कुछ पारलौकिक कृत्य भी पुत्र द्वारा सम्पन्न होने का विश्वास भारतीय परिवार की परम्परा का अंग है। रघुकार के राजा दिलीप इसी-लिए 'अन्य ऋण' से दबे हैं कि निष्पुत्र होने से पूर्वजों का श्राद्ध भविष्य में कौन करेगा? बाणभट्ट के शब्दों में भी—अपुत्राणां किल न सन्ति लोकाः शुभाः।[११९]—"निपूतों को अच्छे लोक नहीं मिलते।" 'पुत्र' की व्युत्पत्ति भी इस आधार पर की जाती है—

"अत्यधिक रक्षा करने वाला नरक से बचाने वाला[१२०]।" मनु[१२१] भी इसका समर्थन करते हैं। याज्ञवल्क्य[१२२] तो स्त्री को इसी के लिए मानते हैं। इस पारलौकिक विश्वास के कारण भारतीय माताएं पुत्र-प्राप्त्यर्थ अनेक उपाय करती हैं। अथर्ववेद में बताए अनेक उपचारों में से कुछेक बाणभट्ट ने इसी प्रसंग में विलासवती द्वारा किये गये उपायों के वर्णन में दर्शाये हैं।

(ख) **सुपुत्र-कामना**—आशाओं का केन्द्र होने के कारण पुत्र ही हर परिवार का अभिलषणीय होता है। अश्वघोष इस कामना का स्पष्ट आख्यान करते हैं—**शमेप्सवो ये भुवि सन्ति सत्त्वाः पुत्रं विनेच्छन्ति गुणं न कञ्चित्।**[१२३]—"संसार में जितने प्राणी शान्ति के इच्छुक हैं वे सब पुत्र के बिना किसी गुण[१२४] की इच्छा नहीं करते।" अतः कुटुम्बी के लिए पुत्र-प्राप्ति से बढ़कर कोई प्राप्ति नहीं। पर इस पुत्र-कामना के साथ यह कामना भी जुड़ी है कि पुत्र सुपुत्र हो, क्योंकि पुत्र परिवार के लिए जीवन-मरण का प्रश्न होता है। वही कुल का तारक भी हो सकता है, मारक भी। भास ने कुपुरुष द्वारा वंश का नाश बताकर सुपुत्र का महत्त्व दिखाया है—

शुष्केणैकेन वृक्षेण वनं पुष्पित-पादपम्। कुलं चारित्रहीनेन पुरुषेणेव दह्यते।[१२५]

—"चरित्रहीन पुरुष से जैसे कुल वैसे ही सूखे वृक्ष से पुष्पित वृक्षों वाला वन भस्म हो जाता है।" अतः वंश को नष्ट होने से बचाने वाला और उन्नति का कारण सुपुत्र ही है। भर्तृहरि भी सशक्त शब्दों में इसी का प्रतिपादन करते हैं—

परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते?
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।[१२६]

"इस परिवर्तनशील संसार में कौन मरने के बाद (या कौन नहीं मरता और कौन) जन्म नहीं लेता? वास्तव में उसी का जन्म सार्थक है जिससे वंश की उन्नति होती है।" सुपुत्र की प्रशंसा और कुपुत्र की निन्दा पर ये सभी सूक्तियां इस आशय की ओर संकेत करती हैं कि परिवार के लिए पुत्र का होना वांछनीय है, पुत्र के बिना घर श्मशानवत् होता है। यह सब होते हुए भी कुपुत्र न ही हो तो ही अधिक श्रेयस्कर है, और सुपुत्र हो तो इससे बढ़कर कोई वरदान नहीं।

(ग) **पुत्र के कर्त्तव्य**—परिवार के लिए पुत्र का महत्त्व होने के कारण और सुपुत्र में ही माता-पिता की अनेक आशाएं पूर्ण करने की सामर्थ्य होने के कारण पुत्र के कुछ कर्त्तव्य हो जाते हैं। माता-पिता की आज्ञा मानना और उनकी सेवा करना इनमें सर्वप्रमुख है। पीछे माता-पिता की आज्ञा की महत्ता दिखाई जा चुकी है[१२६]। यहां पुत्र की दृष्टि से आज्ञापालन को एक कर्त्तव्य के रूप में देखा गया है। भास ने चित्रित किया है कि वनवास के लिए उद्यत राम के धैर्य को देखकर लोग आश्चर्यचकित रह गये। तब आज्ञाकारी पुत्र होने के कारण राम सोचने लगे—**स्वः पुत्रः कुरुते पितुर्यदि वचः कस्तत्र भो, विस्मयः?**"[१२७] "यदि अपना पुत्र पिता के वचन माने तो भला इसमें क्या आश्चर्य?"

माता-पिता की सेवा करना भी पुत्र का कर्त्तव्य है। यही पुत्र से प्राप्य इहलौकिक सुख हो सकता है। जो लौकिक सुख भी न दे सके उससे पारलौकिक सुख की कामना

करना व्यर्थ होगा। अतः हर्ष के अनुसार सुपुत्र तो—

'तिष्ठन् भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा ?'
'यत् संवाहयतः सुखं हि चरणौ तातस्य, किं राजके ?'
'किं भुक्तेभुवनत्रये धृतिरसौ, भुक्तोज्झिते या गुरोर ?'
'आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्, तत्रास्ति कश्चिद्गुणः ?'[१२६]

"(माता)-पिता के सामने भूमि पर स्थित जितना शोभित होता है क्या उतना सिंहासन पर शोभा देता है ?" "जो सुख पिता के चरण दबाने में है क्या वह राजाओं की सभा के बीच है ?" "क्या तीनों भुवनों के उपभोग का भी वह आनन्द है जो पिता के उच्छिष्ट भोजन में है ?" "हां, पिता को छोड़ने वाले व्यक्ति के लिए राज्य अवश्य कष्टकर है, क्या उसमें कोई गुण (अच्छाई) है ?"

किन्तु इसी प्रकार—यः प्रीणयेत् सुचरितैः पितरं स पुत्रः[१३०]—"अपने अच्छे क्रियाकलाप से जो पिता को प्रसन्न करता है वही सच्चा पुत्र है।" यूं तो इन सूक्तियों में पुत्र का विशेष कर्त्तव्य पिता के प्रति दिखाया गया है, किन्तु परिवार का मुखिया होने के कारण पिता के प्रति कर्त्तव्य-भावना को परिवार से ही सम्बद्ध मानना चाहिए।

(घ) ज्येष्ठ पुत्र—पुत्रों में से मुख्यतः ज्येष्ठ पुत्र पर परिवार की आशाएं केन्द्रित रहती हैं। परिवार की आपत्ति में मुख्य भार उसी पर आ पड़ता है। भास ने 'मध्यमव्यायोग' में पारिवारिक संकट का दृश्य उपस्थित किया है। उस समय परस्पर स्नेहपाश में बंधे सदस्यों के बीच घटोत्कच के साथ जाकर मृत्युमुख में जाने की स्पर्धा-सी छिड़ जाती है। तब ज्येष्ठ पुत्र अपने कर्त्तव्य को पहचान कर कहता है—आपदं हि पिता प्राप्तो ज्येष्ठपुत्रेण तार्यते।[१३१]—"आपत्तिग्रस्त पिता का निस्तार ज्येष्ठ पुत्र के द्वारा ही होता है।" ज्येष्ठ पुत्र से इस आशा का कारण यही हो सकता है कि वय में अन्य पुत्रों से बड़ा होने के कारण उसमें अधिक क्षमता की अपेक्षा स्वभावतः होती है। इसीलिए उसे उत्तम समझा जाता है—ज्येष्ठः श्रेष्ठः कुले लोके पितृणां च सुसंप्रियः[१३२]।—"परिवार और संसार में ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठ माना जाता है और वह पितृजन को अधिक प्रिय होता है।"

इससे भान होता है कि भास के समय ज्येष्ठ पुत्र की उत्कृष्ट स्थिति रही होगी। भास के बाद की सूक्तियों में इस श्रेष्ठता का उल्लेख नहीं मिलता। इसी प्रकार मनु ने ज्येष्ठ के लिए दायभाग में जिस विशेषाधिकार और उद्धार भाग का उल्लेख किया है वह उनके पश्चाद्भावी याज्ञवल्क्य ने स्वीकार नहीं किया है।[१३३] अतः प्रतीत होता है कि भास यदि मनु से प्राचीन नहीं तो उनके समकालीन अवश्य हैं।

८. पुत्री

परिवार के अंग के रूप में पुत्र के समान ही पुत्री का भी स्थान है। परन्तु पुत्र से पुत्री की तुलना की जाए तो दोनों के प्रति परिवार के व्यवहार और भावना में तथा दोनों के महत्त्व और कर्त्तव्यों में समानताओं की अपेक्षा विषमताए अधिक दृष्टिगत होती हैं।

(क) कन्या की रक्षणीयता और पिता की चिन्ता—कन्या के शारीरिक भेद के कारण उसे माता-पिता के संरक्षण[१३४] की आवश्यकता पुत्र की अपेक्षा अधिक होती है। इस कारण जब तक वह विवाहोपरान्त अपने पति के संरक्षण में नहीं पहुंच जाती तब तक पिता को उसकी रक्षा आदि अनेक कर्त्तव्यों की चिन्ता बनी रहती है। अतः भास के अनुसार—कन्या-पितुर्हि सततं बहु चिन्तनीयम्[१३५]।—"कन्या के पिता के लिए लगातार बहुत कुछ चिन्तनीय रहता है।" ज्यों-ज्यों कन्या यौवन में पदार्पण करती जाती है पिता की चिन्ताएं भी बढ़ती जाती हैं। बाणभट्ट इस तथ्य को इन शब्दों में प्रकट करते हैं—

उद्वेगमहावर्त्ते पातयति पयोधरोन्नमनकाले।
सरिदिव तटमनुवर्षं विवर्धमाना सुता पितरम्॥[१३६]

—"पयोधरोन्नति के समय बढ़ती हुई कन्या पिता को उद्वेग में वैसे ही गिरा देती है जैसे वर्षा के बाद मेघोन्नति के समय सरिता कूल को विशाल भंवर में।" यह एक वास्तविकता है जिसे हर कन्या का पिता जानता है।

कालिदास ने एक प्रसंग में ऐसा ध्वनित किया है कि पिता अपनी कन्या की रक्षा के लिए पर्याप्त प्रयत्नशील होते थे। ब्रह्मचारी-वेश में शिवजी पार्वती की तपस्या के विषय में प्रश्न करते हुए ऊहापोह करते हैं कि गिरिराज की पुत्री होने के कारण पिता के घर में उसका अपमान होना भी संभव नहीं था कि उसके प्रतिकारार्थ वह तपस्या कर रही हो, क्योंकि—कः करं प्रसारयेत् पन्नगरत्नसूचये[१३७]।—"मणिधर की मणिशलाका (को लेने) के लिए कौन हाथ बढ़ाएगा?"[१३८] जितनी तत्परता से विषधर अपनी मणि की रक्षा करता है उतनी ही तत्परता से पिता पुत्री की रक्षा करता है। किसी के द्वारा मणि छूने पर जिस प्रकार सांप, उसी प्रकार पुत्री को दूषित करने वाले के प्रति पिता भयंकर हो सकता है।

(ख) कन्या के लिए वर की खोज—कन्या के प्रति पिता का एक मुख्य कर्त्तव्य है—उसके लिए उपयुक्त वर की प्राप्ति। भास दर्शाते हैं कि राजाओं को भी यह चिन्ता सताती थी। उनका विचार था कि—

कन्यायाः वरसम्पत्तिः पितुः प्रायः प्रयत्नतः।
भाग्येषु शेषमायत्तं, दृष्टपूर्वं न चान्यथा॥[१३९]

—"कन्या के लिए श्रेष्ठ वर प्रायः पिता के प्रयत्नों से मिलता है। शेष सब भाग्य के अधीन है। इसके विपरीत तो कभी देखा नहीं।" इसी भांति भवभूति ने भी यह मान्यता व्यक्त की है कि कन्या के लिए पिता को लांघकर कोई कुछ करता है तो भाग्य ही करता है। प्रभवति प्रायः कुमारीणां जनियता दैवं च[१४०]—"कन्याओं पर प्रायः पिता का और भाग्य का अधिकार होता है।" किन्तु इस अधिकार के प्रयोग से पहले हर समझदार पिता कन्या की माता से परामर्श ले लेना आवश्यक समझता है क्योंकि वैसे भी बच्चों के और विशेषतः कन्या के विषय में वही अधिक ज्ञान रखती है। कालिदास के अनुसार—

प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः[१४१] ।—'कन्या के विषय में गृहस्थी लोग प्रायः पत्नी के नेत्रों से देखते हैं।'

पुत्री के लिए गुणी वर पाने का यत्न 'शाकुन्तल' में भी दीख पड़ता है। कण्व ऋषि इसी उद्देश्य की पूर्त्यर्थ तपोवन छोड़ने को बाध्य हुए। 'उन्हें दुष्यन्त-शकुन्तला का विवाह अनुमत ही होगा' इस विचार की पुष्टि में अनसूया यह तर्क देती है—**गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत् प्रथमः संकल्पः तातस्य**[११४] ।—'गुणवान् के लिए कन्या दी जाए यही पिता की पहली इच्छा होती है।' कालिदास की एक अन्य सूक्ति में भी यही भाव है—**अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृ प्रतिपादिता**[१४२] । 'अच्छे वर को दी हुई कन्या पिता के लिए चिन्तनीय नहीं रहती।' इस प्रकार पिता पुत्री के लिए योग्य पति प्राप्त कराना अपना कर्त्तव्य समझता है और सफलता मिलने पर निश्चिन्तता एवं गौरव का अनुभव करता है। आज भी यह सही है, और यद्यपि स्मृतिकारों ने कन्या को स्वयंवरण की छूट दी है,[१४३] तथापि अपने को परम्परावादी मानने वाला आज का हिन्दू समाज कन्या द्वारा चुनाव को बुरा ही मानता है। स्वयंवर को कबसे बुरा माना जाने लगा यह खोज का विषय है।

(ग) **कन्या का पिता समाज की दृष्टि में**—कन्या के पिता के प्रति समाज का व्यवहार भास और भवभूति की सूक्तियों से झलकता है और वह दोनों स्थानों पर एकदम परस्पर विरोधी है। भास के समय—**कन्या-पितृत्वं बहुवन्दनीयम्**[१४४] ।—"कन्या का पिता होना बहुत आदर का विषय है।" इसके विपरीत भवभूति के समय-**साधारण्यान्निरातङ्कः कन्यामन्योऽपि याचते**।[१४५] —"सबके समान अधिकार के कारण[१४६] कन्या को तो सामान्य व्यक्ति भी डरे बिना ही मांगता है।" कन्या के पिता के गौरव और अपनी अयोग्यता का अन्तर न करने का कारण किसी के मन में यही हो सकता है कि कन्या के पिता को जैसे-तैसे कन्या से छुटकारा पाना है और फिर यदि वह किसी प्रस्ताव को अयोग्य समझेगा तो भी समाज में अपनी दुर्बल स्थिति के कारण सरलता से ठुकरा नहीं सकेगा। ऐसी भावना कन्या के पिता के लिए निरादर का कारण बने तो आश्चर्य नहीं।

इन दोनों सूक्तियों की तुलना से यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि भास के समय कन्या का पिता जिस सम्माननीय स्थिति में था वह भवभूति के समय तक समाप्त हो गई थी और उसका अपमान भी होने लगा था।

(घ) **कन्या के प्रति माता-पिता की भावना**—कन्या को माता-पिता जन्म से ही कर्त्तव्य-बुद्धि से पालते हैं। वे जानते हैं कि कन्या बड़ी होगी और अपने पति के घर चली जाएगी, उनके घर तो वह पराई धरोहर-मात्र है। समाज में व्यापकता से दोहराए जाने वाले इस भाव को कालिदास—**अर्थो हि कन्या परकीय एव**[१४७]—"कन्या तो निश्चय ही पराया धन है", इस प्रसिद्ध सूक्ति द्वारा और भवभूति—**कन्यायाश्च परार्थतैव हि मता**[१४८] "कन्या का परायापन तो सर्वसम्मत है", ऐसा कहकर प्रकाशित करते

हैं। यही भाव कन्या की विदाई पर माता-पिता के पुत्री-विछोह के दुःख को हलका करने में सहायक होता है।

पुत्री-वियोग के दुःख से माता-पिता तब बिल्कुल मुक्त हो जाते हैं जब उन्हें उसके पति की ओर से सन्तोष हो जाए। उसके आनन्द में वे सुखी और कष्ट में दुखी होते हैं। कालिदास ने दोनों दृश्य देकर इस पक्ष को प्रस्तुत किया है। शकुन्तला के विरह में पीड़ित दुष्यन्त को विदूषक समझाता है कि—"यदि मेनका शकुन्तला को ले गई है तो शीघ्र ही तुमसे समागम होगा" क्योंकि—**न खलु माता-पितरौ भर्तृवियोगदुःखितां दुहितरं चिरं द्रष्टुं पारयतः**[१४६]।—"पति-वियोग से दुःखी पुत्री को माता-पिता देर तक नहीं देख सकते।" उधर 'कुमारसम्भव' में मैना को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पार्वती शिवजी की प्रिया है। कवि कारण देता है—**भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः**।[१५०]—"भर्ता की प्यारी होकर वधुएं अपनी माता के मानसिक शोक को दूर करती हैं।"

इन सभी सूक्तियों में कन्या के प्रति माता-पिता की स्नेह-भावना छलक रही है। कन्या के कारण होने वाला कर्त्तव्य-भार या उसकी चिन्ता भी आदर्श पिता का वात्सल्य-भाव नहीं छीन पाते। इसलिए माता-पिता के स्नेह से वंचित पुत्री का दृश्य या तत्सम्बन्धी कोई सूक्ति प्रस्तुत संस्कृत काव्य में नहीं मिलती।

६. अन्य पारिवारिक सम्बन्ध

परिवार में माता-पिता और सन्तति के सम्बन्धों के पश्चात् सन्तति के आपसी सम्बन्ध आते हैं, यथा—भाई-भाई। ऐसे सगे सम्बन्धों के बाद कुछ और सम्बन्ध भी हैं जो यद्यपि एक रक्त से सम्बन्धित नहीं होते तथापि अत्यन्त निकट के होते हैं। ये सम्बन्ध अपने रक्त से सम्बन्धित व्यक्ति के विवाह होने पर उत्पन्न होते हैं. जैसे भाई के विवाह पर जेठ-भावज या देवर-भाभी का, बहिन के विवाह पर बहनोई-साले का, और पुत्री के विवाह पर ससुर-दामाद का। इन सम्बन्धों में भी प्रायः अपने परिवार जैसा ही सम्बन्ध होता है, विशेषकर भारत जैसे देश में जहां संयुक्त परिवार की व्यवस्था रही हो। इन निकट-सम्बन्धियों के साथ व्यवहार की स्थिति को दिखाने वाली तथा अन्य सामान्य सम्बन्धियों के व्यवहार को कहने वाली सूक्तियों को यहां एकैकशः दिया जा रहा है।

(क) भाई-भाई—महा कवि भास ने भाई-भाई के प्रेम की आवश्यकता पर बल दिया है और सबसे बड़े भाई को पिता के समान बताया है—**ज्येष्ठो भ्राता पितृसमः कथितो ब्रह्मवादिभिः**[१५१]—"सबसे बड़े भाई को ब्रह्मवेत्ताओं ने पिता के समान बताया है।" सदोहर भाइयों में ही नहीं चचेरे भाइयों में भी इस प्रकार का प्रेम इहलोक और परलोक के लिए श्रेयस्कर समझा जाता था। अतः सुयोधन को पाण्डवों से प्रेम बनाए रखने का परामर्श देते हुए वासुदेव कहते हैं—

'कर्त्तव्यो भ्रातृषु स्नेहो विस्मर्तव्या गुणेतराः।'
'सम्बन्धो बन्धुभिः श्रेयाँल्लोकयोरुभयोरपि ॥'[१५२]

'भाइयों पर स्नेह करना चाहिए, उनके दुर्गुणों को भुला देना चाहिए।' 'बन्धुओं से सम्बन्ध बनाए रखना दोनों ही लोकों में श्रेयस्कर है।' भाई-भाई का प्रेम आदर्श अवश्य है पर एक ही सम्पत्ति का भागीदार होने से भाई-भाई का शत्रु भी हो जाता है, और उस पर तब किसी उपदेश का प्रभाव नहीं होता। यह तथ्य जितना पूर्ण आज है उतना ही भास के समय भी था और महाभारत के समय भी।

(ख) जेठ-भावज, देवर-भाभी—सब भाइयों की पत्नियों से एक सा व्यवहार नहीं किया जा सकता। बड़े भाई की पत्नी से देवर का और छोटे भाई की पत्नी से जेठ का व्यवहार भिन्न प्रकार का होता है। भास की एक ही सूक्ति इन दोनों के अन्तर पर प्रकाश डालती है। न त्वेव हि कदाचिज्ज्येष्ठस्य यवीयसो दाराभिमर्शनम्[१५३]।—'बड़े भाई को छोटे की पत्नी से अशिष्ट व्यवहार[१५४] कभी भी नहीं करना चाहिए।' स्पष्ट है कि समाज देवर को भाभी से मुक्त व्यवहार करने की छूट दे सकता था, जेठ को नहीं।[१५५] देवर से परिहास और जेठ से घूंघट करने की प्रथा आज भी जीवित है। देवर से 'नियोग' की अनुमति स्मृतिकारों ने[१५६] भी दी है। परन्तु 'अभिमर्शन' को सह लेने की स्थिति जो इस सूक्ति से द्योतित होती है स्वयं में विशिष्ट है और विचारणीय भी। शास्त्रकारों ने तो स्पष्ट शब्दों में जेठ और देवर दोनों के ही अनुचित सम्बन्ध की गर्हणा की है।[१५७]

(ग) बहनोई-साला—भारतीय परिवार का एक विशिष्ट सम्बन्ध जीजा-साले का है। इस सम्बन्ध में प्रेम और परिहास का स्थान सर्वविदित है। सदा से ही साला अपने जीजा का प्रेमपात्र रहा है। बाणभट्ट कहते हैं—किं न कृतमुरसि शिलाशकलं कौस्तुभाभिधानं लक्ष्म्याः सहजमिति बहुमानमाविष्कुर्वता भगवता शार्ङ्गपाणिना ?[१५८] —"लक्ष्मी का सहोदर है' इसलिए कौस्तुभ नामक शिलाखण्ड को अत्यन्त आदर देते हुए क्या भगवान् विष्णु ने वक्ष पर नहीं बिठाया ?' पत्नी से सम्बन्धित हर पदार्थ पति को प्रिय होता है, उसके भाई का तो क्या कहना ? इसे व्यावहारिक दृष्टि से भी देखा जा सकता है। पत्नी को सन्तुष्ट रखने के लिए उसके प्रत्येक प्रियजन को सन्तुष्ट रखना आवश्यक जो ठहरा।

(घ) ससुर-दामाद—कन्या के माता-पिता के लिए कन्या का पति अर्थात् जामाता भारतीयसमाज में अत्यन्त सम्माननीय होता है। जामाता के हर सम्बन्धी का ससुर के घर में विशेष आदर होता है। भवभूति ने इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—कन्यायाः किल पूजयन्ति पितरौ जामातुराप्तं जनम्।[१५९]—'कन्या के माता-पिता जमाई के पूज्य व्यक्तियों की निश्चय ही पूजा करते हैं।'

(ङ) स्वजन—सामान्यतः सम्बन्धियों के प्रति उद्गार व्यक्त करने वाली सूक्तियों को परस्पर विरोधी कहा जा सकता है। कुछ में तो स्वजन के दोषों को दर्शाया गया है, जैसे—शरीरेऽरिः प्रहरति हृदये स्वजनस्तथा।[१६०] या स्वजननिभृतः सर्वोऽप्येवं मृदुः परिभूयते।[१६१]—'शत्रु तो शरीर पर प्रहार करता है किन्तु स्वजन हृदय पर।' 'स्वजन पर विश्वास करने वाले सभी कोमल-स्वभाव वाले इस प्रकार दबाये जाते हैं।' इसके विपरीत कुछ सूक्तियों में स्वजन के गुणों का उल्लेख हुआ है, जैसे—किं स्वजनः

प्रियं वर्जयित्वाऽन्यद् भणितुं जानाति[१६२]? या—**आत्मवर्गहितमिच्छति सर्वः।**[१६३]—'क्या स्वजन प्रिय बात को छोड़कर और कुछ बोलना जानता है ?' 'सब कोई अपने वर्ग का हित चाहता है।'

वस्तुतः इन सूक्तियों में स्वजनों के व्यवहार के दोनों पक्ष प्रस्तुत हुए हैं। जब वह प्रहार करता है तब अत्यन्त भयंकर होता है, जैसा कि हिन्दी लोकोक्ति भी बताती है 'घर का भेदी लंका ढावे।' परन्तु जब वह स्नेह करता है तब अत्यन्त प्रिय कार्य करता है और सच्चा हितू होता है।

१०. पारिवारिक विशेषताएं

मानव-सभ्यता के इतिहास-लेखकों ने मानव की सामाजिकता की दृष्टि से तीन युग निर्धारित किये हैं—गण-युग, परिवार-युग तथा व्यक्ति-युग।[१६४] भारतीय समाज का जो चित्र प्रस्तुत अध्ययन से उभरता है वह निश्चय ही परिवार-युग का है। इसलिए आज के उन ख्रिस्तीय देशों के परिवारों से जिनमें कि व्यक्ति-युग प्रारम्भ हो चुका है[१६५] और उनसे प्रभावित नगण्य आधुनिक भारतीय परिवारों[१६६] से तत्कालीन भारतीय परिवार की भिन्नता देखी जा सकती है। पारस्परिक स्नेह, विश्वास आदि पारिवारिक विशेषताएं जो सूक्तियों में निर्दिष्ट हुई हैं, भारतीय परम्परा में पले परिवारों में आज भी उपलब्ध होती हैं।

(क) **बन्धु-स्नेह**—बहुत से कवियों ने बन्धु-स्नेह को अपने काव्य का विषय या उसका महत्त्वपूर्ण अंग बनाया है। सूक्तिरूप में स्नेह की स्वाभाविकता और व्यक्ति में उसकी दृढ़ स्थिति का संकेत हुआ है। भास ने बन्धु-स्नेह के लिए मृत्यु का आलिंगन करना भी अत्यन्त श्लाघ्य बताया है—**बन्धु-स्नेहाद्धि महतः कायस्नेहस्तु दुर्लभः।**[१६८]—"महान् बन्धु-प्रेम की अपेक्षा (अर्थात् किसी निकट सम्बन्धी की रक्षा के स्थान पर) शरीर से स्नेह करना कठिन (दुष्प्राप्य) है।" यहां 'बन्धु' शब्द से परिवार के निकटतम सदस्य अभिप्रेत हैं, जैसे—माता, पिता, पति, भाई आदि।[१६९] एक तो इसलिए कि इस सन्दर्भ में इन्हीं का वर्णन है, दूसरे सभी दूर-दराज के सम्बन्धियों के लिए इतना प्रेम नहीं हो सकता कि उनके लिए मृत्यु का आलिंगन किया जा सके।

बाणभट्ट भी बन्धु स्नेह की बद्धमूलता को स्वीकार करते हैं—**लोके हि लोहेभ्यः कठिनतराः खलु स्नेहमया बन्धनपाशाः।**[१७०]—"संसार में स्नेह के बने बन्धनपाश लोहपाश से भी दृढ़तर होते हैं।" अपने प्रियजन के लिए सब कष्ट सहने की मानसिक पृष्ठभूमि को भी यह सूक्ति स्पष्ट करती है। ये स्नेहपाश ही अपने प्रियजन से विरहित होने पर मनुष्य को सन्तप्त कर देते हैं। करुणरस के प्रभावशाली कवि भवभूति ने प्रिय-विरह के संताप को चित्रित भी किया है और सूक्तिबद्ध भी—**सन्तापकारिणो बन्धुजन-विप्रयोगा भवन्ति।**[१७१]—"बन्धुजनों के वियोग सन्तापकारी होते हैं।"

बन्धु-वियोग का दुःख वियोग-काल के अनुसार कम या अधिक होता है। जब मृत्यु द्वारा स्थायी वियोग करा दिया जाए तब तो दुःख की सीमा ही नहीं रहती। प्रिय-

पत्नी की मृत्यु के सन्ताप का कुछ संकेत पीछे भी[172] किया जा चुका है। ऐसे ही दु:ख की अनुभूति करने वाले राम उस व्यक्ति को इतना सन्तप्त नहीं मानते जिसका प्रिय केवल कुछ दिनों के लिए प्रवासित हुआ हो क्योंकि—

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः।
प्रवासे चाश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः॥[173]

—"प्रवासगत प्रियजन देर तक पुनः-पुनः ध्यान में आकर, कल्पना द्वारा निर्मित और सामने रखा हुआ सा आश्वासन न देता हो, ऐसी बात नहीं है।" अस्थायी-वियोग का दु:ख सहना कठिन नहीं होता पर स्थायी-वियोग असह्य होता है, यही यहां अभिप्रेत है, और इससे बन्धुस्नेह की तीव्रता ही पुष्ट होती है।

(ख) पारस्परिक विश्वास—परिवार की एक विशेषता यह है कि एक परिवार के सदस्य एक दूसरे पर निर्भर करते समय आश्वस्त अनुभव करते हैं। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनमें पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न ही नहीं होते। अवश्य होते हैं और पहले भी होते थे पर आशा की जाती थी कि पारिवारिक मतभेदों को पारिवारिक विश्वास या आप्तजन ही शान्त कर देते हैं। सुयोधन को युधिष्ठिर से मनमुटाव न रखने की शिक्षा देते हुए आचार्य द्रोण कहते हैं—भेदाः परस्परगता हि महाकुलानां धर्माधिकार-वचनेषु शमीभवन्ति।[174]—'बड़े-बड़े कुलों के पारस्परिक मतभेद धर्मगुरुओं[175] के वचनों पर शान्त हो जाते हैं।' पारिवारिक विश्वास का स्पष्ट उल्लेख कालिदास ने किया है—सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति।[176]—'हर कोई अपने सगे सम्बन्धियों पर विश्वास करता है।'

(ग) कुल-विद्या—कई परिवारों में विद्या के किसी एक अंग का ही (जैसे व्याकरण आदि का) अध्ययन परम्परा से होता चला जाता था। इसी प्रकार कुछ परिवार कला-कौशल में भी अपनी-अपनी परम्परागत विशिष्टता बनाए रखते थे। कालिदास ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है। अपनी कुल-विद्या नाट्यकला के प्रति गौरव प्रदर्शित करते हुए गणदास कहते हैं—कामं खलु सर्वस्यापि कुल-विद्या बहुमता[177]।—'सभी का अपनी कुल-विद्या के प्रति विशेष झुकाव होता है।'

एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में विशेष विद्या के हस्तान्तरण का संकेत इससे भी प्राप्त होता है कि जृम्भकास्त्रों की मन्त्रविद्या को भगवान् कृशाश्वने कौशिक के लिए और उन्होंने रामचन्द्र को शिष्य-परम्परा से दिया।[178] प्रतीत होता है कि एक कुल के गुरुओं की कुल-विद्या गुरु-शिष्य-परम्परा से जीवित रहकर परिवार के योग्य सदस्य को प्राप्त होती थी।

(घ) लोकाचार— परिवार वाला होने के कारण प्रत्येक गृहस्थी को परिवार की क्षमता और रीति के अनुरूप लोकाचार का पालन करना पड़ता है—गृहगतैरनुगन्तव्या एव लोकवृत्तय.[179]।—'गृहस्थियों को लोक-व्यवहार का अनुसरण करना ही चाहिए।' पारिवारिक को ही लोकाचार के लिए बाध्य भी किया जा सकता है, इस विचार से सामान्यतया परिवार-विहीन (अनाथ, गृहत्यागी आदि) या अज्ञातकुल वाले

(परदेशी) पर समाज विश्वास नहीं करता है। अतः लोकाचार-पालन परिवार से घना सम्बन्ध रखता है।

(ङ) बड़ों के प्रति पूज्य-भाव—परिवार में कुछ छोटे होते हैं और कुछ बड़े। भवभूति की एक सूक्ति में यह स्थापना की गई है कि परिवार में छोटे-बड़े का ध्यान रखना आवश्यक है। बाली को युद्ध से रोकने की इच्छा होते हुए भी उसका धेवता नेपथ्य से बोलता है और संकोच का यह कारण बताता है—यो गुरुर्गुरेव सः[१७९]—'जो बड़ा है वह तो पूज्य ही है।'

इस प्रकार ये सूक्तियां परिवार-संगठन की सामान्य विशेषताओं को ध्यान में रखकर कही गई हैं, जबकि पिछले अनुच्छेदों में परिवार के सदस्य-विशेष की दृष्टि से कहा गया है।

११. निष्कर्ष

इन सूक्तियों को कहते समय कवियों के मन पर तत्कालीन परिवार के स्वरूप और उसमें ग्रथित विविध भावनाओं का जो प्रभाव पड़ा होगा वह इनमें स्पष्ट परिलक्षित होता है। अतः इनके माध्यम से परिवार-संस्था के विषय में बहुविध तथ्य प्रकाश में आते हैं।

प्रतीत होता है कि सभी युगों में दाम्पत्य-प्रेम, वात्सल्य और बान्धव-स्नेह ही परिवार का संयोजक-तन्तु रहा है जिसमें परिवार के सभी सदस्य—पति, पत्नी, माता, पिता, पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन तथा अन्य सम्बन्धी बंधे रहते हैं। सूक्तियों में इसी प्रेम-तत्त्व को प्रधानता दी गई है, तथा साथ ही सामाजिक-व्यवहार और परम्परा का भी ध्यान रखा गया है। यही कारण है कि विवाह-सम्बन्धी निर्णय में एक ओर जहां पूर्वानुराग को काव्य-परम्परानुसार मान्यता मिली तथा मन की रुचि और प्रेम-तत्त्व का ध्यान रखते हुए स्वयंवर और गान्धर्व-विवाह को भी मान्यता दी गई[१८१] वहां दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टि से माता-पिता का दृढ़ अनुशासन भी[१८२] आवश्यक बताया गया।

पति-पत्नी के सम्बन्ध को गुण, शील की समानता के आधार पर ही स्थायी माना गया पर कई कारणों से, अनुरूप युगल का अभाव स्वीकार किया गया है[१८३]। पति पर आश्रित होने के कारण पत्नी के अनेक कर्त्तव्य गिनाए गए हैं और सौतों के प्रति सद्व्यवहार की आशा की गई है। इसी प्रकार पति से पत्नी का प्रेमपूर्वक भरणपोषण करते हुए उसके धन का आश्रय न लेना अच्छा समझा गया है। जहां पत्नी के लिए परपुरुष-दर्शन और श्रवण तक पर प्रतिबन्ध स्वीकारा गया है वहां पति से भी परनारी के प्रति संयम की अपेक्षा की गई है।

परिवार में सन्तान-प्राप्ति को आवश्यक माना गया है और तदर्थ दो कारणों को सूक्तियों में प्रमुखता दी गई है—१. परलोक और इहलोक में शान्ति तथा २. वात्सल्य-प्रेम। पारलौकिक शान्ति पुत्र पर आधारित मानी जाने के कारण सत्पुत्र को प्राथमिकता दी गई है। पुत्र के बिना सद्गति नहीं होती यह विश्वास भी बद्धमूल था[१८४]। माता-पिता जिस प्रकार सन्तान का पालन पोषण करते हैं उसी प्रकार सन्तान को उनकी सेवा करनी

उचित है। यहां यह उल्लेखनीय है कि पुत्र और पुत्री के प्रति भावना और कर्त्तव्य में विशेष अन्तर था। जहां पुत्र से कई कर्त्तव्यों को निभाने की आशा की जाती थी वहां पुत्री के लिए अनेक कर्त्तव्य निभाने का उत्तरदायित्व स्वयं पिता पर था। कन्या पिता के लिए कर्त्तव्यभार बढ़ाने वाली और चिन्ताओं का कारण थी। समाज में कन्याके पिता का आदर उत्तरोत्तर घटता गया। भास के समय जहां कन्या का पिता आदरणीय स्थिति में था वहां भवभूति के समय उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाने लगा था।[१८५]

पुत्र परिवार की आशा का केन्द्र, और पिता परिवार का नियामक होता है। इसलिए सूक्तियों में इन दोनों के कर्त्तव्यों की चर्चा ही अधिकतर की गयी है। पुत्र का कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह गुरुजन की आज्ञा विना तर्क-वितर्क के शिरोधार्य करे। जो पुत्र ऐसा नहीं करता उसकी निरर्थकता वतायी गयी है। भास के समय समस्त पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र को विशेष महत्ता प्राप्त थी।

अन्य पारिवारिक सम्बन्धों में जेठ-भावज के संयमित सम्बन्ध, देवर-भाभी के मुक्त सम्बन्ध, वहनोई-साले के प्रेम व्यवहार तथा ससुर-दामाद के आदरयुक्त सम्बन्धों का उल्लेख हुआ है। सामान्यत: स्वजनों में गुण और दोष दोनों ही देखे गये हैं। वान्धव-स्नेह, पारस्परिक विश्वास, और वड़ों के प्रति पूज्य भाव को पारिवारिक गुणों के रूप में रखा गया है। परम्परागत कुल-विद्या के प्रति पारिवारिक प्रेम, और परिवार द्वारा लोकाचार निभाने की कुछ विशेषताएं भी संकेतित हुई हैं।

इस प्रकार सूक्तियों में परिवार का जो स्वरूप मिलता है वह तत्कालीन भारतीय परिवारों की परम्परा और व्यवहारों को प्रतिफलित करता है।

□□

संदर्भ-संकेत

१. तुलना कीजिए—"वच्चे के प्रजनन तथा पालन के अतिरिक्त किसी समाज की जीवन प्रवृत्तियों के अनुरूप उसके व्यक्तित्व का निर्माण जोकि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है, परिवार ही करता है।"

—डा० शिवराज शास्त्री : ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध, पृ० १५

२. "Thus the linguistic region, the caste and the family are the three most important aspects of the culture of any group in India."

— Irawati karve, Kinship organisation in India, p. 15

३. मालती० २।२—कामन्दकी, पहले से अनुरक्त मालती और माधव का विवाह चाहती हुई

४. 'गीतश्चायमर्थोऽङ्गिरसा—यस्यां मनश्चक्षुषोर्निर्बन्धस्तस्यामृद्धिरिति।'—वहीं

५. शाकु० ५।२४
६. राघवभट्ट, शाकु० की व्याख्या, पृ० २८६
७. Monier Williams, Śakuntalā by kālidasa, p. 210
८. अवि० १।११ पं० ४—कौञ्जायन, राजा से
९. "वहुषु स्थानेषु सम्भाविन: ।"—आचार्य श्री रामचन्द्रमिश्र, अवि० की व्याख्या, पृ० २४
१०. अवि० १।२, पं० १२, राजा देवी से
११. अवि० १।३
१२. कन्या पर पिता का अधिकार है यह बात इस सूक्ति से तो झलकती ही है, और अधिक स्पष्ट उल्लेख के लिए दे० आगे परि० ४. अनु० ८ (ख)
१३. "...those accepted as masculine are qualities of a dominating character, in other words those appropriate to the ruling sex."
—Kenneth Walker Peter Fletcher, Sex and Society, p. 23
१४. किरात० १०।५०, घूता अर्जुन को योग्य-स्त्री-वरण की प्रेरणा देती हुई
१५. कु० ६।२९ तुलनार्थ—"Let me not to the marriage of true minds admit impedimants."
—S. P. L., p. 86. (shakeshpeare, line 2, under No 199)
१६. "प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता ।"—कु० ६।३२
१७. मालवि० ५।१७—विदूषक
१८. "यत्रानुकूल्यं दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते ।"—याज्ञ० आचाराध्याय ७४
१९. प्रतिमा० १।५ पं० ३१, राम सीता से
२०. रघु० ६।७९
२१. "दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुति: पतिता ।"
—शाकु० ४।३—प्रियंवदा
२२. मालती० ६।१८
२३. "धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत । अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात् ।"
—आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।५।११।१२-१३
२४. 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ।'—अष्टाध्यायी ४।१।३३
२५. श्री काणे ने भारत में प्राचीन काल से ही एक-पत्नीव्रत की मुख्यता होने पर भी बहु-पत्नीप्रथा का अस्तित्व अन्य अनेक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है। देखिए—History of Dharmaśāstra, Vol, II, Part I, p. 550-54
२६. कु० १।५१
२७. 'यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥' —मनु० ९।२२
२८. शाकु० ५।१७

२९. तुलनार्थ—'यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ।' —उत्तर० १।५
३०. रघु० ६।२२
३१. हर्ष च० ८। पृ० २५३। पं० २
३२. शाकु० ५।२६
३३. पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।। —मनु० ९।३
३४. "ऋग्वेद काल में पति को पत्नी पर सब प्रकार की प्रभुता प्राप्त थी और उसे प्रायः सम्पत्ति समझा जाता था।"
—डा० शिवराज शास्त्री—ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध, पृ० ३५८
३५. "पत्नियों की बहुलता स्पष्ट रूप से पुरुष के स्त्री के ऊपर प्रभुत्व पर बल देती है।"
—डा० के० एम० कापड़िया, भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, पृ० १०१
३६. 'स्त्रीभिर्भर्तृ वचः कार्यमेष धर्मः परः स्त्रियाः' —याज्ञ० आचाराध्याय ७७
३७. नीति० ६९
३८. मध्य० १५। पं० ३, ब्राह्मणी
३९. प्रतिमा० १।२५ तुलनार्थ—"Through obedience a woman rules her husband." —S. P. L., p. 94
४०. कु० ४।३३
४१. कु० ४।३१
४२. 'सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ।'—शिशु० १।७२ ।—इसका उपमान सतीप्रथा का स्पष्ट पोषक है, जबकि प्रस्तुत वस्तु 'मरणोपरान्त होने वाले संस्कारों के अनुगमन' की स्थापक। अतः इसका उल्लेख आगे भी हुआ है—देखिये आगे परि० ७, अनु० ५ (ग)
४३. आधुनिक विद्वान् मानते हैं कि पारिवारिक नैतिकता आर्थिक दृष्टि से प्रभावित होती है। मिलाइये—"He (Müller-Lyer) shows that sexual and family ethics have at all times been dominated by economic considerations; hunting, pastoral, agricultural and industrial tribes or nations have each their own special kinds of institutions."
—The Basic Writings of Bertrand Russel, p. 346
४४. मृच्छ० १०।५८
४५. काद०, महाश्वेता वृतान्त, पृ० ३५५
४६. "अतिप्रमादोऽयं, मौखर्यस्खलितमिदम्, यदुपरते पितरि, भ्रातरि, सुहृदि, भर्तरि वा प्राणाः परित्यज्यन्ते।"—वही, पृ० ३५६
४७. "अविद्वज्जनाचरित एष मार्गः मोहविलसितमेतत्। अज्ञानपद्धतिरियम्। रभसाचरितमिदम्। क्षुद्रदृष्टिरेषा।...उपरतस्य तु न कमपि गुणमावहति। असावप्यात्मघातिनः केवलमेनसा संयुज्यते। जीवंस्तु जलाञ्जलिदानादिना बहूपकरोत्युपर-

तस्यात्मनश्च, मृतस्तु नोभयस्यापि।"—वहीं।

४८. मिलाइए—ऊपर १।९ (च)

४९. कु० ६।८६

५०. मालवि० १।१८, राजा पर क्रुद्ध देवी के क्रोध को अनुचित बताती हुई परिव्राजिका

५१. 'महासती अनसूया' एवं 'सावित्री सत्यवान' जैसे कुछ उपाख्यानों में इसका प्रतिपादन भी हुआ है।

५२. शाकु० ६।९—राजा, विदूषक से

५३. स्वप्न० ३।० पं० ५२, वासवदत्ता चेटी से

५४. यथा—"स्त्रीणां चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।'

५५. "शतकत्रयादि-सुभाषित-संग्रह", सं० प्रो० दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी, श्लोक सं० ३०९

५६. शाकु० ४।१८

५७. मालवि० ५।१९

५८. "बहुपतित्व की प्रथा भारतवर्ष की अनेक जातियों में संयुक्त परिवार के साथ पाई गई है···पाण्डवों की बहुपतित्व की परम्परा उनकी अपनी बहुपतित्व की प्रथा को एक प्रकार से स्वीकृति प्रदान करती है।"

—के० एम० कापड़िया-भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, पृ० १००

५९. काद०, पृ० ३९८

६०. "सभी इण्डोयूरोपीय जातियों में प्राचीन काल में बहुपत्नी-प्रथा प्रचलित थी"।—

—डा० शिवराज शास्त्री, ऋग्वैदिक काल में परिवारिक सम्बन्ध, पृ० ७७

६१. के० एम० कापड़िया, भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, 'बहुपत्नीत्व', पृ० १०१-१२१

६२. शाकु० ४।१८

६३. कु० ६।१३

६४. डा० शिवराज शास्त्री, ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध, पृ० ३५८-६१

६५. "अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः"—तैत्ति० ब्रा० २।२।२।६, तथा—

"···यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते, असर्व्वो हि तावद्भवति।"

—शत० ब्रा० ५।२।१।१०

६६. यौग० ४।५—यौगन्धरायण

६७. शाकु० ५।२८

६८. "अन्यसंक्रान्तप्रेमाणो नागरिका अधिकं दक्षिणा भवन्ति।"—विक्र० ३।१३—चित्रलेखा

६९. सभी लोग अनेक पत्नियां रखते हों यह तो सम्भव प्रतीत नहीं होता। हां यह अवश्य संभव है कि—"विशेषतः धनी और राजा लोगों की दासियों तथा रखैलों के अति-

रिक्त अनेक पत्नियां होती थीं।"

—डा० शिवराजा शास्त्री, ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध, पृ० ७७

७०. पितृमातृपतिभ्रातृदत्तम् अध्यग्न्युपागतम्।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्त्तितम्॥ —याज्ञ०, व्यवहार० १४३
(याज्ञ० में १४३ से १४८ तक स्त्रीधन के विभाग का विस्तार से विधान है।)

७१. दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके।
गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियै दातुमर्हति॥ —वही १४७

७२. स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।
नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्॥ —मनु० ३।५२

७३. मृच्छ० ३।२७

७४. पत्नी का द्रव्य लेने में या उससे सेवा आदि कराकर उसकी कमाई का उपभोग करने में भारतीय परम्परा में पले पति आज भी अपमान अनुभव करते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि भारतीय पति अपनी पत्नी और परिवार (बच्चे आदि) का भरण-पोषण करना अपना कर्त्तव्य समझता है।

७५. उत्तर० ६।३८

७६. दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः।
आहरेद्विधिवद्दारान् अग्नींश्चैवाविलम्बयन्॥ —याज्ञ० आचाराध्याय ८९

७७. रघु० १।६९। तुलनार्थ—"Children are the blessing of god."
—S. P. L., p. 27.

७८. आगे—परि० ४, अनु० ७ (क)

७९. महावीर० ५।१४

८०. महावीर० ४।५८—राम, वनगमन के समय भरत के मामा द्वारा रोके जाने पर

८१. यहाँ 'गुरु' शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है और प्रसंग भी पूजनीय सम्बन्धी से सम्बद्ध है। अतः सामान्यतया बड़ों के अर्थ का द्योतक है। देखिए—
'गुरुः...२. Any venerable person...elderly personage or relative, the elders (pl)' —V. S. Apte, p. 190

८२. कु० २।५५

८३. "सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद् वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम्।"—रघु० १।६० (तथा शाकु० में शकुन्तला का आश्रम-तरुलताओं से स्नेह-सम्बन्ध)

८४. काद० पृ० ५८१

८५. इसे विलियम मैग्डूगल ने पितृ-भाव (Parental Instinct) के रूप में स्वीकार किया है। देखिए—William Mcdougall, Social Psychology, p. 56

८६. उत्तर० ३।१६—तमसा

८७. 'परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः।'—वहीं

८८. वही ३।१७

८९ 'वात्सल्यं नाम केवलमखिलेन्द्रिय-वशीकरण-चूर्णमुष्टिः ।'—महावीर० ६।४० —वासव
९०. वही ७।२८—राम, गुरु वसिष्ठ और अरुन्धती द्वारा बुलाए जाने पर
९१. पञ्च० १।५१
९२. Vaman Gopal Urdhwareshe, Notes on Pancharātram, Indore 1920, p. 46
९३. कु० ११।२०
९४. बुद्ध० ८।७८
९५. कु० १।२७
९६. यह सूक्ति स्पष्टतः पारिवारिक वात्सल्य के प्रसंग में कही गई है इसलिए इसे इस परिच्छेद में रखा गया है। यदि सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो इसे प्रेम-परक ही कहा जाना चाहिए, क्योंकि मधुकर और आम्रमञ्जरी या भ्रमरपंक्ति और आम्र-वृक्ष को प्रायः प्रेमी-प्रेमिका के रूप में ही देखा जाता है। सच कहा जाए तो यह उपमान वात्सल्य के प्रसंग में कुछ कम जँचता है, और कालिदास जैसे कवि के काव्य में इसका होना विस्मापक ही है।
९७. पञ्च० ३।४
९८. कु० ११।४०
९९. पञ्च० १।२२
१००. विक्र० ३।१ तुलनार्थ—"पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुपजीवन्ति।···उत्तमे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति।" —गोपथ ब्रा० १।४।१७
१०१. "न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृतः।"—याज्ञ०, व्यवहार० ११६
१०२. काद०—पृ० ४५१, चन्द्रापीड, कादम्बरी के लिए सन्देश देते हुए मेघनाद से
१०३. नागा० १।७—नायक, पिता की आज्ञा से मलयपर्वत पर जाते हुए विदूषक से
१०४. रघु० १४।४६ तुलनार्थ—"obey your parents." —S. P. L, p. 95
१०५. मध्य० ३७, घटोत्कच को अपनी माता की सेवा में तत्पर जानकर प्रसन्न भीम
१०६. "मातृदेवो भव"—तैत्ति० १।११—उद्धृत उपनिषद्वाक्य महाकोश, पृ० ५४३
१०७. प्रतिमा० ३।१२, देवकुलिक, भरत के मूर्च्छित होते ही माताओं का आगमन जानकर
१०८. वही ६।११—पं० २२ कैकेयी, कठोर शब्दों के लिए पश्चात्ताप करने वाले भरत से
१०९. बाल० २।१४ पं० ७—वसुदेव, कंस से देवकी की पुत्री को न मारने की प्रार्थना करते हुए
११०. यौग० २।५ पं० १—राजा, वासवदत्ता के परिणय के सम्बन्ध में माता से सम्मति लेना चाहते हुए
१११. वही २।७

११२. कु० ११।१७
११३. वही १२।५६
११४. मध्य० ५०, पं० ४—भीम
११५. इसी भावना से भरकर राजा युद्ध में विजयी पुत्र का समाचार सुनकर कह उठे—
"ननु कलभेन यूथपतेरनुकृतम् ।"—मालवि० ५।१६—अग्निमित्र
११६. "तस्मात् प्रमाणं न वयो न वंशः" "कश्चित् क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके ।"
"राज्ञामृषीणां च हितानि तानि, कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ॥" —बुद्ध० १।४६
११७. तुलनार्थ—"सर्वतोपि जयमिच्छेत् पुत्राच्छिष्यात् पराजयम् ।"—लोकोक्ति
११८. इसके प्रमाणस्वरूप देखिये आगे परि० ४, अनु० ८
११९. काद० पृ० १३३, पुत्र न होने के कारण दुःखी विलासवती के विषय में मक्रिका
१२०. पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा, पुन्नरकं ततस्त्रायत इति वा ।—निरुक्त २।११
१२१. मनु० ९।१३७, ३८
१२२. याज्ञ०, आचाराध्याय ७८
१२३. बुद्ध० १।३२
१२४. इसके अर्थ देखिए—"गुण 2 (a) Virtue,...9...Property in general."
—V. S. Apte, p. 188
१२५. पञ्च० १।१२
१२६. नीति० २४
१२७. पीछे परि० ४, अनु० ५ (ख)
१२८. प्रतिमा० १।५
१२९. नागा० १।६ आज्ञाकारी पुत्र जीमूतवाहन के मुख से ये सूक्तियाँ खूब फबती हैं।
१३०. नीति० ५९
१३१. मध्य० १९
१३२. वही १७
१३३. मनु० ९।१०५-१२० में ज्येष्ठ की श्रेष्ठता कही गई है। पर लगता है कि उस समय की प्रणाली (ज्येष्ठ पुत्र सब सम्पत्ति लेकर शेष बहिन-भाइयों का पालन करे—मनु० ८।१०५) का दुरुपयोग होने लगा था। अतः मनु को उपनियम (९।२१३) बनाना पड़ा जिसमें अधार्मिक ज्येष्ठ पुत्र को 'उद्धारभाग' से वञ्चित किया गया है। आगे चलकर मुनि याज्ञवल्क्य ने (व्यवहाराध्याय ११७ व १२६ में) सबको बराबर का अधिकार दिया है। अतः स्पष्ट है कि मनु के समय ही ज्येष्ठ के द्वारा अपने अधिकारों के दुरुपयोग के उदाहरण मिलने लगे होंगे, जिनके कारण मनु ने ज्येष्ठ पर नियन्त्रण का प्रबन्ध रखा, और आगे आने वाले स्मृति-कारों ने ज्येष्ठ के विशेषाधिकार को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया। भास की सूक्ति में 'लोके' शब्द से प्रतीत होता है कि उनके काल में ज्येष्ठ को लौकिक दृष्टि से भी श्रेष्ठता प्राप्त थी। यह संकेत भास को मनु से पूर्व-वर्ती द्योतित करता है।

१३४. स्त्रियों को स्मृतिकार भी हर अवस्था में रक्षणीय मानते हैं। देखिये मनु० ६।३
तथा—"रक्षेत् कन्यां पिता, विन्नां पतिः, पुत्रास्तु वार्धके।"
—याज्ञ० आचाराध्याय ८५

१३५. अवि० १।२ तुलनार्थ—'अपत्यत्वे समाने जातायां दुहितरि दूयन्ते सन्तः।"
—हर्ष च० ४, पृ० १४१, पं० ४

१३६. हर्ष च० ४।५, १४०

१३७. कु० ५।४३

१३८. काव्य में यह सूक्ति पिता द्वारा पुत्री की रक्षा के भाव से लिखी गई है। अतः इसे पारिवारिक सूक्तियों में स्थान दिया गया है। अन्यथा स्वतन्त्ररूप में लोकोक्तिवत् प्रयुक्त होने पर इसका भाव होगा—"प्रतापी व्यक्ति से सुरक्षित वस्तु को कौन दूषित कर सकता है?" और तब इसे व्यावहारिक क्षेत्र से सम्बद्ध कहा जा सकता है।

१३९. योग० २।५

१४०. मालती० २।७—कामन्दकी, मालती के विवाह के प्रसंग में लवङ्गिका से
तुलनार्थ—"दाने तु प्रमाणमासां पितरः।'—हर्ष च० ४ पृ० १४१ पं० १७

१४१. कु० ६।८५

१४२. शाकु० ४।०—सं० ८, अनसूया

१४३. कु० ६।७९

१४४. "अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति॥" —मनु० ९।९१

१४५. अवि० १।९, भूतिक, कुरंगी के विवाह सम्बन्ध में परामर्श देते हुए, राजा से

१४६. महावीर० १।३१। "रावण द्वारा भी सीता मांगी गई" यह जानकर विस्मित लक्ष्मण से राम

१५७. 'साधारण्यात् कन्यासु सर्वेषां समानाधिकाराद् हेतोः।' —जीवानन्द विद्यासागर

१४८. शाकु० ४।२२

१४९. महावीर० १।३०

१५०. शाकु० ६।९—विदूषक

१५१. कु० ८।१२

१५२. मध्य० १८ तुलनार्थ —"यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान् मातेव स पितेव सः।"
—मनु० ९।११०

१५३. दूत० २९। तुलनार्थ—देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥
—बा० रा० ६।१०२।१२-१३

१५४. अभि० १।२१ पं० १—राम, बाली और सूग्रीव के द्वारा बलात् एक दूसरे की पत्नी रख लेने के दोष में भेद करते हुए। इसके बाद बाली का तर्क-सामर्थ्य चुक जाता है।

१५५. "अभिमर्शनम्—1. Touch, Contact 2. Assault, violence, outraging; sexual intercourse."—V. S. Apte p. 40
मिलाइए —"Kṛtābhimaraṣm—Kṛta-sagranhaṇām."
—Monier Williams, Śakuntalā by Kālidāsa, p. 203

१५६. श्रीमती कार्वे ने प्राचीन भारत में प्रचलित इस प्रथा का और आधुनिक भारत के शिक्षित वर्ग में परिवर्तमान दृष्टिकोण का संकेत किया है। देखिए
—Irawati Karve Kinship Organisation in India, p. 19-20

१५७. अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया।
सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात् ॥—याज्ञ० आचाराध्याय ६८

१५८. मनु० ९।५७-६३

१५९. काद० पृ० ४१४, मदलेखा कादम्बरी की ओर से "शेष" नामक हार चन्द्रापीड को देती हुई।

१६०. उत्तर० ४।१७

१६१. प्रतिमा० १।१२

१६२. वही १।१८

१६३ नागा० २।० पं० ९६,—नायिका चेटी से मनोनुकूल बात (अपने बिना नायक को सन्तप्त) सुनकर

१६४. किरात० ९।६४—तुलनार्थ—"अन्धा बांटे शीरनी अपनों ही को दे।"—हिन्दी लोकोक्ति

१६५. मिला०—"Müller-Lyer, from the point of view of family institutions, devides the history of civilization into three periods —the clan period, the family period, and the personal period."
—Basic Writings of Bertrand Russell, p. 346

१६६. "...the personal period, now begining, has not yet been embodied in the laws of most christian countries,"
—ibid. loc. cit

१६७. ऐसे परिवारों की संख्या अभी इतनी अधिक नहीं कही जा सकती कि वह भारतीय समाज या कानून को प्रभावित कर सके। तलाक की प्रथा और कानून द्वारा स्वीकृति परिवार-युग का ही अन्तिम चरण है—(दे० वहीं)—और प्राचीन भारतीय शास्त्र भी इसे स्वीकार करते थे, बस, अधिकारसूत्र पति के हाथ में था। (विशेष विवेचन के लिए देखिए—याज्ञ० आचाराध्याय ७३-७६)

१६८. मध्य २०

१६९. 'बन्धु...5A husband; 6 A father; 7 A Mother, 8 A brother."
—V. S. Apte, p. 386

१७०. हर्ष च० ५, पृ० १५० पं० १६, हर्षवर्धन दुःस्वप्न में सिंही को अपने पति सिंह के लिए अग्नि में प्रविष्ट होते देखकर
१७१. उत्तर० १।८—सीता, राम से
१७२. पीछे परि० ४, अनु० ३ (च) (ई) पत्नी-प्रेम
१७३. उत्तर० ६।३८
१७४. पञ्च० १।३६
१७५. "धर्माधिकारवचनेषु धर्मनिरूपकगुरुजनोपदेशेषु"।
—श्री कृष्णाचार्य शास्त्री की "पञ्चरात्र" पर टीका, इन्दौर १६२०, पृ० ३२
१७६. शाकु० ५।२१—शकुन्तला, तपोवन के हिरण के व्यवहार पर राजा की टिप्पणी सुनाते हुए
१७७. मालवि० १।३—गणदास
१७८. उत्तर० ६।१५—राम की लव से बातचीत
१७९. हर्ष च० ४ पृ० १४१ पं० ६
१८०. महावीर० ५।४३
१८१. पीछे परि० ४, अनु० २ (क) तथा पीछे संकेत १४३
१८२. पीछे परि० ४, अनु० ५ (ख)
१८३. पीछे परि० ४, अनु० २ (ख), ३ (क)
१८४. पीछे परि० ४, अनु० ४ (क) तथा ७ (क)
१८५. पीछे परि० ४, अनु० ८ (ग)
००

परिच्छेद-५

नारी

१. नारी का स्थान एवं नारी-सम्बन्धी सूक्तियाँ

इस धरा पर जबसे मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ है तभी से नर और नारी को एक दूसरे के सम्पर्क में आने, समझने और परस्पर भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर मिलता रहा है। यह निर्विवाद है कि नारी की अपेक्षा नर को अपनी भावनाएं व्यक्त करने का अवसर सदा ही अधिक मिला है। इस कारण सभी साहित्यों में नर के प्रति नारी के दृष्टिकोण की अपेक्षा नारी के विषय में नर का दृष्टिकोण अधिक सुव्यक्त, विशद एवं विविध रूप में प्राप्त होता है। यहां तक कि ऐसा प्रतीत होने लगता है मानों केवल नारी के विषय में ही विचार व्यक्त किये जा सकते हैं, नर के सम्बन्ध में कहने को जैसे कुछ है ही नहीं।

नर-नारी के स्वस्थ सम्बन्धों का ज्ञान और उनका पारस्परिक स्वस्थ व्यवहार समाज की विकसित दशा में ही हो सकता है[1]। अतः नारी के प्रति किसी राष्ट्र का दृष्टिकोण उसकी सांस्कृतिक उन्नति का परिचायक माना जाता है[2]। सभी स्वीकार करते हैं कि वैदिक-काल में आर्यों ने नारी को बड़ा उत्कृष्ट स्थान दिया था[3]। किन्तु उनके बाद पनपने वाले हिन्दू समाज में नारी को कम महत्त्व दिया जाने लगा[4]। हिन्दु समाज में नारी के स्थान को कुछ विद्वानों ने यथोचित बताया है और कुछ ने अन्य देशों की अपेक्षा उत्कृष्ट[5]। जो भी हो, इसमें कुछ सन्देह नहीं कि वैदिक काल के बाद के भारतीय समाज के विषय में नारी-सूक्तियों का अध्ययन प्रकाश-स्तम्भ का कार्य कर सकता है।

संस्कृत काव्य में नारी-सम्बन्धी सूक्तियां प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती हैं। इसलिए नारी के प्रति भारतीयों के दृष्टिकोण को स्पष्टरूपेण समझने के लिए नारी-सम्बन्धी सूक्यियों को एक स्वतन्त्र वर्ग में रखा गया है।

नारी के विविध स्वरूप हैं जिनमें से माता, पत्नी एवं पुत्री-सम्बन्धी सूक्तियां परिवार के स्वरूप को समझने में सहायक हैं, अतः उन्हें पारिवारिक सूक्तियों में स्थान दिया गया हैं। इसी प्रकार प्रेमिका के रूप में नारी पर कही हुई सूक्तियां प्रेम-तत्त्व को समझने में योगदान करती हैं, अतः उन्हें प्रेम-सम्बन्धी सूक्तियों के साथ रखा गया है।

जो सूक्तियां सामान्य नारी के विषय में उसके स्वभाव, व्यवहार एवं व्यक्तित्व के अन्य गुणों के प्रति समाज के या कवि के निजी दृष्टिकोण को व्यक्त करती हैं, उन्हें 'नारी' शीर्षक के अन्तर्गत लिया गया है।

संस्कृत काव्य में नारी के स्वभाव से लेकर उसके व्यवहार, रूप-सौन्दर्य आदि कई पहलुओं पर सूक्तियां प्राप्त होती हैं। नारी के सम्बन्ध में ये सूक्तियां पुरुषों द्वारा कही गई हैं, अतः सर्वदा वास्तविक स्वरूप को ही प्रकट करती हों ऐसा नहीं है। कई स्थानों में कवि का व्यक्तिगत दृष्टिकोण होता है; जो कभी समाज से, कभी दर्शन से, कभी धर्म से, और कभी उसकी अपनी परिस्थितियों से प्रभावित होता है। इसलिए इन सूक्तियों के आधार पर नारी की वास्तविकता जानने की आशा करना तो न्याय-संगत न होगा; हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि इससे नारी के प्रति तात्कालिक समाज, दर्शन, धर्म या कवि की भावना झलकती है।

विवेचन की सुविधा के लिए नारी-विषयक सूक्तियों को निम्न वर्गों में विभक्त किया गया है—१-नारी की प्रभावोत्पादक विशेषताएं, २-नारी का स्वभाव एवं व्यवहार, ३-नारी के प्रति व्यवहार, ४-नर-नारी सम्बन्ध की विषमता, ५-नारी के प्रति कुछ एकांगी दृष्टिकोण।

२. नारी की प्रभावोत्पादक विशेषताएं

(क) सौन्दर्य—नारी की प्रमुखतम विशिष्टता उसका सौन्दर्य है, वैसे ही जैसे कि पुरुष का शौर्य। अतः भास की दृष्टि में—**रूपेण स्त्रियः कथ्यन्ते, पराक्रमेण तु पुरुषाः**[६]। —'रूप से स्त्रियों का वर्णन होता है, पुरुषों का तो पराक्रम से।' स्त्री का रूपसौन्दर्य ही पुरुष के लिए मुख्य आकर्षण हुआ करता है। फिर भी अश्वघोष जैसे विरक्त उपदेशक कवि इसे झूठा आकर्षण कहें तो कोई आश्चर्य नहीं। वे स्त्री-सौन्दर्य को कृत्रिम वस्त्राभूषणों के आधार पर निर्मित मानते हैं—**वसनाभरणैस्तु वञ्च्यमानः पुरुषः स्त्रीविषयेषु रागमेति**।[७]— 'वस्त्रों और अलंकारों से ठगा जाकर पुरुष स्त्री के विषय में आसक्त होता है।' अन्य कवि इस विचार के समर्थक नहीं हैं। भर्तृहरि ने तो स्त्रीमात्र को सुन्दर माना है और यदि वह तरुणाई में हो तो क्या कहना—**न चास्मिन् संसारे कुवलयदृशो रम्यमधिकम् (रम्यमपरम्)**[८]।—'इस संसार में कमलनेत्रियों से अधिक (दूसरा) कुछ भी रमणीय नहीं है।' तथा—**स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव न हि रम्यं मृगदृशः ?**[९]—'भला यौवन को छूनेवाली मृगनैनी का इस संसार में क्या कुछ सुन्दर नहीं होता?' स्पष्टतः कवियों की दृष्टि इन सूक्तियों में नारी के शारीरिक सौन्दर्य पर केन्द्रित है, और अश्वघोष के अतिरिक्त कोई उसे झुठलाना नहीं चाहता।

(ख) मद, मृदुता और कोमलता—नारी के शारीरिक सौन्दर्य का अलंकरण बाहरी आभूषणों से ही हो यह आवश्यक नहीं। कवियों की दृष्टि में नारी का मदभरा व्यवहार, स्वभाव की मृदुता और शारीरिक कमनीयता आदि ऐसे आकर्षण हैं जो अपने आप में नारी को अलंकृत करने के लिए पर्याप्त हैं। कालिदास की अनुभूति है—**बहुशो**

मदः किल स्त्रीजनस्य विशेष-मण्डनम्[१०] ।—'मद का बाहुल्य ही नारियों की विशेष सज्जा है।' कवि इस उक्ति को 'लोकवाद' के नाम से पुकारता है। अतः इस भाव से लोक की सहमति प्रतीत होती है। भर्तृहरि नारी की मृदुता पर कहते हैं—**वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनम्**[११]—'वाणी की मनोहारी मृदुता युवतियों का स्वाभाविक आभूषण है।' माघ नारी के शारीरिक कोमलता-जन्य सौन्दर्य का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—**कनक-निकष-रेखा-कोमलं कामिनीनां भवति वपुरवाप्तच्छायमेवातपेऽपि**[१२] ।—'कामिनियों का स्वर्णरेखा सा कोमल गात धूप में भी अधिक उत्कृष्ट वर्ण-वाला हो जाता है।' इस प्रकार नारी के स्वभावगत और शरीरस्थ सौन्दर्य से उसकी शोभा मानी गई है।

(ग) **आकर्षण और वशीकरण शक्ति**—पुरुष के लिए स्त्री का आकर्षण सब आकर्षणों से तीव्र है और आत्मवशित्व के अभाव में यह तीव्रतर हो उठता है। अश्वघोष कहते हैं—**कः स्त्रीनिमित्तं न चलेदिहान्यः**[१३] ?—'स्त्री के लिए कौन मनुष्य इस संसार में विचलित नहीं होगा ?' यहां 'अन्यः' शब्द साधारण मनुष्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः कवि मानता है कि देवर्षि और राजर्षि भी स्त्री के कारण विचलित हो गये, साधारण लोगों की तो बात ही क्या ? इस आकर्षण में नारी भाव, गर्व, चाल, सौन्दर्य, स्मित, कोप, मद, वाणी आदि का सहारा लेती है।[१४] इसलिए नारी की पहुंच सब स्थानों पर है—**प्रमदानामगतिन विद्यते**:[१५]—'स्त्रियों के लिए कुछ भी अगम्य नहीं।' ऐसा मानने के कारण ही कवि यह भी प्रकट करता है कि स्त्री की श्रेष्ठता का निर्णय उसकी आकर्षण-शक्ति के आधार पर होना चाहिए—

> **या हि काश्चिद् युवतयो हरन्ति सदृशं जनम्।**
> **निकृष्टोत्कृष्टयोर्भावं या गृह्णन्ति तु ताः स्त्रियः ॥**[१६]

—'अपने सदृश (समान गुणवाले) पुरुष को तो जो कोई भी स्त्री आकृष्ट कर सकती है। स्त्रियाँ तो वे हैं जो अपने से निकृष्ट और उत्कृष्ट का भी मन हर लें।'

नारी के शारीरिक सौन्दर्य को सर्वाधिक शक्तिशाली समझने वाले भर्तृहरि इस प्रकार की वशीकरण शक्ति से सम्पन्न नारी के लिए 'अबला' शब्द के प्रयोग पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं—**याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथंस्ताः** ?[१७]—'जिन्होंने अपने चंचल नेत्रों के संचालन से इन्द्रादि देवताओं को भी जीत लिया वे अबला कैसे हुई ?' श्रृंगार के इस कवि ने इससे अगली सूक्ति में इसी शक्ति का पोषण करते हुए नारी की चंचल चितवन का आज्ञाकारी कामदेव को भी माना है,क्योंकि वह उसके नेत्र हिलाते ही जाग उठता है—**नूनमाज्ञाकरस्तस्याः सुभ्रुवो मकरध्वजः। यतस्तन्नेत्रसंचारसूचितेषु प्रवर्तते ॥**[१८]

भर्तृहरि स्त्री की इस वशीकरण शक्ति की असह्यता को अनेक सूक्तियों में भरते हैं—**विलासव्यापाराः किमपि विजयन्ते मृगदृशाम्** ।[१९]—'मृगनैनियों के (हाव-भाव-जन्य) विलास व्यापार कुछ भी जीत लेते हैं (या सर्वोत्कृष्ट हैं)'। इन्हीं के बल पर—**कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यः**[२०] ?—'रमणियां इस पृथ्वी पर किसके मन को अपने

वश में नहीं कर लेतीं ?' जिसके पास शक्ति होती है वह उसका दुरुपयोग भी कर सकता है। नारी भी ऐसा ही करती है, और फिर— **किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ?**[२२]— 'बांके नैनों वाली स्त्रियां क्या नहीं कर डालतीं ?'

इस प्रकार ये सूक्तियां स्त्री के ऐसे गुणों को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं जो उसे पुरुष से पृथक् करने के साथ-साथ पुरुष के लिए उसकी विशिष्ट प्रभविष्णुता का कारण भी हैं।

३. नारी का स्वभाव एवं व्यवहार

ऊपर नारी की उन विशेषताओं को सूक्तियों के अनुसार देखा गया है जिनका मूल-सम्बन्ध नारी के मन-स्वभाव से न होकर मुख्यतया शरीर से हैं और उनका प्रभाव पुरुष की व्यक्तिगत दृष्टि के अनुसार न्यून या अधिक भी हो सकता है। इसके विपरीत इस अनुच्छेद की सूक्तियों में नारी के मन, स्वभाव और सामान्य व्यवहार को समझने का यत्न हुआ है, जो उसे नारी होने के कारण प्रकृति से प्राप्त हुआ है और पुरुष की दृष्टि का मुखापेक्षी नहीं है।

(क) मनोकामना : अनुरागयोग्य पुरुष की प्राप्ति—प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में एक ऐसे साथी का साथ चाहता है जो सच्चा होने के साथ-साथ अनुराग-योग्य भी हो। नारी भी इसका अपवाद नहीं। पर उसकी विशेषता यह है कि अभिलषणीय पुरुष के सम्पर्क में आकर उसे किसी और की कामना नहीं रहती। कालिदास के शब्दों में—**न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली।**[२३]—"विकसित आम्रवृक्ष को पाकर भ्रमरावलि किसी अन्य वृक्ष की इच्छा नहीं करती।" साथ ही श्रेष्ट नारी के लिए श्रेष्ठ पुरुष ही अनुरागयोग्य होते हैं। हर्षदेव एक दृष्टान्त से इसे पुष्ट करते हैं—**न कमलाकर-मुज्झित्वा राजहंसी अन्यस्मिन्नभिरमते।**[२४]—"कमलवन को छोड़कर राजहंसी को और कहीं आनन्द नहीं आता।" इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को जाने बिना पुरुष स्त्री को नहीं समझ सकता।

कई वार किसी आकर्षण-विशेष के कारण ही स्त्री का हृदय किसी पुरुष के प्रति खिंच जाता है। वहां वह यह विवेक नहीं कर पाती कि वह पुरुष अनुराग-योग्य है अथवा नहीं। वाणभट्ट ने चित्रित किया है कि पुण्डरीक को मुनिकुमार जानकर भी अनुरक्त हो जाने वाली महाश्वेता स्वयं को इसी कोटि में समझने लगी—**एवं च नामातिमूढं हृदयमङ्गना-जनस्य यदनुरागविषय-योग्यतामपि विचारयितुं नालम्।**[२५]—"स्त्रियों का हृदय इस भांति अत्यन्त मूढ है कि अनुराग के विषय की योग्यता (और अयोग्यता) विचारने में भी असमर्थ है।"

(ख) सखियों का चित्तानुवर्त्तन—अनुरागयोग्य पुरुष का साथ न मिलने पर नारी के जीवन में उसकी सखी का महत्त्व बढ़ जाता है और तब शूद्रक की यह सूक्ति ध्यान आकृष्ट करती है—**सखीजनचित्तानुवर्त्ती अबलाजनो भवति।**[२६]—"स्त्रियों का हृदय अपनी सखियों के साथ चलता है।" वैसे भी प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसे सम-

वयस्क व्यक्ति की आवश्यकता को नहीं नकारा जा सकता जिसके साथ वह वयस्य-भाव अनुभव कर सके।

(ग) लज्जा और शालीनता—प्रकृति के मनोरम पहलुओं पर कालिदास की लेखनी जब भी चली है तभी उसकी शक्ति की प्रतीति करा गई है। देखिये, नारी की लज्जाशीलता का यह चित्र जो स्वयं में एक सर्वमान्य तथ्य है—

कार्त्स्न्येन निर्वर्णयितुं च रूपम् इच्छन्ति तत्पूर्वसमागमा-ता-नाम्।
न च प्रियेष्वायतलोचनानां समग्रपातीनि (वृत्तीनि) विलोचनानि॥[२७]

—"पहले-पहल मिलने वाले ("स एव पूर्वः समागतो येषाम् तेषाम्") प्रिय के सम्पूर्ण रूप को देखना चाहकर भी (लज्जावनत) विशालनेत्रियों के नेत्र प्रिय को देखने के लिए अधखुले रहते हैं।" कारण, नारी की इस स्वाभाविक लाज के साथ उसका यह गुण भी जुड़ा है कि —कुतूहलवान् अपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः।[२८] "कौतूहल से परिपूर्ण होने पर भी स्त्रियां स्वभाव से ही शालीन होती हैं।" कवि की दृष्टि में नारी की लज्जा और शालीनता प्रकृतिप्रदत्त हैं।

इन गुणों के कारण स्त्रियों के व्यवहार की एक विशेषता यह होती है कि वे पुरुष से बातचीत का श्रीगणेश नहीं करतीं। बाण के अनुसार—सहजलज्जाघनस्य प्रमदाजनस्य प्रथमाभिभाषणम् अशालीनता।[२९]—"स्वाभाविक लज्जा की धनी स्त्रियों का पहले बोलना अशालीनता होता है।" पुरुष से व्यवहार करते हुए स्त्री की सामान्य शालीनता में वृद्धि हो जाना उतना ही स्वाभाविक हैं जितना कि स्त्री से व्यवहार करते हुए पुरुष की सहृदयता में।

(घ) सुकुमारता एवं भावुकता—नारी नर की अपेक्षा हर तरह से कोमल है, शरीर से ही नहीं हृदय से भी। भवभूति दो स्थलों पर स्त्री की इस सुकुमारता को स्पष्टतः उद्घोषित करते हैं—पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति[३०]—"स्त्रियों का चित्त कुसुम सा सुकुमार होता है।" तथा—कुसुमसधर्माणो हि योषितः सुकुमारोपक्रमाः[३१]—"कुसुम जैसे स्वभाव वाली नारियां कोमल व्यवहार के योग्य होती हैं।"

नारी से कोमल व्यवहार इसलिए भी आवश्यक है कि वह सुकुमार होने के साथ-साथ भावुक भी होती है, इस कारण अपनी आशाओं का निरसन नहीं सह सकती।—आशाच्छेदमुत्कण्ठमाना का सहते?[३२]—"कौन उत्कण्ठिता (विरह-व्याकुल, कामोद्दीप्ता) आशाभंग को सह सकती है?" अतः एक भाव तो इससे यह निकलता है कि स्त्री के लिए विरह असह्य होता है। दूसरे, यह भी कि यदि कोई स्त्री अपनी इच्छा के वशीभूत होकर प्रणयनिवेदन करे तो उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इस सम्बन्ध में अन्य भारतीय मनीषियों का विचार भी कुछ ऐसा ही है।[33] मनु भी मानते हैं कि पुरुष की अपेक्षा नारी प्रकृति से ही अधिक भावुक और कम विचारपूर्ण होती हैं।[34] असहनशील तो पुरुष भी होता है, ओर आशाभंग की स्थिति में, जैसा कि आधुनिक विद्वान् मानते हैं, सभी प्रकार के जीवों में नर को क्रोध अधिक शीघ्रता से चढ़ता है।[35] स्त्री कोमल और भावुक होने के कारण क्रोध करने के स्थान पर भावावेश में आकर पुरुष को कोस सकती

है, या अपने में ही कुढ़ सकती है। 'आशाभंग की असह्यता' से भास का यही तात्पर्य प्रतीत होता है।

सुकुमार और भावुक नारी आशा के सहारे जीती है और उसका हृदय आघात सहने में कम समर्थ होता है, ऐसा कालिदास भी मानते हैं—

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानाम् ।
सद्यः पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ।।[३६]

—"स्त्रियों के कुसुम से कोमल और शीघ्र टूटने वाले प्रेमी हृदय को आशा का बन्धन ही वियोग में बांधे (संभाले) रहता है।" इसके विपरीत कवि की एक सूक्ति यह भी है—कठिनाः खलु स्त्रियः[३७]—"स्त्रियां तो कठोर होती हैं।" नारी की सुकुमारता के चितेरे कालिदास से इस सूक्ति के साथ सहमतित्व की अपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः वे इसके पक्ष में हैं भी नहीं। प्रसंग को देखते हुए प्रतीत होता है कि इस सूक्ति में कवि को नारी से ऐसी सुकुमारता की आशा है जिससे प्रिय के मरण पर वह भी जीवित रहने में असमर्थ हो जाए। 'कष्ट सह लिया तो कैसी नारी-स्वभाव की कोमलता ?' यही भाव ध्वनित करती हुई रति यहां स्वयं को उपालम्भ दे रही है। इस प्रकार सभी कवियों की सूक्तियों में नारी सुकुमारता का प्रतीक बन गई है।

(ङ) शोकाकुलता एवं अधीरता—सामान्यतः अनपेक्षित और अवांछनीय घटनाओं से सभी को दुःख होता है पर सुकुमार और भावुक होने के कारण स्त्री अधिक व्याकुल हो जाती है। अश्वघोष के अनुसार स्त्री के मन पर लगा आघात उसके लिए विशेष असह्य हो जाता है—मनस्विनी रूपवती गुणाढ्या हृदि क्षते कात्र हि नाश्रु मुञ्चेत्।[३८]—"कौन मननशील रूपवती और गुणशालिनी हृदय पर आघात खाकर आंसू नहीं छोड़ेगी ?" यहां "रूप, गुण और विचार-शक्ति" का होना आवश्यक बताया है, क्योंकि इनके न होने पर तो आघात सहते रहना उसका स्वभाव बन जाता है।

बाण मानने हैं कि पुरुषों को शोक करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि यह काम तो स्त्रियों का है—स्त्रियो हि विषयः शुचाम्।[३९]—"शोक का विषय तो स्त्रियां बनती हैं। पुरुष की दृढ़ता और स्त्री की कोमलता देखते हुए इस कथन में कुछ न कुछ सचाई अवश्य है, यद्यपि इसके अपवाद अनेक देखे जा सकते हैं।

शोकाकुलता के समान ही नारी-स्वभाव की एक विशेषता है—कातरता। भास बताते हैं—स्त्रीस्वभावस्तु कातरः।[४०]—"स्त्री तो स्वभाव से ही अधीर होती है।" किसी भी प्रकार के विरोध या काठिन्य में पुरुष की अपेक्षा स्त्री के शीघ्र घबरा जाने का एक यह भी कारण है। माघ की दृष्टि में यह उनकी निजी विशेषता है—भवति हि विक्लवता गुणोऽङ्गनानाम्।[४१]—"व्याकुलता और भीरुता स्त्रियों का गुण होता है।" इसलिए वे समय असमय उसका प्रदर्शन करती रहती हैं—क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः।[४२]—"बिना निमित्त के भी लीलापूर्वक रमणियां और अधिक क्षोभ हठात् दिखाती हैं, कारण हो तो फिर क्या बात !" इस तरह घबराना स्त्रियों का स्वभाव बन जाता है।

ऊपर कालिदास और माघ की 'लज्जा और अधीरता विषयक' सूक्तियों की तुलना स्पष्ट करती है कि सूक्तियों में कवि का व्यक्तित्व किस प्रकार उभरता है। कोई कवि किसी वस्तु के किसी विशिष्ट रूप को ही देखता है और यह उसके व्यक्तिगत रुझान का परिचायक है। यहां एक ने नारी की लाज देखी है तो दूसरे ने घबराहट, एक ने उसे स्वाभाविक समझा है तो दूसरे ने प्रदर्शन की भावना से युक्त। इस तरह एक की दृष्टि सौन्दर्यप्रधान है और दूसरे की विश्लेषणात्मक।

४. नारी के प्रति व्यवहार

नारी के साथ कैसा व्यवहार किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर देने वाली सूक्तियों से भी नारी-सम्बन्धी धारणाओं पर प्रकाश पड़ता है।

(क) कोमलता पूर्वक—सुकुमार और प्रतिकार करने में असमर्थ प्राणी होने के कारण स्त्री का वध भारतीय समाज में सदा से निन्दनीय रहा है। भासने दिखाया है कि राक्षस भी इसे समझते हैं—**अवश्यं च स्त्रीवधो न कर्त्तव्यः**[४३]—"स्त्री-हत्या निश्चय ही नहीं करनी चाहिए।" किसी श्रेष्ठ पुरुष के मन में स्त्री के प्रति कठोर भावना भी नहीं आती, हत्या की तो बात ही क्या? भारवि के अनुसार—**स्वयशांसि विक्रमवतामवतां न वधूष्वघानि विमृषन्ति धियः।**[४४]—"अपने यश की रक्षा करने में तत्पर विक्रमशाली लोगों की बुद्धि स्त्रियों के लिए बुरी बात भी नहीं सोचती।" इसका कारण बाण समझते हैं—**अनुकम्पाभूमयः प्रकृत्यैव युवतयः, किं पुनर्विपदभिभूताः?**[४५]—"स्वाभाविकरूपेण भी युवतियां अनुकम्पा का स्थान हैं, फिर विपद्ग्रस्त हों तो और भी अधिक।" इसलिए कुमारियां युवकों द्वारा अतिरस्करणीय होती हैं—**अपरिभवनीयो हि कुमारिकाजनो यूनाम्।**[४६] इस प्रकार कवियों ने स्त्री की कोमलता का ध्यान रखते हुए उनके प्रति अकठोर आचरण को ही अच्छा माना है।

(ख) सम्मान और सहृदयता पूर्वक—अश्वघोष के अनुसार नारी से व्यवहार करते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि—**मानकामाश्च योषितः**—"स्त्रियां मान चाहती हैं" और इसलिए—**संनतिश्चानुवृत्तिश्च स्त्रीणां हृदयबन्धनम्**[४७]—"नम्रता और अनुकूल आचरण स्त्रियों के हृदय का बन्धन है।" कवि यह आवश्यक नहीं मानता कि नम्रता और अनुकूलता सच्ची ही हो—

> **अनृतेनापि नारीणां युक्तं समनुवर्त्तनम्।**
> **तद्व्रीडापरिहारार्थम् आत्मरत्यर्थमेव च॥**[४८]

'स्त्रियों की लाज हटाने एवं अपने आनन्द के लिए झूठ-मूठ भी उनके अनुकूल व्यवहार करना उचित है।' एक अन्य गुण को कवि ने विशेष महत्त्व दिया है—**दाक्षिण्यमौषधं स्त्रीणाम्**[४९]—'सहृदयता स्त्रियों की दवा है।' यहां 'दाक्षिण्य' शब्द प्रेमी के 'कुटिल या अतिविनीत व्यवहार'[५०] का वाचक भी हो सकता है।

जिसे क्षुद्र दृष्टि से देखा जाएगा वह अवश्य सम्मान का भूखा रहेगा। तत्कालीन

समाज में नारी को इसी दृष्टि से देखा जाता रहा है,[५१] अतः सम्मान एवं उदार व्यवहार से ही नारी सन्तुष्ट की जा सकती होगी।

शूद्रक ने भी निर्देश किया है कि किस प्रकार के व्यवहार से नारी को अपनाया जा सकता है—

आलाने गृह्यते हस्ती, वाजी वल्गासु गृह्यते।
हृदये गृह्यते नारी, यदीदं नास्ति गम्यताम्॥[५२]

"मोटे स्तम्भ से हाथी, लगाम से घोड़ा और हृदय से नारी को पकड़ा जा सकता है। यदि यह नहीं है तो जाइए।" स्पष्टतः कवि नारी के प्रति हार्दिक प्रेम से युक्त व्यवहार को ही उचित समझता है।

आगे (अनु० ५ में) नर-नारी सम्बन्धों में माघ के अनुसार दिखाया गया है कि स्त्रियां अनुकूल (वस्तुतः आसक्त) व्यक्ति को ठुकरा देती हैं। ऐसे व्यवहार का प्रतिकार शूद्रक के एक शंकालु पात्र की उक्ति में मिलता है—

स्त्रीषु न रागः कार्यो, रक्तं पुरुषं स्त्रियः परिभवन्ति।
रक्ता हि रन्तव्या, विरक्तभावा तु हातव्या॥[५३]

"स्त्रियों से लगाव नहीं रखना चाहिए, क्योंकि स्त्रियां अनुरागी पुरुष का तिरस्कार करती हैं। स्त्री अनुरक्त हो तो रमण करना चाहिए, विरक्त को तो छोड़ देना चाहिए।" ऐसा ही व्यवहार उचित भी कहा जा सकता है क्योंकि अत्यासक्ति से सदा दुःख ही मिलता है।

(ग) **स्त्री का दर्शन**—सूक्तियों में सामान्य जन द्वारा कन्या का देखा जाना तो बुरा नहीं माना गया है, परन्तु पराई स्त्री का दर्शन अनुचित ठहराया गया है। भास के अनुसार—**कन्यकादर्शनं निर्दोषम्,**[५४] और हर्ष के अनुसार भी—**निर्दोषदर्शना (हि) कन्यका**[५५]—'कन्या को देखने में कोई दोष नहीं।' परन्तु विवाहित होने के कारण परस्त्री के देखने में दोष है। कालिदास के शब्दों में—**(अनिर्वण्यं) अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्।**[५६]—'पराई स्त्री देखने योग्य नहीं होती।' और उससे वार्तालाप आदि का व्यवहार बिल्कुल भौंड़ापन है—**अनार्यः (अन्याय्यः) परदार-व्यवहारः**[५७]—'पराई स्त्री से व्यवहार करना आर्यों का (न्यायोचित) काम नहीं।' इसके साथ ही, कुछ विशेष अवस्थाओं में विवाहित स्त्री का सबके द्वारा देखा जाना बुरा नहीं समझा जाता था, जैसे—**निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च**[५८]—'यज्ञ, विवाह, विपत्ति और वन में स्त्रियां यदि देखी जाएं तो कोई दोष नहीं।'

प्रतीत होता है कि विवाहित स्त्री को देखना इसलिए बुरा माना गया है कि उसके पति को बुरा न लगे। परन्तु कन्या को देखना इसलिए दोषयुक्त नहीं, क्योंकि वह अभी विवाहाकांक्षिणी है और देखने वालों में से ही कोई उसका भावी पति भी हो सकता है।

इन सब सूक्तियों से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि उस काल में भी आज के समान ही कन्याओं में पर्दा नहीं था, स्त्रियों में था परन्तु अनेक अवसरों पर उन्हें पर्दे के

बिना रहने की अनुमति थी। इसके अतिरिक्त काव्य में अधिकांश स्त्रीपात्र पर्दे के बिना ही चित्रित हुए हैं। अतः कहा जा सकता है कि पर्दे का पालन कठोरतापूर्वक नहीं किया जाता था।

५. नर-नारी सम्बन्ध की विषमता

कई ज्ञात-अज्ञात तथा उचित-अनुचित कारणों से नारी नर की मुखापेक्षी बन गयी है। मानवजीवन की सुचारु प्रगति के लिए इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध समुचित हो यह नितान्त अपेक्षणीय है। किन्तु प्रकृति ने मनुष्य की अनेक सीमाएं बना दी हैं जिनसे परिचालित होकर ही वह कुछ करता है। नर-नारी सम्बन्ध जो एक-दूसरे के पूरक तत्त्वों के मेल से अटूट और मधुरतम हो सकता था, इन्हीं मानवीय सीमाओं के कारण अनेक बार असफल और अपूर्ण रह जाता है। इस अनुच्छेद की सूक्तियों में इस सम्बन्ध की कटुता के दर्शन होते हैं।

नर-नारी के मधुर सम्बन्धों का एक मुख्य बाधक तत्त्व है—पारस्परिक अविश्वास। जब नारी से कोई पुरुष विश्वासघात कर जाता है तब उसकी दृष्टि में कोई भी पुरुष विश्वासपात्र नहीं रहता। ऐसे में अश्वघोष का परामर्श है—**नेच्छन्ति याः शोकमवाप्तुमेवं श्रद्धातुमर्हन्ति न ता नराणाम्**[५६]—'जो इस प्रकार शोक नहीं पाना चाहतीं उन्हें पुरुषों का विश्वास नहीं करना चाहिए।' और कालिदास के अनुसार तब स्त्री की दृष्टि में—**अविश्वसनीयाः पुरुषाः**।[६०]—"पुरुष विश्वसनीय नहीं होते।" नारी जाति की इस प्रकार की धारणा सर्वथा सत्य न होकर किन्हीं विशेष परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र है।

पुरुष का अधिकार-भाव भी इस सम्बन्ध में बाधा उपस्थित करता है। वह नारी पर अधिकार करना चाहता है पर जब सफल नहीं होता तब कालिदास के शब्दों में नारीत्व पर इसका उत्तरदायित्व डाल देता है—**स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः**।[६१]—'स्त्रियों पर अधिकार पाना कष्टकर है।' इससे पुरुष की अपनी न्यूनताएं ही प्रकट होती हैं, जिन्हें छुपाने के लिए व्यक्ति परदोषदर्शन किया करता है।

पुरुष वर्ग स्त्री में दोष ढूंढता आया है। विशाखदत्त स्त्री के चांचल्य और अगुणज्ञता की शिकायत करते हैं—(**प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला**) **पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी**[६२]।—"(अथवा स्वभावतः कांस के पुष्पाग्र सी चपल) स्त्रियों की बुद्धि पुरुषों के गुणज्ञान से विमुख हैं।" स्त्रियों पर एक दोष माघ ने भी आरोपित किया है—**आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि तरुण्यः**[६३]।—'तरुणियां पुरुषों की अनुकूलता पाकर उनका हृदय ठुकरा देती हैं।' वस्तुतः अगुणज्ञता और दर्पयुक्त व्यवहार स्त्री और पुरुष दोनों में ही हो सकता है। तथा दूसरे में आसक्ति अधिक हो तो किसी को भी विरक्ति का अनुभव होने लगता है। अतः नारी को दोष देना पारस्परिक सम्बन्धों की विषमता ही द्योतित करता है।

स्पष्टतः नारियों में पुरुषों की अपेक्षा कम उन्नति हुई है। शिक्षा के अभाव तथा

कठोर नियन्त्रण के कारण नारी का विकास उचित दिशा में नहीं हो पाया। विकास-स्तर की यह विषमता भी नर-नारी सम्बन्धों की विषमता के मूल में निहित प्रतीत होती है।

६. नारी के प्रति कुछ एकांगी दृष्टिकोण

कुछ सूक्तियां नारी के व्यवहार एवं स्वभाव को अस्वस्थ दृष्टि से देखकर कही गई हैं और इसलिए एकांगी मत अभिव्यक्त करती हैं।

(क) **चंचल और अविश्वसनीया**—अश्वघोष ने 'सौन्दरनन्द' के आठवें सर्ग में स्त्रियों के प्रति जो भाव व्यक्त किये हैं वे उनकी वैराग्योन्मुखी और उपदेशात्मिका वृत्ति से प्रभावित हैं। उन्होंने वहां वहुत सी वातें कही हैं जिनमें से कुछेक सूक्तिरूप में यहां विचारणीय हैं। उनकी दृष्टि में नारी का मन इतना चंचल है कि—

प्रवहन् दहनोऽपि गृह्यते, विशरीरः पवनोऽपि गृह्यते।
कुपितो भुजगोऽपि गृह्यते, 'प्रमदानां तु मनो न गृह्यते।'[६४]

"जलती आग भी, अशरीर पवन भी और क्रुद्ध सर्प भी वांधे जा सकते हैं, परन्तु 'स्त्रियों का मन नहीं पकड़ा जा सकता।" वस्तुतः मन ऐसा तत्त्व है जिसे समझना भी कठिन है, निग्रह तो दूर की वात है।[६५] जव अपना मन भी नहीं रोका जा सकता तव दूसरे के मन पर वश करने की वात सोचना भी अनुपयुक्त है। स्त्री हो या पुरुष दोनों का मन इसी प्रकार का है, अतः स्त्री को ही दोष देना उचित प्रतीत नहीं होता।

ऐसा भान होता है कि नारी-मन के ग्रहण को असंभव वताते हुए अश्वघोष के मन में नारी के प्रति पूर्ण अविश्वास भरा है। निम्न सूक्ति से उनके सन्देह की वद्धमूलता प्रकट होती है।

प्रविशन्त्यपि हि स्त्रियश्चिताम्, अनुवन्धन्त्यपि मुक्तजीविताः।
अपि बिभ्रति चैव यन्त्रणां, न तु भावेन वहन्ति सौहृदम्॥[६६]

"चाहे स्त्रियां चिता में प्रवेश करती हैं, चाहे जीवन छोड़कर अनुसरण करती हैं और चाहे कितनी भी यन्त्रणा सहती हैं, किन्तु (सच्चे) भाव से वे कभी स्नेह नहीं रखतीं।" यह अविश्वास की सीमा है कि पति के लिए इतनी यातनाएं सहने वाली नारी की भी हृदय-शुद्धि पर विश्वास न किया जाए।

स्त्रियों की मधुरवाणी के पीछे भी अश्वघोष और भर्तृहरि को दाल में काला नज़र आता है। दोनों के भाव और शब्दों का साम्य द्रष्टव्य है—

'मधु तिष्ठति वाचि योषिताम् हृदये हालहलं महद्विषम्।'[६७]
'मधु तिष्ठति वाचि योषिताम् हृदि हालाहलमेव केवलम्।'[६८]

"स्त्रियों की वाणी में मधु रहता है परन्तु हृदय में भयंकर हालाहल विष।" भर्तृहरि ने 'केवल' शब्द जोड़कर नारी की भयंकरता को और वढ़ाकर दिखाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार नारी में दोष ही दोष देखकर उसके आकर्षण से वचने और अपनी वैराग्य-भावना को वलवती वनाने का यत्न किया जा रहा है।

शूद्रक ने एक शंकाग्रस्त पात्र के मुख से ऐसे उद्‌गार व्यक्त करवाए हैं जो स्त्री पर अविश्वास करने का परामर्श देते हैं। अतः वे इसके पक्ष में प्रतीत नहीं होते। सूक्तियां इस प्रकार हैं—

'अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति।'
'श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्यो भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि॥'[६९]

'मैं उन्हें मूर्ख मानता हूं जो स्त्रियों में और लक्ष्मी में विश्वास करते हैं।' 'सर्पकन्या के समान लक्ष्मी और नारियां भी इधर उधर सरकती रहती हैं।' तथा—

समुद्रवीचीव चलस्वभावाः सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागाः।
स्त्रियो हृतार्थाः पुरुषं निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत् त्यजन्ति[७०]।

'समुद्र की लहर के समान चंचल स्वभाववाली, सन्ध्याकालीन मेघरेखा के समान क्षण-भर का राग (—लालिमा, प्रेम) दिखाने वाली, धन छीनने वाली स्त्रियां धनहीन पुरुष को निचोड़े हुए आलक्तक राग के समान त्याग देती हैं।' इसी प्रकार—

अन्यं मनुष्यं हृदयेन कृत्वात्वन्यं ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति।
अन्यत्र मुञ्चन्ति मदप्रसेकम् अन्यं शरीरेण च कामयन्ते॥[७१]

"किसी और मनुष्य को हृदय में करके तब किसी और को दृष्टियों से बुलाती हैं। अपनी मस्ती का छिड़काव कहीं और करती हैं और शरीर से किसी और की कामना करती हैं।" इस सूक्ति के भाव की स्वीकारोक्ति भर्तृहरि द्वारा भी हुई है—

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः।
हृद्‌गतं चिन्तयन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषिताम्?[७२]

"बातें दूसरे के साथ करती हैं, घबराहट के साथ दूसरे को देखती हैं और दिल में आये हुए किसी और के विषय में सोचा करती हैं, 'भला कौन स्त्रियों का प्रिय है?'" शूद्रक जिस विचार को शंकायुक्त परिस्थिति में प्रस्तुत करते हैं उसी को भर्तृहरि पोषित कर रहे हैं। संभवतः स्त्री पर ऐसा अविश्वास सामाजिक एवं व्यक्तिगत दोनों प्रकार की परिस्थितियों के कारण किया गया।

(ख) चतुर-चालाक—जैसी भावनाएं स्त्री को अविश्वसनीया मानने के पीछे कार्य कर रही हैं ऐसी ही कुछ भावनाओं से प्रेरित होकर नारी को विशेष चतुर और चालाक बताने वाली सूक्तियां कही गई हैं। कुछ कवि उनमें प्रकृतिप्रदत नैपुण्य बताते हैं। कालिदास के अनुसार—निसर्गनिपुणाः स्त्रियः[७३]—"स्त्रियां स्वभाव से ही निपुण होती हैं।" इसे शूद्रक भी कहते हैं—

'स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः।'
'पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते॥'[७४]

'ये स्त्रियां प्रकृति से ही प्रबुद्ध होती हैं।' 'पुरुषों को तो शास्त्रों से ही समझ आती है।' इस विशेषता के कारण कालिदास स्त्रियों को प्रत्युत्पन्न-मति से युक्त बताते हैं—प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणम्।[७५] परिस्थिति और काल के अनुसार व्यवहार करने की इसी निसर्ग-निपुणता के कारण उनमें चालाकी की संभावना भी की जाती है—

'स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः ।'
'प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजातम् अन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति ।।'[७६]

"बिना सिखाए प्राप्त होने वाली स्त्रियों की पटुता मनुष्येतर प्राणियों में भी दिखाई देती है, फिर शिक्षायुक्त नारियों का तो क्या कहना।' 'देखो, आकाश में उड़ने से पहले कोयल अपने बच्चों का पालन दूसरे पक्षियों से करवाती है।"

इन सब सूक्तियों का काव्यगत प्रसंग देखने पर विदित होता है कि कहीं स्त्री पर सन्देह में और कहीं उसकी प्रशंसा में ये विचार व्यक्त किए गए हैं, अतः इनमें कवि का स्वीकृत मत नहीं है। इसके विपरीत इन सभी सूक्तियों में ऐसे नर की एकपक्षीय दृष्टि दिखाई पड़ती है जो नारी को अपने स्वभाव आदि से भिन्न पाकर ठगी सी रह गई है। वस्तुतः चतुरता प्रत्युत्पन्नमतित्व या चालाकी ऐसे गुण हैं जो स्त्री पुरुष दोनों को ही प्राप्त हो सकते हैं।

(ग) **अनर्थकारिणी**—अश्वघोष एवं भर्तृहरि दोनों ही कवि नारी के द्वारा अनेक अनर्थों की संभावनाएं करते हैं। **व्यसनान्ता हि भवन्ति योषितः**[७७]—"स्त्रियां अंत में विपत्ति लाने वाली होती हैं", या—**स्त्रीसंसर्गो बहुविधमनर्थाय भवति**[७८]—"स्त्री का सम्पर्क बहुत प्रकार के अनर्थों के लिए होता है।"—इन सूक्तियों में अश्वघोष स्त्री की तुलना विषैली लता, सर्पयुक्त गुफा, नंगी तलवार, पवनोद्दीप्त उल्का, पादाक्रान्त भुजंग तथा घरेलू भेड़िये से करते हैं।

अश्वघोष की चेतावनी के अनन्तर, और स्वयं भी यह जानते हुए कि— **चतुर-वनिताभोगिग्रस्तं त्यजन्ति ही मन्त्रिणः**[७९]—"चतुर स्त्री रूपी सर्प के काटे हुए को मन्त्रज्ञ भी छोड़ देते हैं", 'तपस्वी' भर्तृहरि स्त्री के आकर्षण से उत्पन्न रोग की असाध्यता का अनुभव करते हैं—**मुग्धाक्षीक्षणवीक्षितस्य न हि मे वैद्यो न चाप्यौषधम्**[८०]—"मुग्धनेत्रों वाली की दृष्टि से दष्ट मेरे लिए न वैद्य है, न औषध।"

महाकवि माघ नारी-प्रदत अनर्थश्रृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी खोज दिखाते हैं—**बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः**[८१]—"दृढ़मूल वैररूपी महावृक्ष की जड़ निश्चय ही स्त्रियां हैं।" यह संकेत विचारणीय है। भारतीय इतिहास-परम्परा से कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जो स्त्री के कारण होने वाले युद्धों और संघर्षों का कथानक हैं। कैकेयी के कारण राम को वन जाना पड़ा और सीता के लिए लंकायुद्ध हुआ। इसी प्रकार द्रौपदी के वचनों के कारण दुर्योधन का पाण्डवों के प्रति वैमनस्य भड़का था। ऐसे प्रसंगों में जहां स्त्री के आकर्षण आदि के कारण संघर्ष हुए वहां आकृष्ट होने वाले पुरुष को भी दोष से मुक्त नहीं किया जा सकता। जहां स्त्री के अविचारित व्यवहार से झंझट पैदा हुए हैं वहां स्त्री की संकीर्णता के पीछे उसकी अशिक्षा और समाज में दबे रहने से उत्पन्न कुण्ठाएं छिपी हैं, और निस्सन्देह उसका दायित्व भी पुरुषवर्ग पर आता है। अतः यद्यपि तत्कालीन नारी अपनी सीमाओं के कारण कुछ अनर्थों का निमित्त बन गई होगी तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि कभी तो निज दायित्व-विस्मरण और पर-

दोषदर्शन की भावना से और कभी विरक्ति-भावना को पुष्ट करने के लिए इस प्रकार की सूक्तियां निस्सृत हुई हैं।

(घ) **बन्धनरूपा**—सब आसक्तियों से मुक्त होने की इच्छा हो तो स्त्री सबसे बड़ी रुकावट बन जाती है। अतः भर्तृहरि के मन में—**समस्तभावैः खलु बंधनं स्त्रियः**[८२] —"सभी दृष्टियों में स्त्रियां बन्धन हैं।" वे इसका कारण भी स्पष्ट करते हैं—**संसार! तव निस्तार (पर्यन्त)-पदवी न दवीयसी, अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि ते (रे) मदिरेक्षणाः**[८३] —"अरे संसार! तुझसे मुक्त स्थान दूर न होता यदि तेरे बीच में कठिनता से पार करने योग्य ये मदिरनेत्रों वाली न होतीं।"

कई सूक्तियों से भान होता है कि अपनी मनोवृत्तियों पर वश पाने में असमर्थ भर्तृहरि उनके विषय को दोष दे रहे हैं जबकि इसके लिए अपनी इन्द्रियों या उनके प्रेरक मन को दोष देना चाहिए। स्त्री में आकर्षण और उसके वशीकरण के कारण वे स्त्री में सुख और दुःख, अमृत और विष दोनों द्वन्द्वों का दर्शन करते हैं—**नान्यन्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो, दुःखैकहेतुर्न च कश्चिदन्यः**[८४]—"स्त्रियों के अतिरिक्त मनोहर भी कुछ नहीं, और दुःख का एकमात्र कारण भी कुछ और नहीं"। तथा—

नामृतं न विषं किञ्चिद् एकां (एतां) मुक्त्वा नितम्बिनीम्।
सैवामृतलता रक्ता (युक्ता) विरक्ता विषवल्लरी॥[८५]

—"एक स्त्री को छोड़कर न तो कुछ अमृत है न विष। वही अनुरक्त हो तो अमरलता है और विरक्त हो तो विषैली बेल।" इस प्रकार के विरोधी गुणों से पुरुष पर छा जाने वाली नारी को वे संसार का सबसे बड़ा बन्धन बताते हैं और उसके सृजन के लिए (विधाता की बुद्धि पर) आश्चर्य प्रकट करते हैं—**स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिलोकस्य पाशः**[८६]—"यह विषमय और अमृतमय स्त्रीरूप यन्त्र जीवमात्र का बन्धन किसने बना डाला?" इस प्रकार स्त्री को बन्धन मानकर दोष देना एकांगी ही कहलाएगा क्योंकि बन्धन स्त्री में न होकर अपने मन की भावनाओं में है।

इन एकांगी विचारों के पोषक मुख्यतः अश्वघोष और भर्तृहरि हैं। ये उनकी संसार-त्यागी भावना और उपदेशपरायणता के परिचायक हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसी अनेक उक्तियां लोक में भी प्रचलित हो गई हैं, परन्तु इससे उनकी तथ्यता या सत्यता सिद्ध नहीं होती। हो सकता है कि कुछ सामयिक सत्य रहने के कारण इस प्रकार के वचनों पर पहले कभी बहुत श्रद्धा रही हो किन्तु आज के युग में जबकि नारी में शिक्षा और प्रगतिशीलता का प्रसार होता जा रहा है, इन्हें स्वीकार करना संभव नहीं।

७. निष्कर्ष

ऊपर कवियों की प्रत्यक्ष या परोक्ष दृष्टि में अवस्थित नारी-चित्र को समग्ररूपेण देखा गया है और सूक्तियों के आधार पर उसमें रेखाएं भरने का यत्न किया गया है। इस विवेचन के अनुरूप तत्कालीन नारी के स्वरूप एवं तत्सम्बन्धी भावना की पृष्ठभूमि को समझा जा सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि नारी के सौन्दर्य, सुकुमारता

आदि गुणों से उद्भूत उसकी आकर्षण और वशीकरणशक्ति का अनुभव किया गया है[८७]। नारी के पुरुष-भिन्न स्वभाव और व्यवहार को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा गया है[८८]। नारी के प्रति शिष्ट व्यवहार को ही अच्छा समझा गया तथा अवस्था-विशेष में उसे अन्य पुरुषों की दृष्टि से सुरक्षणीय माना गया है[८९]। नर-नारी की अन्योन्य के प्रति भ्रान्तियों का भी संकेत हुआ है, जो मानवीय सीमाओं और तज्जन्य विषमताओं को ध्वनित करती हैं[९०]। नारी के प्रति एकांगी दृष्टिकोण रखकर भी कुछ सूक्तियां कही गई हैं, जिन्हें कवियों पर उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्रभाव दिखाने में विशेषरूपेण सक्षम कहा जा सकता है।[९१]

यह पाया गया है कि कवियों के नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण और मान्यताओं में विविधता है। अत: यदि प्रत्येक कवि को एकैकश: देखा जाए तो सूक्तियों के आधार पर उनकी नारी-विषयक धारणाओं को द्योतित करने वाले निम्नांकित तथ्य प्रकट होंगे।

भास ने नारी के पारिवारिक स्वरूप को अधिक महत्त्व दिया है, यद्यपि उन के नाटकों में नारी का अन्य (गणिका, प्रेमिका आदि) रूपों में भी वर्णन उपलब्ध होता है। नारी को सुकुमार और अवध्य माना है तथा उसके अन्तर में कहीं कटुता या छलना के दर्शन नहीं किये। उसके प्रति पुरुष का कर्त्तव्य अवश्य जतलाया है।[९२]

इसके विपरीत अश्वघोष स्त्री के वाह्य सौन्दर्य की तीव्रता, आकर्णण आदि को देखते हैं परन्तु नारी के आन्तरिक सौन्दर्य (शालीनता आदि) या पुरुष से सम्बन्धों की मधुरता और पारस्परिक कर्त्तव्य-भावना को समझने या कहने का अवकाश नहीं पाते। (संभवत:, वैराग्यभावना के प्रसारार्थ) स्त्रियों को पुरुषों पर अविश्वास करने का परामर्श देते हैं और स्त्री के मन की चंचलता एवं उसके छलनामय रूप का विकट चित्र उपस्थित करते हैं। पुरुष को मोक्ष की प्रेरणा देते हैं पर नारी को नहीं। उनका दृष्टिकोण विरक्त बौद्ध का प्रतीत होता है।

कालिदास ने नारी-स्वभाव के मर्म को तत्कालीन समाज के परिपार्श्व में समझने का प्रयास किया है। अपनी दुर्बलता को छुपाने हेतु स्त्री पर दोष मंढ़ने वाले कुछ विचारकों के लिए वे चेतावनी का काम करते हैं, तथा वताते हैं कि नारी को अनुरागयोग्य पुरुष की कामना रहती है। साथ ही वे नारी-अन्तर के दोनों शुभ और अशुभ रूपों को प्रत्यक्ष करते हैं, परन्तु उसके चालक, कठोर और उद्धत रूप की अपेक्षा लज्जाशील, शालीन और मनस्वी रूप को अधिक दृढ भावना से व्यक्त करते हैं।

शूद्रक की सहानुभूति नारी के पक्ष में प्रतीत होती है। स्त्री से व्यवहार में वे सहृदयता को अनिवार्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में शंकालु लोग ही नारी के प्रति भ्रान्त विचार रखते हैं[९३]। दूसरी ओर, विशाखदत्त की दृष्टि में नारी की चंचलता प्रमुखरूपेण आई है, और राजनैतिक नाटक में भी उसे यथाकथंचित् कह जाना इस सम्बन्ध में उनकी पुष्ट धारणा प्रकट करता है।

भारवि को नारी अवला और पुरुष की अपेक्षा अयोग्य दिखाई देती है।[९४] वाण-भट्ट नारी के अवलात्व के साथ-साथ लज्जाशीलता, प्रेमातुरता, शालीनता आदि सद्रूपों

को भी देखते हैं। वे उसको अनुकम्पा-योग्य मानते हैं।

हर्ष ने कालीदास के विचारों को मानकर श्रेष्ठ नारी की श्रेष्ठ पुरुष के प्रति ही अभिलाषा को समझा है। भास व कालिदास के समान उन्हें भी कन्याओं या अविवाहिताओं के दर्शन में दोष नहीं माना।

अश्वघोष के समान ही भर्तृहरि का दृष्टिकोण भी नारी के प्रति एकांगी है। वे उसमें सौन्दर्य और आकर्षण की तीव्र वशीकरण-शक्ति का अनुभव करते हैं और नारी द्वारा उस शक्ति का दुरुपयोग किये जाने के कारण (अपने असंयम के कारण नहीं) नारी को सब प्रकार के दु:खों और बन्धनों का मूल मानते हैं। नारी के अन्त:-सौन्दर्य की कोई अनुभूति न रखने वाले भर्तृहरि को भी नारी का हर व्यवहार प्रेमविहीन और अविश्वसनीय प्रतीत होता है।

भवभूति नारी-चित्र में सुकुमारता का प्राधान्य मानते हैं, जबकि माघ नारी की शारीरिक कोमलता एवं लावण्य और स्वभाव के हल्केपन की ओर दृष्टि आकृष्ट करते हैं। उनके विचार में नारी घबराहट दिखाकर या रोकर वशीभूत करती है। माघ की धारणा है कि स्त्री वैरों की जननी हुआ करती है।

कवियों की धारणाओं की इस विभिन्नता और कहीं-कहीं परस्पर-विरोधिता के पीछे उनके व्यक्तिगत अनुभव मूलकारण रहे होंगे। कुछ कवियों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि भी अपनाई है परन्तु अधिकतर अपने-अपने रूढिगत या परिस्थितिजन्य संस्कारों और रुझानों से प्रभावित हैं। □□

संदर्भ-संकेत

१. —"Among the rude people, the women are generally degraded; among civilized people, they are exalted." —James Mill, History of British India, Vol I, P. 293 (London, 1917)

२. तुलनार्थ—"वास्तव में नारी के प्रति सद्‌व्यवहार, किसी राष्ट्र की संस्कृति की ऊँचाई मापने के लिए महत्त्वपूर्ण मापदण्ड है।"
—डा० रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति, पृ० ७७

३. —"The religious rights of woman amongst the Aryans testified to the elevated rank which she occupied in the Vedic family."
—Mary E. R. Martin, Women in Ancient India, P. 49

४. तुलनार्थ—"...the condition of women in North India, then, was

fast deteriorating,…" —Ratnamayidevi Dikshit,
—Women in Sanskrit Dramas, P. 475

तथा देखिए—डा० रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति पृ०७८

५. (क)—"He (Manu) assigns a very reasonable place to women in the framework of Society."
—R.M. Das, Women in Manu and ·· Commentators, P. 38

(ख) "And it may be confidently asserted that in no nation of antiquity were women held in so much esteem as amongst the Hindus." —Mill's History of India Vol. II, P. 51

—उद्धृत, डा० रामजी उपाध्याय, प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति, पृ० ७८

६. पञ्च० ३।१८—भीष्म, अभिमन्यु को पकड़ने वाले का परिचय पाने के लिए
७. बुद्ध० ५।६३
८. शृं० ३५
९. वही ६
१०. मालवि० ३। १२—मदपूरिता इरावती अपनी सखी से
११. शृं० ५
१२. शिशु० ११। ५५
१३. सौन्द० ७। २७
१४. भावेन, गर्वेण, गतेन, लक्ष्म्या, स्मितेन, कोपेन, मदेन, वाग्भिः।
जह्रुः स्त्रियो देवनृपर्षिसंघान् कस्माद्धि नास्मद्विधमाक्षिपेयुः॥ —वही ७।२४
१५. वही ८।४४
१६. बुद्ध० ४।२३
१७. शृं० १०
१८. शृं० ११
१९. शृं० १९
२० शृं० ८
२१. शृं० ९
२२. शतकत्रयादिसुभाषितसंग्रह, दामोदर धर्मानन्द कोसंबी, श्लो० सं० ३३६
२३. रघु० ६।६९। (जब इन्दुमती अजके पास आकर रुक गई।)
२४. रत्ना० २।०—सं० ८०—सुसंगता, राजा से सागरिका का प्रेम जानकर
२५. काद० पृ० २९६
२६. मृच्छ० ४।०—मदनिका वसन्तसेना से
२७. मालवि० ४।८
२८. वही ४।७—राजा मालविका की शालीनता पर विदूषक से
२९. हर्ष च० १।पृ० २५।पं० ४। तुलनार्थ—"Modesty is a woman's dowry…"

"Silence is woman's best ornament." —S.P.L., p.26, 108

३०. उत्तर० ४।१२

३१. मालती० ७।०—बुद्धरक्षिता स्त्री के प्रति नन्दन के व्यवहार की आलोचना करते हुए

३२. चारु० २।०।पं० ३३—वसन्तसेना, यह बताते हुए कि वह किसे चाहती है

३३. दे०—"स्वयमारूढा हि स्त्री त्यजमानाभिशपतीति लोक-प्रवादः।"

—अर्थ० ५।६। पृ० ४११

३४. देखिए—मनु० ९।१४-१८। तथा मिलाइए—"Manu regards woman as more emotional and less rational by nature than man."

—R.M. Das, Women in Manu and·· Commentators, p. 40

३५. देखिए "—The anger of the male, both in the human and in most animal species, is so readily aroused in an intense degree by any threat of opoostion to the operation of the sexual impulse;··"

—Mcdougal W., Social Psychology, p. 71

३६. मेघ० १।१०

३७. कु० ४।५

३८. सौन्द० ६।४१

३९. हर्ष च० ६। पृ० १७९। पं० १०

४०. स्वप्न० ४।८

४१. शिशु० ७।४३

४२. वही ८।२४

४३. अभि० ५।१६—पं० ९—राक्षस, सीता की हत्या के लिए उद्यत रावण से

४४. किरात० ६।४५

४५. हर्ष च० ८। पृ० २४४। पं० २१

४६. काद० पृ० ४७४, कादम्बरी, चन्द्रापीड के व्यवहार पर चन्द्रलेखा से

४७. बुद्ध० ४।६८

४८. वही ४।६७

४९. वही ४।७०

५०. दे० आगे परि० ५, अनु० ६

५१. मृच्छ० १।५०। इस सूक्ति के साथ "एतदपि न श्रुतंत्वया"—"तूने यह भी नहीं सुना", यह वाक्यांश जुड़ा है जो इसके लोक-प्रसिद्ध होने का परिचायक है।

५२. वही ४।१३। तुलनार्थ—"A woman either loves or hates to extremes."

—S.P.L., p. 131

५३. :—2 insincere or overcourteous conduct of a lover.'

—V. S. Apte, p. 249.

५४. यौग० ३।४—पं० १८ विदूषक, वस्त्र से अनावृत शिबिका द्वारा राजकुमारी वासवदत्ता के पूजार्थ जाने का वर्णन करता हुआ

५५. प्रिय० २।६—सं० ३२ राजा, आरण्यिका को अविवाहित कन्या जानकर तथा—नागा० १।१४—पं० १४, नायक, कन्याओं के होते हुए भी देवायतन में प्रवेश को दोषहीन समझते हुए

५६. शाकु० ५।१३—सं० ५१ राजा शकुन्तला को पराई स्त्री मानकर

५७. वही ७।२०—सं० ८१ राजा, भरत की माता के विषय में प्रश्न की इच्छा उठने पर

५८. प्रतिमा० १।२९

५९. सौन्द० ६।१९

६०. मालवि० ३।१९—पं० ४६२, इरावती राजा को मालविका से प्रम करते देखकर

६१. विक्र० ३।१

६२. मुद्रा० २।७

६३. शिशु० १०।७९ । तुलनार्थ—"स्त्रीभावत: प्रवदति प्रतिकूलमेव ।" —अवि० ३।७

६४. सौन्द० ८।३६

६५. चञ्चलं हि मन: कृष्ण प्रमाथी बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ —गीता० ६।३४

६६. सौन्द० ८।४२ । तुलनार्थ—"Never trust a woman when she weeps."
S.P.L., p. 132

६७. वही ८।३५

६८. शृं० ५१

६९. मृच्छ० ४।१२ । तुलनार्थ—"A woman is always wavering and inconstant." —S.P.L., p. 131

७०. मृच्छ० ४।१५

७१. वही ४।१६

७२. शृं० ५०

७३. मालवि० ३।२—पं० ८७, राजा, रानी से झूले का निमन्त्रण पाकर, (यह समझते हुए कि रानी ने उसके इधर-उधर भटकते मन को जान लिया है ।)

७४. मृच्छ० ४।१९, स्वर्णभाण्ड के विषय में मदनिका की मति जानने के लिए शर्विलक द्वारा प्रशंसा

७५. शाकु० ५।२१—पं० ९५, राजा विस्मृतिग्रस्त होने कारण शकुन्तला को झूठा बताता हुआ

७६. वही ५।२२

७७. सौन्द० ८।३१ । तुलनार्थ—"प्रमदा दु:ख की खानि"—हिन्दी लोकोक्ति ।

७८. वही ८।६१। तुलनार्थ—जलौका केवलं रक्तमाददाना तपस्विनी।
प्रमदा सर्वदाऽ(मा)—दत्ते चितं वित्तं वलं सुखम् ॥८६॥
—स्कांद० काशी खण्ड० अ० ३६
—उद्धृत—Purenic words of wisdom, (ed.—A.P. Karmarkar), P.1
७९. श्टृं० ५२
८८. वही ५५
८१. शिशु० २।३८
८२. श्टृं० २
८३. वही ३३
८४. वही ४०
८५. वही ४४। तुलनार्थ—"नारी विष की वेलरी"—हिन्दी लोकोक्ति
८६. वही ४५
८७. ऊपर परि० ५, अनु० २
८८. ऊपर परि० ५, अनु० ३
८९. ऊपर परि० ५, अनु० ४
९०. ऊपर परि० ५, अनु० ५
९१. ऊपर परि० ५, अनु० ६
९२. ऊपर परि० ५, अनु० ४, (क) कोमलतापूर्वक
९३. ऊपर परि० ५, अनु० (क) अविश्वसनीया
९४. किरात० १०।५०, ५८
००

परिच्छेद-६

मानव-स्वभाव

१. मानव-स्वभाव-सम्बन्धी सूक्तियों से तात्पर्य

मानव-जीवन से सम्बन्ध रखने के कारण[1] सूक्तियों में मानव-जीवन के सभी पहलुओं का चित्रण हुआ है। फिर मानव का स्वभाव सूक्तियों का विषय बनने से कैसे रह सकता था? मानव-स्वभाव से तात्पर्य है—मानव के 'मौलिक या सहज गुण, उसकी प्रकृति या प्राकृतिक संघटना, उसका नैसर्गिक शील[2]।' किसी विशेष परिस्थिति में कोई व्यक्ति क्या प्रतिक्रिया करेगा यह उसके व्यक्तित्व की विशेषताओं से निश्चित होता है। अत: मानव का व्यवहार मुख्यत: व्यक्ति-सापेक्ष है। फिर भी सामान्य मानव की प्रतिक्रियाओं में कुछ सीमा तक एकरूपता होती है मनोविज्ञान में भी इसीलिए सामान्य मन का अध्ययन होता है और उससे भिन्न व्यवहार (Abnormal behavior) का पृथक् से निरूपण किया जाता है।

कवि भी मानव-स्वभाव को समझने का यत्न करता है। काव्य में वह विविध पात्रों के व्यवहार से भिन्न-भिन्न प्रकार के मानवमन की झलक दिखाता है। परन्तु अनेक बार कवि मानव-स्वभाव की किसी विशिष्टतापर सूक्ति रूप में टिप्पणी भी कर जाता है। ऐसी मानव स्वभाव-सम्बन्धी सूक्यों में अंकित मानवमन और उसके स्वभाव की कतिपय विशिष्टताओं को यहां पर दर्शाया जा रहा है।

सूक्तियों में मानव मन और स्वभाव की जिन क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं, शक्तियों, विशिष्टताओं और उन पर पड़ने वाले प्रभावों का संकेत निहित है उन्हें निम्न रूप देकर प्रस्तुत किया गया है—

१. मानव मन को प्रभावित करने वाली अवस्थाएं, २. मानव मन की इच्छाएं और आवश्यकताएं, ३. मानव मन की शक्तियां, ४. मानव मन की वृत्तियां, ५. मानव-स्वभाव के कुछ विशिष्ट पहलू।

२. मानव को प्रभावित करने वाली अवस्थाएं

(क) परिभव (तिरस्कार, पराजय)—जब मानव को परिभव सहना पड़ता है तब उसे एक विशेष प्रकार की क्षुब्धता की अनुभूति होती है, जिसकी प्रतिक्रिया वह

प्रत्येक परिस्थिति के अनुरूप तथा अपने स्वभावानुसार ही करता है। ऐसी एक प्रतिक्रिया का उल्लेख भास करते हैं—**जनयति खलु रोषं प्रश्रयो भिद्यमानः**[3]—"ठुकराया हुआ समादर (या प्रेम) क्रोध उत्पन्न करता है।" किसी के द्वारा आदर या स्नेह का प्रदर्शन करने पर उसे स्वीकार न करना वस्तुतः उसका बहुत बड़ा अपमान है, और ऐसी अवमानना के प्रतिकार-स्वरूप रोषोत्पत्ति स्वाभाविक ही है।

कभी-कभी तिरस्कार से उत्कट क्षोभ का जन्म होता है और फलतः प्राणी अपने सामर्थ्य को पहचानने का यत्न करने लगता है। कालिदास मानते हैं—

'ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्, 'विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।'
'प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते जन्तुः'।।[4]

—"ईंधन को हिलाने से आग जल उठती है", "तिरस्कृत सांप फन फैलाता है।" "प्रायः क्षोभ से प्राणी अपनी महत्ता को पा लेता है।" और इस प्रकार शक्ति का पूर्ण प्रयोग कर दिखाता है। इतिहास-प्रसिद्ध आचार्य चाणक्य ने इस प्रभाव और प्रतिक्रिया का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया था।

शत्रु से पराभव पाकर व्यक्ति का मन न केवल क्षोभ के भार से ही दब जाता है प्रत्युत लज्जा से भी भर जाता है। माघ की कुछ सूक्तियों का यही भाव है—**परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसहः**[5]—"शत्रुजन्य पराजय असह्य है।" तिस पर—"कौन निर्लज्ज भला शत्रु से स्वयं को विजित जानकर अपने गुणों का प्रकाशन करेगा?"[6] इसके विपरीत लज्जा के मारे वह तो मुंह ही छिपता फिरेगा—**प्रादुःष्यात् क इव जितः पुरः परेण**[7] —'शत्रु से पराजित कौन भला सम्मुख आ सकता है?" इस प्रकार परिभव के प्रभावस्वरूप क्रोध, क्षोभ, लज्जा आदि भावों का जन्म हो सकता है।

(ख) **प्रार्थना**—याचना करते हुए जो कष्ट या ग्लानि होती है उसे कोई वाचक ही समझ सकता है। भास के अनुसार—**निर्वेदप्रत्यर्थिनी खलु प्रार्थना**[8]—'प्रार्थना वास्तव में दुःख को उत्पन्न करने वाली है।' अतः प्रार्थना का प्रभाव प्रार्थी के मनःप्रसाद को नष्ट करके संकोचावस्था लाकर कष्टकर ही होता है।

(ग) **स्नेह-प्रदर्शन, प्रशंसा और सत्कार**—ये तीनों व्यवहार जिसके प्रति किये जाते हैं उसके मन पर प्रसादक प्रभाव डालते हैं। पारस्परिक स्नेह प्रदर्शन का व्यवहार पारस्परिक कटुता को भुलाने का एक सरल उपाय है। भास बताते हैं—**(अस्य) रूक्षस्य वचसः परिष्वङ्गः शमीक्रिया**[9]—"गले मिलना (इस) रूखे वचन की शान्ति करने वाला है।" स्नेह-प्रदर्शनार्थ मित्रों और बन्धु-बान्धवों आदि सभी के द्वारा ऐसे आलिंगन का प्रयोग हुआ करता है।

इसी प्रकार प्रशंसा से मनुष्य समादृत अनुभव करता है और यह उसके लिए आनन्दकर है। अतः कालिदास पूछते हैं—**स्तोत्रं कस्य न तुष्टये?**[10]—"स्तुति-गीत किसी तुष्ट्यर्थं नहीं होते?" किन्तु साथ ही, जैसा कि भास बताते हैं, मिथ्या-स्तुति अवांछनीय है। इसीलिए अपनी अनुचित प्रशंसा पाकर राजकुमार 'उत्तर' सोचता है—**मिथ्या प्रशंसा खलु नाम कष्टा**—"झूठी प्रशंसा तो कष्टदायिका है।" पर जो हो झूठी

प्रशंसा है सभी को प्रिय और इसलिए चाटुकारों द्वारा उच्चपदासीनों की मिथ्या-प्रशंसा की भी जाती है, और प्रायः पसन्द भी की ही जाती है।

सच्चे सत्कार का भी एक प्रभाव मन पर यह पड़ता है—**प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः**[१२]—"उत्तम व्यक्ति द्वारा प्राप्त समादर अपने गुणों में विश्वास करवा देता है।" सामान्य व्यक्ति और श्रेष्ठ व्यक्ति के बीच यही अन्तर प्रतीत होता है कि दूसरा गुणों का आधार लिए बिना सत्कार नहीं देगा। अतः श्रेष्ठ-पुरुष द्वारा सत्कृत होकर प्रसन्नता हो तो वह निराधर नहीं, और आत्मविश्वास जागे तो आश्चर्य नहीं।

(घ) **दोष और उसकी अनुभूति**—दोषी मनुष्य निश्शंक नहीं रह सकता। भास और शूद्रक स्वीकारते हैं—**स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्यः**[१३]—"अपने दोषों से मनुष्य शंकायुक्त ही रहता है।" इसलिए अपराधी को दण्ड देने का, उसे दोषानुभूति कराने का एक बड़ा विचित्र और सुन्दर ढंग हो सकता है—उसका सत्कार करना। इससे उसे दोषानुभूति और भी तीव्रता से होने लगती है। भास के अनुसार—**कृतापराधस्य हि सत्कृतिर्वधः**[१४]—"अपराधी का सत्कार निश्चय ही उसकी हत्या (के समान) है।" भाव यह कि सत्कृत अपराधी गहरी लज्जा अनुभव करने लगता है।

दोषानुभूति से पश्चाताप और उसी से दुष्कर्म की निवृत्ति होती है। बाण ने कहा है—**सर्व एव हि अविनयप्रवृत्तोऽनुतापाद्विना न निवर्त्तते**[१५]—"पश्चात्ताप के बिना कोई भी दुष्टता में प्रवृत्त व्यक्ति नहीं बदलता।" इसलिए कठोर दण्ड की अपेक्षा दोषानुभूति कराना अपराधी के मन को अधिक अच्छे रूप से प्रभावित करता है। आज-कल भी कुछ देशों में इस मनोवैज्ञानिक आधार पर दण्ड देने की प्रणाली अपनाई जाती है। परन्तु इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि भावुक एवं विचारशील व्यक्तियों को ही सत्कार आदि उपायों से दोषानुभूति कराई जा सकती है, धृष्टजनों को नहीं। संभवतः इसीलिए मनु आदि शास्त्रकारों ने ब्राह्मणों को श्रेष्ठ व्यक्ति मानते हुए[१६] उनके लिए मृदु दण्ड का[१७] विधान किया है।

(ङ) **वैभव और शक्ति**—मनुष्य के आर्थिक जीवन-स्तर के न्यून या अधिक वैभव का प्रभाव स्वयं उसके और और अन्य सभी के मन पर भी पड़ता है। महती सम्पत्ति का अपने मन पर क्या प्रभाव हो सकता है यह बाण ने बताया है—**धनोष्मणा म्लायत्यलं लतेव मनस्विता**[१८]—"धन की गर्मी से बुद्धिमत्ता लता सी पूर्णतः मलिन हो जाती है।" जब मनस्वी लोग भी धन-सम्पत्ति के कुप्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते तो सामान्य या छोटे लोगों पर इसका प्रभाव अतिशीघ्र होना स्वाभाविक ही है—**सम्पत्कणिकामपि प्राप्य तुलेव लघुप्रकृतिरुन्नतिमायाति**[१९]—"सम्पत्ति की किनकी पाकर भी तुच्छ स्वभाव वाला व्यक्ति तुला के समान एकदम ऊपर उठ जाता है", अर्थात् गर्वित हो जाता है। वस्तुतः—**अपरिणामोपशमो दारुणो लक्ष्मीमदः**[२०]—"लक्ष्मी का मद ऐसा दारुण होता है कि अन्त तक शान्त नहीं होता।" किसी की शक्ति और वैभव का अन्यों पर पड़ने वाला प्रभाव कालिदास ने संकेतित किया है। "शिवजी के ऐश्वर्य और तेज को देखकर इन्द्र क्षुब्ध हो उठा। सच है—**नु कस्य मनो न हि क्षुभ्यति धामधाम्नि ?**[२१]

—"भला किसका मन प्रताप के खजाने के सम्मुख क्षुब्ध नहीं होता ?"

(च) विपत्ति—जीवन-चक्र सदा एक सा नहीं चलता, कभी ऐश्वर्य में से निकलता है, और कभी विपत्तियों में से। कुछ सूक्तियों में विपत्तियों का मानव-मन पर पड़ने वाला प्रभाव दर्शाया गया है। विपत्तियों का आगमन इतना अनिश्चित है कि सदा ही इनकी आशंका बनी रहती है, और भास के समान ही कहना पड़ता है—**गतं गतं कालमवेक्ष्य निर्वृतिः**[२२]—"बीते हुए समय को देखकर शान्ति मिलती है।" या लोक प्रचलित एक कहावत के अनुसार···"जो गुजर जाए, वाह-वाह।" इस भांति मन को सशंक बनाए रखने वाली विपत्ति का एक लाभकारी प्रभाव अवश्य है कि यह आपसी फूट को मिटा देती हैं—**घ्नन्ति सहजमपि भूरिभियः सममागताः सपदि वैरमापदः**[२३] — "एक साथ आई हुई बहुत भयावनी आपत्तियां स्वाभाविक वैर को भी एकदम नष्ट कर देती हैं।" संकट का सामना करने के लिए वर्ग-विशेष के व्यक्ति एक हो जाते हैं। भारत पर चीन एवं पाक के आक्रमण के समय इस भावना का अनुभव किया जा चुका है।

विपत्ति का एक प्रभाव व्यक्ति पर यह होता है कि वह उससे मुक्त होने के लिए क्रियाशील हो जाता है – **विपदा परिभूताः किं व्यवस्यन्ति विलम्बितुम्** ?[२४]—"क्या विपत्ति से दबाए हुए विलम्ब करने का विचार भी कर सकते हैं ?"

(छ) विवेकपूर्ण विचार—बाण बताते हैं—**एको हि प्रतिसंख्यानक्षण आधारी-भवति धृतेः**—"विवेकपूर्ण विचार करने का एक क्षण भी धैर्य-धारणार्थ पर्याप्त है।" अतः विचार-शक्ति द्वारा मन को संयत किया जा सकता है।

(ज) वय (यौवन या जरा)—मानवमन मानव की अवस्था (उम्र) के अनुसार भी पर्याप्त परिवर्तित हुआ करता है। एक तथ्य तो निर्विवाद है कि यौवन में मनुष्य उत्साही, चंचल और प्रेमी होता है और वृद्ध होते-होते उसके इन गुणों में क्षय होता जाता है। भास—**कष्टं तारुण्यं नाम**—"तरुणाई बड़ी कष्टकर है"— यह बताते हुए इस वय के ये प्रभाव दिखाते हैं—"राग को उभाड़ता है, प्रमाद का आश्रय लेता है, दोषों की चिन्ता नहीं करता, साहस की ओर बढ़ता है, स्वच्छन्द विचरता है, नीतिमार्ग नहीं चाहता और अच्छे विद्वानों की भी बुद्धि को विवश बना देता है।"[२६]

बाणभट्ट ने कादम्बरी में स्थल-स्थल पर यौवन के प्रभाव को दर्शाया है—**अतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्**[२७]—"यौवन से उत्पन्न होने वाला अन्धकार बहुत गहरा है।" परिणामस्वरूप—**तिमिरोपहतेव यूनां दृष्टिरल्पमपि कालुष्यं महत् पश्यति**[२८]—"अन्धकार से नष्ट सी युवकों की दृष्टि थोड़ी सी भी कामविकृति को बहुत बढ़ा हुआ देखती है।" यही कारण है कि रागाभिलाषी युवक-युवतियों को अन्योन्य की हर क्रिया में अपने से सम्बन्धित व्यवहार ही दिखाई देता है।[२९]

यौवन में मन इतना उच्छृंखल होता है कि कोई न कोई गलती करवा देता है। इसलिए कवि बताता है—**सर्वथा दुर्लभं यौवनमस्खलितम्**[३०]—"सर्वथा स्खलनरहित यौवन दुष्प्राप्य है", और प्रश्न करता है—**किमस्ति कश्चिदसावियति लोके, यस्य निर्वि-**

कारं यौवनमतिक्रान्तम् ?[३१]—"क्या है कोई ऐसा इतने बड़े इस संसार में जिसकी युवावस्था विकारहीन बीत गई हो ?" निश्चय ही शरीर की शक्तियां और कामनाएं यौवन में तीव्रतम होती हैं और मनको प्रभावित करके ही रहती हैं। और जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है, यौवन भयंकर भी हो सकता है—**न ह्यनर्थं निजकुलदहनं यौवनादन्यदस्ति**[३२]।

वृद्धत्व इसके विपरीत हुआ करता है।[३३] अन्य अनेक परिवर्तनों के साथ इस अवस्था में भासके अनुसार क्रोधाधिक्य भी हो जाता है—**क्रोधप्रायं वयो जीर्णम्**।[३४]—"वृद्धावस्था प्रायः क्रोधयुक्त होती है।"

सामान्यतः वयस् का मनपर इसी रूप में प्रभाव पड़ा करता है। किन्तु अपवादस्वरूप बुद्ध जैसे कुछ व्यक्ति युवावस्था में ही प्रौढत्व के गुण पा जाएं तो आश्चर्य भी नहीं। बिम्बसार बुद्ध से कहते हैं—**कामस्य पूर्वं हि वयः शरव्यं न शक्यते रक्षितुमिन्द्रियेभ्यः**।[३५]—"प्रारंभिक वय (युवावस्था) कामके तीर का लक्ष्य होती है, उसे इन्द्रियों (के प्रभाव) से सुरक्षित करना संभव नहीं।" इस भांति यौवन में धैर्याभाव और कामोद्वेग की संभावना करने वाले पिता को बुद्ध यह उत्तर देते हैं—**बहुशो हि दृश्यते जराप्यधीरा धृतिमच्च यौवनम्**[३६] —"अनेक बार जरावस्था में अधीरता और यौवन में धृतिमत्ता देखी जाती है।" ऐसा अपवादस्वरूप ही होता है। अतः सामान्य नियम अश्वघोष की दृष्टि में भी इसके विपरीत ही है, चाहे वह बुद्ध के अनुयायी कवि को प्रशस्य प्रतीत न हो।

(झ) **समानता (विद्या और शील में)**—दो व्यक्तियों के मनमें अन्योन्य के प्रति कोई भाव जागृत करने के लिए उनकी पारस्परिक समानता विशेषतः विद्या और शील में समता पर्याप्त महत्त्व रखती है। विद्या की समानता होने पर किस भाव का जन्म होगा यह कालिदास ने दर्शाया है—**प्रायः समानविद्याः परस्परयशः-पुरोभागाः**[३७]—"प्रायः समान विद्यावाले एक दूसरे से अधिक यशस्वी बनना चाहते हैं।" ऐसे में दोनों के बीच बहुत अधिक अन्तर न होने पर स्पर्धा की भावना, और अधिक अन्तर होने पर कम विद्यावाले के मन में ईर्ष्या की भावना की संभावना की जा सकती है।

समान-शीलवालों के पारस्परिक भाव के विषय में बाण कहते हैं—**उपनयन्ति हि हृदयमदृष्टमपि जनं शीलसंवादाः**[३८]—"शील का साम्य अनदेखे व्यक्ति को भी हृदय में ले आता है।" फलतः समानता पारस्परिक आकर्षण की उत्पादक है। इस प्रकार विद्या की समता जहां स्पर्धा या ईर्ष्या की उत्पादिका है, वहां शील का साम्य सदा ही सौहार्द बढ़ाने वाला है।[३९]

(ञ) **बन्धन से मुक्ति**—बन्धनग्रस्त व्यक्ति की प्रतिक्रिया या तो रोषपूर्ण हो सकती है या आत्मग्लानि से युक्त। तेजस्वी और उत्साही वीर पुरुषों की प्रतिक्रिया प्रथम प्रकार की होती है। अतः मुक्त होने पर उनका व्यवहार भी ओजस्विता प्रकट करने वाला होता है। माघ के शब्दों में—**ननु वारिधिरोपरोधमुक्तः सुतरामुत्तपते पतिः प्रभाणाम्**[४०]—"मेघके बन्धनों से मुक्त दिनपति निश्चय ही अधिक तापक होता है।"

इसी प्रकार बन्धनमुक्त वीर भी अधिक भयंकर होता है। बन्धनमुक्ति का ऐसा प्रभाव साधारण दीन-हीन व्यक्ति पर नहीं होगा।

३. मानवमन की इच्छाएं और आवश्यकताएं

(क) **मनोरथों का प्रसार**—कोई भी मानव इच्छाओं से रहित नहीं हो सकता। बड़े से बड़ा वैरागी या सन्त भी कुछ प्राप्ति की इच्छा से ही कार्य में प्रवृत्त होता है[४१]। अश्वघोष ने इसे समझकर ही यह कहा है—**अन्तर्भूमिगतं ह्यम्भः श्रद्दधाति नरो यदा, अर्थित्वे सति यत्नेन तदा खनति गामिमाम्**[४२]—"भूमि के अन्तर्गत जलका विश्वास होने एवं उसका प्रयोजन होने पर ही मनुष्य इस पृथ्वी को खोदता है।" अतः किसी प्रयोजन से ही कार्य किया जाता है, और वह किसी इच्छा या आवश्यकता की पूर्ति करे यह वांछनीय रहता है।

मनुष्य की इच्छाएं कैसी होती हैं या वह क्या क्या चाहता है इसका निर्धारण नहीं किया जा सकता। कालिदास इनकी अनन्तता और अनिश्चितता के विषय में कहते हैं—**मनोरथानामगतिर्न विद्यते**[४३] या **नास्त्यगतिर्मनोरथानाम्**[४४]—"मन की इच्छाओं की किसी विषय में अगम्यता नहीं है" या "साध कहीं भी पहुंच सकती है," अर्थात् मनुष्य कुछ भी चाह सकता है। उसकी अनन्त इच्छाओं में से बहुत थोड़ी सी पूर्ण होती हैं, शेष अपूर्ण रह जाती है। अतः यह कहना भी सही है कि—**मनोरथा नाम तटप्रपाताः**[४५]—"मनोकामनाएं तदी तट के प्रपात के समान भंगुर होती हैं।" इसी का पाठान्तर **मनोरथानामतटाः प्रवाहाः**—"मनोकामनाओं का वेग निरर्गल होता है"—इच्छाओं की अनन्तता का द्योतक है। इन अनन्त और विविध इच्छाओं में से कुछेक सभी मनुष्यों में सामान्यतया पाई जाती हैं। उनका संकेत कतिपय सूक्तियों में हुआ है और वही आगे दिया जा रहा है।

(ख) **कल्याण-भावना**—प्रत्येक व्यक्ति उत्तरोत्तर उन्नति की ओर बढ़ना चाहता है। इसके मूल में अपने कल्याण की भावना रहती है। जो जिससे अपना कल्याण समझता है उसी को पाना चाहता है—**गुणं गुणे पश्यति यश्च यत्र स वार्यमाणोऽपि ततः प्रयाति**[४६]—"जो जहां जिस गुण में गुण देखता है वहाँ रोके जाने पर भी जाता है।" भारवि ने भी कहा है—**यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः**[४७]—"गुणों के विषय में इच्छा करने वाले श्रेष्ठतर प्राप्ति चाहते हैं।" गुणों में उत्कर्ष पाने की इच्छा कल्याणभावना से ही प्रेरित है। कल्याण-प्राप्ति के लिए लालायित मानव का हृदय चाहता है कि उस के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित न हो। अतः भवभूति बताते हैं—**दुर्वृत्त (दुष्ट) प्रशान्तिः कस्य न मनः-प्रसृत्यै (—प्रीत्यै)?**[४८]—"दुर्घटना (या दुष्ट) का शमन किसके मनको प्रसन्न नहीं करता?" कोई भी बुराई अपनी भलाई का विरोध न करे यह हर मनुष्य चाहता है।

इस प्रकार सभी ओर से कल्याण और मंगल चाहने वाले व्यक्ति के लिए कालिदास का सन्देश है—**अनिर्वेदप्राप्याणि श्रेयांसि**[४९]—"निराशा और दुःख से कल्याण

नहीं पाया जा सकता।" आशा और उत्साह के सहारे ही व्यक्ति प्रयास करता है, और विना प्रयास के कल्याण नहीं हो सकता।

हर व्यक्ति अपना अधिक से अधिक कल्याण चाहता है। इसीलिए माघ को कहना पड़ा—**श्रेयसि केन तृप्यते?**[५०]—"कल्याणभाव में किसे तृप्ति होती है?" कल्याण की कोई सीमा नहीं और प्रत्येक को आंशिक कल्याण ही मिलता है, अतः अधिक की इच्छा करना स्वाभाविक नहीं।

(ग) सुखाभिलाषा और दुःखजिहीर्षा—मानव की सर्वप्रमुख और सार्वत्रिक इच्छा यदि कोई है तो वह है 'सुखेच्छा'। एक तरह से इसे मानवमात्र की इच्छाओं के मूल में अवस्थित कहा जा सकता है। 'सुख क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर देना तो सरल नहीं परन्तु कुछेक वातें कही जा सकती हैं। भारतीय जीवन-दर्शन के अनुसार 'मुक्ति' ही परम सुख है। और, अश्वघोष के शब्दों में—**अत्यन्तदुःखोपरमं सुखम्**[५१]—"दुःख की आत्यन्तिक परिसमाप्ति सुख है।"

वस्तुतः सुख और दुःख दोनों प्रत्येक मानव की व्यक्तिगत अनुभूति और प्रतिक्रिया पर निर्भर हैं। अतः सबका सुख-दुःख भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। जब कोई वास्तविक आनन्द, प्रसन्नता और प्रफुल्लता अनुभव करे तब उसे सुखी कहा सकता है, अन्यथा दुःखी। इस तथ्य के आधार पर यह भी आवश्यक नहीं कि भिन्न-भिन्न पदार्थ ही सुख या दुःख का कारण बनें। एक ही पदार्थ परिस्थिति-विशेष में व्यक्ति-विशेष के लिए सुख का भी कारण बन सकता है और दुःख का भी—

'गुरूणि वासांस्यगुरूणि चैव सुखाय शीते ह्यसुखाय घर्मे।'
'चन्द्रांशवश्चन्दनमेव चोष्णे सुखाय, दुःखाय भवन्ति शीते' ।।[५२]

—"भारी और हल्के वस्त्र शीत में और ग्रीष्म में सुख और दुःख के लिए होते हैं।" "चन्द्रकिरणें और चन्दन ग्रीष्म में सुखद और शीत में दुःखद होते हैं।" अतः वस्तु नहीं, उसका गुण ही अनुकूल परिस्थिति में सुख देने वाला होता है।

सुख और दुःख का पारस्परिक सम्बन्ध '३ और ६ का' होने पर भी मानवमन में इनकी स्थिति का ज्ञान अन्योन्य की अपेक्षा से ही होता है। सुख की अनुभूति पर दुःखका और दुःखानुभूति पर सुख का भान अधिक स्पष्टता से हो सकता है—

यदेवोपनतं दुःखात् सुखं तद्रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः ।।[५३]

—"वह सुख अधिक रसीला होता है जो दुःख से (या दुःख के पश्चात्) मिले।" "अभितप्त व्यक्ति को ही तरुच्छाया विशेष सुखकर होती है।" सुख और दुःख का यह द्वन्द्व प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आता है जिसे सहर्ष स्वीकार करना जीवन में उसकी आस्था का प्रतीक होता है। संस्कृत-सूक्तियों में सुख-दुःख के इस चक्र को इसी आस्था के साथ स्वीकारा गया है।[५४]

अपने सुखके मार्ग में कोई बाधा मनुष्य को सहन नहीं होती। वह स्वयं कोई रोक लगाये यह तो असम्भव ही है—**क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां**

पटान्तेन वारयति ?[५५]—"कौन भला शरीरसुखकरी शरत्कालीन चन्द्रिका को (छाते आदि के) वस्त्र से रोकता है ?" भाव यह है कि आनन्द देनेवाली वस्तु का उपभोग कौन न करना चाहेगा ?

सामान्यत: व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होता है, अत: सुख-दु:ख की अनुभूति भी साधारणतया उसे तब होती है जब वह सुख या दु:ख उसका अपना हो। कालिदास के शब्दों में—**महदपि परदु:खं शीतलं सम्यगाहु:**—"दूसरे का महान् दु:ख भी कम होता है, यह ठीक ही कहा गया है।" व्यक्ति को अपनी डाढ़ का दर्द भी किसी भयंकर से भयंकर बाढ़ तूफ़ान या भूकम्प से अधिक कष्टकर प्रतीत होता है।

कोई भी व्यक्ति दु:ख सहना पसन्द नहीं करता। कालिदास के—**न खल्वक्षिदु:खितोऽभिमुखे दीपशिखां सहते**[५७]—"जिसकी आंख में दर्द हो वह दीपक की लौ को सामने नहीं सहता"—इस व्यंग्यात्मक कथन का यही भाव है कि अरुचिकर वस्तु प्रत्येक को असह्य होती है। अपराधियों को शारीरिक दण्ड भी इसी तथ्य को ध्यान में रखकर दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति दु:ख से बचना चाहता है। दण्ड का एक लाभ जहां यह हो सकता है कि अपराधी आगे से अपराध न करे वहां यह भी आशा की जाती है कि वह अपना अपराध स्वीकार करे और अधिकारियों को सही-सही सूचना दे दे। अत: विशाखदत्त कहते हैं—**ताड्यमान: पुरुष: किमिव न ब्रूयात् ?**[५८]—"पीटा जाता हुआ व्यक्ति क्या नहीं कह देता ?" यह शारीरिक दु:ख कभी-कभी तो उसे झूठ-सच सब कुछ स्वीकारने के लिए भी बाध्य कर देता है।

मनुष्य का निवासस्थान उसकी प्राथमिक आवश्यकताओं में से है। उसमें भी वह सुखपूर्वक ही रहना चाहता है—**वस्तुमिच्छति निरापदि सर्व:**[५९]—"सब निरापद स्थान में रहना चाहते हैं," फिर चाहे वह वन ही क्यों न हो ?—**यत्रैव निरतिशयं सम्पत्सुखं तदेव वनमपि भवनम्**[६०]—'जहाँ सम्पत्तियों का अत्यधिक सुख हो वह वन भी महल है।' इसी भांति अन्य अनेक सुविधाओं की इच्छा मानव को सुखाभिलाषा के कारण ही होती है। मनोरञ्जन भी ऐसी ही इच्छाओं में से है। इसलिए—**उत्सवप्रिया: खलु मनुष्या:**[६१]—"मनुष्य उत्सवों को पसन्द करते हैं, इससे वे सामाजिकता निभाते हुए आनन्दित जो होते हैं।

(घ) **सफलता**—भास और कालिदास ने अभीष्ट प्राप्ति के लिए क्रियमाण यत्न और सफलता मिलने पर उद्भूत प्रसन्नता पर कई सूक्तियां कही हैं। हर व्यक्ति की यही इच्छा रहती है कि वह जिस कार्य का भी आरम्भ करे उसे उसी में सफलता मिले—**स्वन्तश्च यत्नो भवेत्**[६२]—"यत्न सुपरिणत हो।" और जब तक अभीष्ट फल न मिले यत्नरत रहना पड़ता है—**को विश्रमो नाम विभ्रष्टमनोरथानाम्**[६३]—"नष्ट मनोकामना वालों को कैसा विश्राम ?" जब यत्न की परिणति होती है तब—**सर्वारम्भसिद्धो रमणीयं भवति**[६४]—"सब उद्यमों की सिद्धि पर आनन्द का स्थान (या प्रसंग) होता है।" कहा भी जाता है अन्त भला, सो भला। सफलता मिलने पर व्यक्ति अपने उन सब कष्टों को भूल जाता है जो उसे यत्न करते हुए उठाने पड़ते हैं तथा—**रमणीयतर: खलु प्राप्तमनोरथा-**

नां विनिपातः[६६] —"मनोरथ पा जाने वालों की आपत्तियां भी रमणीय हो जाती हैं।" और कालिदास के अनुसार भी—**क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते**[६७]—'क्लेश फल से युक्त होने पर (सफलता मिलने पर) फिर से (मनुष्य को) नया बना देता है।'

अभीष्ट—प्राप्ति पर प्रसन्नता न हो यह असंभव ही है—**कस्तावदौषधमुपलभ्य मन्दीभवत्यातुरः**[६८] ?—"औषध पाकर कौन रोगी भला दुःखी होगा ?" अन्धे को कोई आंख दे दे और फिर उसकी प्रसन्नता देखें। ठीक ही है—**ध्रुवमभिमते पूर्णो को वा मुदा न हि माद्यति ?**[६९]—"मनोरथ के निश्चितरूपेण पूर्ण हो जाने पर कौन प्रसन्नता से फूल नहीं उठता ?" ऐसे हर्ष के लिए यह आवश्यक है कि प्राप्ति अभीष्ट वस्तु की ही हो, और उसकी प्राप्ति में कुछ शंका बनी रही हो। कारण—**सर्वः प्रार्थितमर्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते जन्तुः**[७०] तथा—**अवश्यं भवितव्येऽर्थे कः प्रहर्षः ?**[७१]—'सभी जीव अभिलषित पदार्थ को पाकर सुखी होते हैं, और 'अवश्यंभावी विषय में कैसा हर्ष ?" इसके विपरीत अनिष्ट और स्वतः प्राप्य वस्तु आनन्द नहीं देती, क्योंकि उसके साथ मनुष्य की इच्छाएं और आशाएं नहीं जुड़ी होतीं।

कोई व्यक्ति किस प्रकार के फल की आशा रखता है ? उत्तर में भर्तृहरि—

'सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपम्।'
'सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनस्सत्त्वानुरूपं फलम्॥'[७२]

—'गोदी में आए हुए भी गीदड़ को छोड़कर सिंह हाथी को मारता है।' 'कष्ट में पड़ा हुआ भी हर कोई अपनी शक्त्यनुसार फल की इच्छा करता है।' इस प्रकार अनन्त इच्छाएं होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और सीमाओं के अनुरूप अभिलाषा करता हुआ ही श्लाघ्य होता है।

(ङ) **जीवितेच्छा**—बाण बताते हैं—**नास्ति जीवितादन्यद् अभिमततरमिह जगति सर्वजन्तूनाम्**[७३]—"हर प्राणी को अपने जीवन से अधिक इस संसार में और कुछ प्रिय नहीं है।" जीने की इच्छा ही कई बार मनुष्य को दुष्ट बना देती है और अत्यधिक कष्ट की अवस्था आने पर भी उसकी प्रवृत्ति जीवन-निरपेक्ष नहीं होती[७४]। इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण हैं वे सभी असमर्थ व्यक्ति जो यथाकथंचित् अपना शरीर घसीटते हैं, मरने की इच्छा अवश्य प्रकट करते हैं पर किसी भी भय के उपस्थित होने पर अपने को बचाने का सर्वप्रथम यत्न करते हैं।

४. मानव-मन की शक्तियां

(क) **सङ्कल्प**—मानवमन अनेक शक्तियों से सम्पन्न बताया गया है। उन शक्तियों का प्रसार मानव के स्वभाव में और प्रभाव मानव-सम्बन्धों पर परिलक्षित होता है। सोचने-विचारने, संकल्प-विकल्प करने और प्रतिक्रिया की प्रेरणा देने में मन का बहुत बड़ा हाथ रहता है। भास बताते हैं—**प्रद्वेषो बहुमानो वा सङ्कल्पादुपजायते**[७५]—"विशेष द्वेष या मान-भाव संकल्प से ही उत्पन्न होता है।" मनुष्य का मन प्रत्येक के प्रति

किसी भावना-विशेष से भर जाता है, और आवश्यक नहीं कि यह सदा उसके गुणावगुण पर आधारित हो, प्रायः मानसिक सम्बन्ध इसका प्रेरक रहता है।

(ग) **भविष्य-ज्ञान**—कालिदस मानते हैं कि मनः-शक्ति से भविष्य का ज्ञान भी हो सकता है—**आगामि सुखं (वा) दुःखं वा हृदयसमवस्था कथयति**[७६]—"आनेवाले सुख या दुःख को हृदय की अवस्था कह देती है।" कवि ने इस विश्वास को 'लोकवाद' नाम से पुकारा है। ऐसा कई बार देखा जाता है कि स्वच्छहृदय व्यक्ति अपनी भावी मृत्यु की पूर्व सूचना दे देते हैं। ऐसी भविष्यवाणी के पीछे मन की कोई अदृश्य शक्ति ही कार्य करती प्रतीत होती है।

(ख) **अपने-पराये का ज्ञान**—जिन्हें हमने पहले कभी नहीं देखा ऐसे व्यक्तियों को देखकर कई बार हम प्रसन्न हो जाते हैं और कई बार अप्रसन्न। कुछ में हम को अपनत्व प्रतीत होता है और कुछ में परत्व। भारवि ने दिखाया है कि मुनिवेशधारी इन्द्र के प्रति उसके पुत्र अर्जुन को अकारण स्नेह होने लगता है। बात यह है कि—**अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात् प्रह्लादते मनः**[७७]—"बन्धु के अपरिचित होने पर भी मन हठात् ही प्रह्लादित हो उठता है।" इसकी प्रक्रिया उन्हीं के शब्दों में—**विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं वा**[७८]—"स्वच्छ या मलिन होता हुआ हृदय हितेषी या रिपु का संकेत दे ही जाता है।" किसी के प्रति कोई भाव जागृत करने वाला मन पहचान की शक्ति रखता है, यह दूसरी बात है कि किसी की पहचान दूसरे की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और सही हो।

५. मानव-मन की वृत्तियां (मन की सर्वसामान्य विशेषताएं)

(क) **गतिवैचित्र्य और रुचिभिन्नता**—मानवमन एक पहेली है। वह किस प्रकार और क्या-क्या गति करता है यह जान पाना कठिन कार्य है। कविजन इसकी दुरूहता बताते हैं--**गतयो विविधा हि चेतसां बहुगुह्यानि महाकुलानि च**[७९]—"चित्त की गतियां विविध हैं, (जिसमें) बहुत कुछ गोपनीय है और व्याकुलताएं हैं।" या—**विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः**[८०]—"चित्त की वृत्तियां विचित्र रूपों वाली हैं।" इसी कारण संसार में रुचिवैविध्य दृष्टिगत होता है—**भिन्नरुचिर्हि लोकः**[८१]—"लोग भिन्न-भिन्न रुचियों वाले हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के संस्कारों को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार के वातावरणों में पले हुए व्यक्तियों के मनोव्यापार एक से हो भी कैसे सकते हैं ?

(ख) **अपनी रुचि या व्यसन**—किसी एक प्रकार के व्यापार में बार-बार प्रवृत्त होने वाला मन उसके प्रति विशिष्टरूपेण आसक्त हो जाता है और वह व्यापार उसका व्यसन बन जाता है। फिर प्रायः ऐसा होता है कि मन पर वश पाना कठिन हो जाता है और तब भास के अनुसार कहना पड़ता है—**मनश्च तावदस्मदिच्छया न प्रवर्त्तते**, या **नशक्यो मनो जेतुम्**, और—

प्रतिषिद्धं प्रयत्नेन क्षणमात्रं न वीक्षते।
चिराभ्यस्तपथं याति शास्त्रं दुर्गुणितं यथा॥[८२]

—"मन हमारी इच्छा से प्रवृत्त नहीं होता", या "मन को जीतना असंभव है", और—"यह मन यत्नपूर्वक रोका जाने पर भी क्षणभर भी ठीक-ठीक नहीं देखता। देर से अभ्यस्त मार्ग पर गलत गुने हुए ज्ञान के समान चल पड़ता है।" स्थिति यहां तक पहुंच जाती है कि वह दोष को भी गुण ही समझने लगता है। ऐसा होने पर—**न दोषतः पश्यति यो हि दोषं कस्तं ततो वारयितुं समर्थः ?**[८३]—"जो दोष को दोष ही नहीं समझता उसे वहां से कौन हटा सकता है ?" शूद्रक इसके समर्थन में व्यसनियों की सूची सी प्रस्तुत करते हैं—

'सस्यलम्पटबलीवर्दो न शक्यो वारयितुम् ।'
'अन्यकलत्रप्रसक्तो न शक्यो वारयितुम् ।'
'द्यूतप्रसक्तमनुष्यो न शक्यो वारयितुम् ॥'
'योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम् ।'[८४]

—"शस्य का लोलुप बैल, अन्य स्त्री पर आसक्त पुरुष, द्यूतासक्त मनुष्य और जो भी स्वाभाविक दोष (व्यसन) से युक्त हैं उन्हें रोका नहीं जा सकता।"

एक सूक्ति द्वारा कालिदास दिखाते हैं कि इन्द्रियां अपनी रुच्यनुकूल विषयों से आकृष्ट होकर निवारण के अयोग्य हो जाती हैं—**स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते।**[८५] यही दशा व्यसनी की है। व्यसन का एक उदाहरण देकर उन्होंने यह भी समझाया है कि व्यसनी की दृष्टि हर पदार्थ पर अपने व्यसन या आकर्षक विषय के अनुरूप पड़ती है—**सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः**[८६]—"पेटू को सर्वत्र खाद्य-सामग्री ही दीख पड़ती है"। इसीलिए तो विदूषक को चन्द्रमण्डल खाण्ड के गोले सरीखा जान पड़ता है।

बाणभट्ट व्यसनों का कारण प्रायः रसानुभूति को मानते हैं—**परित्याज्येषु व्यसनेष्वासङ्गेषु विकाराणां च कारणं प्रायः सरसता**[८७]—"छोड़ने योग्य व्यसनों और विकारों की आसक्तियों में प्रायः रसवत्ता कारण होती है।" और रसिकों की रसवत्ता किसी भी पदार्थ के प्रति हो सकती है—**येनकेनचिदपह्रियन्ति एव रसिकहृदयाः**[८८]—"रसिक-हृदय व्यक्ति किसी भी आकर्षण द्वारा आकृष्ट हो जाते हैं।" वस्तुतः व्यसन को अपनाने में कोई भी गुणावगुण नहीं देखा करता, वह तो अपनी रुचि के अनुसार ही चलता है, जैसाकि माघ ने कहा भी है—**अनपेक्ष्य गुणागुणौ जनः स्वरुचिं निश्चयतोऽनुधावति।**[८९] अतः मनकी रुचि के अनुरूप आकर्षण और फिर सतत ध्यान एवं उपभोग से कोई विषय किसी के लिए आसक्तिजन्य व्यसन बन जाता है।[९०]

(ग) **चंचलता**—मन की एक स्वाभाविक वृत्ति है उसकी चंचलता। अश्वघोष ने चंचल मानसिक प्रवृत्तियों की उपमा वर्षाजल से प्रताड़ित और इतस्ततः डोलायमान लता के अंगभूत पल्लवों से की है—**लता इवाम्भोधरवृष्टिताडिताः प्रवृत्तयः सर्वगता हि चञ्चलाः**[९१] हर्ष इसी को सूत्ररूप में कहते हैं—**मनश्चलं प्रकृत्यैव**[९२]—"मन प्रकृति से ही चंचल है।" शूद्रक इस चंचल मानसव्यापार को सर्वत्र भागने वाला पर थककर फिर हृदय में ही लौट आनेवाला बताते हैं, तथा मन को उन अश्वों की तुलना में रखते हैं जो तीव्रता

से भागना चाहते हैं परन्तु शक्त्यभाव के कारण वैसा नहीं कर पाते[९३]। माघ कहते हैं— निःशेषमाक्रान्तमहीतलो जलैश्चलन् समुद्रोऽपि समुज्झति स्थितिम्[९४]—"(प्रलयकाल में) चंचल होने पर समुद्र भी अपने जल से समस्त महीतल को आक्रान्त करता हुआ अपनी मर्यादा छोड़ देता है।" भाव यह कि चंचलता मर्यादा भंग कर देती है और अवस्थाविशेष में महान् से महान् भी चंचल हो उठता है। फिर साधारण मानव की तो बात ही क्या? महारथी अर्जुन ने भी कहा था—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथी बलवद् दृढं।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥[९५]

(घ) विकार—कई बार परिस्थितिवश या मनोदशा के अस्वस्थ होने पर या किसी अन्य कारण से मानवमन की स्वाभाविक अवस्था में कुछ परिवर्तन आ जाता है। उस समय वह किसी भाव या विकार से युक्त हो जाता है। विकारोत्पत्ति हर प्रकार के मनुष्यों में हो सकती है और इसे छुपाना सरल नहीं। अपने मन के विरुद्ध श्रीकृष्ण का आदर देखकर शिशुपाल क्रोध में भर गया। इस पर माघ की टिप्पणी है—याति विकृतिमपि संवृतिमत् किमु यन्निसर्गनिरवग्रहं मनः?[९६]—"भावगोपन में कुशल मन भी विकार को प्राप्त हो जाता है, स्वभाव से असंयमी मन का तो क्या कहना?" हर कोई विकारग्रस्त हो सकता है और इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं। परन्तु यह वांछनीय है कि विकार की निवृत्ति का उपाय शीघ्र किया जाए। तदर्थ विकार का कारण ढूंढ़ना आवश्यक है—विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतीकारस्य[९७]—"विकार को सही-सही जाने बिना उसके प्रतिकार का प्रारम्भ कैसा!"

इस प्रकार परिस्थिति-विशेष में मनोविकार की उत्पत्ति मानवमन की स्वाभाविक वृत्ति है और यह विविध रूपों में जीवन में दृष्टिगोचर होती है, जिसका विवेचन अगले अनुच्छेद में किया जा रहा है।

६. मानव-स्वभाव के कुछ विशिष्ट पहलू

(क) शोक—मानवमन अनेक प्रसंगों में शोकाकुल हो उठता है। तब वह कैसा अनुभव करता है यह कुछ सूक्तियों में दर्शाया गया है। भास के अनुसार तीव्र शोक में— नानाफलाः शोकशराभिघातास्तत्रैव तत्रैव पुनः पतन्ति[९८]—"अनेक फलकों से युक्त शोकरूपी बाण उसी स्थान पर बार-बार गिरते हैं।" शोक जब गहरा होता है तब टीस रह-रह कर उठा करती है।

शोक-सन्ताप के प्रभाववश मन अत्यन्त मृदु हो जाता है—अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु?[९९]—"तपा हुआ लोहा भी कोमल हो जाता है शरीरधारियों का तो क्या कहना?" अतः कालिदास के अनुसार दुःख की तपन से कठोर व्यक्ति का भी द्रवित हो जाना स्वाभाविक है और बाणभट्ट के अनुसार—दुःखातिपातेन··· मानुषंकलुषीक्रियते सर्वस्य[१००]—"दुःखातिशय के आ गिरने से सभी का मन कलुषित हो जाता है," अर्थात् उचित अनुचित के विचारने में असमर्थ हो जाता है।

शोकग्रस्त मानव की एक मार्मिक विशिष्टता की ओर कालिदास इंगित करते हैं —**स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते**[१०१] !—"स्वजन के सम्मुख दुःख का द्वार मानों खुल पड़ता है।" बाणभट्ट ने भी इसका समर्थन किया है—**औरसदर्शनं हि यौवनं शोकस्य**[१०२]—"(शोक में) आत्मज (पुत्र) (और इसी प्रकार सगे-सम्बन्धियों) का दर्शन शोक को प्रचण्ड कर देता है।" यह व्यवहार सर्वमान्य होने के कारण पूर्ण तथ्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है कि अपने लोगों के साथ होने पर दुःख तीव्रता से बाहर आने लगता है, उनकी सहानुभूति की उष्मा से पिघलने लगता है। मनुष्य अनुभव करने लगता है कि उसका दुःख बांटने वाला कोई है, और तब—**स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवति**[१०३]—"स्नेही जन से बांटे हुए दुःख की वेदना सह्य हो जाती है।" इसलिए प्रियजन का साथ परिणाम में दुःख घटाने वाला ही है।

भवभूति ने बताया है—**कर्त्तव्यानि खलु दुःखितैर्दुःख-(निर्धारणानि) निर्वापणानि**—"दुखियों को अपना दुःख बहा देना चाहिए," और वह ऐसे किया जा सकता है—

पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥[१०४]

—"तालब में बाढ़ के थपेड़ों के समय प्रतिक्रिया है बाहर बहाना' 'शोक से क्षुब्ध हृदय को भी प्रलापों से ही धारण किया जा सकता है।' रोना-चिल्लाना शोक के शमन में सहायक ही होता है। अन्यथा गहरे सदमे चुप-चुप सहलेने वालों को अनेकधा उन्मत्त होते देखा गया है। राजा उदयन अपने आंसुओं की यही उपयोगिता बताता है।—**यात्रा त्वेषा यद्विमुच्येह बाष्पं प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्**—यह 'लोकचलन है कि आंसू बहाकर यहां बुद्धि प्रसन्नता पाती है।'

(ख) **क्रोध**—कई परिस्थितियों में मानवमन का क्षोभ क्रोध का रूप धारण कर लेता है। क्रोधावस्था में मनुष्य विनाशकारी दृष्टि अपना लेता है, अतः कालिदास ने क्रोध की तुलना में अग्नि को रखा है—'**कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभवति ?**[१०५]—आग के अतिरिक्त और कौन जला सकता है?' क्रोधी भी अपनी सामर्थ्यानुसार विध्वंसकारी सिद्ध हो सकता है। इसका कारण है क्रोध के समय बुद्धिका असन्तुलन। बाण के शब्दों में —**न हि कोपकलुषिता विमृशति मतिः कर्त्तव्यमकर्त्तव्य वा**[१०६]—'क्रोध से मैली बुद्धि करणीय या अकरणीय का विचार नहीं कर सकती।' यही क्रोध का सबसे बड़ा दोष है कि यह बुद्धि को किंकर्त्तव्य-विमूढ कर देता है।

क्रोध के दुष्परिणामों को देखते हुए इसे दोष माना गया है और 'अरिषड्वर्ग' में रखा गया है। माघ भी दर्शाते हैं कि समझदार व्यक्ति क्रोध नहीं करते—**जितरोषरया महाधियः, सपदि क्रोधजितो लघुर्जनः**[१०७]—'क्रोधावेग को बुद्धिमान् जीत लेते हैं, जबकि तुच्छ व्यक्ति शीघ्र ही क्रोध के वशीभूत हो जाता है।' सामान्यतः अवांछनीय होने पर भी कुछ परिस्थितियों में क्रोध करना आवश्यक हो जाता है। कुछ बातें सहनशीलता की सीमा से बाहर हो जाती हैं, जैसे किसी के आनन्द में बाधा उपस्थित करना, अतः विशाखदत्त के विचार से—**सद्यः क्रीडारसच्छेदं प्राकृतोऽपि न मर्षयेत्**[१०८]—'साधारण

मनुष्य भी क्रीडारस के अचानक भंग को क्षमा नहीं करेगा," श्रेष्ठ तो ऐसे में निश्चय ही क्रुद्ध हो उठेगा।

भारवि के मत में क्रोध और सुखाभिलाषा साथ-साथ नहीं रह सकते—**ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः**[१०९]—'महापुरुषों के मन में जब क्रोध प्रज्वलित हो तब आनन्द की इच्छा को अवसर नहीं मिलता।' एकाग्र रहने की महान् व्यक्तियों की विशेषता क्रोध के विषय में भी रहती हो तो आश्चर्य नहीं। परन्तु यह एक विशेषता है कि प्रायः क्रोध करते समय सामान्य व्यक्ति का भी ध्यान इधर-उधर के आह्लादक आकर्षणों पर नहीं जाया करता। श्रृंगार रस और रौद्र रस इसीलिए विरोधी माने गये हैं।

(ग) **भय**—कुछ अप्रत्याशित घट जाने, या अपने से उत्कृष्ट व्यक्ति के सम्मुख जाने पर घबरा जाना अस्वाभाविक नहीं है। भास के अनुसार—**मनुष्याणामस्त्येव संभ्रमः**[११०]—"मनुष्यों को भय हो ही जाता है।" और जब व्यक्ति किसी भय से आक्रान्त हो जाता है तब उसका मन और शरीर भी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है—**किमिव न शक्तिहरं ससाध्वसानाम्** ?[१११]—'भयभीत की शक्ति छीनने के लिए क्या कुछ पर्याप्त नहीं है?' भय ही वह तत्त्व है जो हल्की फुल्की विषमता से युक्त परिस्थितियों से जूझने की शक्ति भी हर लेता है।

(घ) **दर्प और मान**—बाण बताते हैं—**अशिशिरोपचार-हार्योऽतितीव्रो दर्प-दाहज्वरोष्मा**[११२]—'दर्प के दाहज्वर की गर्मी अतितीव्र है जो शीतल उपहारों से भी अपरिहार्य है।' भाव यह कि अभिमान का रोग दुःसाध्य है। किसी व्यक्ति का मन जिस प्रकार के स्वभाव से अभ्यस्त हो जाता है उसी में आनन्द लेता है, और उसी को अपना वैभव भी समझने लगता है। माघ के अनुसार भी—**सदाभिमानैकधना हि मानिनः**—"मानी व्यक्तियों का एकमात्र धन सदा अभिमान ही है।" ऐसे मानी व्यक्ति का अभिमान कितना असहनशील हो सकता है, इसका कुछ आभास कवि को उस हाथी के व्यवहार में हुआ जो दूसरे हाथी की गन्ध से भी युक्त वृक्ष का सेवन नहीं करता। अतः—**नान्यस्य गन्धमपि मानभृतः सहन्ते**[११३]—"मानी व्यक्ति दूसरे (के यश) की गन्ध भी नहीं सह सकते।" वस्तुतः अभिमानी व्यक्ति अपने दर्प में और सब कुछ नगण्य समझता है, और छोटी-छोटी बातें भी उसे अखरा करती हैं।

(ङ) **मद**—मान और मद में कोई विशेष दूरी नहीं है। दोनों ही स्थितियों में मनुष्य आत्मकेन्द्रित हो जाता है। परन्तु मान में जहां व्यक्ति दूसरों की तुलना में स्वयं को श्रेष्ठ समझता है वहां मदमत्त व्यक्ति में एक मस्ती, उन्मत्तता, या बेहोशी सी छाई रहती है। कालिदास और माघ ने मद के कारणों पर प्रकाश डाला है—**वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम्**[११४]—"वय (उम्र), रूप, और वैभव इन तीनों में से एक-एक भी मद का कारण है।" यौवन, सुन्दरता और धनाढ्यता से भरा-पूरा व्यक्ति मदमत्त न हो यह कुछ कम ही सम्भव है।[११५] सुरापान आदि से भी मद चढ़ सकता है परन्तु माघ के अनुसार तदर्थ सन्तुष्ट और निःशंक होना आवश्यक है—**निर्वृतिर्हि मनसो मदहेतुः**[११६]—

"मनकी सुख-शान्ति ही मदका कारण हो सकती है।" कहना चाहिए कि अशान्त या क्षुब्ध मनमें मद नहीं आ सकता।

मदका प्रभाव मन पर कुछ इस प्रकार होता है कि मन व्यक्ति के वश में न रह-कर अपनी प्रवृत्ति के अनुसार स्वाभाविक दशा में व्यवहार करने लगता है—**स्वां मदात् प्रकृतिमेति हि सर्वः**[११७]—"मदके कारण सभी अपनी प्राकृत अवस्था में पहुंच जाते हैं।" इसी कारण किसी से सच उगलवाने का एक साधन सुरा भी है। भारवि ने यह तथ्य स्वीकारा है— **कारयत्यनिभृता गुणदोषं वारुणी खलु रहस्यविभेदम्**[११८]—"चपल मदिरा गुण और दोष का रहस्य खोल देती है।"

(च) भ्रम, आशंका—निश्चयहीनता की स्थिति में मन पर भ्रम अधिकार जमा लेता है जिसका प्रभाव बुद्धि पर पड़ता है। माघके अनुसार—**भ्रान्तिभाजि भवति क्व विवेकः ?**[११९]—"भ्रम से युक्त व्यक्ति में विवेक कहां रहता है," वह तो किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। मनुष्य की शंकाकुल स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की होती है। कई बार व्यक्ति को उपयोगी वस्तु भी हानिकारक जान पड़ती है। तब कालिदास की यह सूक्ति प्रयुक्त की जा सकती है—**आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्**[१२०]—"जिसे तुम अग्नि समझकर सशंक हो वह तो स्पर्श योग्य रत्न है।" ऐसी ही आशंका के कारण अनेकधा हम बहुत से लाभकारी कार्यों से वञ्चित रह जाते हैं।

(छ) आशा—जीवन के उतार-चढ़ाव में मनुष्य का उत्साह बनाए रखने में सबसे अधिक सहायता होती है उसकी आशा, जिसके अभाव में मनुष्य उत्साहहीन होकर कर्मण्यता से भी विमुख हो जाए तो असाधारणता न होगी। कालिदास और बाणकी ये सूक्तियाँ आशाकी इसी शक्ति का संकेत कर रही हैं—**गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः साहयति**[१२१]—"आशाका बांध भारी विरहदुःख को भी सहनीय बना देता है।" **आशया हि किमिव न क्रियते ?**[१२२]—"आशा से क्या नहीं किया जाता ?" तथा—**सर्वोऽपि प्रत्याशया धार्यते**[१२३]—"सभी कुछ आशा पर आधारित है।" अतः आशावादी व्यक्ति ही जीवन के संघर्षों से जूझते हुए भी आगे बढ़ते जाते हैं।

(ज) तृष्णा—जहां आशाकी इतनी प्रशंसा है वहीं उसकी सहोदरा तृष्णा को निन्दनीय दृष्टि से देखा जाता है। यद्यपि मानसिक दृष्टि से दोनों को सहचरी कहा जा सकता है तथापि दोनों में बहुत अन्तर है। आशामें इच्छापूर्त्तिका पूर्वानुमान-मात्र रहता है तो तृष्णा में येन-केन-प्रकारेण इच्छापूर्तिकी तीव्र लालसा। पहली में तथ्यों का थोड़ा-बहुत सहारा अनिवार्यतः रहता हैं किन्तु दूसरी में तथ्यों को न सोचकर मात्र अपनी कामना का ध्यान, इच्छापूर्त्ति की ललक और एक निराधार दिवास्वप्न पाला जाता है। इसीलिए कवियों की दृष्टि में तृष्णा समादर न पा सकी—**यावत् सतर्षः पुरुषो हि लोके तावत् समृद्धोऽपि सदा दरिद्रः**[१२४]—"संसार में मनुष्य जब तक तृष्णा से युक्त है तब तक समृद्ध होने पर भी दरिद्र ही है।" ऐसा सतृष्ण व्यक्ति चक्रवर्ती राज्य पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता।[१२५] कभी-कभी तो उसकी दशा उस मृग की सी हो जाती है जो सच्ची सरिता को छोड़कर मरीचिका जाल के पीछे भागता फिरता है।[१२६]

स्वार्थ-सिद्धि की तृष्णा के वशीभूत होकर तो मनुष्य का विवेक, और संभव-असंभव-परिज्ञान ही नष्ट हो जाता है। बाण के शब्दों में कहें तो—**शक्याशक्य-परिसंख्यानशून्याः प्रायेण स्वार्थतृषः**[१२७]। इस तरह तृष्णा मनुष्य की विचार-शक्ति को भी चाट जाती है।

मानव की तृष्णा को कठोरतम शब्दों में फटकारने वाले कवि हैं भर्तृहरि—**वलीभिर्मुखमाक्रान्तं पलितेनाङ्कितं शिरः। गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥**[१२८] —"मुख झुर्रियों से आक्रान्त है, सिर के केश पक चुके हैं, शरीर ढीला हो चुका है, पर तृष्णा ही एकमात्र जवान होती जाती है।" मनुष्य बूढ़ा होता जाता है और उसकी सब शक्तियां घटती जाती हैं पर तृष्णा है कि कम ही नहीं होती। कवि की दृस्टि में तृष्णा को वश में करना असंभव ही है —**राजंस्तृष्णाम्बुराशेर्न हि जगति गतः कश्चिदेवावसानम्**[१२६] —"राजाजी, तृष्णा-सागर का पार इस संसार में किसी ने नहीं पाया।"

भर्तृहरि ने एक रूपक द्वारा इच्छा, आशा और तृष्णा का सम्बन्ध दिखाया है—**आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला**[१३०]—"आशा नदी है मनोरथ उसका जल है, और तृष्णा की तरंगें उसे क्षुब्ध करती हैं।" वैरागी कवि सांसारिक मनुष्यों को इस नदी के पार जाकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। अतः वह समस्त इच्छाओं, आशाओं और तृष्णाओं से मुक्ति चाहता है। अन्य कवियों के लिए तृष्णा अवश्य त्याज्य है; इच्छाएं और आशाएं नहीं। संसारी व्यक्ति के लिए क्रियात्मक रूप यही हो सकता है।

(झ) राग—मानव-स्वभाव है, अपनत्व से लगाव रखना। परन्तु भारतीय विचारक इसे संसार-मुक्ति के मार्ग की बाधा ही समझते हैं,[१३१] अतः हेय दृष्टि से देखते हैं। बाण भी उन्हीं की प्रतिध्वनि इस सूक्ति में करते हैं—**नित्यमस्नानशौचवध्यो रागमलावलेपः**[१३२]—"लगावट रूपी मलका लेप नित्य स्नान और पवित्रता से भी नष्ट नहीं किया जा सकता।" अच्छा या बुरा यह रागात्मक भाव मानवमन को स्वभावतः प्रिय है, और अपने उत्कृष्ट रूप में यही प्रेम की संज्ञा पाता है।

(ञ) लज्जा—जब अपनी गलती या दुर्बलता पहचानकर मनुष्य आत्मग्लानि से मर जाता है, या किसी कारणवश औरो से बचना चाहता है तब उसके मन में लज्जा का भाव होता है। तीव्र लज्जा भयंकर भी हो सकती है—**न हि किञ्चिन्न क्रियते ह्रिया**[१३३]"ऐसा कुछ नहीं जो लज्जा न करा दे।" यहां तक कि ऐसा व्यक्ति आत्महत्या भी करसकता है। परीक्षा में अनुत्तीर्ण आत्मघाती व्यक्ति लज्जा की इस सर्वहारा शक्ति का ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अत्यधिक लज्जा जहां हानिकर है और व्यवहार की बाधा भी है, वहां लज्जा के अभाव (—निर्लज्जता) को दुर्गुण के रूप में ही देखा जाता है[१३४]।

(ट) **गोपन, मिथ्या-प्रदर्शन और स्पष्टवादिता**—कभी-कभी इच्छापूर्ति न होने से जनमे अपने अनुताप पर पर्दा डालने के लिए व्यक्ति ऐसा प्रदर्शित करता है कि जो कुछ हुआ है वही उसे अभीप्सित था। ऐसे व्यक्तियों के लिए कालिदास की यह सूक्ति प्रयुक्त होती रही होगी—**छिन्नहस्तो मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति धर्मो मे भविष्यतीति**[१३५]—"मछली निकल जाने पर दुःखी, टूटे हाथ वाला धीवर कहता है, मुझे

धर्मलाभ होगा।" 'अंगूर खट्टे हैं।' हिन्दी की यह लोकोक्ति और इसके साथ जुड़ी हुई कहानी गोपन और मिथ्या-प्रदर्शन के इसी मनोभाव पर आधारित है। इस प्रवृत्ति की व्यर्थता और अवांछनीयता यहां सूक्ति-स्थल पर भी पर्याप्त स्पष्ट है।

अनेक बार व्यक्ति अपने भावों को छुपाने का यत्न करता है किन्तु विफल हो जाता है, क्योंकि भारवि के अनुसार—**वदति हि संवृतिरेव कामितानि**[१३६]—"गोपनीयता ही कामनाओं को कह देती है (व्यक्त कर देती है)।" अपनी दुर्बलताओं का दूसरों पर प्रकट हो जाना प्रत्येक को अखरता है, अतः यथासंभव वह उन पर गोपनीयता का आवरण चढ़ाता है। यह दूसरी बात है कि कुछ में गोपन-भाव तीव्र होता है और कुछ में मन्द।

व्यक्ति की वाणी उसके भावों और प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने का बड़ा सरल और प्रमुख माध्यम है। वह जो कुछ प्रकाशनीय मानता है उसी को कहना चाहता है, गोपनीय को नहीं। इसलिए बोलते समय उसे सतर्क रहना पड़ता है। कभी-कभी तो मुंह पर आई बात भी रोक लेनी पड़ती है। इसके विपरीत कुछ व्यक्ति स्पष्टवादी होते हैं क्योंकि वे कालिदास की इस सूक्ति के भाव में विश्वास रखते हैं—**विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति**[१३७]—"जो कहने की इच्छा हो यदि वह न कहा जाए तो बाद में परिताप होता है।" यदि न कहने से मन में घुटन रह जाए तो अवश्य ऐसी ही अनुभूति होगी फिर भी कुछ बातें गोपनयोग्य होती हैं और कुछ स्पष्टतया कथनीय। अतः व्यवहार में मानव-मन की गोपनीयता और स्पष्टवादिता के बीच सन्तुलन आवश्यक है।

(ठ) **दया और नृशंसता**—कुछ व्यक्ति स्वभाव के कोमल होते हैं और दूसरे स्वभाव से ही कठोर। कोमल हृदय व्यक्ति दयालु होते हैं—**प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा**[१३८]—'प्रायः सभी करुणावृत्ति वाले लोग हृदय से मृदु होते हैं।' इसके विपरीत नृशंसों का हृदय कठोर और रूखा होता है—**न नृशंसानामुदासीनेष्वितरेषु वा विशेषोऽस्ति**[१३९]—"नृशंसों के लिए उदासीन (तटस्थ) और दूसरे (किसी पक्ष-विशेष के समर्थक) लोगों में कोई भेद नहीं।" इसलिए नृशंस व्यक्ति का समर्थक भी उससे डरकर रहता है। वह जानता है कि—**किमपि हि दुष्करमकरुणानाम्**[१४०]—"निष्करुण मनुष्यों के लिए क्या करना असंभव है?" अतः ऐसे लोग मानव के भय को तो जगा सकते हैं, पर दयालुओं के समान स्नेह और सम्मान को नहीं।

(ड) **परदोष-दर्शन**—मानव का एक विचित्र स्वभाव है कि प्रायः उसे अपने दोष कम दिखाई देते हैं और दूसरे के अधिक। कुछ लोगों में परदोष-दर्शन की यह प्रवृत्ति अत्यन्त उग्र रूप में पाई जाती है। ऐसे लोगों के लिए भास की यह युक्ति ध्यान देने योग्य है—**स्वदनार्यभावात् सर्वलोकमनार्यमिति**[१४१]—"तुम बुरे हो तो सब संसार भी बुरा है?" दूसरे में सुधार लाने का प्रयत्न भी कुछ ऐसा ही है। बाण का कहना है—**सुखमुपदिश्यते परस्य**[१४२]—"दूसरे को उपदेश देना सरल है", स्वयं उसपर चलना कठिन कार्य है।

दोषारोपण करने के स्वभाव से युक्त व्यक्ति इस बात का ध्यान नहीं रखता कि दूसरे का दोष कितना है और कितना नहीं। किसी व्यक्ति के विषय में अपवाद फैलने

के पीछे भी यही स्वभाव कार्य करता है। इसीलिए किसी की बुराई बतानेवाली अफवाह फैलने में देर नहीं लगती—विरमति न कथञ्चित् कश्मला किंवदन्ती।[१४४]

जब गुणवान् व्यक्ति पर भी आरोप लगाया जाता है तब उसको कैसा कष्ट होता है, यह जानते हुए बाण कहते हैं—न ह्यतः परमपरं कष्टतमं किञ्चिदपि पीडा-कारणं यद्गुणेषु वर्त्तमानो दोषेषु सम्भाव्यते इतरजनेनापि, किं पुनर्गुरुजनेन ?[१४५]—"इससे अधिक और कोई कष्ट की सीमा भी पीड़ा का कारण नहीं हो सकती कि गुणी व्यक्ति में कोई भी दोष की संभावना करे, गुरु लोग करें तो कहना ही क्या ?" इस सूक्ति द्वारा बालकों के मान-सम्मान का ध्यान रखे बिना उनकी भर्त्सना करने वाले माता-पिताओं को कवि सही चेतावनी दे रहा है।

पिशुनता में भी व्यक्ति में परदोषकथन के स्वभाव का उभार सामने आता है। माघ ने ऐसे छिद्रान्वेषियों के मन को समझने का यत्न किया है। वे कहते हैं—

परितोषयिता न कश्चन स्वगतो यस्य गुणोऽस्ति देहिनः।
परदोषकथाभिरल्पकः स्वजनं तोषयितुं किलेच्छति ॥[१४६]

—"जिस आदमी के पास दूसरे को संतुष्ट करने वाला कोई भी अपना गुण नहीं है, वह तुच्छ व्यक्ति दूसरे के दोष कहकर अपने आदमियों को प्रसन्न करना चाहता है।" यह कथन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चुगलखोर व्यक्तियों की हीनता पर अच्छा प्रकाश डालता है।

(ढ) उद्दण्डता और अपराध—कुछ व्यक्तियों का स्वभाव असंयत और उच्छृं-खल होता है और वे मनमाना आचरण किया करते हैं। बाण की मान्यता है कि किसी शक्तिविशेष से सम्पन्न व्यक्ति ही उद्दण्ड हो जाया करते हैं—"जन्म से धनी होना, प्रारंभिक वय में होना, बेजोड़ रूप का स्वामी होना, मनुष्येतर शक्ति से सम्पन्न होना यह सब अनर्थ की शृंखला है। इनमें से एक-एक भी दुर्विनय का घर है, सब एक साथ हों तो क्या कहना !"[१४७] ऐसे दुर्विनीत लोगों का मन अत्यन्त प्रचण्ड होता है और दूसरे की तीव्रता नहीं सह सकता। इनके मन को शान्त रखने के लिए तो शान्ति ही चाहिए। भास ने स्वीकार किया है—सान्त्वं हि नाम दुर्विनीतानाम् औषधम्[१४८]—"शान्ति ही उद्दण्डों की दवा है।"

उद्दण्ड व्यक्ति अपराधी भी हो सकते हैं, परन्तु भास के अनुसार अपराध का अपना मनोविज्ञान है। तदर्थ डर, अपमान, आपत्ति या चरित्रहीनता मूलकारण हुआ करते हैं—भीता अथवा प्रधर्षिता अथवा आपन्ना अथवा सुलभचारित्रवञ्चना वा अप-राधयितुं समर्था भवन्ति[१४९]—"भयभीत, दलित (दबाये हुए या अपमानित), आपत्ति-ग्रस्त अथवा सरलता से चरित्र से गिरने वाले व्यक्ति ('सुलभं चरित्रवञ्चनं येषाम्') अपराध करने में समर्थ होते हैं।" इससे प्रतीत होता है कि भास को उन अपराधियों का ध्यान है जो समाज से ठुकराए होने के कारण प्रतिकार की भावना से अपराध में प्रवृत्त होते हैं।

निष्कर्ष

संस्कृत-काव्य के सभी कवियों ने मानव-स्वभाव को ध्यान में रखकर कुछ सूक्तियां कही हैं, जिनमें परिलक्षित मानव-मन सार्वकालिक और सार्वदेशिक है। उन्होंने जिन परिस्थितियों का मानवमन पर प्रभाव दिखाया है, उसकी जो इच्छाएं और वृत्तियां बताई हैं, उनसे सामान्यत: किसी को विरोध नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ—कल्याण-भावना, जीवितेच्छा आदि मानसिक इच्छाएं और शोक, क्रोध आदि मनोवृत्तियां ऐसी हैं जिनको भारतीय वाङ्मय के विविध अंगों में यत्र-तत्र स्वीकारा गया है[१५०]। साथ ही आधुनिक मनोविज्ञान में भी उनका किसी न किसी रूप में विवेचन किया गया है।

जिन मन:-शक्तियों[१५१] की ओर कवियों ने संकेत किया है उनमें से कुछ के साथ विद्वानों का मतभेद हो सकता है जैसे "भविष्य-ज्ञान", "अपने-पराये का ज्ञान" आदि। कारण यह है कि ये शक्तियां प्रत्येक मन में नहीं हो सकतीं और यदि कोई इन्हें हस्तगत कर भी ले तो वह सब किसी को इसका विश्वास नहीं दिला सकता।

इन सूक्तियों द्वारा मानव-मन पर कई दृष्टियों से प्रकाश डाला गया है। उलझन-भरे मानव-मन का कुछ ज्ञान तो इनसे हो ही जाता है। मनोविज्ञानवेत्ता के ज्ञान की भांति चाहे इनमें सूक्ष्मता न हो पर निस्सन्देह जो कुछ इनमें कहा गया है, स्पष्टतया कहा गया है, और कवि ने मानव-जीवन से जो निष्कर्ष निकाला है उसके प्रति वह पूर्णत: आश्वस्त है। □□

संदर्भ-संकेत

१. ऊपर परि० १, अनु० ४
२. स्वभाव: —"...2 an essential or inherent property, natural constitution, innate...desposition, nature,..." —V.S. Apte, p. 630
३. चारु० १।१४
४. शाकु० ६।३१
५. शिशु० ६।४५
६. "वुद्ध्वा वा जितमपरेण काममाविष्कुर्वीत स्वगुणमपत्रप: क एव ?" —वही ८।७
७. वही ८। १२
८. मध्य० ११, पं० १३, वृद्ध ब्राह्मण घटोत्कच से मुक्ति की प्रार्थना करता हुआ
९. पञ्च० १।४१
१०. कु० १०।१९
११. पञ्च० २।६०, तुलनार्थ—"Flattery is a sin." —S.P.L, p. 55

१२. कु० ६।२०, तुलनार्थ—"Praise is the reward of virtue."
—S.P.L., p. 99

१३. चारु० ४।६, तथा—मृच्छ० ४।२
तुलनार्थ—"A guilty man is always concious." —English Proverb

१४. यौग० ४।२२

१५. काद० पृ० ७०७

१६. मनु० १।९२-९६

१७. "...ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः।" —मनु० ७।३२

१८. हर्ष च० ३। पृ० १०७, पं० १, धन की अनिच्छा वाले भैरवाचार्य पुष्पकूति से

१९. वही ३। पृ० ११६, पं० २

२०. काद० पृ० २१५, शुकनासोपदेश

२१. कु० १२।२२

२२. यौग० ३।२, (यौगन्धरायण विदूषक से राजा की विपत्ति के सम्बन्ध में)

२३. किरात० १२।४६

२४. कु० १०।३५

२५. हर्षच० ८, पृ० २५५, पं० १५

२६. रागं विजृम्भयति, संश्रयते प्रमादं, दोषान् न चिन्तयति साहसमभ्युपैति।
स्वच्छन्दतो व्रजति, नेच्छति नीतिमार्गं, बुद्धिं शुभां सुविदुषामवशीकरोति॥
—अवि० ३।१
तुलनार्थ—"...प्रागेव रागमलिनानि मनांसि यूनाम्।" —ऋतु० ६।२३

२७. काद० पृ० २१५, शुकनासोपदेश। इसी प्रकार—"यौवनारम्भे च प्रायः शास्त्रजल-प्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः।" —वही पृ० २१६

२८. वही पृ० ४०६, कादम्बरी को आकृष्ट जानकर भी चन्द्रापीड का संशय

२९. तुलनार्थ—"कामी स्वतां पश्यति।" —शाकु० २।२ तथा विवेचन देखिये
—आगे परि० ८, अनु० ? (घ)

३०. काद० पृ० ३२०, पुण्डरीक की दशा पर चिन्तित कपिञ्जल का विचार

३१. वही पृ० ५७७, पुत्र वैशम्पायन को दोष देने वाले शुकनास को तारापीड का कथन
तुलनार्थ—'धन्यः कोऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने।' —शृं० ३०

३२. शृं० २९

३३. तुलनार्थ 'youth and age cannot agree'. —S.P.L., p. 135

३४. पञ्च० १।४१ (द्रोण शकुनि को सान्त्वना देने के लिए अपनी वय को दोष देते हैं।)

३५. बुद्ध० १०।३८

३६. वही ११।६०

३७. मालवि० १।२० राजा दोनों आचार्यों के संघर्ष को अपने द्वारा आयोजित न बताते हुए

३८. हर्षच० ३, पृ० १०१ पं० ३ भैरवाचार्य के शील को सुनकर राजा का उसके प्रति आकर्षण
३९. तुलनार्थ—"समानशीलव्यसनेषु सख्यम्" —संस्कृत लोकोक्ति
४०. शिशु० २०।४०
४१. तुलनार्थ—"न कारणं विना मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।" —संस्कृत लोकोक्ति
४२. सौन्द० १२।३३
४३. कु० ५।६४
४४. विक्र० २।११—राजा, पृ० ५०
४५. शाकु० ६।१०
४६. सौन्द० १६।७५
४७. किरात० ८।४, (यथोत्तरेच्छाः-उत्तरमुत्तरमिच्छा येषां ते; वीप्सार्थेऽव्ययीभावः।)
४८. महावीर० ६।६२—चित्ररथ, पृ० १८६
४९. विक्र० ४।२९—राजा
अर्थ के लिए देखिए '···a faint heart will never be with good fortune.' —Karnik & Desai, p. 113
५०. शिशु० १।२९
५१. सौन्द० १२।२३
५२. बुद्ध० ११।४२
५३. विक्र० ३।२१। तुलनार्थ—"सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते" —मृच्छ० १।१०
विवेचनार्थ देखिए —परि० ७, अनु० ४ (क)
५४. आगे परि० ७, अनु० ४
५५. शाकु० ३।१२ सं०५५—सख्यौ
(शकुन्तला को राजा द्वारा न ठुकराये जाने का विश्वास दिलाती हुई)
५६. विक्र० ४।१३
५७. वही २।२२—विदूषक, रानी के रुष्ट होकर चले जाने पर दुःखी राजा से
५८. मुद्रा० ५।१३—राक्षस, सिद्धार्थक की पिटाई के विषय में
५९. किरात० ६।१६
६०. काद० पृ० ७२०, तारापीड चित्ररथ से
६१. शाकु० ६।४—सानुमती, राजा द्वारा वसन्तोत्सव के निषेध पर आश्चर्य करती हुई
६२. चारु० ३।८, चोरी के यत्न में लगा सज्जलक
६३. अवि० ४।२१—पं० ७ विदूषक, राजकुमार अविमारक की खोज में
६४. यौग० १।१३—यौगन्धरायण, सांकलायन की कार्यसिद्धि पर हंसक से
तुलनार्थ—'All's well that ends well.' —S.P.h. p. 44 (line 2 under No. 79)

६५. 'सर्वविधस्य उद्यमस्य सिद्धौ···रतिस्थानं···प्रवर्तते'—पं० रामचन्द्रशुक्ल, पृ० ५६
६६. यौग० ४।५—यौगन्धरायण सफलता मिलने पर
६७. कु० ५।८६, (पाठान्तर "न धत्ते" मानकर अर्थ होगा—"सफल क्लेश नया नहीं रहता।")
६८. अवि० २।७—पं० ७ अविमारक, कुरंगी से अन्तःपुर में ही रहने का निमन्त्रण पाकर
६९. कु० १२।६०
७०. शाकु० ५।५—राजा, सं० २७
७१. अवि० २।८—पं० ४५ अविमारक, ऋषिशाप की समाप्ति पर हर्षित विदूषक से
७२. नीति० २२
७३. काद० पृ० ७३, तात के मरने पर भी पानी पीने के लिए जाता हुआ शुक-शिशु
७४. "अतिकष्टास्ववस्थास्वपि जीवितनिरपेक्षा न भवन्ति खलु जगति प्राणिनां प्रवृत्तयः ···सर्वथा न कञ्चिन्न खलीकरोति जीविततृष्णा"—वही
७५. स्वप्न० १।७
७६. मालवि० ५।६—द्वितीया
७७. किरात० ११।८
७८. वही १३।६
७९. सौन्द० ८।६
८०. किरात० १।३८
८१. रघु० ६।३०
८२. अवि० २।४
८३. सौन्द० १६।७५
८४. मृच्छ० ३।२
८५. रघु० १६।४६
८६. विक्र० ३।६—राजा, विदूषक द्वारा चान्द की उपमा खाण्ड के लड्डू से दिये जाने पर
८७. काद० पृ० ५७८, वैशम्पायन को दोष देने वाले शुकनास से तारापीड का कथन
८८. वही पृ० ५५३, राजकुमारों द्वारा वैशम्पायन की दशा का वर्णन
८९. शिशु० १६।४४
९०. तुलनार्थ—"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥"
तथा— "ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।" —गीता २।६७, ६२
९१. बुद्ध० ११।६८
९२. रत्ना० ३।२

९३. 'वेगं करोति तुरगस्त्वरितं प्रयातुं प्राणव्ययान्न चरणास्तु तथा वहन्ति ।
सर्वत्र यान्ति पुरुषस्य चलाः स्वभावाः खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ॥'
—मृच्छ० ५।८

९४. शिशु० १२।३६

९५. गीता—६।३४

९६. शिशु० १५।११

९७. शाकु० ३।७, सं० २३, अनसूया शकुन्तला के सन्ताप का कारण जानने की इच्छा से

९८. प्रतिमा० ५।४, राम सीता से, पिता के मरण का दुःख प्रकट करते हुए

९९. रघु० ८।४३

१००. काद० पृ० ५७७, वैशम्पायन को दोष देने वाले शोकाकुल शुकनास को राजा द्वारा सान्त्वना

१०१. कु० ४।२६

१०२. हर्षच० ६, पृ० १७८ । पं० ८, बड़े भाई से मिलकर हर्ष का शोक बढ़ गया

१०३. शाकु० ३।८ सं०३०, उभे—सखियां शकुन्तला का सन्ताप जानने की इच्छा से

१०४. (क) उत्तर० ३।२९
(ख) स्वप्न० ४।६

१०५. शाकु० ४।१ सं० १९,—अनसूया, मुनि दुर्वासा को शाप दे जाता देखकर

१०६. हर्षच० १। पृ० १२, पं० १५, तुलनार्थ
—'Nothing is well said or done in anger.' —S.P.L., p. 93

१०७. शिशु० १६।२६

१०८. मुद्रा० ४।१० राक्षस, चन्द्रगुप्त के क्रोध को उचित बताते हुए

१०९. किरात० १०।६२

११०. दूत० ५ पं० १०, दुर्योधन कृष्ण के लिए "पुरुषोत्तम" शब्द का प्रयोग करने वाले दूत को घबराया हुआ मानता है । अतः यहां 'संभ्रम' का अर्थ 'भय' किया गया है अन्यथा 'गलती' अर्थ लेने पर यह सूक्ति इस अंग्रेजी लोकोक्ति से तुलनीय है—
'To err is human.'

१११. शिशु० ७।५२

११२. काद० पृ० २१६, शुकनासोपदेश

११३. शिशु० १।६७ तथा ५।४२

११४. रघु० १७।४३

११५. मिलाइए—आगे उद्दण्डता के कारणों में बाण ने इन्हीं को मुख्यता दी है। परि० ६ अनु० ६ (ढ), देखिये टिप्पणी सं० १४७

११६. शिशु० १०।२८

११७. वही १०।१८

११८. किरात० ९।६८

११९. शिशु० १०।५
१२०. शाकु० १।२५ राजा, शकुन्तला को राजर्षि-कन्या जानकर
१२१. वही, ४।१६। तुलनार्थ—"Hope is the only medicine for the miserable." —S.P.L., p. 72,
१२२. काद० पृ० ३५२, पुण्डरीक के मरणोपरान्त महाश्वेता के जीवन-धारण का आधार
१२३. वही, पृ० ५२८, केयूरक, चन्द्रापीड से जाने की अनुमति लेते समय
१२४. सौन्द० १८।३०
१२५. "समुद्रवस्त्रामपि गामवाप्य पारं जिगीषन्ति महार्णवस्य"—बुद्ध० ११।१२
१२६. कालिदास के शब्दों में वह इस प्रकार सोच सकता है:—
"स्रोतोवहां पथि निकामजलामतीत्य जातः सखे प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम्"
—शाकु० ६।१६
१२७. हर्षच० ३। पृ० ९२। प० ४, चचेरे भाई को उत्तर देते हुए बाण का कथन
१२८. वैराग्य ८। तुलनार्थ—"न्यस्तं मूर्ध्नि पदं तवैव जरया तृष्णे मुधा मार्द्यसि"
—मुद्रा० ३।१
१२९. शृं० २८
१३०. वैराग्य १०
१३१. "यः सर्वत्रानभिस्नेहः···" तथा "सङ्गात् संजायते कामः······।"
—गीता० २।५७, ६२
१३२. काद० पृ० २१६ शुकनासोपदेश
१३३. वही, पृ० ३१५-१६, पुण्डरीक को न पाकर कपिञ्जल की चिन्ता
१३४. तुलनार्थ—"Blushing is a token of virtue." —S P.L., p. 23
१३५. विक्र० ३।१३, पृ० ८६ विदूषक, देवी द्वारा ईर्ष्या-त्याग के प्रदर्शन पर
१३६. किरात० १०।४४
१३७. शाकु० ३।१६, सं० ७० —राजा, प्रियंवदा से
१३८. मेघ० ६।३०
१३९. मुद्रा० ७।२—सं० ७, चन्दनदास, राजा चन्द्रगुप्त के लिए
१४०. काद० पृ० ६९, वृद्ध शबर के लिए शुक का विचार
१४१. इसी भाव को व्यक्त करने वाला यह पद लोकोक्ति की तरह प्रयुक्त होता है :—
"राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि।
आत्मनो विल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि ॥"
१४२. पञ्च० १।३२—द्रोण शकुनि को धिक्कारते हुए
१४३. काद० पृ० ३२२, कपिञ्जल को पुण्डरीक का उत्तर
१४४. महावीर० ३।४
१४५ काद० पृ० ५७२, चन्द्रापीड को दोष देनेवाले राजा को शुकनास का कथन

१४६. काद० शिशु० १६।२८

१४७. "गर्भेश्वरत्वम्, अभिनवत्वम्, अप्रतिमरूपत्वम्, अमानुषशक्तित्वं चेति महतीयं, खल्वनर्थपरम्परा सर्वा। अविनयानामेकैकमप्येषाम् आयतनं, किमुत समवायः।"
—काद० पृ० २१६, शुकनासोपदेश

१४८. पञ्च० १।३८ —भीष्म, द्रोण द्वारा सुयोधन को शान्तिपूर्वक समझाने पर

१४९. चारु० २।०। पं० ७९, संवाहक वसन्तसेना से

१५०. उदाहरणार्थ "जीविताभिलाषा, सुखेच्छा और दुःखजिहीर्षा" का उल्लेख भारतीय दर्शन में; तथा शोक, क्रोध आदि का भारतीय साहित्य शास्त्र में

१५१. देखिए ऊपर परि० ६, अनु० ४

००

परिच्छेद-७

धार्मिक धारणाएं और विश्वास

१. पृष्ठभूमि

प्रत्येक समस्या को मनुष्य बुद्धि-विवेक से ही हल कर ले यह प्रायः संभव नहीं होता। प्रकृति के अनेक विचित्र व्यवहारों से जब उसकी बुद्धि चकरा जाती है तब उसे किसी शक्ति-विशेष की कल्पना और शनैः-शनैः उस पर विश्वास और आस्था करनी पड़ती है। आदिम मानव के साथ तो ऐसा स्थल-स्थल पर हुआ होगा। संभवतः इसीलिए सुदूर प्राचीन युग में अग्नि, सूर्य आदि को ही नहीं; वृक्ष, पर्वत, जल आदि को भी देवता मान लिया गया था।[1] जैसे-जैसे ज्ञान का प्रसार हुआ कुछ आस्थाओं को निर्मूल पाया गया और उन्हें अन्ध-विश्वास कहकर धता बता दी गई। किन्तु फिर भी अनेक प्रश्नों का उत्तर मानव-मस्तिष्क आज तक नहीं दे पाया है, और बहुत से कार्यों का कारण खोजने में असफल रहा है। दुर्घटना और मृत्यु के मूल में क्या है ? मृत्यु के पश्चात् क्या होता है ? कुछ व्यक्तियों में अतिमानवीय शक्ति क्यों और कैसे आ जाती है ? इत्यादि समस्याओं का समाधान वैज्ञानिक दृष्टि से अभी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में हमारे मन में सोये हुए संस्कार जागते हैं; और हमें प्रकृति, ईश्वर या किसी दिव्य अलौकिक शक्ति पर विश्वास दिलाने का यत्न करते हैं। मन के ये संस्कार हमें पैतृक-सम्पत्ति के रूप में वंशानुक्रम से प्राप्त हुए हैं; एक तरह से घुट्टी में पिलाये गये हैं। न जाने कब से यह क्रम चला आ रहा है; सम्भवतः तब से जब से कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य ने किन्हीं परम्पराओं का श्रीगणेश किया होगा।

जिस देश की परम्पराएं जितनी पुरानी होती हैं उस देश के निवासियों के विश्वास भी उतने ही अधिक गहरे पैठे हुए होते हैं। भारत एक ऐसा ही देश है। इसकी सभ्यता और संस्कृति का इतिहास विश्व की उन प्राचीनतम जातियों से (races) प्रारंभ होता है, जिनकी व्यावहारिक या साहित्यिक या दोनों प्रकार की भाषा संस्कृत, वैदिक-संस्कृत या उससे भी पूर्व की कोई आदि-भाषा रही थी। इसी कारण संस्कृत-साहित्य में इसकी प्राचीन परम्पराएं और तदनुसार प्राप्त परम्परागत विश्वास बाहुल्येन अंकित हुए हैं, और सरलतया खोजे जा सकते हैं।

संस्कृत-काव्य की सूक्तियों में ऐसे अनेक विश्वाससूचक कथन हुए हैं, और वे इतने निश्चित और स्पष्ट हैं कि उन्हें व्याख्या द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। उनसे तत्कालीन भारतीय विश्वासों का अच्छा परिचय मिल जाता है।

जीवन के सम्बन्ध में स्वीकृत ये विश्वास बहुमुखी हैं। मुख्यतः इन्हें दो प्रकार का कहा जा सकता है। एक तो उन अज्ञात कारणों और स्थितियों या अवस्थाओं को बताते हैं जो मनुष्य की शक्ति से परे की घटनाओं का स्पष्टीकरण करना चाहते हैं—जैसे—भाग्य, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, देवता आदि के सम्बन्ध में विश्वास। दूसरे प्रकार के विश्वास ऐसे हैं जो किसी व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या शक्ति आदि में मनुष्य की विशेष श्रद्धा उत्पन्न करना चाहते हैं; जैसे—ऋषि, महात्मा, सिद्ध, राजा, शकुन, श्राद्ध, यज्ञ, दान, तीर्थ आदि। ऐसे विश्वास प्रायः किसी-न-किसी कारण से प्रेरित प्रतीत होते हैं, किन्तु कहीं-कहीं वे केवल परम्परागत विश्वास-मात्र ही हैं, उदाहरणार्थ—शकुन, मंगलवार या (दक्षिण-) दिशा सम्बन्धी विश्वास। सूक्तियों में अभिव्यक्त इन सब प्रकार के विश्वासों का अध्ययन यहां क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

विश्वासों के निर्माण में कई आधार रहे होंगे, किन्तु सूक्तिगत विश्वासों के सृजन में धर्म, परम्परा आदि कुछ तत्त्व विशेषरूपेण कार्य करते प्रतीत होते हैं। इसे ध्यान में रखते हुए इन सूक्तियों का निम्नप्रकारेण वर्गीकरण करके विवेचन किया जा रहा है—

१. धार्मिक धारणाएं; २. भाग्य और कर्म; ३. सुख-दुःख, विपत्ति और दुर्भाग्य; ४. मृत्यु और परलोक; ५. संसारत्यागियों के विश्वास; ६. कुछ अन्य विश्वास।

२. धार्मिक धारणाएं

(क) धर्म का महत्त्व—धर्म को हर कार्य में प्रमुखता देने वाले भारत के प्रतिनिधि साहित्य संस्कृत के काव्य में धर्मपरायण भाव व्यक्त न होते यह कैसे संभव था? फलतः सूक्तियों द्वारा भी धार्मिक धारणाओं का मण्डन ही हुआ है। 'धर्म क्या है' इसकी व्याख्या तो सूक्तियों में नहीं मिलती। हां, धर्म की विशेषता बताते हुए महाकवि भास कहते हैं—**अच्छलो धर्मः**[2]—"धर्म छल-कपट-रहित होता है।" ऐसे धर्म के सम्बन्ध में कवि ने यह विश्वास व्यक्त किया है कि—**अपश्चात्तापकरः खलु सञ्चितधर्मणां मृत्युः**[3]—"जिन्होंने धर्म का संचय किया है उनकी मृत्यु पश्चात्ताप का कारण नहीं होती।" इसके मूल में यह विश्वास निहित है कि धर्मार्जन के कारण सद्गति निश्चित हो जाती है; अतः धर्मात्मा के विषय में वह स्वयं या कोई और दुःखी क्यों हो?

बाण के अनुसार भी धर्म करने वाले का कभी अकल्याण नहीं हो सकता, क्योंकि—**धर्मपरायणानां हि समीपसञ्चारिण्यः कल्याणसम्पदो भवन्ति**[4]—"कल्याणकारी वैभव धर्मात्मा व्यक्तियों के पास निरंतर विचरते हैं।" इस प्रकार धर्म से मनुष्य को पारलौकिक और ऐहलौकिक दोनों सुख मिलते हैं ऐसा विश्वास इन सूक्तियों से व्यक्त होता है।

(ख) **शिव और विधाता**—हिन्दू त्रिमूर्ति में शिव का अन्तिम, पर अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान है। शिव का महत्त्व पुराणों और महाकाव्यों के प्रभाववश धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि शैवों ने उसे परमात्मा के साथ तद्रूप करके जानना प्रारम्भ कर दिया[५]। कालिदास ने शिव के विषय में पार्वती से कहलवाया है—**यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं, कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति?**[६]—"ब्रह्मा (जो गलती से "आत्मभू" कहाता है,[७]) का भी जिसे कारण (स्रष्टा, creator) माना जाता है, उसका जन्म कैसे लक्षित होगा?" भारवि भी शिव को परमात्मा के समान निर्विकार समझते हैं। क्रोध आदि मनोभाव उसे अभि-भूत नहीं कर सकते, क्योंकि—**कुतः परस्मिन् पुरुषे विकारः?**[८]—"परमोत्कृष्ट पुरुष में विकार कहां?" इस प्रकार ईश्वर का प्रतीक शिव सूक्तियों में श्रद्धा का विषय रहा है।

यह एक नैसर्गिक तथ्य है कि सभी मनुष्य किसी न किसी गुण और दोष दोनों से संयुक्त रहते हैं। संस्कृत का श्रद्धावान् कवि इसमें भी विधाता की शक्ति के दर्शन करता है—**प्रायेण सामन्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः**[९]—"गुणों की संपूर्णता देने के विषय में प्रायः स्रष्टा की प्रवृत्ति प्रतिकूल है।" भाव यह कि ईश्वर किसी को सर्व-गुणसम्पन्न नहीं बनाता। साथ ही 'गुण की पूजा और दोष का तिरस्कार भी ईश्वर ने अपने अनुरूप ही इस संसार में स्थापित कर दिये हैं,[१०] अर्थात् वह स्वयं गुणी है, ऊंचा है और पूजनीय है। अतः गुण भी ऊंचे और पूज्य हैं, तथा इसके विपरीत, दोषों का स्थान नीचा है और तिरस्करणीय है।

संसार में प्रकृति के विविध रूप छाये हुए हैं। भारवि इन्हें ईश्वरीय देन होने के कारण कल्याणकारी मानते हैं—**कल्याणी विधिषु विचित्रता विधातुः**[११]—"विधाता की रचना की विचित्रता मङ्गलकारी है।"

इन सूक्तियों में देवों में शिव की विशिष्ट महत्ता, और 'विश्वस्रष्टा', 'वेधा' तथा 'विधाता' नामों से विश्व के सर्जनहार के प्रति गहरी श्रद्धा द्योतित होती है, फिर चाहे स्रष्टा के रूप में ब्रह्म को या ईश्वर को ही देखा गया हो।

(ग) **देवता**—देवताओं की कल्पना बहुत प्राचीन है, फिर भी उनकी शक्ति और क्रिया-कलाप रहस्य का विषय बने रहे हैं। कालिदास कहते हैं—**को देवतारहस्यानि तर्कयिष्यति**[१२]?—"देवताओं के रहस्यों को कौन जान सकता है?" हर्ष भी देवताओं के महान् सामर्थ्य को स्वीकारते हैं—**अनन्यसदृशप्रभावो मन्ये देवतायाः**[१३]—"देवता का प्रभाव असामान्य मानता हूं।" इस प्रसंग में सिद्धि प्राप्त कराना देवताओं का ही कार्य समझा गया है। भवभूति देवताओं की अलौकिक दृष्टि का उल्लेख करते हैं—**अव्या-हतान्तः-प्रकाशा हि देवताः सत्त्वेषु**[१४]—"जीवों का अन्तःकरण देवताओं को बिना व्यव-धान के प्रकाशित हो जाता है।" देवगण मानवमन को भलीभांति जानते हैं यह धारणा यहां अभिव्यक्त हुई है।

मानव के अन्तःकरण में ऐसे देवों को प्रसन्न करने की भावना का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं। तदर्थ भास ने यह उपाय सुझाया है—**भक्त्या तुष्यन्ति दैवतानि**[१५]—"देवगण भक्ति से संतुष्ट होते हैं।" भक्ति और पूजा का प्रकार शूद्रक बताते हैं—

तपसा मनसा वाग्भिः पूजिता बलिकर्मभिः ।
तुष्यन्ति शमिनां नित्यं देवताः किं विचारितैः ?[16]

—"तप से, मन से, वाणी से और बलिकर्म से पूजित देवता आत्मसंयमियों पर सदा प्रसन्न रहते हैं, इसमें विचार (-संशय) का स्थान नहीं।" देवताओं की तुष्टि के लिए मूर्तिपूजा और उससे कल्याणप्राप्ति की धारणा बाणभट्ट ने व्यक्त की है—**अप्रत्यक्षाणां हि देवतानां मृदश्मकाष्ठमय्यः प्रतिमाः श्रेयसे पूजासत्कारेणोपचर्यन्ते**[17]—"अपने कल्याणार्थ अप्रत्यक्ष देवताओं की मट्टी पत्थर या काष्ठ से बनी प्रतिमाएं पूजा और सत्कार-भाव से संसेवित की जाती हैं।" इस प्रकार अप्रकट देवताओं के दर्शन करने और उन तक अपनी श्रद्धा पहुंचाकर उनका आश्रय पाने के लिए मूर्तिपूजा को माध्यम बनाया जाता है। माध्यम जो भी अपनाया जाए, देवताओं तक अपनी वन्दना पहुंचाना आवश्यक समझा जाता है, क्योंकि—**वन्द्याः खलु देवताः**[18]—"देवता निश्चय ही वन्दनीय हैं।"

बाण बताते हैं—**भक्तजनानुरोधविधेयानि तु भवन्ति देवतानां मनांसि**[19]—"देवताओं के मन भक्तों के अनुरोध के वश में रहने वाले (-वश्यानि) होते हैं।" इस भाँति भक्तों के प्रति देवों के उदार-हृदय होने की धारणा के आधार पर ही उनसे अनेक प्रकार की प्राप्तियों की आशा की जाती है। विशाखदत्त ने एक प्राप्ति यह बताई है—**स्वर्गं गतानां तावद्देवा दुःखितं परिजनमनुकम्पन्ते**[20]—"स्वर्ग गए हुए व्यक्ति के दुःखी परिजनों पर देवता लोग अनुकम्पा करते हैं।" देवों की शक्ति से भय के साथ-साथ ऐसी आशाएं भी उनके प्रति मानव की श्रद्धा को प्रेरित करने में सहायक हुई हैं।

(घ) ऋषि, मुनि, तपस्वियों की सिद्धियां—यह धारणा कि कतिपय महात्मागण अपने सतत अभ्यास से कुछ सिद्धियां प्राप्त कर लेते हैं, भारतीय परम्परा में बद्धमूल है और सूक्तियों में भी खुलकर व्यक्त हुई है। भास की मान्यता है कि सिद्धपुरुषों की वाणी सत्य होती है, अतः वे जो कहते हैं वही होता है—**न हि सिद्धवाक्यान्युत्क्रम्य गच्छति विधिः सुपरीक्षितानि**[21]—"सिद्धों द्वारा सोच विचार कर कहे हुए वचनों का उल्लंघन भाग्य भी नहीं करता।" कालिदास के अनुसार भी—**न हीश्वरव्याहृतयः कदाचित् पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम्**[22]—"समर्थ महापुरुषों की वाणियां संसार में कभी भी झूठ सिद्ध नहीं होतीं।" भवभूति का कथन है—

लौकिकानां हि साधूनाम् अर्थं वागनुवर्त्तते ।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥[23]

—'लौकिक मुनियों की वाणी अर्थ के पीछे चलती है परन्तु आदि ऋषियों की वाणी के पीछे-पीछे अर्थ चलता है।' ऐसे ही महर्षि साक्षात्कृतधर्मा[24] हुआ करते थे, ऐसा भवभूति का विश्वास है।

इन सिद्ध-पुरुषों की वाणी सत्य होती है, इसलिए इनका आक्रोश आक्रुष्ट व्यक्ति के लिए शाप बन जाता है। भास का विश्वास है—**अपरिहरणीयो महर्षिशापः**[25]—"महर्षियों के शाप का परिहार नहीं हो सकता।" बाण के अनुसार तो—'देवता लोग भी मुनियों के शापवश अपना शरीर छोड़कर दूसरे शरीरों का आश्रय लेते हैं।'[26] कवि

कालिदास भी तपस्वियों के इस सामर्थ्य को जहां दुर्वासा ऋषि के शाप की कल्पना द्वारा समर्थित करते हैं, वहीं स्पष्ट शब्दों में इसका आख्यान इस प्रकार करते हैं :—

शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्य-तेजोभिभवाद् वमन्ति ।।[२७]

"प्रायः शान्त रहने वाले तपस्वियों में दहनशील गुप्त तेज निश्चय ही विद्यमान रहता है। अन्य तेजस्वी द्वारा तिरस्कृत होकर वे उसे वैसे ही उगल देते हैं, (शाप दे देते हैं) जैसे स्पर्श-सुखद सूर्यकान्त मणि।" ये ऋषि-मुनि आदि सिद्धजन अपनी रक्षा के लिए शाप का प्रयोग करते हैं, ऐसा मानकर कालिदास कहते हैं— त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम्[२८]—"रक्षा के (किसी अन्य उपाय के) अभाव में शाप का अस्त्र लेकर ये तपस्वीजन अपनी तपस्या का व्यय करते हैं।" अतः शाप देने से उनका तप घटता है यह विश्वास भी इससे प्रकट होता है।

वाणी की ही सिद्धि क्यों, और न जाने क्या-क्या सिद्धियां तपस्या द्वारा पा लेने का विश्वास किया जाता है। कालिदास के अनुसार सिद्धों की कुशलता उनके अपने अधीन होती है—स्वाधीनकुशलाः सिद्धिमन्तः[२९]। शूद्रक इनकी दिव्य सिद्धि को अलंघ्य बताते हैं—दैवी च सिद्धिरपि लङ्घयितुं न शक्या[३०]। बाण इन तपस्वियों द्वारा सब कुछ प्राप्य मानते हैं—नास्ति खल्वसाध्यं नाम तपसाम्[31]। और उनकी दृष्टि में ऐसे महात्माओं का प्रभाव विचार का विषय नहीं है—अचिन्त्यो हि महात्मनां प्रभावः[32]। भारवि समझते हैं कि —"जो परम प्रभाव और तेज का स्थान हैं ऐसे सर्वजयी तपस्वियों के लिए कुछ भी अलंघ्य नहीं है।"[33] साथ ही— किमिवास्ति यन्न तपसामदुष्करम्[३४]—"ऐसा क्या है जो तपस्वियों के लिए सुकर नहीं?"

सिद्धियों की प्राप्ति जिन साधनों से की जाती है उनमें से समाधि भी एक है, ऐसा विश्वास पर्याप्त प्राचीन है, और योगदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण भाग है—'समाधिपाद'। पौराणिक आख्यानों में समाधियों के प्रसंग प्रायः आए हैं। वहां समाधिभंग भी हुए हैं। पर जो सफल समाधि लगाते हैं उन्हीं को सिद्धि मिलती है, इस विश्वास को लेकर भारवि कहते हैं--न हि महतां सुकरः समाधिभङ्गः[३५]—"महापुरुषों की समाधि भंग करना सरल नहीं है।"

इस प्रकार की समाधि और कष्टदायी तपस्या को भगवान् बुद्ध ने ज्ञान-प्राप्ति में सहायक नहीं पाया था, इसलिए अश्वघोष ने ऐसे साधनों के लाभ पर शंका उठाई है। उनके अनुसार तपस्या को सिद्धिदायिनी मानने वालों का विचार यह होता है कि— दुःखेन मार्गेण सुखं ह्युपैति, सुखं हि धर्मस्य वदन्ति मूलम्[३६]—"कष्ट के मार्ग से सुख मिलता है और सुख ही धर्म का मूल कहाता है।" परन्तु अश्वघोष की दृष्टि में यह विश्वास बड़ा अटपटा है। इसके विरोध में तर्क देते हुए वे कहते हैं—"तपस्या में दी गई शरीरपीडा यदि धर्म है तो शरीर का सुख अधर्म हो गया। तपस्या के धर्म से जब मनुष्य परलोक में सुख पाता है तब तो इस लोक का धर्म परलोक में अधर्म (सुख) को

उत्पन्न करता है[३७]।" अश्वघोष की यह शंका उस विचारधारा के विरुद्ध प्रतीत होती है जिसमें शारीरिक पीड़ा को ही तपस्या माना जाता रहा है।

(ङ) **दिव्य सामर्थ्य**—विशाखदत्त का यह विश्वास है कि—**सत्त्वोत्कर्षस्य धात्रा निधय इव कृताः केऽपि कस्यापि हेतोः**[३८]—"विधाता ने कुछ को किसी कारणवश शक्ति के आतिशय्य की निधि बनाया है।" ऐसे महापुरुषों की शक्ति का ओर-छोर नहीं पाया जा सकता। माघ ने भी कृष्ण की अनन्त सेना का वर्णन करते हुए एक सूक्ति में ऐसा ही भाव व्यक्त किया है—**पयस्यभिद्रवति भुवं युगावधौ सरित्पतिर्न हि समुपैति रिक्तताम्**[३९]—"प्रलय के समय पृथ्वी की ओर जल के उमड़ने पर भी समुद्र रिक्त नहीं होता है।" इस कथन का आधार यह धारणा है कि 'अपरिमित शक्ति का क्षय नहीं होता'।

(च) **शास्त्रीय विधि-विधान**—प्राचीन मनीषियों द्वारा निर्धारित नियमों और मर्यादाओं का अनुशासन करने वाले शास्त्र भारतीयों के लिए सदा अनुकरणीय रहे हैं। कालिदास ने रघु के नेत्रों का वर्णन करते हुए विरोधाभास के प्रयोग द्वारा कहा है कि 'यद्यपि उसके लोचन कर्णपर्यन्त विशाल थे तथापि 'सूक्ष्म कार्यों का अर्थ दर्शाने वाले शास्त्र ही वस्तुतः उसको दृष्टिवान् बनाते थे'—**चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना**[४०]। यह एक सामान्योक्ति भी है जो इस विश्वास को प्रकट करती है कि 'तत्त्वदर्शी शास्त्रों से ही दृष्टि मिलती है।'

शास्त्रों में यज्ञ, दान आदि का जो विधान हुआ है सूक्तियों में उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है। भास ने यज्ञ और दान से होने वाले पुण्य को अक्षय माना है—

शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्, सुबद्धमूलाः निपतन्ति पादपाः।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति, हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति ॥[४१]

—"काल बीतने पर शिक्षा क्षीण हो जाती है, मजबूत जड़वाले वृक्ष गिर जाते हैं, और जल के स्थान (समुद्र) में ठहरा हुआ जल सूख जाता है, किन्तु आहुति और दान वैसे ही रहते हैं," अर्थात् उनका फल कभी नष्ट नहीं होता।

बाणभट्ट शास्त्रीय अनुष्ठानों के प्रति अगाध विश्वास प्रकट करते हैं—**न खलु वैदिकानामवैदिकानां वा कर्मणामसाध्यं नाम किञ्चिदपि**[४२]—"वैदिक और वेदभिन्न[४३] क्रियाकलाप द्वारा कुछ भी असाध्य नहीं।"

यज्ञ आदि शास्त्रीय विधियों के प्रति बौद्धों की प्रतिक्रिया अश्वघोष ने इन शब्दों में व्यक्त की है—**क्रतोः फलं यद्यपि शाश्वतं भवेत् तथापि कृत्वा किमु यत्क्षयात्मकम्**[४४]—"यज्ञ का फल चाहे शाश्वत हो फिर भी उसको करने से क्या जो क्षीण होने वाला है, या जो घातक है?"

श्राद्ध के विषय में सूक्तियां उपलब्ध होती हैं। 'प्रतिमा'-नाटक में भास ने राम को पिता का श्राद्ध करने के लिए तत्पर चित्रित किया है। वहां राम कहते हैं—**कल्पविशेषेण निवपनक्रियामिच्छन्ति पितरः**[४५]—"(पुत्र के) सामर्थ्यानुसार पितरों को (पिण्ड-दान आदि) श्राद्धक्रिया की अभिलाषा होती है।" अतः भास की दृष्टि में श्राद्ध करना इसलिए आवश्यक है कि पूर्वज इसकी अपेक्षा रखते हैं। श्राद्ध में क्या कुछ अर्पित

किया जा सकता है इसके लिए यह सूक्ति प्रायः उद्धृत की जाती है—**सर्वं श्रद्धया दत्तं श्राद्धम्**[४६]—"वह सभी कुछ जो श्रद्धापूर्वक दिया जाए श्राद्ध होता है।" इससे प्रकट है कि श्राद्ध में श्रद्धापूर्वक दान का बहुत बड़ा महत्त्व है। विश्वास किया जाता है कि श्राद्ध का दान पितरों को प्राप्त हो जाता है—**तैस्तर्पिताः सुतफलं पितरो लभन्ते, हित्वा जरां खमुपयान्ति ही दीप्यमानाः**[४७]—"श्राद्ध के उन उपहारों से तृप्त हुए पितरगण पुत्रवान् होने का फल पाते हैं तथा वृद्धत्व को छोड़कर[४८] देदीप्यमान होते हुए अन्तरिक्ष में चले जाते हैं।" पिण्डदान के अभाव की पूर्वकल्पना भी पितरों को असह्य होती है ऐसा कालिदास के नायक राजा दिलीप[४९] और राजा दुष्यन्त[५०] भी बड़ी गहराई से अनुभव करते हैं।

इस प्रकार सूक्तियों में शास्त्रीय विश्वास अवतरित हुए हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि तत्कालीन कवि शास्त्रीय विधि-विधानों से भली-भांति परिचित थे। सामान्यतः समाज में उनका पालन किया जाता था किन्तु बौद्धधर्म के प्रभाववश उनकी उपयोगिता के विषय में तर्क-वितर्क भी किए जाने लगे थे।

(छ) माङ्गलिक उपकरण—कुछ मांगलिक उपकरणों का भी भारतीय जीवन में धार्मिक महत्त्व रहा है। कालिदास एक सूक्ति से इनका प्रयोजन बताते हैं—**विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा**[५१]—"मांगलिक उपकरणों का सेवन वे करते हैं जो किसी विपत्ति का प्रतिकार करना चाहें या वैभव पाने के इच्छुक हों।" इसके मूल में यह विश्वास निहित है कि कुछ पदार्थ आपत्ति का निवारण भी कर सकते हैं, और कुछ सुख-सम्पदा की प्राप्ति भी करा सकते हैं।

मांगलिक उपकरणों में तीर्थों को विशेष स्थान प्राप्त है। गंगा और काशी की महत्ता का प्रतिपादन कालिदास, भर्तृहरि और भवभूति ने सूक्तिरूप में क्रमशः इस प्रकार किया है—"यह अमृत की नदी किसे प्रसन्न नहीं करती?[५२]" "गंगा का ऐश्वर्य सब देवताओं से उत्कृष्ट है[५३]" "जहां मृत्यु का निकट आना भी मगलकारी है, उस काशी को छोड़कर क्या विद्वान् कहीं और रहते हैं?"[५४] ऐसे पवित्र तीर्थों का जल भी बहुत शुभ माना जाता है। भवभूति के अनुसार—**तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः**[५५]—"तीर्थ का जल और अग्नि किसी और पदार्थ से शुद्ध नहीं किये जा सकते," वे तो स्वयं पवित्र होते हैं। अग्नि और जल सामान्यतः स्वच्छ करने वाले होते ही हैं। यहां तीर्थ के जल में विशेष पवित्रता का विश्वास पुरातन के प्रति भक्ति-भावना के कारण ही है।

इन मांगलिक उपकरणों की मंगलदायिनी शक्ति के प्रति शंका का भाव अश्वघोष के मन में उठा, इसलिए वे कहते हैं—**न पावयिष्यन्ति हि पापमापः**[५६]—"पापी के पाप को जल पवित्र नहीं कर सकते।" आगे वे कहते हैं—"गुणवान् जिस जल का स्पर्श करते हैं, यदि पृथ्वी पर वे ही तीर्थ वांछनीय हैं तो मैं गुणों को ही तीर्थ मानता हूं; (I count, या I esteem)[५७] जल तो निस्संदेह जल ही है।"[५८]

संस्कृत काव्य की इन सूक्तियों में सनातन के प्रति बद्धमूल विश्वास ही मुख्यतः प्रकट होता है। बौद्ध कवि अश्वघोष को छोड़कर शेष सभी कवि इन धार्मिक धारणाओं

के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसी परम्पराएं और रूढियां मनुष्य के आचार-विचार को इतना प्रभावित कर देती हैं कि समाज का सदस्य होने के नाते ही नहीं, कहीं एकान्त में रहने पर भी उसके जीवन में इनकी झलक देखी जा सकती है।[५६]

३. भाग्य और कर्म

परम्परा से निर्मित विश्वासों में भाग्यवाद का सर्वप्रमुख स्थान है। कई बार कर्मवाद को भाग्यविरोधी धारणा माना जाता है। अतः इन दोनों को यहां एक साथ रखकर समझने का यत्न किया जा रहा है।

(क) **भाग्य की प्रवलता**—जीवन में घटने वाली वांछनीय और अवांछनीय घटनाओं के पीछे जिस अदृष्ट शक्ति का विश्वास किया जाता है उसे भाग्य, विधि, दैव, नियति, भवितव्यता (Luck, fate, destiy) आदि नामों से पुकारा गया है। हिन्दी में 'होनी या होनहार' भी इसी के लिए प्रयुक्त होता है। सूक्तियों में इसकी प्रवलता, अलंघ्यता और सर्ववशित्व की चर्चा की गई है। भास कहते हैं—**अनतिक्रमणीयो हि विधिः**[६०] या—**विधिरनतिक्रमणीयः**[६१]—'विधि अलंघ्य है।' भाव यह कि भाग्य की शक्ति पर किसी की पार नहीं वसाती। कालिदास के अनुसार भी भाग्य सव शक्तियों से बढ़कर है—**नास्ति विधेरलंघनीयम्**[६२]—"भाग्य द्वारा कुछ भी अलंघ्य नहीं।" वह हर प्रकार से अपना कार्य कर जाता है। यहां तक कि—**भवितव्यानुविधायीनीन्द्रियाणि**[६३]—"इन्द्रियां भी होनी के अनुरूप आचरण करती हैं।" इसके अतिरिक्त—**भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र**[६४]—'होनहार के द्वार सर्वत्र होते हैं।' इसलिए मानना पड़ता है कि—**भवितव्यता खलु बलवती**[६५]—"होनहार वलवान् है।"

शूद्रक 'नियति' की तुलना 'एक उद्दाम किशोरी' से करते हैं 'जो उन्नति अवनति में, रात और दिन, मार्ग की बाधाओं की चिन्ता न करके (अभीष्ट) पुरुष को आक्रान्त (या स्वीकार) करने के लिए घूमती है।'[६६] अतः उनके अनुसार नियति ही मनुष्य की अवस्था-विशेष की निर्णायक है। जिस प्रकार ऊपर कालिदास इन्द्रियों पर भाग्य का प्रभाव मानते हैं उसी प्रकार विशाखदत्त भी स्वीकार करते हैं—**दैवेनोपहतस्य बुद्धिरथवा सर्वा विपर्यस्यति**[६७]—"सचमुच भाग्यहीन की सारी बुद्धि ही पलट जाती है।"

वाण के मत में भी—**प्रभवति हि भगवान् विधिः**—[६८]"भगवान् भाग्यदेव निश्चय ही समर्थ हैं," तथा—**विधिर्नामापरः कोऽप्यत्रास्ते, यत्तस्मै रोचते तत्करोति, नासौ कस्यचिदप्यायत्तः**[६९]—"कोई अद्वितीय ही यहाँ विधि नाम का तत्त्व है, उसे जो अच्छा लगता है वही करता है, वह किसी के अधीन नहीं।" इतना ही नहीं, सतत-प्रयत्न से भी दैव को पलटना सम्भव नहीं—**न हि शक्यं दैवमन्यथाकर्तुमभियुक्तेनापि**[७०]।

भर्तृहरि स्वीकारते हैं—**हृतविधिपरिपाकः केन वा लंघनीयः? विधिरहो बलवान् इति मे मतिः**[७१]—"दुष्ट भाग्य द्वारा लाए हुए परिणामों को कौन लांघ सकता है?" "मेरा विचार है कि विधि ही वलवान् है।" इसी प्रकार—**दैवमेव हि परं, वृद्धौ**

क्षये कारणम्[७२]—"दैव ही (मनुष्यों की) वृद्धि या क्षय का मुख्य कारण है।" भाग्य को उन्नति-अवनति का नियामक बताने वाली इस सूक्ति के साथ साँप और चूहे की लोक-कथा[७३] जोड़कर भाग्य की प्रबलता का ही आख्यान किया गया है। ऐसे शक्तिशाली भाग्य के आगे झुकना कवि को पुरुषार्थ की अपेक्षा अधिक उपयोगी प्रतीत होता है—**तद् व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग् वृथा पौरुषम्**[७४]—"भाग्य की शरण ही अच्छी है, व्यर्थ पुरुषार्थ को धिक्कार है।" यह कवि का अतिवाद है जिसे उसने अन्यत्र[७५] विरोधी विचार व्यक्त करके स्वयं अनुभव कर लिया है।

भवभूति भी भाग्य को अनिवारणीय दिखाते हैं--**को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे**[७६]—"भला कौन प्राणी कर्मफलप्रदानार्थ तत्पर भाग्य के द्वार बन्द कर सकता है?" इस होनी के प्रभाव पर ही मनुष्य का शुभाशुभ आधृत है—**प्राय: शुभं च विदधात्यशुभं च जन्तोः सर्वङ्कषा भगवती भवितव्यतैव**[७७]—"सर्वशक्ति-सम्पन्न देवी नियति ही प्राय: प्राणियों का कल्याण या अकल्याण करती है।"

इस प्रकार सभी कवियों की सूक्तियों का आशय यह है कि भाग्य पर किसी का वश नहीं चलता, पर वह सभी को किसी न किसी प्रकार अपने वश में कर लेता है। भाग्य की प्रबलता के सम्मुख पौरुष का असफल हो जाना तो स्वीकारा जा सकता है किन्तु उसे धिक्कारना या व्यर्थ बताना अनुचित है, क्योंकि इससे अकर्मण्यता को बढ़ावा मिलता है। ऐसे निराशाजनक विचार कवि की व्यक्तिगत असफलताओं के साथ-साथ तात्कालिक वातावरण की घुटन के सूचक भी हैं।

(ख) **भाग्य की पूर्व-निर्धारितता**—विश्वास किया जाता है कि किसी मनुष्य के साथ अच्छा या बुरा जो कुछ घटता है वह सब भाग्य में पहले से बदा होता है, अर्थात् पूर्वनिश्चित होता है। इस विश्वास का उल्लेख भास के शब्दों में—**दैवं विधानमनुगच्छति कार्यसिद्धिः**[७८]—"कार्य में सफलता दैवी विधान का अनुगमन करती है।" अतः धन-वैभव की प्राप्ति या क्षति इसी भाग्य-चक्र के निश्चित क्रम पर निर्भर है—**भाग्यक्रमेण हि धनानि (पुनर्भवन्ति**[७९]**) भवन्ति यान्ति**[८०]—"भाग्य की गति के कारण धन (फिर हो जाते हैं, या) होते हैं और चले जाते हैं।" इस प्रकार भास और शूद्रक ने मनुष्य की उपलब्धियां पूर्वनिश्चित भाग्य से नियन्त्रित मानी हैं।

बाण समझते हैं कि मनुष्य अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं कर सकता— **अनुपात्तं हि हृदयताडनमपि कुर्वद्भिर्न लभ्यत एवात्रात्मेच्छया**[८१]—"अप्राप्य पदार्थ को कोई अपनी इच्छा से छाती पीटकर भी नहीं पा सकता।" उसे तो वही मिलेगा जो भाग्य चाहेगा। अतः—**सर्वभक्षिणी निमील्य सोढव्यममूढेन मर्त्यधर्मणा। पुरातन्यः स्थितय एताः केन शक्यन्तेऽन्यथाकर्तुम्**[८२]—"सब कुछ आंखे मींचकर विद्वान् मनुष्य को सह लेना चाहिए। इन पुरानी स्थितियों को कौन परिवर्तित कर सकता है?" अर्थात् जो कुछ होता है वह पूर्वनिर्दिष्ट होता है और इसलिए उसका विरोध व्यर्थ है।

हर्ष भी स्वीकार करते हैं कि "जब विधि सीधा होता है तब चाही हुई वस्तु को एकदम लाकर प्रस्तुत कर देता है, चाहे दूसरे द्वीप से, समुद्र के मध्य से या दिशाओं के

अन्त से लाए।"[८३] इस प्रकार भाग्य अपने निश्चित कार्यक्रम को पूरा करने के लिए हर तरह के साधन जुटा लेता है।

भर्तृहरि की सूक्तियों में भाग्य की इस पूर्वनिश्चितता की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है—**स्वयं भवति यद्यथा, भवति तत्तथा, नान्यथा**[८४]—"जो जैसा होता है, स्वयं (अनायास ही) होता है, वह वैसा ही होता है, अन्य प्रकार से नहीं हो सकता।" अतः प्रत्येक प्राणी अपने भाग्य के अनुसार निश्चित पदार्थ ही पा सकता है, अधिक नहीं—**कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम्**[८५]—"देखो, घड़ा कूएं में और समुद्र में भी एकसा पानी ले सकता है।" सच है, 'विधाता ने भाग्य में जो कुछ लिख दिया है, उसे कोई नहीं मिटा सकता।'[८६]

भवभूति ने भी होनी को यथा-निर्धारित घटने वाला बताया है—**भवितव्यं तथेत्युपजातमेव**[८७]—"होनी वैसी ही थी अतः हो गई।" भाग्य की इस पूर्व-निश्चितता का आधार यदि कर्मों को माना जाय तब तो पुरुषार्थ को प्रोत्साहन मिलेगा। इसके विपरीत यदि ईश्वर को प्रमुखता दी जाय तो ईश्वर-भक्ति चाहे आए, किन्तु अकर्मण्यता का जन्म भी स्वाभाविक ही होगा।[८८]

(ग) भाग्य की परिवर्तनशीलता और विचित्रता—भाग्य की गति चाहे पहले से निश्चित हो या न हो किन्तु उसका स्वरूप सदा परिवर्तनशील है, और इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उतार-चढ़ाव आता रहता है। भास के शब्दों में—**कालक्रमेण जगतः परिवर्त्तमाना चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः**[८९]—"काल के क्रम से परिवर्त्तित होती हुई संसार की भाग्य-रेखा चक्र के अरों के समान ऊपर नीचे जाती है।" इस सूक्ति में किसी एक ही व्यक्ति-विशेष के भाग्य-चक्र-परिवर्त्तन का विश्वास व्यक्त हुआ है। विभिन्न व्यक्तियों के वैभव में असमानता लाने का खेल भी भाग्य ही खेला करता है। शूद्रक के अनुसार—"कुछ को खाली रखता है, तो कुछ को भरा हुआ; कुछ को ऊपर उठाता है, तो कुछ को नीचे गिराता है; और कुछ को संशय में रखता है। इस प्रकार परस्पर-विरोधी भावों से संकुल इस सांसारिक स्थिति का बोध कराता हुआ यह भाग्य 'कूपयन्त्रघटिकान्याय' के अनुसार (प्राणियों से) खेलता है।"[९०]

भाग्य की यह परिवर्त्तनशील गति मनुष्य को अज्ञात है। अतः भाग्य के विषय में वह सन्दिग्ध ही रहता है—**दुरवगाहा गतिर्दैवस्य**[९१]—"भाग्य की गति समझना कठिन है", तथा—**विचित्राणि हि विधेर्विलसितानि**[९२]—"विधि के क्रिया-कलाप बड़े विचित्र होते हैं।"

माघ भी प्रकृति में किसी को प्रसन्न और किसी को दुःखी, किसी का उदय और किसी का अस्त होते देख कर कह उठते हैं—**हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः**[९३]—"अहो, दुष्ट भाग्य के खेल का परिणाम विचित्र होता है।" इस प्रकार भाग्य के विचित्र व्यवहार के विषय में आश्चर्य और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता दृष्टिगत होती है।

भाग्य-सम्बन्धी इन सभी सूक्तियों के प्रसंगों को देखने से एक बात सामने आती है कि इनका प्रयोग प्रायः किसी दुःखी व्यक्ति को सान्त्वना देने के लिए या किसी अवांछ-

नीय परिस्थिति में विवशता दिखाते हुए किया गया है। स्पष्ट है कि भाग्य की उद्भावना ऐसे अवसरों पर सन्तोष-प्राप्ति के लिए ही हुई होगी।

(घ) **कर्म**—भाग्य की शक्ति को सभी कवियों ने एक स्वर से स्वीकारा है। परन्तु साथ ही, कुछेक ने कर्म पर भी बल दिया है। भास बताते हैं कि यत्नपूर्वक निर्दोष कर्म करने से सफलता अवश्य मिलती है—**यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः?**—'**को वा न सिध्यति ममेति करोति कार्यम्? यत्नैः शुभैः पुरुषता भवतीह नृणाम्**[९४]।—"यत्न करने पर भी सफलता न मिले तो मनुष्य का क्या दोष है? या कोई दोष है, ऐसा खोजना चाहिए"—"अपना कार्य समझकर करने वाला भला कौन सफल नहीं होता?" "अच्छे प्रयत्नों से इस संसार में मनुष्यों का पौरुष माना जाता है।" अतः कर्म करना मनुष्य का कर्त्तव्य है, सफलता मिले या न मिले। और असफलता के लिए भाग्य को दोष देने की अपेक्षा अपने कर्म का निरीक्षण-परीक्षण करना उचिततर है।

कालिदास कर्मानुसार फल-प्राप्ति का सिद्धान्त स्पष्ट करते हैं—**परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्**[९५]—"परलोक पाने वाले मनुष्यों की गतियां अपने-अपने कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न मार्ग वाली होती हैं।"

विशाखदत्त गुरु चाणक्य और शिष्य राजा चन्द्रगुप्त के 'कृतक-कलह' के बीच ऐसा संकेत देते हैं कि भाग्य-भरोसे जीने वालों या बात-बात पर भाग्य का रोना रोने वालों के प्रति कटु-आलोचनात्मक भाव जाग चुका था—**दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति**[९६]—"मूर्ख ही भाग्य को प्रमाण रूप में लेते हैं।"

बाणभट्ट बताते हैं कि कोई भी अपने किये कर्म के परिणाम से बच नहीं सकता—**आत्मकृतानां हि दोषाणां नियतमनुभवितव्यं फलमात्मनैव**[९७]—"स्वयं किये हुए दोषों का फल भी स्वयं को ही अवश्य अनुभव करना पड़ता है।"

भर्तृहरि भी दर्शाते हैं कि भाग्य सब कुछ छीन ले परन्तु किसी की अपनी क्षमता तो नहीं छीन सकता—"बहुत क्रुद्ध होकर विधाता किसी हंस को कमल-वन में विहार नहीं करने देगा। परन्तु नीरक्षीर-विवेक के विषय में प्रसिद्ध इसकी बुद्धिचातुरी को तो छीनने में वह भी असमर्थ है।"[९८] अतः कर्म की शक्ति मनुष्य के आधीन है और वह उसका सदुपयोग कर सकता है। इसी प्रकार वे बहुत बलपूर्वक कर्म का महत्त्व स्थापित करते हैं—**फलं कर्मायत्तं यदि किमपरैः (किममरगणैः) किंच विधिना?**[९९]—"फल कर्म के आधीन है, देवताओं और भाग्य से क्या?" वस्तुतः भर्तृहरि यहां भी उसी अतिवाद में पड़ गये हैं जिसमें कि उन्होंने पौरुष को धिक्कारा था[१००]। मनीषियों का निर्णय तो यही है कि भाग्य और कर्म दोनों का ही अपना-अपना सामर्थ्य है।

(ङ) **भाग्यकर्म-समन्वय और ईश्वरेच्छा**—सूक्तियों में भाग्य की प्रचण्ड शक्ति दर्शाने के साथ-साथ कर्मप्रशंसा भी की गई है। वास्तविकता यह है कि भाग्य और कर्म परस्पर-विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। कुछ सूक्तियों से दोनों का यह सम्बन्ध स्पष्ट भी होता है। बाणभट्ट बताते हैं कि—**जन्मान्तरकृतं हि कर्म फलमुपनयति पुरुषस्येह जन्मनि**[१०१]—"पूर्वजन्म में किये हुए कर्म ही मनुष्य के इस जन्म में फल लाते हैं।"

इस प्रकार उनकी दृष्टि में पूर्वजन्म के संचित कर्मों के संस्कार को भाग्य कहा जा सकता है।

भर्तृहरि भी भाग्य को प्राक्कृत-कर्मों का संचय बताते हैं—**भाग्यानि पूर्वतपसा खलु सञ्चितानि, काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः**[१०२]—"पहले के तप से संचित भाग्य समय पर पुरुष को वैसे ही फल देते हैं जैसे कि वृक्ष।" इसी प्रकार—**रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि**[१०३]—"पहले किए हुए पुण्य रक्षा करते हैं।" इस सूक्ति में कवि ने प्राक्कृत पुण्यों को भाग्य के स्थान पर रखा है। यदि वाण और भर्तृहरि की इस मान्यता को कि "भाग्य का निर्माण कर्मों से होता है" मान लिया जाय तो कर्म की महत्ता स्वतः बढ़ जाती है।

कहीं-कहीं जीवन के घटनाचक्र को ईश्वर की इच्छानुसार चलने वाला भी माना जाता है। कालिदास इसका उल्लेख इस प्रकार करते हैं—**विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया**[१०४]—"ईश्वरेच्छा से विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष।" ईश्वरेच्छा को भाग्य से स्वतन्त्र शक्ति माना जाय या भाग्य-नियामक शक्ति, यह प्रश्न विचारणीय है। डॉ० आत्रेय ने जहां दैव और कर्म का समन्वय दिखाया है वहां ईश्वरेच्छा के प्रश्न को अनुत्तरित ही छोड़ना पड़ा है[१०५]। वस्तुतः यह विश्वास भाग्यवाद की अति ही प्रतीत होता है। इस सन्दर्भ में, इश्वरेछा को स्वीकार न करने वाले[१०६] और पौरुष को ही भाग्य मानने वाले[१०७] योगवासिष्ठकार के तीन सर्ग (२।५ से ७) द्रष्टव्य हैं। ईश्वरेच्छा और भाग्य की कल्पना के पीछे मनुष्य का वह मनोविज्ञान काम करता दिखाई देता है जिसका संकेत शेक्सपीयर ने किया है—"भाग्य को दोष देना स्वयं को दोषमुक्त करना है।"[१०८] ईश्वर में सर्वशक्तिमत्ता की कल्पना भी बहुत कुछ इसी दृष्टि से प्रभावित प्रतीत होती है।

चाहे कोई कालिदास की भांति ईश्वरेच्छा पर अधिक बल दे या योगवासिष्ठकार के अनुसार पुरुषार्थ पर, भारतीय मनीषी तो कर्म और अदृष्ट दोनों पर ही समन्वित रूप से भरोसा करता है, जैसा कि माघ ने कहा है—

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते॥[१०९]

—"विद्वान्-पुरुष न तो भाग्य का ही आश्रय लेता है और न पौरुष के सहारे रहता है। जैसे सत्कवि शब्द और अर्थ को वैसे ही वह दोनों को अपेक्षणीय समझता है।"

४. सुख-दुःख, विपत्ति और दुर्भाग्य

(क) **सुख-दुःख का चक्र**—मनुष्य अपने जीवन में सुख और दुःख दोनों का अनुभव करता है। प्रायः ऐसा असंभव है कि कोई केवल सुख का या केवल दुःख का भागी बना रहे। भाग्य की परिवर्तनशीलता के विश्वास[११०] का आधार भी सुख-दुःख का यह परिवर्त्तमान चक्र ही है जो सर्वत्र स्पष्ट दिखाई देता है। भास ने इस परिवर्तन का संकेत यों किया है—**पुरुषयौवनानीव गृहयौवनानि खलु दशाविशेषमनुभवन्ति**[१११]—"पुरुषों के

यौवन के समान ही परिवार का यौवन (सम्पन्नता) भी विशेष दशाओं का अनुभव करता है।" अर्थात् सुखसम्पत्ति भी जवानी जैसी आनी-जानी वस्तु है।

अश्वघोष सुख-दुःख के चक्र को इस प्रकार सिद्ध करते हैं—

द्वन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके।
अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम्॥[112]

—"क्योंकि हानि-लाभ प्रभृति अनेक द्वन्द्व इस संसार में सब को चिपटे हुए हैं, इसलिए भी केवल सुखी या केवल दुःखी मनुष्य पृथ्वी पर कोई नहीं है।" कालिदास ने भी सुख-दुःख के इस सदा प्रवर्तमान चक्र का उल्लेख किया है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण॥[113]

—"किसे आत्यन्तिक सुख मिला है, या किसे केवलमात्र दुःख ही मिला है। सब की अवस्था चक्र की परिधि के समान नीचे और ऊपर जाती है।" अतः सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख अवश्यंभावी है।

वृद्धि के पश्चात् क्षय और क्षय के अनन्तर वृद्धि भी इसी चक्र के स्वरूपघटक हैं। —सारी प्रकृति इसके उदाहरणों से भरी पड़ी है।—**प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः**[114]—"पूर्ण वृद्धि के पश्चात् चन्द्रमा घटने लगता है, और समुद्र भी वैसा ही है।" दूसरी ओर इसके विपरीत—**रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी**[115]—"सूर्य द्वारा पिये हुए जल वाली नदी (क्षीण होकर भी) गर्मियों की समाप्ति पर फिर जल-प्रवाह से भर जाती है।" भर्तृहरि भी क्षय के बाद उपचय को अवश्यंभावी दर्शाते हैं—**छिन्नोऽपि रोहति तरुः, क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः**[116]—"कटने पर भी वृक्ष बढ़ जाता है, और क्षीण होने पर भी चन्द्रमा फिर पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।" प्रकृति के ये व्यवहार मनुष्य की अवस्था-विपर्यय में नैसर्गिक प्रभाव को प्रकाशित करते हैं।

विशाखदत्त भी सुख-दुःख के इस अज्ञेय चंक्रमण को देखकर कहते हैं—**अलक्षितनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशापरिणतयो भवन्ति**[117]—"मनुष्यों की सम और विषम दशा का अवसान बिना देखे आ पड़ता है।"

सुख-दुःख के इस चक्र का भी अपना प्रभाव है। एक तो यदि मनुष्य के लिए केवल सुख ही सुख होता तो उसे कभी अपने आनन्द का भान न होता और यदि सदा दुःख रहता तो वह सदा घबराया-घबराया ही रहता। दूसरे, किसी के लिए भी दुःख के बाद की सुखानुभूति निश्चय ही बहुत सुखद होती है—**सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते यथान्धकारादिषु दीपदर्शनम्**[118]—"दुःखों के अनुभव के बाद सुख वैसे ही अच्छा लगता है जैसे अन्धकार के बाद दीपक के दर्शन।" और इसके विरुद्ध सुख के पश्चात् मिला दुःख बहुत भयंकर होता है—"जो व्यक्ति सुख से दारिद्र्य की दशा को जाता है, वह शरीर से जीता रहते भी मरा रहता है।"[119]

(ख) **सुख की दुर्लभता**—यद्यपि सुख और दुःख दोनों की ही अवस्थाएं अस्थिर हैं, तथापि प्रायः ऐसा कहा जाता है कि जीवन में दुःख पाना तो सरल है परन्तु सुख पाना

कठिन। भास एक 'लोकप्रवाद' देते हैं—**बहुविघ्नानि सुखानि**[१२०]— "सुखों में बहुत विघ्न होते हैं।" कालिदास के शब्दों में—**अहो, विघ्नवत्यः प्रार्थितार्थसिद्धयः**[१२१]—"ओहो, अभीष्ट सफलताएं विघ्नवाली होती हैं।" भारवि के अनुसार भी—**प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः**[१२२]—"लाभकारी सिद्धि देने वाला भाग्य होने पर भी प्रायः कल्याणकारी पदार्थ विना बाधाओं के पाने कठिन हैं।" यहां भाग्य के होने पर भी सुख-प्राप्ति की कठिनता बताकर जीवन में दुःख का आतिशय्य प्रकट किया गया है। अश्वघोष के अनुसार विघ्नों को पार कर लेने पर भी सुख मिलने का कुछ भरोसा नहीं—

यथा प्ररोहन्ति तृणान्ययत्नतः क्षितौ प्रयत्नात्तु भवन्ति शालयः।
तथैव दुःखानि भवन्त्ययत्नतः 'सुखानि यत्नेन भवन्ति वा न वा॥[१२३]

—"जैसे तृण विना यत्न के ही और वृक्ष बहुत यत्न से पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं, वैसे ही दुःख तो अनायास ही आ जाते हैं, पर सुख तो यत्न से भी हों या न हों, संशय है।"

यदि सुख मिल भी जाए तो भवभूति को संशय है कि वह कुछ ठहर भी सकेगा—**प्रायेण बान्धव-सुहृत्-प्रियसङ्गमादि सौदामिनी-स्फुरण-चञ्चलमेव सौख्यम्**[१२४]— "प्रायः संबंधी, मित्र और प्रिय से समागम आदि का सुख बिजली के चमकने के समान चंचल होता है।" इस कथन में तथ्य तो हो ही सकता है, परन्तु साथ ही यह मनोवैज्ञानिक कारण भी प्रतीत होता है कि मनुष्य को सुख की अपेक्षा दुःख की घड़ियां लम्बी लगती हैं।

(ग) विपत्तिः बाहुल्येन सम्वर्धमानः—सुख की अपेक्षा दुःख अधिक समय तक ठहर जाता है या वैसा अनुभव हुआ करता है इसलिए मनुष्य यह सोचने लगता है कि जीवन तो कष्टों से भरा हुआ है, या शूद्रक के शब्दों में—**कष्टमया मनुष्याः**[१२५]—इतना ही नहीं कि मनुष्य को कष्ट अधिक प्राप्त होते हैं, कठिनता तो यह भी है कि जब कष्ट आते हैं तो एक साथ आते हैं। भास के अनुसार भी—**संघचारिणोऽनर्थाः**[१२६]—"अनर्थ समूहों में घूमते हैं।" भवभूति भी यही कहते हैं—**सममेव सर्वदुःखान्यवातरन्ति (सर्वाणि दुःखानि समुद्भवन्ति)**[१२७]—"सारी मुसीबतें एक साथ ही आती हैं।" कुछ ऐसा होता है कि—**विपद् विपदं सम्पत् सम्पदमनुबध्नाति**[१२८]—"विपत्ति विपत्ति का और सम्पत्ति सम्पत्तिका पीछा करती है।" संस्कृत के इस 'लोकवाद' के साथ हिन्दी के ये दो मुहावरे और लोकोक्तियां स्मरण हो आती हैं—**कंगाली में आटा गीला**, और—**पैसा पैसे को खींचता है।**

एक मुसीबत से बचकर दूसरी में फंस जाना भी विपत्ति की परम्परा को ही लक्षित करता है। कालिदास की—**बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतो बिडालिकाया आलोके पतितः**[१२९]—"बन्धनमुक्त घरेलू कबूतर बिल्ली की दृष्टि में आ गिरा"—लोकस्तर की यह सूक्ति एक विपत्ति के पश्चात् दूसरी के आगमन पर प्रयोज्य है।

अनिवारणीय—कुछ सूक्तियों में विपत्ति को अनिवारणीय बताया गया है। भास का कथन है—**निष्परिहारा व्यापदः**[१३०]—"विपत्तियों का परिहार नहीं हो सकता। बाण के अनुसार भी विपत्तियों का आगमन नहीं रोका जा सकता—**अहो, दुर्निवारता व्यसनोपनिपातानाम्।**[१३१] इसका अर्थ यह है कि जब विपत्ति आनी होती है तब अवश्य

आती है, तब उससे बचा नहीं जा सकता। पर यहां यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिए कि विपत्ति का प्रतिकार ही नहीं हो सकता।

छिद्र-प्रहारिणी—विपत्ति क्यों आती है? उत्तर है—मनुष्य की दुर्बलता के कारण। कालिदास कहते हैं—**रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्थाः**[१३२]—"अनर्थ दुर्बल स्थान पर प्रहार करते हैं।" शूद्रक इसी का अनुमोदन करते हैं—**छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति**[१३३]—"दोष होने पर बहुत से अनर्थ हो जाते हैं।" यहां रन्ध्र और छिद्र शब्दों से विपत्ति का कारण स्वयं मनुष्य की दुर्बलता और दुर्गुणों को बताया गया है।

बुद्धिनाशिनी—जहां मनुष्य के विकार पर विपत्ति का आक्रमण माना गया है वहां भवभूति द्वारा यह विश्वास भी व्यक्त किया गया है कि विपति भी मनुष्य को विकारग्रस्त कर देती है—**सर्वं प्रायो भजति विकृतिं भिद्यमाने प्रतापे**[१३४]—"प्रताप नष्ट होते समय सभी विकार को प्राप्त हो जाते हैं।" ऐसे समय व्यक्ति की बुद्धि और मन भी उसके वश में नहीं रहते—**(विजानतोऽपि ह्यनयस्य रौद्रतां) भवत्यपाये परिमोहिनी मतिः**[१३५]—"(अनीति की भयंकरता जानते हुए भी) विनाश उपस्थित होने पर बुद्धि मोहित हो जाती है।" इसी प्रकार—**मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु संभ्रमज्वलितं मनः**[१३६]—"कठिनाईयों (आपत्तियों) में घबराया हुआ मन मोहग्रस्त हो जाता है।" विपत्ति द्वारा इस प्रकार मन और बुद्धि के विमूढ हो जाने पर मनुष्य का संतुलित रह पाना उसके नियन्त्रण से बाहर हो जाता है।

दुःखदायिनी—विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों को अनेक विषम परिस्थितियों से निकलना पड़ता है। कालिदास के विचार से उसका तिरस्कार हो जाना तो एक साधारण सी बात है—**परिभवोपहारिणोऽनर्थाः (-विनिपाताः)**[१३७]—"अनर्थ (विपत्तियां) परिभव लाने वाले हैं।" मुसीबत का मारा व्यक्ति सभी कुछ अपने विरोध में पाता है। भर्तृहरि के शब्दों में कहें तो—**विपदि हन्त सुधापि विषायते**[१३८]—"ओहो, विपत्ति में अमृत भी विष हो जाता है।"

कदाचित् परिणाम में सुखद—विधाता के खेल बड़े विचित्र हैं। अतः वह जो दुःख देता है, उसी से कभी सुख की प्राप्ति भी हो सकती है। उदाहरण के लिए श्रवण के माता-पिता से पुत्र शोक में मरने का शाप पाकर पुत्रहीन राजा दशरथ को यह प्रसन्नता हुई कि शाप फलने से पूर्व पुत्र का दर्शन होना तो निश्चित हो गया। वे कह उठे—**कृष्यां-दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति**[१३९]—"खेती को जलाकर भी अग्नि धरणी को बीजारोपण-योग्य बना देती है!" जहां हमें हानि होती है, वहीं लाभ भी हो सकता है, अतः पाश्चात्य कवि शेक्सपीयर तो यह मानते हैं कि 'प्रभु-प्रेषित विपत्तियां भी हमारे लिए अच्छी ही होती हैं।'[१४०]

इस प्रकार सूक्तियों में विपत्ति की प्रबलता और मनुष्य को प्रभावित करने की उसकी शक्ति स्वीकारी गई है। तथा सुख-दुःख के चक्र में दुःख को अधिक क्रियाशील माना गया है।

(घ) दुर्भाग्य-पीड़ित—सम्पत्ति का सौभाग्य से और विपत्ति का दुर्भाग्य से सीधा

नाता है। दुःख और विपत्तियों की भयंकरता ऐसे व्यक्तियों पर तीव्रतर हो जाती है जो दुर्भाग्य लेकर आये हैं। कालिदास के अनुसार —**परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि**[१४१] —"उल्टे भाग्य वालों का दुःख दुःखों से बंधा होता है।" विशेषतः ऐसे भाग्यहीनों की अभीष्ट सिद्धि बिना विघ्न के संभव नहीं—**न खल्वविघ्नमभिलषितमधन्यैः प्राप्यते**[१४२]—सच है—**वामे विधौ न हि फलन्ति हि वाञ्छितानि**[१४३]— "भाग्य के वाम होने पर इच्छाएं फलवती नहीं होतीं।"

विपत्तियां भाग्यहीन के साथ-साथ कैसे चलती हैं, इसके लिए 'खल्वाट के सिर पर गिरनेवाले महाफल नारियल' का दृष्टान्त देकर भर्तृहरि ने निष्कर्ष निकाला है—**प्रायो गच्छति यत्र दैवहतक-(भाग्यरहित-) स्तत्रैव यान्त्यापदः**[१४४]—"प्रायः जहां दुर्दैव (भाग्यहीन) जाता है वहीं आपत्तियां चली जाती हैं।" इसी भांति माघ बताते हैं कि बहुत से साधनों से सम्पन्न व्यक्ति भी यदि दुर्भाग्य में फंस जाए तो बच नहीं सकता। सहस्रों किरणों के होने पर भी सूर्य के पतन के समान उसका पतन भी अवश्यंभावी है।[१४५]

(ङ) विपत्ति और भाग्य—सूक्तियों में ऐसा प्रतीत होता है कि सुख-दुःख और विपत्ति की प्राप्ति पर मनुष्य के भाग्य को प्रभाव डालनेवाला माना जाता है। जीवन में दुःख और विपत्ति के आधिक्य को देखकर कालिदास कहते हैं—**अहो, सुखप्रत्यर्थिता दैवस्य**[१४६]—"ओहो, भाग्य की सुखविरोधिता!" बाण के अनुसार भी 'भाग्य मनुष्य के सुख के प्रति असहनशील है'।[१४७] तथा 'निष्ठुर दुर्दैव के विलास बड़े क्रूर हैं'।[१४८] महान् दुःख देने वाला भी यही है—**पोतं पवन इव विधिः पुरुषमकाण्डे निपातयति**[१४९]—"जैसे जलयान को वायु वैसे ही मनुष्य को विधि दुर्घटना में ला पटकती है।" सुख के बाद दुःख लाना इसी का काम है—

> **नियतिर्विधाय पुंसां प्रथमं सुखमुपरि दारुणं दुःखम्।**
> **कृत्वालोकं तरला तडिदिव वज्रं निपातयति॥**[१५०]

—"नियति पुरुषों को पहले सुख और ऊपर से दुःख देकर चचल तडित् के समान प्रकाश दे करके वज्र गिराती है।" इसी भाव की प्रतिध्वनि भवभूति में हुई है—

> **सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदां प्रथममेकरसामनुकूलताम्।**
> **पुनरकाण्डविवर्तनदारुणः परिशिनष्टि विधिर्मनसो रुजम्॥**[१५१]

—"मित्र के समान पहले सुखद और केवल प्रेमयुक्त अनुकूलता को प्रकट करके और फिर असमय में परिवर्तित (होने के कारण) दारुण विधि मन के कष्ट को विशेषरूप से बढ़ाता है।" यह भी विधाता की कठोरता है कि तिल-तिल कर जलाने वाला कष्ट देता है, एकदम नष्ट नहीं कर देता—**प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्**[१५२]—"विधि मर्म को छिन्न करने वाला प्रहार करता है, जीवनडोर काट नहीं देता।"

इस प्रकार मनुष्य की भाग्य-नियामक शक्ति मनुष्य को कष्ट देने में किसी आनन्द-विशेष की अनुभूति करती है, ऐसी धारणा सूक्तियों में व्यक्त हुई है। ऐसा स्वाभाविक प्रतीत होता है कि दुःख-संतप्त प्राणी सन्तोष पाने के लिए अपने समस्त दुःखों का अपराध भाग्य के सर मंढ़कर कुछ निश्चिन्त हो लेते हैं। यद्यपि सुख और दुःख दोनों

ही जीवन में आया करते हैं और उन दोनों का प्रेरक भाग्य को माना जाता है, तथापि दुःख और विपत्ति की अधिकता या वैसी प्रतीति के कारण विधाता को दुःख का विशेष पक्षपाती भी कह दिया गया है।

५. मृत्यु और परलोक

मृत्यु जीवन का शाश्वत सत्य है। मानव इसे अनन्तकाल से घटित होते देखता आया है। किन्तु मृत्यु किस कारण होती है यह उसके लिए सदा से एक पहेली ही रही है। कवियों ने इस सम्बन्ध में जो सूक्तियां कही हैं वे जहां एक ओर मृत्यु की अपरिहार्यता को स्वीकार करती हैं, वहां दूसरी ओर उसके कारणों पर एवं मृत्यु के बाद की स्थिति के सम्बन्ध में भी कुछ विश्वासों को व्यक्त करती हैं।

(क) जीवन-मरण : एक शाश्वत सत्य— भास कहते हैं—

क: कं शक्तो रक्षितुं मृत्यु (प्राप्त)-काले ? रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति ?
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां, काले काले छिद्यते रुह्यते च ।।[१५३]

—"मृत्यु (या समय) आजाने पर कौन किसे बचा सकता है?" "रस्सी कटने पर घड़े को कौन पकड़ सकता है ?" "इसी प्रकार संसार जंगल के समान समय-समय पर काटा जाता है और उगाया जाता है।" शूद्रक द्वारा प्रयुक्त एक सूक्ति मृत्यु की इसी अपरिहार्यता का समर्थन करती है— मुमूर्षुर्यो भवति न स खलु जीवति[१५४]—"जो मरणोन्मुख है वह जी नहीं सकता।" भारवि भी स्वीकारते हैं— लङ्घ्यते न खलु कालनियोगः[१५५]— "काल (मृत्यु और यमराज) का आदेश अलंघ्य है।" इन सूक्तियों में जन-साधारण का यह विश्वास झलकता है कि आई हुई मृत्यु को टाला नहीं जा सकता।

बाण भी मृत्यु पाने की सरलता का संकेत करते हैं— अदुर्लभं हि मरणमध्यवसितम्[१५६]—"निश्चित कर लेने पर मरना कुछ कठिन नहीं," कठिन तो जीना है।

अश्वघोष कई सूक्तियों द्वारा मृत्यु की अवश्यंभाविता सूचित करते हैं—"इस संसार में रहने वाले को सब अवस्थाओं में सब प्रकार से आने वाली मृत्यु अवश्य मारती है"[१५७] "हीन, मध्य या महात्मा इन सब का ही विनाश इस संसार में निश्चित है।"[१५८] मृत्यु तो निश्चित है किन्तु उसका आगमन काल मनुष्य को अज्ञात होने से अनिश्चित है, और इसलिए— अविश्वास्यं हि जीवितम्[१५९]—"जीवन का कुछ भरोसा नहीं।" 'जीवन का क्षण भर भी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि छुपे हुए व्याघ्र के समान काल विश्वस्त पर आक्रमण करता है।'[१६०] मृत्युरूपी शत्रु के रहते जीवन का क्या विश्वास?[१६१] 'काल हर समय उठा लेता है, बुढ़ापे की प्रतीक्षा नही करता'— नित्यं हरति कालो हि स्थाविर्यं न प्रतीक्षते[१६२]। अतः "सभी अवस्थाओं मे मौत आ सकती है, मौत उम्र नहीं देखती।"[१६३]

कालिदास के अनुसार भी जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है— विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता[१६४]—इस कथन में अभिव्यक्त विश्वास भगवद्गीता[१६५] से प्रभावित प्रतीत होता है। इस प्रकार जब जान पर आ बनती है तब उसका उपाय भी

किया जाता है। किन्तु उपाय की सफलता के लिए आवश्यक है कि मनुष्य के जीवन की घड़ियां शेष हों। यह विश्वास कालिदास के शब्दों में—**प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते**[१६६]। प्रत्येक की जीवन-सीमा इस प्रकार पूर्वनिर्धारित मानी गई है।

(ख) **यमराज**—सूक्तियों में मृत्यु के नियन्ता यमराज की महान् शक्ति को स्वीकारा गया है। भास के अनुसार—**जाग्रतोऽपि बलवत्तरः कृतान्तः**[१६७]—"यमराज जागरूक से भी अधिक शक्तिशाली है।" बाणभट्ट ने काल की शक्ति का विशेष उल्लेख किया है—"जिस प्रकार शेषनाग [सिर हिलाकर] पर्वतों को गिरा देता है, उसी प्रकार बदलता हुआ अकेला काल अनेक महापुरुषों को एकसाथ आनन्दपूर्वक गिरा देता है।"[१६८] विश्वास किया जाता है कि महापुरुष शीघ्र ही कालकवलित हो जाते हैं अतः बाण की दृष्टि में—**कृतान्तः शूराणां संग्रहं कुरुते**[१६९]—"यमराज शूरों का संग्रह करता है।" बाण का विचार है कि यमराज की शक्ति का विरोध नहीं किया जा सकता—**कृतान्तस्य कः परिपन्थी**[१७०]? इसी प्रकार—**सर्वङ्कषा विषमा धर्मराजस्थितयः**[१७१]—"यमराज की स्थितियां सर्वनाशिनी और विषम हैं।"

भर्तृहरि तो बहुत शब्द करनेवाले चतुर यमराज को अपनी रानी के साथ 'संसार के फलक पर' दिन और रात के दो पासे लुढ़काते हुए, मानो मनुष्यों के प्राण-तत्त्वों से खेलते हुए[१७२] चित्रित करते हैं। ऐसे दुर्धर्ष यमराज की सर्वहारिणी शक्ति की दुर्दमनीयता के सम्मुख नतमस्तक होकर भारतीय मानव किसी भी प्रियजन की मृत्यु पर सन्तोष कर लिया करता है।

(ग) **मरणोपरान्त**—किसी व्यक्ति के मरण पर उसके स्वजन दुःखी हुआ करते हैं। उनका दुःख कई कारणों से हो सकता है, बिछोह के कारण भी, और मृतक की गति की चिन्ता करके भी। मनीषियों द्वारा इस अवसर पर रोना-धोना कम करने के लिए कुछ विश्वासों की कल्पना की गई है। उनमें से एक कालिदास बताते हैं—**स्वजनाश्रु किलातिसंततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते**[१७३]—"कहते हैं कि बन्धुओं के लगातार बहने वाले आंसुओं से मृत व्यक्ति कष्ट अनुभव करता है।" इस सूक्ति से याज्ञवल्क्य का यह विश्वास तुलनीय है कि "स्वजनों द्वारा बहाए हुए कफ़ और आंसू मृत व्यक्ति को बरबस पीने पड़ते हैं। अतः रोना नहीं चाहिए, यथाशक्ति क्रियाएं करनी चाहिए"[१७४]। आशावादी दृष्टि अपनाते हुए कालिदास ने मृत्यु को 'प्रकृतिस्थ होना'[१७५] और 'सद्गति पाना'[१७६] बताया है।

मरणोपरान्त मनुष्य का क्या होता है? यह प्रश्न दार्शनिकों की अनबूझ पहेली रहा है। अधिकतर भारतीय विचारकों का यह विश्वास रहा है कि मनुष्य के शरीर का नाश होता है, और अजर, अमर, नित्य आत्मा का पुनर्जन्म, स्वर्गाधिरोहण, नरकपात या जन्ममरण के चक्र से मोक्ष आदि हो सकता है। पुनर्भव के सिद्धान्त का समर्थन सभी ने किया है। अश्वघोष भी कहते हैं—**भवाद्भवं याति न शान्तिमेति संसारदोलामधिरुह्य लोकः**[१७७]—"ये मनुष्य संसाररूपी झूले पर चढ़कर एक जन्म से दूसरे जन्म में चक्कर काटते हैं, शान्ति नहीं पाते।" इस विश्वास के साथ ही भौतिकवादियों का यह विश्वास

भी कवि ने आलोचनात्मक दृष्टि से[१७८] प्रस्तुत किया है कि—"पता नहीं पुनर्जन्म होता है या नहीं, अतः उपस्थित लक्ष्मी का ही उपभोग करना उचित है"।[१७९] कवि को यह चार्वाकीय सिद्धान्त अस्वीकार्य है।

वस्तुतः आत्मा की नित्यता और पुनर्जन्म का विश्वास भारतीय दर्शन की मुख्य देन है। सूक्तियों में उसका समर्थन ही हुआ है। विश्वास किया जाता है कि आत्मा द्वारा जन्म-जन्मान्तर के भ्रमण के कारण ही उसके साथ कुछ संस्कार जुड़ जाते हैं। अतः कालिदास के अनुसार—"मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्"[१८०]—"मन तो जन्म जन्मान्तरों के सम्पर्क को जानने वाला है।" तथा माघ के अनुसार—"सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि"[१८१]—"सती स्त्री के समान सुस्थिर मानव-प्रकृति मानव का जन्मान्तरों में भी अनुगमन करती है।"

मरणोपरान्त स्वर्ग-प्राप्ति की एक मधुर कल्पना भी की जाती है। किन्तु भास इसे इहलोक से पृथक् मानने के लिये तैयार नहीं। 'पञ्चरात्र' का नायक सुयोधन सब को धर्मयज्ञ से सन्तुष्ट देखकर कहता है—

मृतैः प्राप्यः स्वर्गो यदि (ह) कथयस्येतदनृतम्।
परोक्षो न स्वर्गो बहुगुणमिहैवैष फलति ॥[१८२]

—"मरने वाले स्वर्ग पाते हैं, यह सांसारिक उक्ति असत्य है। स्वर्ग परोक्ष नहीं है। इसी संसार में वह बहुत रूपों में फलता है।" चाहे इस उक्ति में कितनी भी सच्चाई हो किन्तु भारतीय विश्वास फिर भी स्वर्ग-नरक की कल्पना से मुक्त नहीं हो सकता। वस्तुतः पाप के प्रति अरुचि और पुण्य के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने के लिए यह विश्वास यहां आवश्यक समझा गया है।

आत्महत्या द्वारा प्राप्त मृत्यु के अनन्तर व्यक्ति की जो गति होती है वह ईशोपनिषद्[१८३] के अनुरूप कहे गये भवभूति के शब्दों में इस प्रकार है—अन्धतामिस्रा ह्यसूर्या नाम ते लोकाः, प्रेत्य तेभ्यः प्रतिविधीयन्ते य आत्मघातिनः[१८४]—"आत्मघाती लोगों को मरकर निबिड़ अन्धकार से युक्त असूर्या नाम के उन लोकों में आकर प्रतिकार करना पड़ता है।" भारत में आत्महत्या को सदा हेय दृष्टि से देखा गया है और इसे पाप में ही नहीं अपराध में भी गिना जाता है।

मरने के पश्चात् शरीर का क्या होता है इसे बाणभट्ट ने इस रूप में लोकविश्रुत कहा है—सर्वः पञ्चजनः पञ्चत्वमुपगतः प्रयाति[१८५]—"सभी मनुष्य मर कर पञ्चत्व को प्राप्त हो जाते हैं।" पञ्चत्व को प्राप्त होना एक मुहाविरा है जिसका अर्थ हो गया है 'मरना'। इसके पीछे यह भारतीय विश्वास काम कर रहा है कि मरणोपरान्त शरीर उन्हीं पांच भूतों में मिल जाता है जिनसे कि उसका निर्माण हुआ था। ये पांच प्रसिद्ध तत्त्व हैं—पृथ्वी, अप (जल), तेज, वायु, आकाश। वैज्ञानिकों द्वारा तत्त्वों की संख्या और पहचान में आज कुछ भेद हो सकता है, परन्तु प्राकृतिक तत्त्वों (Elements of nature) का केवल रूप परिवर्तन होना और कभी नष्ट न होना एक वैज्ञानिक तथ्य है।

६. संसार-त्यागियों के विश्वास

इहलोक को परलोक के लिए और इस शरीर को आत्म-प्राप्ति के लिए बाधक मानने वाले संसार-त्यागियों के विश्वासों का भी सूक्तियों में समावेश हुआ है। उनमें सांसारिक एवं शारीरिक कष्टों को दिखा कर वैराग्य-भावना को जगाने का यत्न किया गया है, तथा धर्म-साधन की मुख्यता का प्रतिपादन हुआ है। मृत्यु-सम्बन्धी विश्वास को व्यक्त करते हुए अश्वघोष में[१८६] बहुत कुछ यही भावना कार्य करती दिखाई देती है।

(क) **सांसारिक कष्ट**—मृत्यु आदि अनेक कारणों से जीवन में संयोग अस्थायी है, और वियोग अवश्यंभावी। अश्वघोष पुनः-पुनः इस कष्ट का ध्यान दिलाते हैं—"देर तक साथ रहने पर भी समय आने पर संयोग नहीं रहेगा।"[१८७] कवि का निश्चित विश्वास है—**नानाभावो हि नियतं पृथग्जातिषु देहिषु।**[१८८]—"पृथक्-पृथक् जाति (उत्पत्ति) वाले शरीरधारियों का पार्थक्य भी निश्चित है।" कालिदास ने इन्दुमती की मृत्यु पर अज को वशिष्ठ-शिष्य के द्वारा सांत्वना इस प्रकार दिलवायी है—

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद् वद, बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम्।।[१८९]

—"अपना शरीर और आत्मा भी एक दूसरे का साथ देने वाले नहीं सुने गये, तो फिर बताओ बाहर के विषयों से विरह होने पर कैसा दुःख ?"

संयोग और वियोग तो साधारण सी बात है, यह संसार ही क्षणभंगुर है—**असारमस्वन्तमनिश्चितं जगत्**[१९०]—"यह संसार साररहित (मिथ्या), दुष्परिणाम से युक्त (दुःखद) और अनिश्चित (अस्थिर) है।" और भर्तृहरि के अनुसार भी—**तत्किं तेन (नाम) निरङ्कुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थिरम्**[१९१]—"भला ऐसी कौन सी वस्तु है जिसे उस अनियन्त्रित विधाता ने स्थायी बनाया हो ?" उनकी दृष्टि में यह विधाता की अपण्डितता है।[१९२]

अश्वघोष ने दर्शाया है कि संसारत्यागी सिद्धार्थ को उनका राज्यमन्त्री वैरागी जीवन से विमुख करना चाहता है। उस समय वह सिद्धार्थ के ज्ञानप्राप्ति के यत्न को इस तर्क से व्यर्थ बताना चाहता है कि रोग, जरा और मृत्यु तो नैसर्गिक हैं। एवं—

कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा ?
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामकारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ?[१९३]

—"कौन कांटे का तीखापन या पशु-पक्षियों का विचित्र स्वभाव बनाता है ? यह सब कुछ अपने आप ही हो रहा है। इन्हें इच्छापूर्वक करना असंभव है। प्रयत्न कैसा ?" इस सूक्ति में प्राकृतिक शक्ति के आगे मनुष्य की असमर्थता का प्रकाशन अवश्य हुआ है, किन्तु यत्न छोड़ने का भाव कवि को अभीष्ट नहीं, क्योंकि अपने काव्य के नायक सिद्धार्थ को उन्होंने प्रयत्न से ही सिद्धि पाते हुए दिखाया है।

सांसारिक कष्टों के प्रतिकार में व्यक्ति का असामर्थ्य दिखा कर संसार से विरक्ति की अनुभूति जगाना ही इन सूक्तियों का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है।

(ख) शारीरिक कष्ट—शारीरिक कष्टों की तीव्रता ने जैसा भारतीय मनीषियों को वैसा ही वैरागियों को भी अध्यात्म की ओर उन्मुख होने में सहायता दी है। अश्वघोष कहते हैं—शरीरसंज्ञं गृहमापदामिदम्[१९४]—"यह शरीर नाम वाला आपत्तियों का घर है।" भगवान् बुद्ध ने भी शरीर के कष्टों को देखकर ही संसार के दुःखों से मुक्ति का उपाय खोजने की प्रेरणा पायी—

जरासमा नास्त्यमृजा प्रजानां, व्याधेः समो नास्ति जगत्यनर्थः।
मृत्योः समं नास्ति भयं पृथिव्यां, एतत् त्रयं खल्ववशेन सेव्यम् ॥[१९५]

—"प्राणियों के लिए वृद्धत्व के समान मलिनता नहीं है, व्याधि के समान संसार में कोई अनर्थ नहीं है, और मृत्यु के समान पृथ्वी पर भय नहीं है। फिर भी विवश होकर इन तीनों का साथ करना पड़ता है।" वे फिर कहते हैं—द्रुतं हि गच्छत्यनिवर्ति यौवनम्।[१९६]—"न लौटने वाला यौवन बड़ी तीव्रता से जा रहा है।" 'वृद्धत्व के समान मनुष्यों का कोई शत्रु नहीं'—जरासमो नास्ति शरीरिणां रिपुः[१९७]। कवि को इस बात पर आश्चर्य होता है कि—एवं जरां रूपविनाशयित्रीं जानाति चैवेच्छति चैव लोकः[१९८] —'इस प्रकार वृद्धावस्था को रूप का विनाश करने वाली जानकर भी संसार इच्छाएं करता है।'

भारवि ने भी यौवन-सम्पत्ति को अस्थिर बताया है—शरदम्बुधरच्छायागत्वर्यो यौवनश्रियः, आपातरम्याः पर्यन्तपरितापिनः[१९९]।—'यौवन की शोभा शरत्कालीन मेघ सी चंचल है और आपाततः आनन्द देने वाले विषय अन्त में सन्तप्त करने वाले हैं।'

विरागोन्मुख कवि भर्तृहरि की दृष्टि में हमारा शरीर क्षण-प्रतिक्षण क्षीणता की ओर बढ़ता जाता है और इसलिए—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्, तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥[२००]

—"भोगों का उपभोग नहीं होता, हम ही भुगत जाते हैं। तपस्या नहीं की जाती, हम ही सन्तप्त हो जाते हैं। समय नहीं जाता, हम ही गुजर जाते हैं। तृष्णाएं नहीं घटतीं, हम ही जीर्ण हो जाते हैं।"

कवि हर्ष ने परोपकार की भावना से भरे हुए नागानन्द के नायक को गरुड की निर्दयता पर दुःखी दिखाया है। शरीर रक्षा के निमित्त किये गये उस (गरुड) के पापकर्म को वह नितान्त निष्प्रयोजन समझता है। उसे यह विलक्षण लगता है कि—

सर्वाशुचिनिधानस्य जरत्तृणलघीयसः।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ?[२०१]

—"सारी गन्दगी के घर और जीर्ण तिनके के समान तुच्छ इस शरीर के लिए भी मूर्ख लोग पाप करते हैं?"

इस प्रकार शरीर को अनित्य, तुच्छ और कष्टों का कारण बताने वाली इन सूक्तियों से विरक्ति भाव की पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है।

(ग) वैराग्य-भावना—विरागियों की दृष्टि में सांसारिक मोहमाया जाल से

मुक्त होना जीवन की चरमोन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए अश्वघोष को ममत्व भयानक प्रतीत होता है—भयं ह्यहं चेति ममेति चार्च्छति[२०२]—"मैं और मेरा ये दोनों भय उत्पन्न करते हैं।" संसार में रहते हुए और गृहस्थी के झंझटों में फंसे रह कर ममत्व का त्याग कठिन है। पर एक दार्शनिक कवि उसी को श्रेष्ठ मानते हैं।

स्त्रीगत आकर्षणों को इसीलिए कवि ने बन्धन रूप बताया है—

तावद् दृढं बन्धनमस्ति लोके न दारवं तान्तवमायसं वा।
यावद् दृढं बन्धनमेतदेव मुखं चलाक्षं ललितं च वाक्यम् ॥[२०३]

—"न काष्ठ का, न तन्तु का, और न लोहे का, कोई बन्धन इतना दृढ नहीं है, जितना कि यह चंचल नेत्रों से युक्त (रमणी का) मुख और (उसके) सुन्दर वचन।" इस सबसे दूर रहने और परलोक सुधारने के लिए—"राज्य को छोड़कर भी धर्माभिलाषा से वन में प्रवेश करना प्रशंसनीय है, परन्तु (अरण्यनिवास की) प्रतिज्ञा को तोड़कर घर में प्रवेश करना उचित नहीं।"[२०४]

निर्वाण-पद की प्राप्ति ही बौद्धों की दृष्टि में मानव का अन्तिम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही वे विरक्त जीवन को सार्थक समझते हैं। कुछ लोगों का यह विचार कि—प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः[२०५]—"गृहस्थियों ने भी मोक्ष का धर्म पाया है"—अश्वघोष को मान्य नहीं है[२०६]। उनकी दृष्टि में गृहस्थी के जंजाल का त्याग आवश्यक है।

कवि का विश्वास है कि—मानसं बलवद्दुःखं तर्षे तिष्ठति तिष्ठति[२०७]—"तृष्णा के रहते महान् मानसिक दुःख रहता ही है।" इसलिए एक वैरागी के लिए तृष्णा का त्याग भी नितान्त अपेक्षणीय है। तृष्णा के त्याग और शान्ति की प्राप्ति का उपाय भर्तृहरि के अनुसार विवेक के विस्तार पर और शान्ति, सन्तोष तथा संयम पर[२०८]निर्भर है। अपने जीवन से पूर्ण संतुष्ट वही हो सकता है, जो किसी भी विषय के प्रति आसक्त न हो—येषां निःसङ्गताङ्गीकरण-परिणतमतिः स्वान्तसन्तोषिणस्ते।[२०९] अनासक्ति से यहां आत्मसंतोष की प्राप्ति के साथ-साथ मुख्य उद्देश्य वैराग्यप्राप्ति ही है, क्योंकि उनकी दृष्टि में—सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।[२१०]—"संसार में सभी वस्तुएं भय से युक्त हैं, केवल वैराग्य ही भयरहित है।" सच है, वैरागी को क्या खोने का या किसी प्रिय वस्तु से वंचित होने का कैसा डर?

(घ) धर्मसाधन—वैराग्य के द्वारा संसार-त्यागियों का सर्वप्रमुख उद्देश्य है—धर्मसाधन। अश्वघोष का विश्वास है कि सब को अपना-अपना धर्म अर्जित करना पड़ता है। कोई अन्य व्यक्ति इस कार्य में किसी का स्थानापन्न नहीं हो सकता—

भवन्ति ह्यर्थदायादाः पुरुषस्य विपर्यये।
पृथिव्यां धर्मदायादा, दुर्लभास्तु न सन्ति वा ॥[२११]

—"पुरुष के मर जाने पर उसके धन के उत्तराधिकारी तो होते हैं, परन्तु धर्म के उत्तराधिकारी पाना दुर्लभ है, अथवा वे होते ही नहीं।" इस कारण धर्मपालन के लिए सदा स्वयं तत्पर रहना चाहिए।

सामान्यतया व्यक्तियों का विचार है कि—"बूढा ही धर्म पा सकता है। क्योंकि कामोपभोग में उसकी सामर्थ्य नहीं है, इसलिए युवकों के लिए काम, अधेड़ के लिए धन, और वृद्ध के लिए धर्म होता है।"[२१२] किन्तु अश्वघोष इससे सहमत नहीं हैं,[२१३] क्योंकि उनकी दृष्टि में जीवन की चंचलता को ध्यान में रखते हुए किसी भी अवस्था में धर्मलाभ का यत्न करना असमय नहीं है—**अकालो नास्ति धर्मस्य जीविते चञ्चले सति।**[२१४]

इस प्रकार संसारत्यागियों के विश्वास भौतिक दृष्टि को छोड़कर धार्मिक दृष्टि अपनाना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं और इहलोक से परलोक को अधिक महत्त्वशाली मानते हैं।

७. कुछ अन्य विश्वास

परंपरा से चले आये विश्वासों में अनेक विश्वास इस प्रकार के होते हैं कि उनका कोई ठोस आधार निर्धारित करना कठिन होता है। इसी प्रकार के कुछ विश्वास यहां सूक्तियों से प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(क) शकुन—प्रायः विश्वास किया जाता है कि कुछ घटनाएं शुभ शकुन की सूचक होती हैं, जब कि कुछ अन्य अपशकुन की। कालिदास कहते हैं कि—**अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्**[२१५]।—"कार्य में विघ्न (विक्षेप) का न आना भावी कार्य की सिद्धि का लक्षण होता है।" इसके विपरीत कार्यारम्भ करते ही यदि कोई बाधा उपस्थित हो जाय तो वह अपशकुन समझी जाती है[२१६]। शूद्रक के शब्दों में—**सूर्योदय उपरागो महापुरुष-निपातमेव कथयति**[२१७]।—"सूर्योदय के समय का सूर्यग्रहण किसी महापुरुष की मृत्यु का ही सूचक है।" इससे प्रकट होता है कि प्रातःकालीन सूर्यग्रहण को भयंकर दुर्निमित्त के रूप में माना जाता था।

बाणभट्ट निमित्तों पर स्पष्टतः दृढ विश्वास व्यक्त करते हैं—**शुभागमो निमित्तेन स्पष्टमाख्यायते लोके**[२१८] तथा—**शुभमशुभमथापि वा नृणां कथयति पूर्व-निदर्शनोदयः**[२१९]—"निमित्त के द्वारा शुभ की प्राप्ति संसार में स्पष्टतः कह दी जाती है।" तथा "शकुन का पहले ही प्रकट होना मनुष्यों के शुभ अथवा अशुभ को कह देता है।"[२२०] ऐसे ही निमित्तों में एक निमित्त है—स्वप्न, और यदि वह प्रातःकालीन स्वप्न हो तो पर्याप्त विश्वसनीय हो जाता है—**अवितथफला हि प्रायो निशावसान-समय-दृष्टा भवन्ति स्वप्नाः**[२२१]—"रात्रि के अन्त में देखे गये स्वप्न प्रायः मिथ्या फल वाले नहीं होते।"

(ख) अदर्शनीय वस्तुएं—कुछ अदर्शनीय वस्तुओं का संकेत भी शूद्रक ने किया है—

> **इन्द्रः प्रवाह्यमाणो, गोप्रसवः, संक्रमश्च ताराणाम्।**
> **सुपुरुषप्राणविपत्तिश्चत्वार इमे न द्रष्टव्याः॥**[२२२]

—"विसर्जित किया जाता हुआ इन्द्रमहोत्सव का इन्द्रध्वज, गौ का प्रसव, तारों का

डूबना और सत्पुरुषों की प्राण-हानि—ये चार देखने योग्य नहीं हैं।" ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के दृश्यों को देखना अमंगलकारी माना जाता होगा।

(ग) **दक्षिण दिशा**—प्रायः लोक-कथाओं में भी दक्षिण दिशा को भयंकर बताया जाता है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि दिशा का अधिष्ठाता यमराज[२२३] को माना जाता है। अश्वघोष दक्षिण दिशा की भयंकरता को इस प्रकार सूचित करते हैं—"उत्तर दिशा का ही सेवन करना विशेष धर्म के लिए उचित है। बुद्धिमान् का दक्षिण की ओर एक पग जाना भी ठीक नहीं"[२२४]। कालिदास ने भी इस भौगोलिक सत्य को कहा है—**दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि**[२२५]—"दक्षिण दिशा में (दक्षिणायन होने पर) सूर्य का तेज भी फीका पड़ जाता है।" दक्षिण दिशा के प्रति इस प्रकार का पौराणिक विश्वास भौगोलिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आदि कई अज्ञात कारणों से प्रेरित रहा हो सकता है, और यह स्वयं एक अनुसन्धेय विषय है।

(घ) **मंत्र आदि**—हर्ष ने मंत्र आदि के प्रभाव को ही केवल स्वीकार नहीं किया, अपितु उनके प्रति एक रहस्यमयता भी व्यक्त की है—**अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः**[२२६]।—"मणि, मन्त्र और औषधियों का प्रभाव सोचा नहीं जा सकता।" अन्यत्र भी कवि ने ऐन्द्रजालिक के करतब[२२७] दिखाए हैं तथा राजा उदयन को मन्त्रपाठ द्वारा सर्पविष उतारने की विद्या में निपुण[२२८] प्रदर्शित किया है।

(ङ) **मंगलवार**—माघ ने संकेत किया है कि लोग मंगलवार को बड़ा शुभ मानते हैं। वे कहते हैं—**भौमदिनमभिदधत्यथवा भृशमप्रशस्तमपि मङ्गलं जनाः**[२२९]।—"मंगलवार चाहे कितना ही अप्रशस्त हो, फिर भी वह दिन लोगों के द्वारा मंगलकारी ही कहा जाता है।" सच है कि परम्परा से प्रशंसित पदार्थों की बुराई हम नहीं देखा करते, केवल पारंपरिक विश्वास के कारण उस पर श्रद्धा रखते हैं।

८. निष्कर्ष

इन सूक्तिगत विश्वासों को यदि आधुनिक भारतीय विश्वासों की तुलना में रखा जाय तो अत्यधिक साम्य दृष्टिगत होगा। शिव और देवता, सिद्ध, भाग्य, यमराज, शकुन आदि की शक्ति में आज का भी सामान्य भारतीय बहुत कुछ विश्वास रखता है, और यह उसे परम्परा से ही प्राप्त हुआ है।

उल्लेखनीय है कि सांसारिक कष्टों की ओर ध्यान दिलाकर संसार को विरक्त भाव से देखना और धार्मिक कर्त्तव्यों को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझना मुख्य रूप से अश्वघोष और भर्तृहरि की सूक्तियों में ही निहित विश्वास है, शेष कवियों में नहीं। अन्यथा, सामान्यतः, सभी कवियों की विश्वासपरक सूक्तियों में लगभग समानता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि सभी विश्वास तथ्यहीन हैं। यद्यपि शकुन, यमराज, देवता, भाग्य आदि के प्रति विश्वासों को मात्र कल्पना-प्रसूत मानकर अन्धविश्वास की श्रेणी में रख देने पर कोई सबल तर्क इनके समर्थन में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, तथापि कुछ अन्य विश्वास तथ्यों के आधार पर निर्मित हुए हैं, और उन्हें अस्वीकृत नहीं

किया जा सकता। उदाहरणार्थ—मृत्यु और सुख-दुःख के चक्र के विषय में निर्मित विश्वासों को तथ्यहीन या निराधार नहीं कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि इन प्राकृतिक घटनाओं के पीछे जिन शक्तियों की विद्यमानता की कल्पना की गई है, उसे ठोस प्रमाणों से पुष्ट न किया जा सके।

यदि समग्र रूप में देखा जाय तो प्रतीत होगा कि ये विश्वास अकर्मण्यता की शिक्षा नहीं देते। भाग्य पर विश्वास करने के लिए कर्म में विश्वास करना प्रथमतः अपेक्षित हो जाता है। अतः ये मनुष्य को उद्यमहीन करने के लिए उद्भावित नहीं हुए। जो इन्हें कर्म का विरोधी समझकर आलस्य या निष्क्रियता को अपनाना चाहें वे भूल में हैं, क्योंकि निष्क्रिय व्यक्ति के भाग्य का भी उदय नहीं होता।

इन विश्वासों को अपनाकर, हो सकता है, कभी-कभी व्यक्ति पिछड़ा और दकियानूसी भी कहलाए, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जीवन के कठिन क्षणों में अनेक बार इनसे उसे बड़ा सहारा और मार्ग-निर्देशन प्राप्त होता है। □□

संदर्भ-संकेत

१. ···(ए०बी० कीथ), वैदिक धर्म एवं दर्शन, अनुवाद—सूर्यकान्त। प्र० भाग, क— पृ० २२८-२३०
२. पञ्च० १।४६—भीष्म सुयोधन को समझाते हुए
३. यौग० ४।५—यौगन्धरायण
४. काद० पृ० १३६, तारापीड का विलासवती को आश्वासन
५. 'शिव...the third god of the Hindū Trimūrti...preferential worship of Śiva as developed in the Purānas and Epic poems led to his being identified with the supreme being by...Śaivas ..'
—Monier Williams, p. 1074
६. कु० ५।८१
७. Who is miscalled "आत्मभू"—Notes by R. D. Karmarkar, Poona, (1951), p. 288
८. किरात० १७।२३
९. कु० ३।२८
१०. नूनमात्मसदृशी प्रकल्पिता वेधसा हि गुणदोषयोर्गतिः। कु० ८।६६
११. किरात० ७।७

१२. विक्र० ५।८—विदूषक, उर्वशी द्वारा पुत्र के छुपाने को देवों से परिचालित मानकर
१३. रत्ना० २।०—निपुणिका, श्रीकण्ठ, द्वारा असमय में भी लता को कुसुमित कर देने पर
१४. उत्तर० ७।७—लक्ष्मण, गंगा द्वारा राम का हृद्गत भाव जान लेने पर
१५. चारु० १।२१—चारुदत्त विदूषक को देवता की पूजार्थ भेजने की प्रेरणा देता हुआ
१६. मृच्छ० १।१६
१७. काद० पृ० ६४१, कपिञ्जल के चले जाने पर महाश्वेता की कादम्बरी को सान्त्वना
१८. नागा० १।१२—नायक, देवायतन के पास पहुंचकर विदूषक से
१९. हर्षच० ४। पृ० १२३, प० ६
२०. मुद्रा० ७।३, सं० २३—चन्दनदास अपनी पत्नी को सान्त्वना देते हुए
२१. स्वप्न० १।११ यौगन्धरायण, वासवदत्ता को विश्वास दिलाते हुए
२२. कु० ३।६३
२३. उत्तर० १।१०
२४. "साक्षात्कृतधर्माणो महर्षयः।" —वही ७।१—राम। तुलनार्थ—"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो वभूवुः।"—निरुक्त १।२०।२
२५. प्रतिमा० ६।१५, पं० ६—कैकेयी राम के वनगमन में श्रवण के माता-पिता के शाप को कारण बताती हुई
२६. 'दैवतान्यपि हि मुनि-शापवशादुज्झितनिजशरीराणि···शरीरान्तराण्यध्यासत एव।'
—काद० पृ० १७०

२७. शाकु० २।७
२८. रघु० १५।३
२९. शाकु० ५।१४, सं० ६१, ऋषिगण, राजा से काश्यप की कुशलता के विषय में
३०. मृच्छ० ६।२
३१. काद० पृ० २८१, चन्द्रापीड, महाश्वेता के अंक में फलों को स्वयं गिरता देखकर
३२. वही पृ० ३८५, चन्द्रापीड, महाश्वेता को सान्त्वना देते हुए
३३. "उपहितपरमप्रभावधाम्नां न हि जयिनां तपसामलङ्घ्यमस्ति।"
—किरात० १०।६

३४. वही १२।२९
३५. वही १०।२३
३६. बुद्ध० ७।१८
३७. शरीरपीडा तु यदीह धर्मः, सुखं शरीरस्य भवत्यधर्मः।
धर्मेण चाप्नोति सुखं परत्र, तस्मादधर्मं फलतीह धर्मः॥ —बुद्ध० ७।२६

३८. मुद्रा० ३।२२, वैतालिकों का स्तुतिगान
३९. शिशु० १७।४०
४०. रघु० ४।१३, दूसरी ओर मिलाइए—'We are made wiser by age"
—S.P.L., p. 19
४१. कर्ण० २२
४२. काद० पृ० ६६९, शुकनास तारापीड को सान्त्वना देते हुए
४३. 'अवैदिक—non vedic'···'वैदिक—Karman, an action or rite enjoined by the veda'··· —Monier williams. p. 111, 1022.
४४. बुद्ध० ११।६५, तुलनार्थ—दृष्टवदानुश्रविक: स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्त: ।
—सांख्यकारिका, १।२
४५. प्रतिमा० ५।४ पं० ३, राम
४६. वही ५।८ पं० १४, रावण, श्राद्ध के लिए आवश्यक सामग्री बताते हुए।
४७. वही ५।१०
४८. "जरां वयोहानिं हित्वा···वार्धक्यभयरहिता:"—आचार्य रामचन्द्र मिश्र, भासनाटकचक्रम्, भाग २, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, पृ० १३७
४९. रघु० प्रथम सर्ग में 'नूनं मत्त: परं वंश्या:·· ' आदि उक्तियां
५०. शाकु० छठे अंक में निष्पुत्र श्रेष्ठि के मरने पर नायक की मूर्च्छा
५१. कु० ५।७६
५२. "कं नाभिनन्दयत्येषा दृष्टा पीयूषवाहिनी" —वही १०।४८
५३. "सर्वदेवताभ्य: प्रकृष्टतमैश्वर्यं मन्दाकिन्या:" —उत्तर० ३।१४—तमसा
५४. 'आसन्नं मरणं च मङ्गलसमं (यस्यां) सत्यं समुत्पद्यते ।
तां काशीं परिहृत्य हन्त, विबुधैरन्यत्र किं स्थीयते ?'—भर्तृहरि सुभाषितसंग्रह, दा० ध० कोसमबी, संकीर्ण श्लोक, सं० ४३० ।
—तुलनार्थ देखिए—भोजप्रबन्ध श्लोक ११०
५५. उत्तर० १।१३, तथा महावीर० ४।२७
५६. बुद्ध० ७।३०
५७. Buddha-Carita of Aśvaghoś, tr. E.B. Cowell, p. 74, para No. 31; —and p. 111, para No. 4.
५८. 'स्पृष्टं हि यद्यद् गुणवद्भिरम्भस्तत्तत् पृथिव्यां यदि तीर्थमिष्टम् ।
तस्माद्गुणानेव परेमि तीर्थमास्तु नि:संशयमाप एव ।।' —वही ७।३१
५९. सुरजीतकौर, समाज मनोविज्ञान, पृ० १९
६०. स्वप्न० ४।५—विदूषक, वासवदत्ता के मृत्यु समाचार से दु:खी राजा की सान्त्वनार्थ
६१. प्रतिमा० २।१०—काञ्चुकीय, राम की विदाई से अवसन्न राजा की सान्त्वनार्थ
६२. विक्र० ४।०—सहजन्या, 'कुमारवन में प्रविष्ट उर्वशी लता बन गई, यह जानकर

६३. वही ३।०—भरत-शिष्य यह जानकर कि सरस्वती का काव्यबन्ध अभिनीत करती हुई उर्वशी ने पुरुषोत्तम के स्थान पर पुरुरवा शब्द का प्रयोग कर दिया
६४. शाकु० १।१५। (राजा, आश्रम में प्रविष्ट होते समय भुजा का फड़कना देखकर)
६५. वही ६।८—विदूषक, यह स्पष्ट करता हुआ कि राजा द्वारा शकुन्तला के प्रत्याख्यान के समय वह कुछ न कह सका, क्योंकि आश्रम में राजा ने प्रेमवार्ता को हंसी में टाल दिया था।
६६. अभ्युदयेऽवसाने तथैव रात्रिदिवमहतमार्गा।
उद्दामेव किशोरी नियतिः खलु प्रत्येषितुं याति। —मृच्छ० १०।१६
६७. मुद्रा० ६।८, राक्षस, मलयकेतु की बुद्धि पर तरस खाते हुए
६८. काद० पृ० ३५६, चन्द्रापीड द्वारा महाश्वेता को सान्त्वना
६९. वही पृ० ६६१-६२, दूतों से चन्द्रापीड की गति सुनकर विलपती रानी से तारापीड
७०. वही पृ० १३३, तारापीड द्वारा विलासवती को आश्वासन
७१. नीति० ८८, ८५
७२. नीति० ८१
७३. एक टोकरी में बन्द वृद्ध सर्प भूख से व्याकुल था। तभी एक मूषक ने अपने स्वभाववश टोकरे में छेद किया। सांप को भोजन भी मिला मुक्ति भी।
७४. नीति० ८२
७५. आगे अनु० ३ (घ) कर्म
७६. उत्तर० ७।४, तथा मालती० १०।१३
७७. मालती० १।२६, मालती में अपनी आसक्ति का कारण बताते हुए माधव
७८. अवि० ३।१२
७९. चारु० १।५
८०. मृच्छ० १।१३
८१. काद० पृ० ६६१—विलाप करती रानी को तारापीड की सन्त्वना
यही भाव मिलाइए—"आत्मेच्छया न शक्यमुच्छ्वसितुमपि"—वही पृ० ३५६, चन्द्रापीड की महाश्वेता को सान्त्वना
८२. हर्षच० ८। पृ० २५४। पं० ८। तुलनार्थ—
"The doom of destiny cannot be avoided." —S.P.L., p. 39
८३. 'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥' —रत्ना० १।७
८४. वैरा० ६२। तुलनार्थ—"यद् भावि तद् भवत्येव"—संस्कृत लोकोक्ति
८५. नीति० ४०
८६. 'यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ?'—भर्तृहरि-सुभाषितसंग्रह, दा० ध० कोसम्बी, संकीर्णश्लो० ५६०
८७. उत्तर० ४।१७—अरुन्धती, कौशल्या को वसिष्ठ के वचन स्मरण कराती हुई

८८. मिलाइए आगे परि० ७, अनु० ३ (ङ) भाग्य-कर्म-समन्वय और ईश्वरेच्छा,

८९. स्वप्न० १।४। तुलनार्थ—"Fortune does not always smile
"...Fortune is fickle." —S.P.L., p. 57

९०. कांश्चित् तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिम्।
कांश्चित् पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान्।
अन्योन्य-प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधयन्—
नैष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः॥ —मृच्छ० १०।६०

९१. रत्ना० ४।१३—राजा वासवदत्ता को रत्नावली के जीवित होने की आशा दिलाते हुए

९२. नागा० ५।१२—शंखचूड, नायक को गरुड से सुरक्षित रहने की आशा करते हुए

९३. शिशु० ११।६४

९४. अवि० ३।१२

९५. रघु० ८।८५

९६. मुद्रा० ३।२८—चाणक्य, राजा से

९७. काद० पृ० २५२, किन्नरमिथुन का पीछा करते हुए चन्द्रापीड का विचार
तुलनार्थ—अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।" —लोकोक्ति

९८. 'अम्भोजिनी-वन-विहार-विलासमेव हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः॥'
—नीति० १४

९९. वही ९१, तुलनार्थ: "A man is the architect of his own fortune."
—S P.L., p. 21.

१००. ऊपर परि० ७, अनु० ३ (क) भाग्य की प्रबलता

१०१. काद० पृ० १३३, तारापीड द्वारा विलासवती को आश्वासन
तुलनार्थ—"प्राक्स्वकर्मेतराकारं दैवं नाम न विद्यते"—योगवासिष्ठ, प्रथम भाग २।६।४, तथा देखिए—वहीं ३५

१०२. नीति० ९७

१०३. वही ९९

१०४. रघु० ८।४६

१०५. डॉ० भीखनलाल आत्रेय, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० ६४९

१०६. 'ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा
स सदैव पराधीनः पशुरेव न संशयः॥' —योगवासिष्ठ प्र० भाग २।६।२७

१०७. "इति पौरुषमेवास्ति दैवमस्तु तदेव च।" —वही २।६।२

१०८. "Accusing fortune is excusing ourselves," —S.P.L., p. 17

१०९. शिशु० २।८६

११०. ऊपर परि० ७, अनु० ३ (ग),

१११. चारु० १।२ पं०—विदूषक, दारिद्रय-सन्तप्त नायक को सान्त्वना देते हुए

११२. बुद्ध० ११।४३. तुलनार्थ—"There is no joy without sorrow."
—S.P.L., p. 74

११३. मेघ० २।४६

११४. रघु० १७।७१

११५. कु० ४।४४, तुलनार्थ—"After a storm comes a calm."
—S.P.L., p. 113

११६. नीति० ७९

११७. मुद्रा० ६।९—राक्षस जीर्णोद्यान में पहुंचकर अपनी पुरानी स्थिति की स्मृति में।

११८. चारु० १।३ तथा मृच्छ० १।१०, जहां "यथान्धकार···" के स्थान पर "धनान्धकार···"—पाठभेद है।

११९. "सुखात्तु यो याति दशां दरिद्रतां स्थितः शरीरेण मृतः स जीवति" —वहीं

१२०. अवि० ४।०—कलिनिका, अविमारक के अन्तःपुर-वास का भेद खुलजाने पर

१२१. शाकु० ३।२२—राजा, अचानक गौतमी के आ जाने पर शकुन्तला से अलग होते हुए

१२२. किरात० ५।४९

१२३. सौन्द० ६।३९

१२४. मालती० ८।१४

१२५. मृच्छ० ८।३१

१२६. यौग० ३।५ पं० ३६, तथा अवि० २।० पं० १७—विदूषक

१२७. उत्तर० ४।७—कौशल्या। तुलनार्थ—"Misfortune seldom comes alone.
S.P.L., p. 87

१२८. काद० पृ० १५५, तारापीड, शुकनास के यहां भी पुत्रजन्म का समाचार सुनकर

१२९. अवि० १।५—राजा, हाथी द्वारा कुरंगी की विपत्तिग्रस्तता सुनकर।

१३०. काद० पृ० २८३। तुलनार्थ—"सर्वथा न कञ्चन न स्पृशन्ति शरीरधर्माणमनुतापाः। बलवती हि द्वन्द्वानां प्रवृत्तिः।" —वहीं। पृ० २८३-८४

१३१. शाकु० ६।७—राजा, शकुन्तला के विरह में प्राकृतिक सुषमा से सन्तप्त होकर। यह सूक्ति 'यदुच्यते' के साथ कही गई है अतः लोकोक्ति रही होगी।

१३२. मृच्छ० ९।२६

१३३. महावीर० २।४

१३४. किरात० १४।१९। तुलनार्थ—"विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" —लोकोक्ति। तथा विरोध में देखिए—"Calamity stirs up the wit." —S.P.L., p. 24

१३५. वही १५।२

१३६. मालवि० ५।११—पं० २६५, राजा मालविका को दासी के रूप में रखने पर दुःखी होता हुआ

१३७. शृं० ८२

१३८. रघु० ६।८० । तुलनार्थ—"In all evil there is something good.'
—S.P.L., p. 46

१३६. "Afflictions are sent us by God for our good···No pains, no gains." —S.P.L., p. 19, 96

१४०. विक्र० ४।२—राजा, विलाप करते हुए

१४१. प्रिय० २।८—राजा, आरण्यिका के चले जाने पर उसे न देख पाने के कारण

१४२. वही ४।८

१४३. नीति० ८४

१४४. 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति वहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥' —शिशु० ६।६

१४५. विक्र० ५।१५—राजा, सुतप्राप्ति के पश्चात् उर्वशी से विरह होना निर्धारित जानकर।

१४६. "न (दैवः) क्षमते दीर्घकालमव्याजरमणीयं प्रेम"—काद० पृ० ३५६, चन्द्रापीड महाश्वेता से

१४७. "अतिपिशुनानि चास्यैकान्तनिष्ठुरस्य दैवहतकस्य विलसितानि" —वहीं

१४८. हर्षच० ६।३ । पृ० १८५

१४६. वही ५।१ । पृ० १५०

१५०. उत्तर० ४।१५, तथा मालती ४।७

१५१. मालती० ६।१२ । माधव, मालती के विरह में शोक-संतप्त होकर

१५२. स्वप्न० ६।११ भास ने अन्यत्र भी कहा है—"ननु किं शक्यं रक्षितुं प्राप्तकाले ?" —वही ६।४ पं० १ । इसका पाठान्तर—"न किं शक्यं······" अर्थ की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता । तुलनार्थ—
"Death, a necessary end, Will come when it will come."
—S.P.L., p. 37. (line 5 under No 56.

१५३. मृच्छ० १।३० शकार, वसन्तसेना का अनुसरण करते हुए

१५४. किरात० ६।१३, तुलनार्थ—"कालो हि दुरतिक्रमः" —संस्कृत लोकोक्ति

१५५. काद० पृ० ३५१, तरलिका, महाश्वेता को प्राणरक्षार्थ प्रेरित करती हुई

१५६. "सर्वास्ववस्थास्विह वर्तमानं सर्वाभिसारेण निहन्ति मृत्युः ।" —सौन्द० ५।२२

१५७. "हीनस्य मध्यस्य महात्मनो वा सर्वस्य लोके नियतो विनाशः ।" —बुद्ध० ३।५६
तुलनार्थ—"All men must die." —S.P.L., p. 40

१५८. सौन्द० १५।५७ । तुलनार्थ—"Man is but a bubble."
—S.P.L., p.26, 83

१५९. मुहूर्तमपि विश्रम्भः कार्यो न खलु जीविते ।
निलीन इव व्याघ्रः कालो विश्वस्तघातकः ॥ —सौन्द० १५।५३

१६०. "जीविते को हि विश्रम्भो मृत्यौ प्रत्यर्थिनि स्थिते ?" —बुद्ध० ६।२२
तुलनार्थ—"शरीरे का वार्त्ता करिकलभकर्णाग्रचपले !" —वैरा० ७२

१६१. सौन्द० १५।६२

१६२. "मृत्युः सर्वास्ववस्थासु हन्ति नावेक्षते वयः ।" —वही १५।५४

१६३. रघु० ८।८३

१६४. "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" —गीता २।२७

१६५. रघु० ८।४०

१६६. यौग० १।६, पं० ३१ —यौगन्धरायण ।

१६७. पातयति महापुरुषान् सममेव बहूननादरेणैव ।
परिवर्त्तमान एकः कालः शैलानिवानन्तः ॥ —हर्षच० ५।२। पृ० १५०

१६८. वही ६।१ पृ० १७५

१६९. वही ६, पृ० १८६। पं० १२

१७०. वही ८, पृ० २५४। पं० १२

१७१. 'इत्थं चेमौ (नेयौ) रजनिदिवसौ (लयन्) दोलयन् द्वाविक्षौ ।
कालः काल्या सह बहुकलः (कल्यो भुवनफलके) (क्रीडति प्राणिशारैः) प्राणसारैः॥'
—वैराग्य ४२

१७२. रघु० ८।८६

१७३. श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः ।
अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः ॥ —याज्ञ०, प्रायश्चित० ११

०७४. रघु० ८।८७—'मृत्युः प्रकृतिः शरीरिणां शरीरं विकृतिरुच्यते ।'

१७५. वही ८।८८। (—कुशलद्वारतया)

१७६. सौन्द० १६।६

१७७. आलोचनार्थ देखिए बुद्ध० ९।७३-७६

१७८. पुनर्भवोऽस्तीति च केचिदाहुर्नास्तीति केचिन्नियत-प्रतिज्ञाः ।
एवं यदा संशयितोऽयमर्थस्तस्मात्क्षमं भोक्तुमुपस्थिता श्रीः ? —बुद्ध० ९।५५
तुलनार्थ—"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' —लोकोक्ति

१७९. रघु० ७।१५ तुलनार्थ—"भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।"
—शाकु० ५ १२
तथा—'फलानुमेयाः प्रारंभाः संस्काराः प्राक्तना इव' —रघु० १

१८०. शिशु० १।७२

१८१. पञ्च० १।२३

१८२. तुलनार्थ—'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥' —ईशो० ३

१८३. उत्तर० ४।३—जनक
१८४. हर्षच० ६, पृ० १७९ पं० २१
१८५. पीछे० परि० ७, अनु० ५ (क)
१८६. "भूत्वापि हि चिरंश्लेषः कालेन न भविष्यति।" —बुद्ध० ६।१६
इसके अतिरिक्त यही भाव दे०—वहीं ६।४४,४६,४९
१८७. बुद्ध० ६।४३
१८८. रघु० ८।८९
१८९. सौन्द० ९।१६
१९०. वैराग्य० ३३
१९१. "अहह, कष्टमपण्डितता विधेः!" —नीति० ८६
१९२. बुद्ध० ९।६२
१९३. सौन्द० ९।३६
१९४. वही ५।२७
१९५. वही ९।२७ तुलनार्थ—ऋतुर्व्यतीतः परिवर्त्तते पुनः,
क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु सन्निवर्त्तते,
जलं नदीनां च नृणां च यौवनम्॥ —वही ९।२८
१९६. वही ९।३३
१९७. बुद्ध० ३।३३
१९८. किरात० ११।१२
१९९. वैराग्य ७
२००. नागा० ४।७
२०१. सौन्द० ९।५
२०२ सौन्द० ७।१४
२०३. 'श्लाघ्यं हि राज्यानि विहाय राज्ञां धर्माभिलाषेण वनं प्रवेष्टुम्।
भग्नप्रतिज्ञस्य न तूपपन्नं वनं परित्यज्य गृहं प्रवेष्टुम्॥' —बुद्ध० ९।४४
२०४. बुद्ध० ९।१९
२०५. वही ९।४८-५१
२०६. सौन्द० ११।३६
२०७. 'विवेक-व्याकोशे विकसति शमे शाम्यति तृषा।'—भर्तृहरि-सुभाषित-संग्रह, दा० ध० कोसम्वी, संशयितश्लोक सं० ३२९
२०८. वैराग्य ९९
२०९. वही ३१
२१०. बुद्ध० ६।२०
२११. शक्नोति जीर्णः खलु धर्ममाप्तुं कामोपभोगेष्वगतिर्जरायाः।
अतश्च यूनः कथयन्ति कामान्, मध्यस्य वित्तं स्थविराय धर्मम्॥ —वही १०।३४

२१२. वही ११।६०-६३
२१३. वही ६।२१
२१४. रघु० १०।६
२१५. जैसे—"प्रथमे ग्रासे मक्षिकापातः" —लोकोक्ति
२१६. मृच्छ० ६।५—अधिकरणिक, मण्डप के खुलते ही शकार को आया देखकर।
२१७. हर्षच० ४।३, पृ० १२५
२१८. वही ४।३, पृ० १२५
२१९. मिलाइए—'आवेदयन्ति हि प्रत्यासन्नमानन्दमग्रेपातीनि शुभानि निमित्तानि'
—काद० पृ० १४०
२२०. वहीं
२२१. मृच्छ० १०।७
२२२. 'Yama...he is also one of the 8 guardians of the world as regent of the South quarter."
—Monier Williams, p. 846, colm 2
२२३. इतश्च भूयः क्षममुत्तरैव दिक्सेवितुं धर्मविशेषहेतोः।
न तु क्षमं दक्षिणतो बुधेन पदं भवेदेकमपि प्रयातुम्।। —बुद्ध० ७।४१
२२४. रघु० ४।४६
२२५. रत्ना० २।४, सं० ३८, राजा, श्रीकण्ठदास के मन्त्र का प्रभाव जानकर
२२६. रत्ना० अंक ४ में
२२७. "राजा—उपसृत्य, प्रियदर्शिकाया उपरि हस्तं निधाय मन्त्रस्मरणं नाटयति,
प्रियदर्शिका शनैरुत्तिष्ठति।" —प्रिय० ४।६ से आगे
२२८. शिशु० १५।१७
○○

परिच्छेद-८

प्रेम एवं सौन्दर्य

१. प्रेम और सौन्दर्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन

प्रेम एक मौलिक प्रवृत्ति—जीवन की एक अनिवार्य और बहुत ही सशक्त अनुभूति है—प्रेमानुभूति। इसके बिना मनुष्य अपूर्ण है। महान् यूनानी दार्शनिक सुकरात के—'प्रेम का पागलपन स्वर्ग के महान्तम वरदानों में से है'[1] तथा कबीर के—'जा घट प्रेम न संचरे सो घट जान मसान'—ये वचन इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं।

मानव-जीवन में प्रेम का क्षेत्र इतना महत्त्वपूर्ण और व्यापक है कि इसे सीमितः शब्दों में लक्षित करना या स्पष्टतः इसका स्वरूप-विवेचन करना सरल कार्य नहीं है। मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक सब अनुभूतियों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। शरीर-विज्ञान-वेत्ता के लिए 'प्रेम मात्र एक शारीरिक मांग है, जो शरीरगत रासायनिक प्रक्रिया से उसी प्रकार उत्पन्न होती है जैसे कि पानी की प्यास।'[2] मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में 'प्रणय एक मिश्रित मूल-प्रवृत्ति है जिसके निर्माण में पैतृक-प्रवृत्ति के रक्षात्मक-संवेग और सुकुमार मनोभाव काम-प्रवृत्ति की भावपूर्ण अभिलषित संलग्नता के साथ संयुक्त होकर विषय-वासना की पाशविक एवं अहंकारी प्रवृत्ति को संयमित करते हैं।'[3] इसके विपरीत भारतीय दृष्टि में आदर्श प्रेम वही है जिसमें स्थूल मांसाचार द्वारा केवल अपना सुख न चाहकर व्यक्ति अपने प्रिय के सुख की इच्छा पूर्ति में आनन्दानुभूति करता है।[4]

कवि की अनुभूति सभी क्षेत्रों में संवेदनशील होती है, और प्रेम के क्षेत्र में तो और भी अधिक। उसकी प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति उत्कृष्टतम होती है, तभी तो प्रेम के अभिव्यंजक रस श्रृंगार को रसराजत्व[5] प्राप्त हुआ, और सौन्दर्य की भावनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है[6]।

प्रेम और सौन्दर्य का सम्बन्ध—जिस प्रकार प्रेम की भावना चिर-नवीन है उसी प्रकार सौन्दर्य की भी। "प्रेम और सौन्दर्य का सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, अर्थात् 'सौन्दर्य' प्रेम में ही निहित रहता है। प्रेम और सौन्दर्य ये दोनों शब्द प्रायः सहगामी रहते हैं। जहां प्रेम है वहां सौन्दर्य रहता है—और जहां सौन्दर्य है वहां प्रेम[7]।" आधुनिक मनोवैज्ञानिक विलड्रण्ड का कथन भी कुछ इसी प्रकार का है—"प्रेम सौन्दर्य का स्रष्टा

है कम-से-कम उतने अंशों में जितना कि सौन्दर्य प्रेम का[८]।" वस्तुतः जहां सुन्दर वस्तु के प्रति आकर्षण और शनैः-शनैः प्रेम का जन्म होता है, वहीं जिससे हम प्रेम करते हैं उसकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक अंग निश्चय ही सुन्दर लगने लगता है। इस प्रकार जहां सौन्दर्य प्रेम का जनक हो सकता है, वहीं प्रेम ही सुन्दर को पूर्णरूपेण सुन्दर दिखाने में समर्थ होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—"प्रेम की प्राप्ति से दृष्टि आनन्दमयी और निर्मल हो जाती है। जो बातें पहले नहीं सूझती थीं वे सूझने लगती हैं, चारों ओर सौन्दर्य का विकास दिखाई पड़ने लगता है।"[९]

प्रेम और सौन्दर्य के इस सम्बन्ध का कथन आगे सूक्तियों में और भी स्पष्टतः हुआ है[१०]। इसे ध्यान में रखते हुए इन दोनों के विषय में कही गई सूक्तियों को एक परिच्छेद में स्थान देना उचित समझा गया है।

प्रेम के दो आधार और वर्तमान सूक्ति वर्ग—प्रेम का तात्पर्य है—मानव-मन का 'किसी के प्रति स्नेह, पक्षपात, या कोमल भाव'।[११] इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि प्रेम की उत्पत्ति दो के बिना नहीं हो सकती[१२]। ये दो आधार प्रेमी-प्रेमिका के अतिरिक्त पति-पत्नी, माता-पुत्र, भक्त-भगवान्, देश-देशभक्त आदि कोई भी हो सकते हैं। इस आलम्बन-भेद से इसके अनेक रूप हो सकते हैं—प्रणय, दाम्पत्य प्रेम, वात्सल्य, ईश्वरभक्ति, देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम श्रद्धा आदि[१३]। इन अनेक रूपों में प्रेम का व्यापक अर्थ लिया गया है। संकुचित अर्थ में प्रेम का प्रयोग 'प्रणय के'[१४] अर्थ में किया जा सकता है। यहां भी वर्गीकरण की दृष्टि से प्रेमी-प्रेमिका के तथा शुद्ध प्रणय-जन्य पति-पत्नी के प्रेम व्यवहार पर कही गई सूक्तियों को ही इस परिच्छेद के अन्तर्गत स्थान देना उचित समझा गया है। पति-पत्नी के श्रद्धाजन्य व्यवहार को तथा वात्सल्य को पारिवारिक सूक्तियों में, तथा मित्र-मित्र के प्रेम व्यवहार को व्यावहारिक सूक्तियों में स्थान दिया गया है। फिर भी कतिपय सूक्तियाँ सामान्य प्रेम-सम्बन्धों पर भी प्रकाश डालती हैं, जिन्हें यहीं रखा गया है।

सूक्तिचयन की दृष्टि से अध्ययन करते हुए ऐसा प्रतीत हुआ है कि कवि अपने प्रेमानुभव को किसी युगल के प्रेमप्रदर्शन द्वारा अभिव्यक्ति दिया करता है। इस कारण उसकी प्रेमाभिव्यक्ति वर्णनात्मक अधिक होती है, जिन्हें सूक्ति-परिभाषा के अनुसार छोड़ना पड़ा है। प्रेम-विषयक तथ्यों को सूक्ति के रूप में भी अवश्य व्यक्त किया गया है, परन्तु साहित्य में प्रेम-वर्णन के विस्तृत अंश को देखते हुए ऐसी प्रेम-परक सूक्तियों का अनुपात अपेक्षाकृत पर्याप्त कम है।[१५]

सूक्तियों में संकेतित प्रेम और सौन्दर्य के विविध रूपों को ध्यान में रखते हुए निम्न वर्गीकरण उपयोगी प्रतीत हुआ है—

१—प्रेम की विशेषताएं, २—प्रेम की शक्ति, ३—प्रेम की अवस्था, संयोग से पूर्व, ४—संयोग, ५—वियोग, ६—प्रेम और काम, ७—प्रेम में व्यवहार, ८—सौन्दर्य।

२. प्रेम की विशेषताएं

(क) निश्छलता—भास की एक सूक्ति सामान्य प्रेम-सन्बन्धों के आधारभूत गुण की ओर संकेत करती है—"अच्छलो हि स्नेहो नाम"[16]—"स्नेह वह है जो छलरहित हो"। किसी भी प्रकार का सम्बन्ध जिसके आधार में छल हो, कभी स्थायी नहीं हो सकता, और कम-से-कम उसे प्रेम-सम्बन्ध तो कहा ही नहीं जा सकता। यह निश्छलत्व सभी प्रकार के प्रेमरूपों में आवश्यक है। प्रस्तुत सूक्ति को 'अविमारक' के नायक ने विदूषक की मैत्री पर व्यंग्य करते हुए तब कहा है जब वह (विदूषक) मित्र के विरह में आंसू निकालना चाहता है, पर असमर्थ रहता है। इस प्रसंग में यद्यपि निश्छलत्व के विना सुहृत्स्नेह की व्यर्थता वताई गयी है, तथापि सूक्ति में उसका उल्लेख न होने से इस तथ्य को प्रणय आदि सभी प्रेम-सम्बन्धों की विशेषता के रूप में निर्वाध रूप से स्वीकारा जा जा सकता है।

(ख) परात्मभाव—अन्य व्यावहारिक सम्बन्धों से प्रेम-सम्बन्ध को पृथक् करने के लिए यूं तो 'निश्छलता' की विशेषता ही पर्याप्त हो सकती है, फिर भी उस में कुछ और विशेषताएं भी देखी जा सकती हैं, जैसे 'परात्मभाव', अर्थात् जिससे प्रेम किया जाता है, उसके प्रति अपने से भी अधिक प्रतिवद्धता[17], या अपने अस्तित्व को विल्कुल भुला देना।[18] प्रेम में दोनों की चिन्ता तो हो सकती है, पर केवल अपनी नहीं। इस भावभूमि को लेकर कालिदास वतलाते हैं—"न शोभते प्रणयिजने निरपेक्षता"[19]—"प्रिय के प्रति उपेक्षा-भाव अच्छा नहीं लगता।" इस सूक्ति को कहते समय राजा स्वयं को दोषी अनुभव कर रहा है, क्योंकि उसने अपने प्रिय-पात्र इरावती को कष्ट देने वाला कृत्य—मालविका के प्रति आसक्ति और "प्रेम-प्रदर्शन" किया है। मानव का अपनी दुर्बलताओं के प्रति सदयभाव से सोचना स्वाभाविक ही है। अतः सूक्ति के शब्द भी मृदु हो गये हैं, और कवि द्वारा यहां प्रेम में निरपेक्षता की कठोर शब्दों में निन्दा न करना प्रसंगानुसार उचित ही प्रतीत होता है।

उभयस्थता—प्रेमानुभूति के लिए आवश्यक है कि प्रेम दोनों में आश्रित हो।[20] कालिदास प्रेम की उत्कृष्टता और तज्जन्य आह्लादकता को उभयस्थता के आश्रित मानते हैं। शकुन्तला को अपने प्रति अनुरक्त जानकर राजा की प्रसन्नता द्विगुणित हो गई। वह आश्वस्त हुआ कि शकुन्तला सुलभ हो या दुर्लभ परन्तु उसका प्रेमभाव तो मिल गया—"अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते"[21]—"काम चाहे अपना कार्य न कर पाया हो (अर्थात् शारीरिक मिलन न हुआ हो[22]) किन्तु दोनों (प्रेमी-प्रेमिका) की अन्योन्य के प्रति अभिलाषा भी रति-भाव की जनक है (आह्लादक है)।" हर प्रेमी को प्रिय की अपने में आसक्ति जानकर तुष्टि होती है, क्योंकि अनुत्तरित (unresponded) प्रेम अपूर्ण होता है, उसे प्रेम न कह कर एकांगी आकर्षण कहना अधिक उपयुक्त होगा। उर्दू के एक कवि के अनुसार भी प्रेमाग्नि तो उभयत्र जलने-जलाने वाली वस्तु है।[23] विरह की स्थिति में एक की पीड़ा दूसरे से अधिक या स्वयं में एकांगी भी हो सकती है, परन्तु प्रेम कभी एकांगी नहीं होता।

कवि के विचार में प्रेम की उभयस्थता होने पर यदि मिलन न हो सके और मृत्यु आ जाय तो स्वागत के योग्य है—"परस्पर-प्राप्ति-निराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः"[२४]—"आपस में समान प्रेम करने वाले यदि एक दूसरे को पाने में निराश हों तो शरीर-नाश भी अच्छा है।" इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि अपने अभीष्ट प्रिय को न पा सकना मृत्यु-दुःख से भी तीव्रतर दुःख का कारण होता है। इसके अतिरिक्त पूर्ण प्रेम की उपलब्धि के पश्चात् और कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता, एकांगी प्रेम की घुटन भी समाप्त हो जाती है, अतः शान्ति पूर्वक मृत्यु का वरण किया जा सकता है।

प्रेम को उभयस्थ मानने पर कालिदास का—"अनुरागोऽनुरागेण परीक्षितव्यः[२५]" "अनुराग की परीक्षा अनुराग द्वारा (प्रेम करके) ही हो सकती है"—यह कथन भी स्पष्ट हो जाता है। स्पष्टतः ऐसी परीक्षा में एकांगी प्रेम सफल नहीं हो सकता।

(घ) **नैसर्गिकता**—किसी के प्रति प्रेम की अनुभूति प्रकृतिपरिचालित होती है, ऐसी मान्यता भवभूति ने प्रकट की है। पहली बात तो यह कि प्रेम किसी कारण पर आधारित नहीं होता—**स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्ष (-श्च) इति विप्रतिषिद्धमेतत्।**[२६] —"स्नेह हो और वह किसी कारण की अपेक्षा रखे यह तो परस्पर-विरोधी बात है।" और यदि प्रेम का कोई आधार है तो वह आंतरिक है, हार्दिक है, नैसर्गिक है, बाह्य नहीं—

> **व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुर्।**
> **न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।**
> **विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकम्।**
> **द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥**[२७]

—"कोई अनचीह्ना आन्तरिक कारण पदार्थों को मिला देता है।" बाहरी "प्रयोजनों का आश्रय प्रेम नहीं लिया करता।" "सूर्य के उदय होने पर कमल खिल उठता है।" "और चन्द्रमा के उगते ही चन्द्रकान्तमणि द्रवित हो जाती है।" यही कारण है कि प्रेम का भान बुद्धि को नहीं हृदय को ही होता है—**हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्**[२८]—'प्रेम-सम्बन्ध को हृदय ही जानता है।" यदि इसका भाव यह लिया जाय कि प्रेम का वर्णन अशक्य है, तब भी प्रेम की अनिर्वचनीय आन्तरिकता ही व्यक्त होती है।

३. प्रेम की शक्ति

(क) **गुणों की प्रतीति**—प्रेम में ऐसी शक्ति है कि वह प्रिय में अनेक विद्यमान या अविद्यमान गुणों का भी आभास करा देता है। प्रेम का अर्थ 'पक्षपात'[२९] भी इसी शक्ति का द्योतक है। "कहते हैं कि स्पिनोजा जैसे मनीषी ने भी कहा था कि हम किसी वस्तु को अच्छी इसलिए नहीं कहते कि वह अपने आप में सचमुच अच्छी है, बल्कि इसलिए कहते हैं कि हम उसे चाहते हैं।"[३०] भारवि ने प्रेम की इस शक्ति का स्पष्ट आख्यान किया है—"**वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि**"[३१]—"गुणों का निवास वस्तु में नहीं, प्रेम में है!"

गुण (अच्छे या बुरे) वस्तु की विशेषता होते हैं, यह बात सैद्धान्तिक दृष्टि से ठीक हो सकती है, परन्तु कवि का तात्पर्य इस सूक्ति से यह प्रतीत होता है कि प्रेम में ही वह शक्ति है जो किसी के गुणों की प्रतीति कराती है। प्रेम के अभाव में हम या तो गुणों को देखने का यत्न ही नहीं करते, या देखते भी हैं तो तटस्थ भाव से। अतः गुणों के साथ-साथ, या गुणों से भी अधिक दोषों का दर्शन करते हैं। प्रेम के विपरीत जब हम किसी से घृणा करते हैं तब उसमें दोष ही दोष क्यों देखने लगते हैं? यह तथ्य भी प्रेम की इसी शक्ति का दूसरा पहलू कहा जा सकता है।

प्रिय में गुण ही गुण देखने की प्रवृत्ति से उत्पन्न कुछ प्रभावों का संकेत सूक्तियों में हुआ है। भास के अनुसार—"**सर्वमिष्टेषु कथ्यते**[३०]—"आत्मीय के लिए (उसमें सब गुणों की कल्पना द्वारा) सब कुछ (प्रशंसात्मक) कहा जाता है।" माघ भी बताते हैं—**दयितं जनः खलु गुणीति मन्यते**[३१]—"प्रिय जन तो गुणवान् ही माना जाता है।" इसी प्रकार—**नैवाहो विरमति कौतुकं प्रियेभ्यः**[३२]—"अहो, अपने प्रियजनों के प्रति कौतुक (औत्सुक्य) समाप्त नहीं होता।" कारण—**अनेकशः संस्तुतमप्यनल्पा नवंनवं प्रीतिरहो करोति**[33]—"प्रेम का आधिक्य बहुत परिचित व्यक्ति को नया-नया सा अनुभव करा देता है।"

अन्तिम दो सूक्तियों में माघ ने प्रेम से सौन्दर्योत्पत्ति को ही एक प्रकार से स्वीकारा है, क्योंकि वे सुन्दर वस्तु का सौन्दर्य उसकी शाश्वत नवीनता में मानते हैं।[३४] आधुनिक मनोवैज्ञानिक विल डूरण्ड ने भी प्रीति को सौन्दर्य की जननी माना है, संतति नहीं[३५]।

प्रेम की यह गुणोत्पादिका शक्ति सभी प्रकार के प्रेम-सम्बन्धों के विषय में माननीय है और प्रणय-सम्बन्धों में तो अत्यन्त तीव्र प्रभाव रखती है।

(ख) **मनोहारिता**—प्रेम की शक्ति प्रेमियों के पारस्परिक आकर्षण को बढ़ाने में भी सहायक होती है। भारवि ने जल-विहार का वर्णन करते हुए इस तथ्य की ओर संकेत किया है। किसी मानिनी ने जल में मत्स्य टकराकर घबराने का अभिनय करते हुए प्रिय का आलिंगन कर उसके आनन्द को बढ़ा ही दिया, क्योंकि—**अकृत्रिमप्रेमरसाहितैर्मनो हरन्ति रामाः कृतकैरपीहितैः**[३६]—"निश्छल प्रेम-रस से युक्त (होने पर) कृत्रिम चेष्टाओं से भी स्त्रियां (प्रिय का) मन हर लेती हैं।" यहां स्त्री द्वारा आकृष्ट कर पाने का मूलाधार निर्व्याज प्रेम को बताया गया है, अतः यह सूक्ति प्रेम के सामर्थ्य की द्योतक है, स्त्री-सौन्दर्य की नहीं।

(ग) **आह्लादकता**—प्रेम की शक्ति से ही यह संभव होता है कि—**प्रियनिवेद्यमानानि प्रियाणि प्रियतराणि भवन्ति**[३७]—"वह प्रिय बात जिसे कोई प्रियजन सुनाये, और भी अधिक प्रिय लगती है।" प्रिय की सामान्य बातें भी प्रिय होती हैं, और इसका कारण है कि प्रियजन आनन्द का ही स्रोत हो सकता है। भवभूति के शब्दों में—**न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति। तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥**[३८]—"कुछ भी न करता हुआ प्रियजन प्रसन्नताओं द्वारा दुःखों को हटाता है।

निश्चय ही वह अपने प्रिय के लिए कुछ विशिष्ट अनिर्वचनीय पदार्थ है।" अतः प्रिय व्यक्ति किसी अन्य कारण के न होने पर भी आह्लादित किया करता है।

(घ) **अप्रतिकरणीयता और अमरता**—भवभूति का कथन है—**तम(द-) प्रतिसङ्ख्येयनिबन्धनं (प्र-) प्रेमाणमामनन्ति**[४०]—"उस प्रेम को अविचारणीय (मूल-)—कारण वाला कहा जाता है।" ऐसे अकारण का प्रेम प्रतिकार करना तब कठिन हो जाता है जब वह प्राकृतिक आकर्षणों पर[४१] निर्भर हो—

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्भूतानि सीव्यति ॥[४२]

—"जो प्रेम प्रयोजन के बिना हो, उसका प्रतिकार नहीं है। वह तो ऐसा स्नेहमूलक तन्तु है, जो प्राणियों के अन्तरतम को सी देता है।" ऐसा नैसर्गिक प्रेम सदा बना रहता है। प्रिय व्यक्ति के न रहने पर भी यही बार-बार उसे स्मृतिपथ में लाकर मूर्त्तरूप दे देता हैं। इसलिये कवि का यह कथन सत्य ही है—**न खलु स उपरतो यस्य वल्लभः स्मरति**[४३] —"वह निश्चय ही नहीं मरा जिसका प्रियजन उसे याद करता है।"

(ङ) **सुख-सफलता**—प्रेम की शक्ति से प्रेमियों का समागम किसी न किसी प्रकार अवश्य हो जाता है, ऐसा विश्वास कालिदास ने प्रकट किया है—**अवश्यंभावी अचिन्तनीयः समागमो भवति**[४४]—"प्रिय से समागम अवश्यंभावी होता है और उसका प्रकार सोचा नहीं जा सकता।" अंत में मिलन दिखाने वाली संस्कृत काव्य की सुखान्त रचनाएं भी इस विश्वास की द्योतक हैं।

सुफल प्राप्ति के लिए उद्यम, बुद्धि आदि अनेक मानवीय गुणों के समान ही प्रेम की शक्ति का महत्त्व भी कवि ने स्वीकारा है—**अतिस्नेहः खलु कार्यदर्शी**[४५]—"अधिक स्नेह कार्य का मार्गदर्शक है।" प्रियजन के कार्य को पूरा करने के लिए विशेष दत्तचित्त होकर प्रयत्न करना स्वाभाविक है और इसलिए मार्ग पा लेना भी। विदूषक जैसा प्राणी भी जब मालविका को मुक्त कराने में सफल हो गया तो राजा को कहना पड़ा—

न हि बुद्धिगुणेनैव सुहृदामर्थदर्शनम्।
कार्यसिद्धिपथः सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ॥[४६]

—"केवल बुद्धि के प्रकर्ष से ही मित्रों को अभीष्ट-सिद्धि का उपाय दिखाई दे ऐसा नहीं है। कार्य में साफल्य का सूक्ष्म मार्ग प्रेम से भी मिल जाता है।" इस प्रकार कार्य में सफलता के लिए प्रेम-भावना सहायक होती है और केवल मैत्री (मित्र-प्रेम) में ही नहीं, सभी प्रेम-सम्बन्धों में यह विशेषता द्रष्टव्य है।

४. प्रेम की अवस्था : संयोग (मिलन) से पूर्व

शृंगार रस को आचार्यों ने दो प्रकार का माना है—संभोग और विप्रलम्भ। इस विभाजन का आधार प्रेमियों के मिलन और विरह की दो अवस्थाएं—संयोग और वियोग—हैं। जहां एक अवस्था सुख और आनन्द की अनुभूति देती है वहां दूसरी दुःख और वेदना की। सूक्तियां भी इनके प्रभाव से अछूती नहीं रही हैं।

(क) प्रेमोद्भव—प्रेम की प्रवृत्ति यद्यपि मौलिक है, परन्तु फिर भी उसके जागृत होने के लिए उपयुक्त आलम्बन और अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता है। किसी के प्रति प्रेमाकर्षण का अनुभव होने से पहले उसके गुण हमें आकृष्ट करते हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन अश्वघोष ने किया है—**स्नेहस्य हि गुणा योनिः**[४७]—"स्नेह की उत्पत्ति का स्थान गुण हैं।" शूद्रक ने भी प्रेमोत्पत्ति के लिए गुणों को प्रमुखता दी है—**गुणः खल्वनुरागस्य कारणं न पुनर्बलात्कारः**[४८]—"अनुराग का कारण गुण है न कि बलात्कार।" गुणों के इस महत्त्व को भारवि ने भी इन शब्दों में व्यक्त किया है—**गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः**[४९]—"प्रियता पर गुणों का अधिकार है, परिचय का नहीं।" इस प्रकार प्रेमोद्भव का प्रथम सोपान गुणों के आधार पर टिका हुआ बताया गया है।

यहां प्रश्न यह उठता है कि क्या प्रेम गुणों पर आधारित है, अथवा जैसा कि पीछे[५०] दर्शाया गया है, प्रेम से गुणों की प्रतीति होती है ? या दूसरे शब्दों में, क्या गुण वस्तुनिष्ठ हैं या कि व्यक्तिनिष्ठ ? सूक्तियों से ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों बातें सही हैं। वही कवि (नाम के लिए, भारवि) दोनों पक्षों के समर्थक हैं। अतः यद्यपि कहने के ढंग में कवि की अतिशयोक्ति हो सकती है, तथापि इन्हें परस्पर-विरोधी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः दोनों का समन्वय ही उन्हें अभिप्रेत है। जिस प्रकार आगे[५१] सौन्दर्य को विषयगत और विषयीगत (objective and subjective) दोनों प्रकार का बताया गया है वैसा ही यहां भी समझना चाहिए। इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रेमी को आकृष्ट करने के लिए पर्याप्त किसी भी गुण (?)-विशेष के कारण प्रेम का जन्म होता है। फिर एक बार प्रिय होने के बाद तो उसकी हर वस्तु, हर क्रिया, हर अंग प्रिय लगने लगता है; और वह सब प्रकार के गुणों से भरपूर दिखाई देने लगता है।

प्रेमोद्भव के लिए समानगुणशीलता ही पुष्ट आधार मानी गई है। दुष्यन्त और शकुन्तला का अनुराग एक दूसरे के सदृश और यथोचित गुणों के आधार पर अंकुरित तथा पुष्पित हुआ था। उसके विषय में कालिदास की सूक्तियां हैं—**सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानदी अवतरति ? क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते ?**[५२] —"सागर को छोड़कर महानदी और कहां उतरेगी ?" "आम्र के अतिरिक्त और कौन वृक्ष पल्लवित अतिमुक्तलता (माधवी लता) को सम्हाल सकता है ?" इनमें से पहली सूक्ति में शालीना प्रेमिका द्वारा यथायोग्य प्रेमी के वरण की प्रशंसा है, तो दूसरी में गुणवान् प्रेमी द्वारा अपने अनुरूप प्रेमिका को स्वीकारने और सुरक्षित करने का विश्वास। इस प्रकार समान गुणों के आधार पर होने वाले प्रेमोद्भव को प्रशंसनीय दृष्टि से देखा गया है।

(ख) दूती—दो प्रेमियों के अनुराग को एक दूसरे तक पहुंचाने और फिर प्रिय-मिलन सम्पादित कराने में दूत-दूतियों का महत्त्व संस्कृत साहित्य में विशेष रहा है। अभिजातवर्ग और विशेषतः राजाओं का काम तो उनके बिना जैसे चल ही नहीं सकता। इसलिए कालिदास का अग्निमित्र स्वीकार करता है—**स्थाने प्राणाः कामिनां दूत्यधीनाः**[५३]—"प्रणयिजनों के प्राण दूती के अधीन रहते हैं, यह ठीक ही है।" यहां 'स्थाने,

शब्द से इस अधीनता का औचित्य भी राजा ने स्वीकार किया है, क्योंकि प्रिय स्वयं वे बातें नहीं कह सकता, या कहते हुए शोभित नहीं होता जो कि दूती के मुख से कहला सकता है।

(ग) **अभिसार**—अभिसरण के प्रसंग में भी कुछ एक बातें सूक्ति रूप में कही गई हैं। शूद्रक के अनुसार—

मेघा वर्षन्तु गर्जन्तु मुञ्चन्त्वशनिमेव वा (च),
गणयन्ति न शीतोष्णं रमणा- (दयिता-) भिमुखाः स्त्रियः ।।[५४]

—'मेघ बरसें, गरजें या वज्र ही गिराएं, अभिसरणोद्यत (प्रियाभिगामिनी) प्रेमिकाएं सर्दी-गर्मी नहीं गिना करतीं।' उधर, बाण ने अभिसारिणी स्त्रियों के द्वारा वांछनीय एकाकीपन का उल्लेख किया है—**प्रियतमाभिसरणप्रवृत्तस्य जनस्य किमिव कृत्यं बाह्येन परिजनेन ?**[५५]—"प्रियतम के प्रति अभिसार में प्रवृत्त व्यक्ति के लिए बाह्य सेवकों की क्या आवश्यकता है ?" इसी प्रकार हर्ष अभिसार में विशेष आकर्षण स्वीकार करते हैं—**रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ।**[५६]—"संकेत-स्थल पर स्थित कामिनी वैसे भी अधिक आनन्द देती है।"

इन सूक्तियों में प्रेमिका द्वारा प्रिय की ओर अभिसरण, और संकेत-स्थल पर मिलन को प्रेमियों के लिए एक आनन्दवर्धक घटना माना गया है। इसके साथ ही यह भी कि इस प्रकार के मिलन के लिए प्रेमियों की तीव्र उत्कण्ठा उन्हें इतना वशीभूत कर लेती है कि वे अन्य किसी कष्ट की चिन्ता नहीं करते।

(घ) **संकल्पज प्रिय**—इस प्रकार का अभिसार कुलीन और क्वारी कन्याओं के लिए संभव नहीं है, क्योंकि विवाह से पहले अपने प्रिय के साथ उनके मिलन को समाज अनियमित मानता है। किन्तु अन्तःकरण में संकल्प से निर्मित प्रिय के समागम में उनको क्या भय ?—**सत्यमेव गरीयः खलु जीवितालम्बनमिदं वियोगिनीनां, (यदुक्तं) संकल्पमयः प्रियो नितरां कुलाङ्गनानां विशेषतः कुमारीणां ।**[५७]—"वियोगिनी कुलीन स्त्रियों, विशेषकर कुमारियों के लिए संकल्प से निर्मित प्रिय सचमुच ही बड़ा जीविताश्रय है।" ऐसे संकल्पज प्रिय से समागम करने में न दूती की आवश्यकता, न अभिसार की, न समय का व्यवधान और न कुमारीत्व की हानि, न गुरुजन का भय और न अंधकारादि के कारण दर्शनाभाव ।[५८] मानसिक समागम से सन्तोष कर संयम में रहने का उपाय सुझाना कवि की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचायक है।

५. प्रेम की अवस्था : संयोग (मिलन)

(क) **संयोग की उत्कृष्टता**—प्रेमोद्भव के पश्चात् संयोग और वियोग दोनों अवस्थाएं हो सकती हैं। बाण की सूक्तियों से यह विश्वास झलकता है कि सच्चे प्रेम में मिलन अवश्य होता है। जड़ पदार्थों में भी यह द्रष्टव्य है—**केन कदा वावलोकितो ज्योत्स्नारहितश्चन्द्रमाः ?**[५९]—"किसी ने कभी क्या चांदनी के बिना चांद देखा है ?" इसी प्रकार क्या किसी ने कभी मृणालरहित कमल, लताशून्य उद्यान देखा है ? और आम्र-मञ्जरी के बिना मधुमास भी सुशोभित नहीं होता।[६०]

दूसरी ओर हर्ष का कथन इससे कुछ भिन्न है—

अन्योन्यदर्शनकृतः समानरूपानुरागकुलवयसाम् ।
केषांचिदेव मन्ये समागमो भवति पुण्यवताम् ।।[६१]

—"एक जैसे रूप, अनुराग, कुल और वय वाले किन्हीं भाग्यशालियों का ही समागम एक दूसरे के दर्शन के फलस्वरूप होता है, ऐसा मानता हूं।" इसमें एक तो समागम को भाग्य से प्राप्तव्य माना गया है। दूसरे, पूर्वदर्शन से उत्पन्न अनुराग के बाद विवाह को[६२] उत्कृष्ट समझा गया है। तीसरे, प्रेमियों में रूप और गुणों की समानता की दुर्लभता का भाव व्यक्त हुआ है।

भर्तृहरि भी प्रिय-समागम को भाग्योलब्ध ही मानते है—**धन्यानां बत, दुर्दिनं सुदिनतां याति प्रियासङ्गमे।**[६३]—"धन्य (भाग्यशाली) लोगों का ही वर्षा का (या बुरा) दिन प्रिया-संगम से अच्छा दिन बनता है।"

(ख) **रूठन-मनौवल**—मिलन में प्रेम को परखने और पखारने के लिए प्रेमीजन रुठन-मनौवल का आश्रय लिया करते हैं। सूक्तियों में रूठे प्रिय को मनाते समय कुछ सावधानी बरतने का परामर्श दिया गया है। माघ की दृष्टि में प्रिय के एक बार रूठ जाने पर यदि यह उसकी प्रतिष्ठा का विषय बन जाए तो—**दुस्त्यजः खलु सुखादपि मानः**[६४]—"मान आसानी से नहीं छोड़ा जा सकता।" मान छुड़ाया तो जा सकता है, परन्तु इसके लिए दूसरों के वचनों में सच्ची सहृदयता होनी चाहिए। कालिदास द्वारा चित्रित एक दृश्य में रूठी रानी के चले जाने पर उसे न मना सकने वाला राजा इसका कारण समझता है—'रसहीनता'—

प्रियवचनशतोऽपि योषितां दयितजनानुनयो रसादृते ।
प्रविशति हृदयं न तद्विदां मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः ।।[६५]

—"प्रिय के सैंकड़ों प्रिय वचन भी बिना रस के समझदार स्त्रियों के हृदय में वैसे ही प्रविष्ट नहीं होते जैसे कि नकली चमक से हीरा जौहरी के हृदय में नहीं समाता।"

यहां रसमयता के बिना अनुनय करना व्यर्थ बताया गया है, तो भारवि द्वारा रुष्ट स्थिति में अनुनय को ही व्यर्थ निरूपित किया गया है—**जनस्य रूढप्रणयस्य चेतसः किमप्यमर्षोऽनुनये भृशायते।**[६६]—"बढ़े हुए प्रेमवाले व्यक्ति के हृदय का क्रोध अनुनय से न जाने क्यों कुछ बढ़ता ही है।" प्रेम की अधिकता में मनौवल का प्रभाव उल्टा पड़ता है, यह तथ्य एकांगी प्रतीत होता है, और व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर करता है। कई बार अनुनय से क्रुद्ध या रुष्ट प्रेमी का अहम् तुष्ट हो जाता है, और वह द्रवित हो उठता है। भारवि ने जिस दृश्य से यह निष्कर्ष निकाला है उसमें सौत की तरफ होकर प्रिय ने सान्त्वना के लिए जल के जो छींटे दिये हैं, उस से प्रणयिनी का क्रोध बढ़ता दिखाया गया है। यह दृश्य है तो वास्तविक ही, पर इसमें प्रिय द्वारा छींटे देना अनुनय की कोटि का न होकर छेड़-छाड़ ही कहा जा सकता है। और रुष्ट व्यक्ति छेड़ने पर और अधिक क्रुद्ध न हो यह कैसे सम्भव है?

प्रेमिका के रूठने के विषय में कालिदास की एक उक्ति है कि—"मनस्विनी

स्त्रियां जिन्होंने अपने प्रेमी का नमन ठुकरा दिया है, बाद में दुःखी मन से एकान्त में दयित के अनुनय से लज्जा का अनुभव करती हैं।"[६७]

जिस प्रकार स्त्रियां रूठ सकती हैं वैसे ही पुरुष भी, और तब रूठे प्रिय को मनाने में स्त्रियों का एक बहुत बड़ा साधन है—उनके आंसू। भारवि बताते हैं कि अभिसार में प्रकुपित प्रिय को मनाने के लिए आंसू अबलाओं की अन्तित सीमा (last resort) है।[६८] माघ ने यही बात इस सूक्ति में कही है—**करुणमपि समर्थं मानिनीमानभेदे, रुदितमुदितमस्त्रं योषितां विग्रहेषु।**[६९]—"(करुणाजनक) दीन होने पर भी मानियों के मानभंग में सक्षम होने के कारण स्त्रियों का रुदन प्रणयकलहों में (अमोघ) अस्त्र कहा गया है।" इस प्रकार रूठे प्रिय को मनाने में या अपना कोई आग्रह मनवाने में स्त्री का रुदन काम आता है। यह दूसरी बात है कि वह स्वभाववश शीघ्र शोकविह्वल हो जाने के कारण रो पड़े, या केवल झूठे आंसू बहा दे। परन्तु ये आंसू अभीष्टसिद्धि करते हैं, ऐसा प्रायः माना जाता है।

(ग) संयोग से शोभावृद्धि—मिलन का प्रभाव प्रेमी-प्रेमिका दोनों पर ही पड़ता है। दोनों हर्षोद्रेक में स्वयं को अधिक स्वस्थ व प्रसन्न अनुभव करने लगते हैं। भारवि कहते हैं कि आनन्द के साधन, अलंकरण आदि प्रिय के साथ होने पर ही भाते हैं—**साधनेषु हि रतेरुपधत्ते रम्यतां प्रियसमागम एव।**[७०]—"प्रिय से मिलन ही रति के साधनों में रमणीयता उत्पन्न कर देता है।" इस भाव को माघ ने इस प्रकार विस्तृत किया है—**कामिनां मण्डनश्रीर्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन।**[७१]—"प्रेमियों के प्रसाधन की शोभा प्रिय द्वारा देखी जाकर सफलता को प्राप्त करती है।" भारवि की सूक्ति की अपेक्षा इसमें यह भाव अधिक है कि व्यक्ति अपने प्रिय के लिए ही अपने शरीर को सुशोभित करता है। यदि मिलन न हो तो प्रेमियों की सारी सज्जा व्यर्थ है। माघ की इस सूक्ति पर कालिदास का प्रभाव भी परिलक्षणीय है। कालिदास ने 'स्त्रियों के वेश को प्रिय के दर्शनों पर सफल'[७२] बताया है तथा 'सौन्दर्य को प्रियों में सौभाग्य देने वाला' माना है।[७३] इन दोनों ही भावों को उपर्युद्धृत सूक्ति में माघ ने आबद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

६. प्रेम की अवस्था : वियोग (विरह)

(क) वियोग की पीड़ा—जहां मिलन आह्लादक है, वहां विरह उत्पीड़क। विरहपीड़ा को भास ने 'स्वप्नवासवदत्तम्' में वियुक्त वासवदत्ता और राजा की मनोदशा में साकार करने का प्रयत्न किया है। विरहिणी वासवदत्ता अपने जीवन को भार समझती है—**धन्या खलु चक्रवाकवधू यान्योन्य-विरहिता न जीवति।**[७४]—'चकवी ही प्रशंसनीय है जो अपने प्रिय से विरहित होकर जीती नहीं।' विरही व्यक्ति अपने जीवन को निरर्थक समझने लगता है, इसीलिए मृत्यु-वरण की कामना करता है। कोई आंसू बहाकर ही अपने विरहित प्रिय के प्रति उऋण हो जाता है। वासवदत्ता को मृत समझने वाला राजा अपने आंसुओं की न्याय्यता बताता है—

'दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः,' 'स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम् ।'
यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह बाष्पं, प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम् ॥[७५]

—"बद्धमूल अनुराग छोड़ना कठिन है,' 'उसे याद कर-करके दुःख नया हो जाता है।" "यही उपाय (या सांसारिक व्यवहार) है कि यहां आंसू बहाकर ऋण-मुक्त बुद्धि प्रसन्नता पाती है।"

विरह के आंसुओं की बाढ़ भवभूति ने भी राम की आंखों से खूब बहाई है।[७६] मुख्यतः करुणरस का ही उन्होंने चित्रण किया है, जिसे वे सब रसों में व्याप्त मानते हैं।[७७] पर उन्होंने विरह की सूक्ति कहीं भी नहीं कही, यह आश्चर्य ही है। भारवि ने मुनिवेश-धारी इन्द्र द्वारा अर्जुन को उपदेश देते हुए एक सूक्ति कही है जिसमें विरही की अवस्था दिखाई गई है—

तदा रम्याण्यरम्याणि, प्रियाः शल्यं तदासवः ।
तदैकाकी सबन्धुः सन्निष्टेन रहितो यदा ॥[७८]

—"जब कोई अपने इष्ट व्यक्ति से विरहित होता है तब बन्धुओं वाला होने पर भी अकेला है, तब रमणीय पदार्थ भी अरमणीय लगते हैं और अपने प्रिय प्राण भी कांटे से चुभते हैं।" विरह-पीड़ा से पीड़ित व्यक्ति के लिए यह संसार दुःख से भर जाता है। इस का कारण है— उसका आन्तरिक दुःख। अपनी प्रसन्नता और दुःख के आधार पर ही यह संसार प्रसन्न या दुःखी दीखता है।

विरह का यह उद्दाम दाह कैसे सह्य होता है? कालिदास इसका उत्तर देते हैं। इन्दुमती की मृत्यु के कारण उससे सदा के लिए वियुक्त अज विलाप करते हुए कहते हैं कि मैं किस आशा पर जिऊं? कोई विरही जीता है तो किसी आशा पर ही जीता है— शशिनं पुनरेति शर्वरी, दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम्, इति तौ विरहान्तरक्षमौ।[७९]— "रजनी चांद को फिर मिल जाती है, और युगल-रूप में रहने वाले पक्षी को उसकी प्रेमिका, इसीलिए वे विरह के काल को सहने में समर्थ होते हैं।" बाण के अनुसार भी यह मिलनाशा की ही शक्ति है कि विरही जैसे-तैसे जी लेता है।[८०]

(ख) **वियोग का प्रभाव प्रेमिका पर**—विरह का प्रभाव और विरह-पीड़ा की अनुभूति स्त्री और पुरुष दोनों को होती है। दोनों ही यह समझते हैं कि उनकी अपनी पीड़ा दूसरे की अपेक्षा अधिक है। कालिदास ने इस अनुभूति को कई बार व्यक्त किया है। उन्होंने पुरुष को भी (जैसे यक्ष को मेघदूत में) विरहातुर दिखाया है, और स्त्री को भी (जैसे शकुन्तला को)। परन्तु सूक्तिरूप में उन्होंने स्त्री की विरह-वेदना को पुरुष की अपेक्षा अधिक असह्य बताया है। शाकुन्तल में प्राकृतिक वर्णन करने हुए शिष्य कहता है कि चन्द्रमा के अस्त होने पर वही कुमुदिनी जो रात्रि में अत्यन्त सुशोभित हो रही थी प्रातःकाल के समय उतना नेत्रानंद नहीं दे पा रही है। इसका कारण —इष्टप्रवास-जनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि।[८१]—"रमणियों के प्रिय-प्रवास से उत्पन्न दुःख निश्चय ही अत्यन्त दुःसह्य होते हैं।" इस स्थल पर कवि का अभिप्राय यह है कि विरह का दुःख प्रेमिका की शोभा और कान्ति का ही हरण कर लेता है।

यही बात मेघदूत में यक्ष ने अपनी प्रेमिका को उद्दिष्ट करके कही है—**सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्।**[८२]—"सूर्य के चले जाने पर कमल अपनी शोभा को पुष्ट नहीं करता।" सूर्य प्रेमी का प्रतीक है, और कमल प्रेमिका का। अतः भाव यह है कि प्रेयसी की शोभा प्रिय के विरह में क्षीण हो जाती है। इन सूक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि कालिदास की दृष्टि में विरह का प्रभाव स्त्री पर पुरुष की अपेक्षा अधिक होता है।[८३]

एक अन्य सूक्ति से यह भी प्रकट होता है कि विरह में प्रिय का सन्देश प्रिया को विशेष आश्वासन देने वाला होता है—**सीमन्तिनीनां कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः सङ्गमात् किञ्चिदूनः**[८४]—"मित्र द्वारा लाया हुआ प्रिय का वृत्तान्त स्त्रियों के लिए संगम से थोड़ा ही कम है।" स्त्री के लिए प्रिय-वृतान्त की इतनी चिन्ता के कई कारण हो सकते हैं, जैसे—स्त्री-स्वभाव की कातरता, पुरुष के समान स्त्री के सामाजिक जीवन का अभाव, अथवा स्त्री की पराश्रितता आदि।

(ग) **वियोग का प्रभाव प्रेम पर**—कहा जाता है कि विरह का प्रेम पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। उस दशा में प्रेम घटने लगता है। परन्तु कालिदास का यक्ष इस विचार से सहमत नहीं—**स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगाद्, इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभंवन्ति।।**[८५]—"कहते हैं कि विरह में स्नेह-भाव ध्वस्त हो जाते हैं। परन्तु अनुपयुक्त होने के कारण वे तो प्रिय वस्तु के प्रति संचित प्रेमरस की राशि बन जाते हैं।"[८६]—इसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि थोड़े समय का विरह जिसमें शीघ्र मिलन की आशा विद्यमान हो प्रेमवर्धक ही होता है। मेघदूत का यक्ष भी इसी आशावती स्थिति में है।[८७] परन्तु जब अति दीर्घकालीन, मिलनाशा-विहीन (जैसे मृत्यु, दीर्घ-प्रवास आदि द्वारा) विरह हो तो प्रेम धीरे-धीरे घट भी सकता है।[८८]

७. प्रेम और काम

(क) **पारस्परिक सम्बन्ध**—प्रेम और काम आपस में ऐसे गुंथे हुए हैं कि इन्हें पृथक्शः समझना सरल कार्य नहीं। फिर भी आदर्श प्रेम और यथार्थ (नग्न) काम की कुछेक विशेषताएं उनका अन्तर दिखाती हैं।

काम का अर्थ यद्यपि प्रेम भी होता है, तथापि चार पुरुषार्थों के अंग-रूप में यह "ऐन्द्रिक आनन्दोपभोग की इच्छा" (अर्थात् सामान्य 'सुखेच्छा') के अर्थ में लिया गया है, और आजकल "शारीरिक तुष्टि की अभिलाषा, या विषय-सुखेच्छा" के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है।[८९]

प्रेम और काम का विश्लेषण करने का यत्न आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा हुआ है। यह पाया गया है कि काम में मुख्यतया शारीरिक तुष्टि की चाह रहती है, तो प्रेम में मुख्यतया मानसिक आनन्द की। काम में विशेषकर अपने ही आनन्द का ध्यान रहता है,

तो प्रेम में दूसरे का भी। काम में दूसरे के अस्तित्व का तो क्या, अपना भी ध्यान नहीं रहता, क्योंकि मनुष्य किसी अव्यक्त शक्ति (impersonal force) के अधीनस्थ होकर कार्य करता है। परन्तु 'प्रेम में दूसरे के व्यक्तित्व की अखण्डता' (integrity) एक महत्त्वपूर्ण विषय है।[६०] काम में पार्थक्य हो सकता है, और एक दूसरे को अधिकृत करने या एक दूसरे के वश में हो जाने की भावना रहती है; परन्तु प्रेम में पार्थक्य मिट जाता है, एक दूसरे में अस्तित्व खो देने भय का नहीं रहता है, और इसलिए अधिकार करने या अधिकृत होने का प्रश्न ही नहीं उठता।[६१] भाव-प्रधान प्रेम में और वासना-जन्य काम में ये मुख्य अन्तर दिखाये जा सकते हैं। किन्तु वस्तुतः स्त्री पुरुष-सम्बन्धों में दोनों अत्यन्त संश्लिष्ट और कुछ सीमा तक अन्योन्याश्रित भी हैं।

सूक्तियों में काम और उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है, और या तो वे 'प्रेम के देवता' की ओर संकेत करते हैं या 'विषय-वासना (सुखेच्छा)' की ओर। काम क्या है, यह विवेचना करने का प्रयत्न तो सूक्तियों में नहीं हुआ है, परन्तु उसकी जिन शक्तियों और उसके जिस स्वरूप का उल्लेख सूक्तियों में हुआ है, उससे उपर्युक्त बातें परिपुष्ट होती हैं।

(ख) काम की प्रचण्डता—काम की सबसे बड़ी शक्ति उसके अपराजेय आकर्षण में निहित है। काम की इस असह्यता का संकेत प्रायः उन सभी प्रसंगों में मिल जाता है जिनमें प्रेमोद्भव, पारस्परिक आकर्षण, विरहोत्कण्ठा आदि का वर्णन किया गया है। सूक्तियों में भी इस कामजन्य तीव्राकर्षण का और उस पर व्यक्ति की विवशता का प्रदर्शन प्रायः सभी कवियों ने किया है, किन्तु सबसे अधिक स्पष्टरूपेण बाण ने काम की प्रचण्ड शक्ति का पुनः-पुनः उद्घोष किया है—**प्रख्यातैव मन्मथस्य दुर्निवारता।**[६२] "काम की दुर्निवारता प्रसिद्ध ही है।" और कुछ कारण हैं जो इसके प्रतिकार को अधिक कठिन बना देते हैं—**कालो हि गुणाश्च दुर्निवारतामारोपयन्ति मदनस्य सर्वथा**[६३]— "काल (यौवन, ऋतु आदि) तथा गुण (आलम्बन का सौन्दर्य आदि) काम को सर्वथा दुर्निवार बना देते हैं।" और तब—**नास्ति खल्वसाध्यं नाम भगवतो मनोभुवः...न चायं प्रतिकूलयितुं शक्यते**[६४]—"भगवान् कामदेव के लिए कुछ भी दुःसाध्य नहीं...और न इसका विरोध ही किया जा सकता है।" इसकी असह्यता इतनी है कि—**वज्रसारकठिन-हृदयैर्...अपि दुर्विषहाः स्मरेषवः**[६५]—"फौलाद से कठोर हृदय वालों द्वारा भी काम के बाण असह्य हैं।" यह मन और शरीर दोनों पर प्रभाव डालता है—**प्रायेण प्रथमं मदनानलो लज्जां दहति, ततो हृदयम्। आदौ विनयादिकं कुसुमेषुशराः खण्डयन्ति पश्चान्मर्माणि**[६६]--"प्रायः पहले कामाग्नि लज्जा को जलाती है फिर हृदय को। काम-बाण पहले विनय आदि का भंजन करते हैं, फिर अन्तर्मर्म का।" सूक्ष्म और अमूर्त होने के कारण इसका प्रभाव सर्वव्यापी हो जाता है—**योऽयं कामः.. कुतोऽस्य रूपम्? अतनुरेष हुताशनः। न च तद्भूतमेतावति त्रिभुवनेऽस्य शरशरव्यतां यन्न यातं, याति, यास्यति वा।**[६७]—"जो यह काम है इसका रूप कहां? यह तो बिना शरीर की अग्नि है। इतने बड़े संसार में वह नहीं हुआ जो इसके बाणों का लक्ष्य न बना हो, न बनता हो, या न

बने।" अतः मानना ही होगा कि—एवं नामायमतिदुर्विषहवेगो मकरकेतुः[९८]—"इस प्रकार काम-वेग अत्यन्त असहनीय है।"

इन सब सूक्तियों में काम की दुर्धर्ष प्रभविष्णुता और प्रचण्डता का उल्लेख हुआ है। काम से लज्जा और विनय का नाश स्वीकारा गया है। काम की उत्पत्ति प्रेम के समान ही[९९] गुणों से मानी गई है। काम से यौवनावस्था के विशेष सम्बन्ध को भी देखा गया है। इसी स्वर में स्वर मिलाकर भवभूति का कथन है—भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा, विकारि च यौवनम्[१००]—"संसार में काम की आज्ञा घूमती है, और यौवन विकारों वाला है।"

"काम के इस प्रभाव को जड़ पदार्थों में भी देखा जाता है, चेतन जीवों का तो क्या कहना?"—इस प्रभाव को लेकर बाण ने आकर्षण में बंधे हुए अनेक पदार्थों के प्रेम को सूक्ति-बद्ध किया है, यथा—कुमुदिन्यपि दिनकरकरानुरागिणी भवति[१०१]——"कुमुदिनी भी सूर्य की किरणों से अनुरक्त होती है।" इससे यह भी प्रतीत होता है कि स्त्री-पुरुष पर कामजन्य प्रभाव प्राकृतिक है, नैसर्गिक है।

(ग) **बाधाओं पर काम की विजय**—हर भाषा और देश के साहित्य में जहां भी प्रेम का वर्णन हुआ है वहीं उसकी प्राप्ति के मार्ग में बाधाओं की विद्यमानता प्रदर्शित की गई है। किन्तु ये बाधाएं प्रेम को कम कर सकें ऐसी इनकी सामर्थ्य कहां? इनसे तो प्रेम, और विशेषतः प्रेमियों का काम कुछ अधिक ही बढ़ता है। कालिदास स्पष्टतः कहते हैं—

नद्या इव प्रवाहो विषम-शिला-सङ्कट-स्खलितवेगः।
विघ्नित-समागमसुखो मनसिशयः शतगुणीभवति॥[१०२]

—"जिसके समागम सुख में बाधा पड़े ऐसा कामोद्रेक शतगुणा बढ़ जाता है, वैसे ही जैसे कि विषम शिलासमूह से टूटे वेग वाला नदी का प्रवाह।" बाधाओं को पाकर मिलनेच्छा में वृद्धि हो जाना तीव्र काम का स्वाभाविक परिणाम कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त विघ्न-बाधाओं से न डरना और उन पर विजय पाने का विश्वास संजोये रहना कामशक्ति से भी प्रेरित हो सकता है—**संसक्त-नालगत-कण्टक-भीतचेतास्तृष्णार्दितः क इह पुष्करिणीं जहाति?**[१०३]—"कौन तृष्णा का मारा कमलिनी को (श्लेष से, हाथी हथिनी को) इसलिए छोड़ देगा कि उसके साथ लगे कमलनाल के कांटों से उसका दिल डर गया है?" सच है—**न हि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमवेक्षते मतङ्गजः।**[१०४]—"कमलिनी को देखकर हाथी मगर की परवाह नहीं करता।" कवि प्रश्न करता है—**भ्रमरसंबाध इति वसन्तावतारसर्वस्वं किं न चूतप्रसवोऽवतंसितव्यः?**[१०५]—"क्या आम्र-मञ्जरी से कर्णफूल बनाना यह सोचकर छोड़ दिया जाय कि भौंरे टूट पड़ेंगे?" इन तीनों सूक्तियों में अन्योक्ति द्वारा काम के प्रभाववश बाधाओं से न घबराना प्रेमियों का गुण बताया गया है। काव्य और सूक्तियों में अभिसार आदि के प्रसंग[१०६] भी इसी तथ्य के पोषक हैं।

(घ) **काम में अविवेकिता**—कामोद्रेक में मनुष्य को औचित्य और अनौचित्य का ध्यान नहीं रहता, इसलिए भास की यह सूक्ति है—**किं वा न कारयति मन्मथः ?**[१०७] —"काम क्या नहीं करवा देता ?" कालिदास कहते हैं—**कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।**[१०८]—"कामातुर व्यक्ति जड़-चेतन में स्वभाव से ही विवेक-हीन हो जाते हैं। इतना ही नहीं दुष्यन्त के समान उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता कि वे जो क्रिया करना चाहते हैं वह वास्तव में हुई या केवल काल्पनिक मनोजगत् में घटी है—'**चेष्टा प्रतिरुपिका कामिजन-मनोवृत्तिः**[१०९] 'अहो, कामियों की अभिलषित चेष्टाएं उनके मनोव्यापार में प्रतिबिम्बित हो लेती हैं !' वे जो शरीर से करना चाहते हैं, मन ही मन करते रहते हैं। इसलिए शूद्रक द्वारा निर्दिष्ट यह लोक-कथन भी उचित है—(**सुष्ठु खल्वेवमुच्यते) "कामो वामः" इति**[११०]—"काम तो विपरीत होता है।" काम के वश में होकर औचित्य-ज्ञान की अयोग्यता का संकेत माघ ने स्पष्टरूप से किया है—**औचित्यं गणयति को विशेषकामः ?"**[१११]—"विशिष्ट काम से उत्तेजित कौन औचित्य का विवेक कर सकता है ?"

कालिदास कहते हैं—**कामी स्वतां पश्यति**[११२]—'कामुक व्यक्ति अपनत्व देखता है' दूसरे का हर व्यवहार उसे स्वयं से सम्बद्ध प्रतीत होता है। संभवतः इसीलिए—**दुर्लभाभिनिवेशी मदनः**[११३]—"काम दुलर्भ में भी अभिलाषा (और आशा) जगा देता है।" काम का यह प्रभाव काम की तीव्र वशीकरण शक्ति के कारण भी हो सकता है और तज्जन्य अविवेकिता के कारण भी, क्योंकि कामातुर या कामान्ध व्यक्ति प्राप्य-अप्राप्य या उचित-अनुचित पदार्थ में अन्तर नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त कामान्धता के कारण—**न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते**[११४]—"काम-व्यापार निन्दनीयता को नहीं देखता"। यह भी संभव है कि अलभ्य की प्राप्त्याशा प्रेम के कारण हो जाए जैसा कि बाण ने भी माना है।[११५] परन्तु प्रेम में अविवेक की अपेक्षा अपनत्व और अधिकार-भावना से इस आशा का जन्म होता है। काम और प्रेम के इस प्रभाव में यही भेद प्रतीत होता है।

विवेकहीन कामी नवीनता का प्रेमी रहता है। हर्ष के शब्दों में—**कमलिनीबद्धानुरागोऽपि मधुकरः मालतीं प्रेक्ष्य अभिनवरसास्वादलम्पटः कुतस्तामनासाद्य स्थितिं करोति ?**[११६]—"कमलिनी में अनुराग रखने पर भी नये आस्वाद करने में लम्पट भौंरा मालती को देखकर उसे पाए (चखे) बिना कहां रहता है ?" स्पष्ट है कि लम्पट पुरुष एकनिष्ठ नहीं हो सकता। विवाहिता के प्रति प्रेमबद्ध होने पर भी उसे नई नवेली कन्या (रमणी) पर आसक्ति हो जाती है। प्राचीन राजा लोग इस आसक्ति का ऐतिहासिक दृष्टान्त रहे हैं।

कामी की 'नवीनता और परिवर्त्तन की अभिलाषा' के पीछे निहित कारण और लम्पट व्यक्ति का भाव कालिदास ने बताया है—**रमणीयः खलु नवाङ्गनानां मदनविषयावतारः।**[११७]—"नई (मुग्धा) तरुणियों के साथ विषयभोग में उतरना रमणीय है।" यह भावना कामजन्य ही है जो नित-नये आस्वादन के लिए लालायित करती है।

भर्तृहरि ने काम के इस प्रभाव से हर मनुष्य को वशीभूत पाया है—तावन्महत्त्वं पाण्डित्यं, कुलीनत्वं, विवेकिता। यावज्ज्वलति नाङ्गेषु हतः पञ्चेषु-पावकः[११८]—"महत्त्व, पाण्डित्य, कुलीनता, विवेक (आदि गुण) तभी तक रहते हैं जब तक कि इन पांच कर्मेन्द्रियों में दुष्ट कामाग्नि नहीं भड़कती।" कामदाह का आरंभ हुआ कि फिर इसको दबाना कठिन है—कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः।[११९] "काम का दर्पदलन कोई विरला ही कर सकता है।" यह दुष्ट ऐसा है कि सभी को तड़पा कर नष्ट करके ही छोड़ता है।[१२०]

यद्यपि चार पुरुषार्थों में काम की भी गणना की गई है, तथापि भारतीय मनीषियों ने अमर्यादित काम की गर्हणा ही की है, और अश्वघोष ने उन्हीं का प्रतिनिधित्व इस सूक्ति से किया है—"काम से दबे हुए लोग स्वर्ग में भी शान्ति नहीं पाते, मर्त्यलोक की तो क्या बात! तृष्णा वाले की तृप्ति कामों से नहीं हो सकती, जैसे वायुप्रेरित अग्नि की ईन्धन से नहीं।"[१२१] अतः काम में मनुष्य को अतृप्त प्यास देने की भी शक्ति है।

(ङ) काम की अतृप्तता—अश्वघोष ने बताया है कि काम से कभी भी तृप्त नहीं हुआ जा सकता—न कामभोगा हि भवन्ति तृप्तये, हवींषि दीप्तस्य विभावसोरिव[१२२]—"कामोपभोग तृप्ति के लिए नहीं होते वैसे ही जैसे कि आहुतियां प्रदीप्त अग्नि के लिए।" सरिताओं से अतृप्त समुद्र की उपमा भी कवि ने इसी भाव को पुष्ट करने के लिए दी है।[१२३]

काम की तपन या पिपासा धीरे-धीरे बढ़ जाती है, इस विशेषता को हर्ष की यह सूक्ति कह रही है—

तीव्रः स्मरसन्तापो न तथादौ बाधते यथासन्ने।
तपति प्रावृषि नितरामभ्यर्णजलागमो दिवसः॥[१२४]

—"काम की तीव्र वेदना प्रारंभ में उतना नहीं सताती जितना कि (प्रिय मिलन की) समीपता होने पर।" "वर्षाकाल में वह दिन सबसे अधिक तपता है जिस दिन जल बरसना होता है।" प्राकृतिक व्यवहार से कैसा सटीक दृष्टान्त कवि ने प्रयुक्त किया है!

(च) काम का प्रभाव: स्त्री या पुरुष पर—काम की शक्ति स्त्री और पुरुष दोनों में ही प्रभाव उत्पन्न करती है। भास के विचार में—एष खलु भगवान् कामदेव ओघ इवोभयपक्षं पीडयति[१२५]—"यह भगवान् कामदेव निश्चय ही जल-प्रवाह के समान दोनों पक्षों को पीड़ित करता है।" इस सम्बन्ध में कालिदास का यह कथन भी द्रष्टव्य है—ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा कुमुद्वतीं दिवसः।[१२६]—"दिन (का ताप) चन्द्रमा को जितना गलाता है (क्षीण कर देता है) उतना कुमुदिनी को नहीं।" दिन का भाव विरहावस्था लें तो कवि कालिदास के ही विचार से विरोध हो जाएगा क्योंकि वे तो विरह में पुरुष की अपेक्षा स्त्री को अधिक प्रभावित मानते हैं।[१२७] अतः यहाँ भाव यह है कि 'काम की तपन' स्त्री की अपेक्षा पुरुष को अधिक प्रभावित करती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष अपने को अधिक कामपीड़ित समझता है और स्त्री अपने को। इसका कारण यह मानवस्वभाव भी है कि अपनी पीड़ा ही मनुष्य अधिक

समझता है, दूसरे की कम। वास्तविकता यह है कि यद्यपि काम की अनुभूति स्त्री और पुरुष दोनों में होती है, तथापि मनुष्य पर उसका प्रभाव एकदम होता है और स्त्री पर धीरे-धीरे।[१२८] साथ ही पुरुष की अपेक्षा अमेद्यता अधिक होने के कारण नारी सब प्रभाव छुपा जाती है, हालांकि उस पर वे छोटी-छोटी बातें भी प्रभाव डालती हैं जिन पर मनुष्य का ध्यान भी नहीं जाता।[१२९] इस प्रकार काम के द्वारा पुरुष की अपेक्षा अधिक अभिभूत होने पर भी नारी उसे पुरुष की अपेक्षा कम व्यक्त होने देने की विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न है। पर इसका यह अर्थ भी नहीं कि सभी स्त्रियों में यह शक्ति हो। कालिदास ने रामायण का वह प्रसंग चित्रित किया है जिसमें शूर्पणखा राम को चाहने लगती है और सीता के सम्मुख ही उन्हें अपना पति बनाने की इच्छा प्रकट करती है। इस पर कवि का टिप्पण है—**अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः**[१३०]—'नारियों का खूब चढ़ा हुआ कामवेग (उचित-अनुचित) समय को नहीं ज़ान पाता।'

(छ) काम से सौन्दर्योत्पत्ति— धर्म-शास्त्रियों ने जहां काम को कुटिल दृष्टि से देखा है और इसे अरिषड्वर्ग में गिना है, वहां कवियों ने सरल दृष्टि से इस की सौम्यता को देखा है। भास दिखाते हैं कि कामातुरा वसन्तसेना को उसकी चेटी बिना आभूषणों के भी विभूषित समझती है, क्योंकि— **कामो हि भगवान् अनवगीत उत्सवस्तरुणजनस्य।**[१३१] —"भगवान् काम तो युवकों का अनिन्दनीय शोभाकारक (आह्लाद या अभिलाष) है।" शूद्रक ने इसमें यह परिवर्तन और किया है—**कामः खलु नामैष भगवान-(भगवता-) नुगृहीतो महोत्सवस्तरुणजनस्य।**[१३२]—"यह भगवान काम तो युवकों का विशेष प्रिय[१३३] (या शिवजी द्वारा स्वीकृत) महान् आह्लाद (या अभिलाषा) है।" अतः काम ऐसा आभूषण है जो युवकों को अपने अस्तित्व-मात्र से सजा देता है। यहां 'तरुण' शब्द से यह भी ध्वनि निकलती है कि यौवन में ही काम अच्छा लगता है, अवस्था-विपर्यय में नहीं।

भारवि ने काम द्वारा विभूषित देवाङ्गनाओं का वर्णन करते हुए स्वीकार किया है — **प्रभवति मण्डयितुं वधूरनङ्गः।**[१३४]—"वधु को आभूषित करने में काम समर्थ है।" इस प्रकार काम के प्रभाव से तरुण जन विभूषित हो जाते हैं। काम-भावना के उत्पन्न होने पर शरीर में मद आदि के जो चिह्न प्रकट होते हैं वे सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में आकर्षक हों या न हों परन्तु प्रियजन को अवश्य आकृष्ट करते हैं और सौन्दर्यानुभूति भी तो आकर्षणजन्य ही है।

(ज) काम में स्पर्श और सान्निध्य— प्रिय का स्पर्श सामान्यतः आह्लादक होता है। कालिदास ने दिखाया है कि अदृश्य उर्वशी का स्पर्शमात्र ही पुरुरवा को उसका भान करा कर मुदित कर देता है। कारण—**नोच्छ्वसति तपनकिरणैश्चन्द्रस्यैवांशुभिः कुमुदम्।**[१३५]—सूर्य की किरणों से नहीं, चन्द्रमा की रश्मियों से ही कुमुद खिलता है।" काम-प्रसंग में तो स्पर्शानुभूति का विशेष स्थान है। इसके महत्त्व को मनोवैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है। हैवलाक ऐलिस कहता है कि "कामक्षोभ स्पर्श-अनुभूतियों के विशेष संयोजन और प्रगाढीकरण (या केन्द्रीकरण) पर निर्भर है, अतः स्पर्शेन्द्रिय को काम-भावनाओं के संदर्भ में प्रायः प्रथम स्थान पर मानना होगा।"[१३६]

शरीर का एक कोमल और स्पर्श शक्ति से भरपूर अंग है—अधर। कामव्यापार में प्रिय के अधरों का स्पर्श विशेष स्थान रखता है। श्रृंगार-वर्णनों में प्रायः ही अधर-पान का वर्णन आया है। कवि भर्तृहरि की दृष्टि में ऐसा प्रसंग जिस किसी के जीवन में नहीं आ जाता—**अधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिवन्ति**[137]—"भाग्यशालीजन ही नारियों (या पत्नियों) के अधरमधु का पान करते हैं।" वैराग्योन्मुख भर्तृहरि भी कामज स्पर्श की इतनी प्रशंसा करते हैं, इसी से काम की शक्ति के साथ-साथ उसमें स्पर्श की प्रमुखता का भान होता है।

प्रेमिजनों में पारस्परिक सान्निध्य की अनिवार्यता को ध्यान में रखकर कवि हर्ष, नायक को प्राप्त करने में संदेह करने वाली नायिका को उसकी चेटी से आश्वासन दिलवाते हैं—**किं मधुमथनो वक्षःस्थलेन लक्ष्मीमनुद्वहन् निर्वृतो भवति ?**[138]—"लक्ष्मी को अपने वक्ष पर वहन किए विना क्या विष्णु[139] प्रसन्न हो सकते हैं ?" अर्थात् प्रेमिका के शारीरिक सान्निध्य के विना प्रेमी संतुष्ट नहीं हो सकता।

(ऋ) काम और रमण—नैतिक आदर्शों के नाम पर आज जिस विषय को हम अत्यन्त गोपनीय मानने लगे हैं, उसका वर्णन तो संस्कृत साहित्य में मिलता ही है, (उदाहरण के लिए कुमारसंभव, दशकुमारचरित, किरात०, शिशु० आदि में), सूक्तियां भी उससे अछूती नहीं रही हैं। कालिदास की मान्यता है कि काम-केलियों में रमणियों पर ही पुरुषों को निर्भर रहना पड़ता है, उनकी मनोनुकूलता देखनी पड़ती है। अतः—**प्रभुता रमणेषु योषितां न हि भावस्खलितान्यपेक्षते**[140]—रमणों में स्त्रियों के प्रभुत्व को प्रेमभाव में स्खलन की अपेक्षा नहीं है।"[141] अर्थात् पुरुष पर स्त्रियों का अधिकार रमण में स्वतःसिद्ध है। उसे जतलाने के लिए क्रोध करने या प्रेमभाव को कम दिखाने की आवश्यकता नहीं है। रमण में प्रभुता का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि नारी की इच्छा पर ही यह विषय आधारित है, यद्यपि यह भी ध्वनित होता है कि रमण के समय पुरुष नारी के वश में होता है, और वह उसको अपने इच्छानुकूल कर्म में लगा सकती है। वाणभट्ट भी सुरत में नारी की अनुमति आवश्यक मानते हैं। कादम्बरी की विरह-व्यथा और मदनावस्था सुनकर चन्द्रापीड 'देवी कादम्बरी की आज्ञा' को ही दोषी ठहराता है, अन्यथा (आज्ञा मिलने पर) वह उन्हें यह दशा अनुभव न होने देता। कारण—**नितरां पक्षपातिनोऽपि च मधुकरस्याभिगमनमेवाधीनम् मकरन्दलाभे तु कलिकाश्रयिणी जृम्भैव प्रभवति।**[142]—"अत्यधिक चाहने वाले (प्रेमी) भ्रमर के वश में भी केवल सम्मुख जाना ही है, मकरन्द-प्राप्ति पर तो कलिका के अधीन उसकी जम्हाई (कली के खिलने) का ही अधिकार है।"

यदि रमणी रमणार्थ उद्यत न हो तो पुरुष का व्यवहार कैसा हो ? मृच्छकटिक में वसन्तसेना के प्रति शकार के व्यवहार से इस प्रश्न का उत्तर मिलता है। अरण्य में वसन्तसेना द्वारा प्रत्याख्यान कर देने पर भी शकार को हठ करते देख विट सोचता है—

'स्त्रीभिर्विमानितानां कापुरुषाणां विवर्धते मदनः।
सत्पुरुषस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति।।[143]

—"स्त्रियों द्वारा अपमानित होने पर दुर्जनों का काम और भड़कता है, जबकि सज्जन का या तो घट जाता है या समाप्त हो जाता है।" इस प्रकार काम की इस चरम परिणति में संयम की अत्यन्त आवश्यकता है, अन्यथा रस-क्षीणता के अतिरिक्त मानहानि भी है, और असंयत व्यवहार सामाजिक दृष्टि से अपराध भी है ही।

निम्न दो सूक्तियां काम-क्रीड़ा में रमण के प्रति व्यक्ति का और वह भी पुरुष का विशेष औत्सुक्य दिखाती हैं—ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।[१४४] तथा त्वरयति रन्तुमहो जनं मनोभूः।[१४५]—"जो आस्वाद से परिचित है, ऐसा कौन विवृत-जघना रमणी को त्याग सकता है?" और 'अहो, काम व्यक्ति को रमणार्थ शीघ्र प्रेरित करता है!'

वाणभट्ट का विचार है कि काम स्वयं ही व्यक्ति को कामकेलि-विषयक शिक्षा दे देता है।[१४६] कोई काम से कितना भी अनभिज्ञ क्यों न हो, उसे किसी अन्य से सीखने की आवश्यकता नहीं।

भारवि मानते हैं कि—सौकुमार्यगुणसंभृतकीर्त्तिर् वाम एव सुरतेष्वपि कामः[१४७] —"सुकुमारता के गुण से जिसका यश पुष्ट हुआ है वह काम सुरतों में भी वाम ही रहता है।" काम की वामता सुरतों में मानने का अर्थ, जैसा कि प्रसंग से प्रतीत होता है, शारीरिक कष्ट दन्तक्षत, नखक्षत आदि से है। 'अपि' शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि सामान्यतया भी काम वाम ही है,[१४८] इसमें कष्ट ही कष्ट हैं। कामप्राप्ति के मार्ग में जो अनेक बाधाएं, विरोध बन्धन और विरह आदि के कष्ट तथा मदनदाह आदि ताप हैं उन सबकी ओर भी कवि का संकेत हो सकता है।

(ञ) काम और एकान्त (विविक्तता)—कहते हैं कि 'काम' छुपाए नहीं छुपता। काम के इस अनावरण का कारण यह प्रतीत होता है कि जब काम मनुष्य को अभिभूत करता है तब उसका अपने मन, शरीर और शारीरिक क्रियाओं पर कोई अधिकार नहीं रहता। इसलिए कवि कालिदास का सुझाव है कि कामी एकान्त सेवन करें। —विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति।[१४९]—"उत्सुक (काम के प्रभाव से उत्तेजित) मनुष्य की शरण एकान्त के अतिरिक्त कोई नहीं।" जहां कालिदास ने एकान्त को काम से पीड़ित किसी एकाकी व्यक्ति का आश्रय बताया है, वहां कवि शूद्रक ने एकान्त के ही सहारे काम के पूर्ण आनन्द की अनुभूति मानी है—विविक्तविश्रम्भरसो हि कामः[१५०]— "काम की रसानुभूति एकान्तजन्य विश्वास (आश्वस्तता) पर आधारित है।"

ऊपर की सूक्तियों में चाहे उर्वशी के लिए उत्सुक राजा एकान्त खोज रहा हो, चाहे शकार पर वसन्तसेना का अनुराग उत्पन्न करने की इच्छा से उन्हें विट एकान्त में छोड़ जाता हो, एकान्त (विविक्तता) और काम का घनिष्ट सम्बन्ध प्रतीत होता है। कहा जा सकता है कि जहां एकान्त में कामी आश्वस्त अनुभव करता है वहां एकान्त के फलस्वरूप ही युगल को कामरस की उपलब्धि होती है।

(ट) काम के उद्दीपन—काम को उद्दीप्त करने में किसी उद्दीपन-विशेष का ही हाथ हो यह बात नहीं है, क्योंकि—सङ्कल्पमानो हि विजृम्भते मदनः[१५१] निश्चय या संकल्प

करते-करते काम जम्हाई लेने लगता है।" भाव यह कि सोचने भर की देर होती है कि काम का प्रभाव मनुष्य पर छा जाता है।

फिर भी काम के उद्दीपक अनेक पदार्थ आचार्यों ने गिनाये हैं। उनमें से कुछेक निम्न सूक्तियों में प्रभावशाली दिखाये गये हैं—

प्राकृतिक सुषमा—

निरीक्षमाणस्य जलं सपद्मं वनं च फुल्लं परपुष्टजुष्टम्।
कस्यास्ति धैर्यं नवयौवनस्य मासे मधौ धर्मसपत्नभूते ॥[१५२]

—"पद्मयुक्त जल, कोकिलों से परिपूर्ण और विकसित उपवन देखकर मधुमास में किस नवयुवक को धैर्य हो सकता है?"

मेघ—

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः।
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे!॥[१५३]

—"मेघ को देखकर सुखी व्यक्ति के भी चित्त की वृत्ति और सी हो जाती है, फिर कण्ठालिंगन द्वारा प्रणय (व्यक्त) करने वाले व्यक्ति के दूर रहने पर तो क्या कहना!"

मलयवायु —

अनिमित्तोत्कण्ठामपि जनयति मनसो मलयवातः।[१५४]

—"मलयवायु तो मनकी उत्कण्ठा को अकारण ही जगा देती है।"

चन्द्रिका—

कुम्भीलकैः कामुकैश्च परिहरणीया खलु चन्द्रिका॥[१५५]

—"चोरों और कामिजनों को चांदनी का परिहार करना चाहिए।"

मधुमास—

तुदति कुसुममासो मन्मथोद्वेजनाय,[१५६] मधौ भवेत् कस्य नोत्कण्ठा?[१५७]
इह प्रथमं मधुमासो जनस्य हृदयानि करोति मृदुलानि।
पश्चाद्विध्यति कामो लब्धप्रसरैः कुसुमबाणैः॥[१५८]

—"कामोद्दीपन के लिए वसन्त का महीना उत्तेजित करता है।" "मधु (चैत) मास में किसे उत्कण्ठा नहीं होगी?" "यहां पहले तो मधुमास मनुष्य के हृदय को मृदुल कर देता है, तत्पश्चात् काम अपने ऐसे बाणों से जिन्हें कि अवसर मिल गया है, उसे बींध डालता है।"

वर्षाकाल —

विगतरागगुणोऽपि जनो न कश्चलति वाति पयोदनभस्वति?[१५९]

—"मेघ वायु के बहने पर कौन वैरागी व्यक्ति भी चंचल नहीं हो उठता?"

प्रिय-स्पर्श—

लब्धस्पर्शानां भवति कुतोऽथवा व्यवस्था?[१६०]

—"स्पर्श पा लेने वालों को व्यवस्था (मर्यादा) का ज्ञान कहां रहता है?"

इन सूक्तियों में काम के जो उद्दीपन दिखलाए गये हैं उनके पीछे अनेक भावनाएं हो सकती हैं, जिनमें कथा का संदर्भ, कवि-परम्परा और कवि की व्यक्तिगत दृष्टि प्रमुख प्रतीत होती है। यह भी सम्भव है कि इनमें प्रकृतिगत विशिष्टता की ओर भी कवि का ध्यान रहा हो। उदाहरणार्थ प्राकृतिक तथ्य के आधार पर ही कालिदास ने अन्य ऋतुओं की अपेक्षा वसन्त ऋतु को ही चरम और सुन्दरतम ऋतु के रूप में चित्रित किया है, तथा उसकी विशेष महिमा को स्वीकारा है—सर्वं प्रिये, चारुतरं वसन्ते[१६१] तथा—ददाति सौभाग्यमयं वसन्तः[१६२]—"प्रिये, वसन्त में सबकुछ अधिक सुन्दर होता है," और—"यह वसन्त सौभाग्य का देने वाला होता है।"

८. प्रेम में व्यवहार

प्रेम-बंधन में बंधे प्रेमी-प्रेमिका का पारस्परिक व्यवहार मुख्यतया प्रेम के स्वरूप पर निर्भर करता है। गत अनुच्छेदों की सूक्तियों में प्रेम के विवेचन के आधार पर भी प्रेम में अभीष्ट व्यवहार की कल्पना की जा सकता है, जिसे इस अनुच्छेद की सूक्तियों के परिप्रेक्ष्य में पुष्ट रूप दिया जा सकता है।

(क) **प्रेम-भंग असह्य**—प्रेमी-प्रेमिका अन्योन्य की भावनाओं का ध्यान रख कर ही एक दूसरे को ठेस न लगने देने का हर सम्भव यत्न करते हैं। स्वभावतः, अपने प्रियजन से विरुद्ध आचरण की आशा नहीं की जाती, और इसलिए जब किसी अवसर पर यह आशा भंग हो जाए तो प्रेमी के लिए विशेष कष्टकर होती है। कालिदास के अनुसार—दूरारूढः खलु प्रणयोऽसहनः[१६३]—"बहुत दूर तक पहुंचा हुआ प्रणय असहनशील होता है।" इसी प्रकार हर्ष का स्पष्ट कथन है—**प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितम् अविषह्यं हि भवति**[१६४]—"प्रकृष्ट (आगे तक बढ़ाये हुए, ऊंचे) प्रेम का स्खलन (तोड़ना) असह्य हो जाता है।"

(ख) **प्रेम में एकनिष्ठता**—मर्यादित प्रेम को ही आदर्श माना गया है, इसलिए प्रेम में एकनिष्ठता प्रशंसनीय है, और तदर्थ, शूद्रक के अनुसार प्रेम के आलम्बन का यथायोग्य होना अपेक्षित है—(सुचरितचरितं विशुद्धदेहं) न हि कमलं मधुपाः परित्यजन्ति[१६५]—"(सुन्दर चरित्र से युक्त, स्वच्छ देह वाले) कमल को भौंरे छोड़ा नहीं करते।"[१६६] इस सूक्ति से और इसके प्रसंग से[१६७] प्रेमी का यह व्यवहार व्यंजित होता है कि वह अपने प्रिय को गुणवान् और योग्य होने पर नहीं छोड़ा करता।

चारुदत्त अपनी पत्नी के होते हुए भी वसन्तसेना की अभिलाषा जानकर उसे स्वीकारने के लिए उद्यत हो जाता है। इससे प्रेम की निष्ठा का भंग उस समाज में नहीं माना जाएगा जिसमें पुरुष को बहु-विवाह की अनुमति हो, और उसका अपनी पत्नियों में केवल अनुरक्त रहना एक-निष्ठता का प्रतीक हो। एक स्त्री के एक ही पति की जहां प्रथा हो वहां स्त्री का एक के अतिरिक्त अन्य पुरुष पर आसक्त न होना ही आदर्श माना जाएगा। इस सूक्ति द्वारा वसन्तसेना इसी आदर्श को पालने में तत्पर दिखाई देती है।

अतः यहां सामाजिक दशा के अनुरूप शूद्रक द्वारा एकनिष्ठा की ही भावना परिपुष्ट हुई है, इसमें सन्देह नहीं।

(ग) प्रिय की चिन्ता—प्रिय की सुरक्षा के विषय में प्रेमी की चिन्ता बनी रहती है। सदा उसका हित सोचते रहने के कारण पदे-पदे वह भय देखा करता है, शंकालु हो उठता है। कालिदास कहते हैं—**अतिस्नेहः पापशङ्की**[१६८]—"अत्यधिक स्नेह पाप (अहित) की आशंका किया करता है।" और हर्ष के अनुसार—**स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धे पापं विशङ्क्यते स्नेहात्**[१६९]—"अपने घर के आंगन में रहने पर भी अपने प्रियजन के विषय में स्नेहवश बुराई की आशंका की जाती है।" भारवि भी यही मानते हैं—**प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि**[१७०]—"प्रेम अस्थान में भी भय ही देखता है।" प्रिय के प्रति हितभावना, उसकी सुरक्षा की चिन्ता और तज्जन्य आशंकाएं तथा भय आदि को प्रणय, वात्सल्य, मैत्री आदि सभी प्रेम-सम्बन्धों की विशेषता के रूप में समझा जा सकता है।

(घ) प्रेम में अविवेक—शूद्रक कहते है—**न कालमपेक्षते स्नेहः**[१७१]—"स्नेह समय को नहीं देखता।" यह सूक्ति दर्शाती है कि जब प्रणय का घेरा अत्यन्त सुदृढ हो जाता है और प्रेमी विश्वस्त हो जाता है कि उसे नहीं तोड़ा जा सकता, तब वह अपने क्रिया-कलाप और व्यवहार के प्रति धीरे-धीरे असावधान होता जाता है, और फलस्वरूप 'न तो अवसर का ही और न समय का ही ध्यान रख पाता है।'

(ङ) प्रेम में अभिलाषाएं—प्रणय के प्रतिदान-रूप में जब तक प्रिय का प्रेम प्राप्त नहीं होता, एकपक्षीय प्रेम अपूर्ण रहता है। और जब प्रेम उभयस्थ हो जाता है तब एक दूसरे पर अनेक अधिकार बढ़ते जाते हैं, अनेक अभिलाषाएं एक दूसरे के द्वारा पूरणीय समझी जाने लगती हैं। तब बाण के अनुसार—**प्रणयप्रदानदुर्ललिता दुर्लभमपि मनोरथमतिप्रीतिरभिलषति**[१७२]—"प्रणय के (आदान-) प्रदान से परिपुष्ट प्रीति का आधिक्य दुर्लभ अभीष्ट को भी चाहने लगता है।" प्रीति के परिणामस्वरूप ही नहीं प्रीति के आरम्भ में भी दुर्लभ-प्राप्ति की आशा रहती है। भवभूति की—"अपने भारी अनुराग के अनुरूप श्रेष्ठ प्रिय से समागम श्लाघ्य है, और यह सब लोगों की दुर्लभ-प्राप्ति की इच्छा का फल भी है"[१७३]—यह सूक्ति इसी तथ्य की ओर संकेत कर रही है।

(च) स्त्री द्वारा प्रेम-प्रकाशन—लज्जा नारी का प्रमुख गुण है। यही कारण है कि वह अपने मनोभावों को, और विशेषतः प्रेम-विषयक भावनाओं को छुपाया करती है। बाण बताते हैं—**क्रमागतमन्तर्धानं वामलोचनानाम्**[१७४]—"मनोभाव छुपाना नारी जाति की परम्परा है।" कवि के निरीक्षण से यह भी प्रकट होता है कि जब नारी बाल्य-काल और यौवन की संधि-अवस्था में होती है और जब उसमें काम का अंकुरणमात्र हुआ रहता है, तब वह विशेषरूप से प्रेम आदि का प्रकाशन नहीं कर पाती।[१७५] यदि नारी प्रेम को प्रकट करने की स्थिति में होती है तो उसके प्रेमप्रकाशन का ढंग भी पुरुष से भिन्न होता है। कालिदास ने इस भिन्नता को देखा है। तदनुसार स्त्री अपने प्रेम का प्रदर्शन स्पष्ट शब्दों द्वारा न करके अपने हाव-भाव द्वारा करती है—**स्त्रीणामाद्यं प्रणय-**

वचनं विभ्रमो हि प्रियेषु[176]—"स्त्रियों का विभ्रम (केलिपूर्ण चेष्टाएं)[177] वस्तुत: प्रियों के प्रति उनका प्रारम्भिक प्रणय-निवेदन ही होता है।" यह विभ्रम किस प्रकार का होता है इसका कुछ स्पष्टीकरण कवि ने इसी श्लोक में कर दिया है, यथा करधनी आदि आभूषणों की ध्वनि तथा नाभि आदि अंगों का प्रदर्शन।

६. सौन्दर्य

(क) प्रेम से सौन्दर्य की वृद्धि और सार्थकता—प्रेम और सौन्दर्य का संबंध बताते हुए ऊपर कहा गया है कि दोनों का आपस में गहरा सम्बन्ध है।[178] सौन्दर्य-संबंधी सूक्तियों से इस सम्बन्ध पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है। प्रिय के सान्निध्य से प्रभावित होकर व्यक्ति का सौन्दर्य उत्कृष्टतर हो उठता है, ऐसी भावना अनेक सूक्तियों से पुष्ट होती है। कालिदास के कुछ दृष्टान्त हैं—

> 'अतिमात्रभासुरत्वं पुष्यति भानोः परिग्रहादनलः।'
> अधिगच्छति महिमानं चन्द्रोऽपि निशापरिगृहीतः॥[179]
> रोहिणीसंयोगेनाधिकं शोभते भगवान् मृगलाञ्छनः।[180]

—"सूर्य के परिणय के प्रभाव से अग्नि चमक धारण करता है (उद्दीप्त हो उठता है)।" "निशा के परिणय से चन्द्रमा भी बड़प्पन पा लेता है।" "भगवान् चन्द्रमा रोहिणी से संयुक्त होकर सुशोभित होता है।" मिलन में ही प्रेमी की शोभा होती है—इस भाव को व्यंजित करने के लिए हर्ष ने भी विट को अपनी प्रेमिका के विरह में स्वयं से असंतुष्ट दिखाया है—**कीदृशो नवमालिकया विना शेखरकः?**[181]—"मालती (या माधवी) लता के बिना कैसा मुकुटहार?" अत: प्रेम से सौन्दर्य समृद्धतर होता है।

कालिदास तो सौन्दर्य को तभी सार्थक मानते हैं जब वह प्रिय को आकृष्ट करे—**प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता**[182]—"सौन्दर्य तभी सफल है जब प्रिय को सुभग प्रतीत हो। (या रुचे)"।[183] अतः यदि चारुता प्रिय को रुचिकर नहीं है तो व्यर्थ है। इसी प्रकार स्त्रियों द्वारा स्वयं को अलंकृत करना चाहे उनके स्वभाववश भी हो, फिर भी उस अलंकरण का परिपाक प्रिय को प्रसन्न करके ही हो सकता है—**स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः**[184]—"स्त्रियों के प्रसाधन का फल (—प्रयोजन) यही है कि उनका प्रिय उन्हें देख ले।" इसलिए सौन्दर्य को सफल, सम्पन्न और सार्थक करने में प्रेम ही समर्थ है।

(ख) ममत्व और सौन्दर्य—कालिदास की एक सूक्ति से झलकता है कि सौन्दर्य का ममत्व से भी सम्बन्ध है—**सर्वः कान्तमात्मीयं पश्यति**[185]—"सभी अपने व्यक्ति को सुन्दर देखते-समझते हैं।" इससे यह प्रतीत होता है कि कोई द्रष्टा जिस वस्तु को अपना समझ लेता है उसे सुन्दर भी मान लेता है।

(ग) सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठ विशेषताएं—प्रेम व ममत्व आदि से प्रभावित होने पर भी सौन्दर्य की उत्पत्ति किसी में केवल दर्शक की दृष्टि पर ही आधारित रहे, ऐसी मान्यता संस्कृत-कवियों की नहीं है। सूक्तियों में ऐसा विश्वास भी व्यक्त हुआ है जो

सौन्दर्य को केवल प्रिय के लिए ही नहीं सामान्य सहृदय द्रष्टा के लिए भी प्रभावशाली बताता है। इसी भाव को मन में रखकर प्रायः सभी कवियों ने सौन्दर्य या सुन्दर वस्तु के स्वरूप के प्रति कुछ विचार सूक्ति रूप में प्रकट किये हैं। उन्हें सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठ विशेषताएं कहा जाए तो उचित ही होगा।

(i) **सौन्दर्य की सर्वशोभनीयता**—भास ने कहा है—**सर्वशोभनीयं सुरूपं नाम**[१८६]—"सुन्दररूप वह है जो (सबको, या) सब भांति शोभनीय लगे।" यह सूक्ति तब कही गई है जब सीता वल्कल-वस्त्रों को अपने शरीर पर फबता देखना चाहती है। और इसलिए इस प्रसंग में 'सर्वशोभनीय' पद का अर्थ होगा—"सब अवस्थाओं या सब परिवेशों में शोभायुक्त"। किन्तु व्यवहार में यदि "सर्वेभ्यः शोभनीयः"—ऐसा विग्रह करते हुए—"सबके लिए नयनाभिराम" यह अर्थ भी लिया जाय तो सौन्दर्य को वस्तु-निष्ठ माननेवाली कवि की भावना का हनन न होगा। जैसाकि अन्यत्र 'स्वप्न-वासव-दत्तम्' में वे स्पष्ट कहते हैं—**सर्वजन-मनोभिरामं सौभाग्यं नाम**।[१८७]

कालिदास भी सौन्दर्य की सुन्दरता सब परिस्थितियों में बनी रहने वाली मानते हैं—(अहो,) **सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभां पुष्यति**[१८८]—"(ओहो,) सौन्दर्य सभी अवस्थाओं में शोभा बढ़ाता है।" या—**सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वम् आकृतिविशेषाणाम्**[१८९]—"कुछ विशेष आकृतियों का रमणीयत्व सभी अवस्थाओं में बना रहता है।"

(ii) **सौन्दर्य और अलंकार**—संस्कृत-कवियों के अनुसार सौन्दर्य अलंकार-जन्य नहीं है, अपितु सच्चे सौन्दर्य पर हर सजावट स्वयं अच्छी लगती है—**सर्वमलङ्कारो भवति सुरूपाणाम्**[१९०]—"सुरूपों को हर वस्तु अलंकार हो जाती है।" सौन्दर्य की इस विशेषता को कालिदास ने भी अनेक सूक्तियों द्वारा प्रकट किया है। तपस्वियों के वेश में पार्वती के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए वे बताते हैं कि उसका मुख संयत केश-राशि में जितना सुन्दर लगता था उतना ही जटाएं रखने पर भी सुशोभित हुआ। देखिए न—**न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते**[१९१]—"कमल केवल भ्रमर-पंक्तियों के बीच ही नहीं सिवार के साथ भी प्रकाशित होता है।" यह उपमा कवि को इतनी प्रिय है कि जब वल्कल में भी लिपटा हुआ शकुन्तला का सौन्दर्य राजा को प्रभावित कर गया तो वह कह उठा—

> **'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्।'**
> **मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।......**
> **किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥**[१९२]

—"सिवार से भी बिंधा हुआ कमल सुन्दर होता है।" "कलंकयुक्त होने पर भी चन्द्र-मण्डल चन्द्रिका विस्तृत करता है।" "कौन सी वस्तु मधुर आकृतिवालों की सजावट नहीं बन जाती?"

जब इस प्रकार अवस्थाओं का विरोध भी सुन्दर के सौन्दर्य को घटाने में असमर्थ है तो निस्सन्देह उसे किसी अलंकार की वांछा नहीं। अतः भारवि का यह कथन भी उचित ही है—**न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्**[१९३]—"रमणीय को आहार्य गुण की अपेक्षा

नहीं।" सुन्दरता आभूषणों आदि से लादी नहीं जा सकती। नीलाभ आकाश अभ्ररहित होने पर भी सुहाता है। अंग्रेजी की कहावत भी तो प्रसिद्ध है—'Beauty needs no ornaments.'

जब आभूषणों से सुन्दर नहीं बना जा सकता तो उनकी क्या आवश्यकता? भास के मन में ऐसा प्रश्न उठा होगा, अतः वे पूछते हैं—**ननु पुष्पमपि वास्यते?**[१६४]—"कहीं फूल भी गन्धयुक्त किया जाता है?" अर्थात् सौन्दर्य ऊपर से नहीं थोपा जा सकता। तो फिर सुन्दर अलंकरण क्यों? इस प्रश्न का उत्तर भी भास ने ही दिया है—**स्वभाव-रमणीयानि मण्डितान्यतिरमणीयानि भवन्ति**[१६५]—"स्वभाव-सुन्दर जन अलंकृत होने पर अधिक रमणीय हो जाते हैं।" अलंकरण की इस उपयोगिता को कालिदास ने भी स्वीकारा है—**प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम्?**[१६६]—"मोती पहले ही नयनाभिराम होते हैं, यदि किरणें बिखेरने वाले पन्ने के साथ मिल जाएं तो क्या कहना?" इस प्रकार सजावट को सुन्दरता का निखारने वाला तो कहा गया है, किंतु उसके बिना भी सौन्दर्य प्रकाशित रहता है, और वह किसी भी अवस्था में छुप नहीं सकता यह भी सबने स्वीकारा है। इससे सौन्दर्य की नैसर्गिकता, सहज स्वाभाविकता ही प्रकट होती है।

(iii) सौन्दर्य और विकार—भारवि की मान्यता है कि—**रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति**[१६७]—"रम्यों का विकार भी शोभा बढ़ाता है।" इसका कारण है। रम्य के अन्य गुण उसके एकाध विकार को उभरने ही नहीं देते।[१६८]

(iv) सौन्दर्य और कुलीनता—कुछ कवि मानते हैं कि व्यक्तिगत सौन्दर्य पर व्यक्ति की कुलीनता का भी प्रभाव पड़ता है। शकुन्तला की सुन्दरता से मोहित राजा उसे सामान्य कुल की सोचने के लिए तैयार नहीं।[१६९] इसी प्रकार नायिका को राजा विश्वावसु की दुहिता जानकर नागानन्द का नायक कह उठता है—**रत्नाकरादृते कुतश्चन्द्रलेखायाः प्रसूतिः?**[२००]—"चन्द्रकला का जन्म रत्नों की खान (समुद्र) के अतिरिक्त और कहां से हो सकता है?" इस प्रकार (वर्ण-व्यवस्था के फलस्वरूप) कुलीन को सुन्दरतर मानने की तत्कालीन धारणा रही होगी।

(v) सौन्दर्य और नवीनता—कवि-माघ ने सुन्दर की मुख्य विशेषता उसकी चिरनवीनता में मानी है—**क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः**[२०१]—"प्रतिपल जो नवीनता को प्राप्त करता है वही सौन्दर्य का स्वरूप है।" यह सूक्ति सौन्दर्य की आकर्षक शक्ति की ओर इंगित कर रही है। नवीनता आकर्षक होती है। सौन्दर्य पुराना हो जाने पर भी नये के समान ही प्रभावोत्पादक होता है। उसका आकर्षण मन्द नहीं होता, पुराना नहीं पड़ता, यही उसकी चिर-नवीनता है।

(vi) सौन्दर्य और सुकुमारता—सुन्दर वस्तु में, विशेषतया मानवीय सौन्दर्य की आधारभूता नारी में सुकुमारता सौन्दर्य की सहचारिणी है। कालिदास ने सुकुमारता को विशेष महत्त्व दिया है। शकुन्तला और पार्वती-सी सुकुमार नायिकाओं की सृष्टि करके और फिर उन्हें तपस्या में रत करके मानों कवि स्वयं मर्माहत हो गया है। संभवतः

इसके प्रतिकारार्थ पार्वती को तपस्या से विरत कराने के प्रयास में मेना से कहलवाया है—**पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः**[२०२]—"कोमल शिरीष का पुष्प भ्रमर का पदाघात तो सह ले, पर पक्षी का नहीं।" कठोर तपस्या को सुकुमार पार्वती ने कैसे सहा होगा।

सुकुमार के प्रति व्यवहार भी सुकुमारतापूर्वककरना पड़ता है—**को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति ?**[२०३]—"कौन भला गरम जल से नई मालिका (लता) को सींचेगा ?" इस प्रकार सुकुमार पर सभी की कृपादृष्टि हो जाती है। उसकी पीड़ा में सभी सहानुभूति करने वाले होते हैं। वसन्तसेना के इस प्रश्न पर कि—"मेरा शरीर चाहिए या आभूषण ?" विट कहता है—**न पुष्पमोक्षणमर्हति लता**[२०४]—"लता से पुष्प तोड़ना उचित नहीं।" मृच्छकटिक में यही वाक्य इस प्रकार है—**न पुष्पमोषमर्हत्युद्यानलता**[२०५]—"उद्यान की लता से फूल चुराना ठीक नहीं।" सुकुमार और सौन्दर्य की प्रतीक नारी के शरीर से अलंकारों के अपहरण जैसा कठोर कृत्य करने के लिए शकार और उसका विट भी तैयार नहीं होते। कठोरता से बचने के अतिरिक्त सुन्दर का अपमान करने का भाव भी इसमें निहित है। इस प्रकार सुकुमारता के कारण सौन्दर्य मृदु व्यवहार के योग्य है। भवभूति इसका समर्थन इन शब्दों से करते हैं—**नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा मूर्ध्नि स्थितिर्न (मुसलैर्बत कुट्टनानि) चरणैरवताडनानि**[२०६]—"सुरभित पुष्प की स्थिति तो स्वाभाविक रूप से सिर पर है, न कि उसे (मूसलों से कूटना या) चरणों से रौन्दना।"

(vii) **सौन्दर्य और काम**—सौन्दर्य और काम के सम्मिश्रण से चारुता की समृद्धि का चित्रांकन भी भवभूति ने किया है—**रमणीयजन्मनि जने परिभ्रमंल्ललितो विधिर्विजयते हि मान्मथः**[२०७]—"सहज-सौन्दर्यशाली व्यक्ति में घूमता हुआ काम का लावण्यमय विलास उत्कृष्ट होता है।" तात्पर्य यह है कि सुन्दर व्यक्ति का कामोद्रेक अधिक सुन्दर लगता है।[२०८]

(viii) **सौन्दर्य और यौवन**—भारवि के अनुसार यौवन की शोभा स्वयं में मनोहारिणी है--**हरति मनो मधुरा हि यौवनश्रीः**[२०९]। अतः स्वस्थ यौवन सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक होता है। यह तथ्य भी सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठ विशेषता का परिचायक है।

(ix) **सौन्दर्य और पाप**—कालिदास मानते हैं कि नैसर्गिक सौन्दर्य पाप में प्रवृत्त नहीं हुआ करता। पार्वती की तपस्या के कारण की उद्भावना करते हुए ब्रह्मचारी (शिव) यह सोचने के लिए उद्यत नहीं हैं कि पार्वती जैसी रूपशीलसम्पन्न स्त्री कभी पापनिवृत्त्यर्थ भी तपस्या कर सकती है। कारण, यह जो कहा जाता है कि—**पापवृत्तये न रूपम्**[२१०]—"रूप पाप-व्यवहार के लिए नहीं (हुआ करता)," यह गलत नहीं है। किन्तु व्यावहारिक और यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो यह पूर्ण सत्य नहीं है। एक प्रसिद्ध अंग्रेजी कहावत भी है--"चेहरे प्रायः धोखा देते हैं।"[२११] ऐसी ही दृष्टि से देखते हुए चाणक्य का चर यह श्लिष्ट पद कहता है—

कमलानां मनोहराणां रूपाद् विसंवदति शीलम्।
सम्पूर्ण-मण्डलेऽपि यानि चन्द्रे विरुद्धानि।[212]

—"मनोहर कमलों का शील रूप से मेल नहीं खाता क्योंकि वे पूर्णचन्द्रका (श्लेष से, 'राज्य मण्डलों के नेता राजा चन्द्रगुप्त का') भी विरोध करते हैं।" निस्सन्देह कुछ लोगों की आकृति सुन्दर एवं भोली-भाली होती है, परन्तु भीतर से वे मक्कार होते हैं। सुन्दरता की ओट में पाप भी सरलता-पूर्वक हो सकता है। फिर भी सच्चाई यही है कि सौन्दर्य और पाप का न तो सदा का साथ है, और न सदा का विरोध।

(x) सौन्दर्य के प्रति आदरभाव—कुछ व्यक्तियों का सौन्दर्य ऐसा है कि अनायास ही उनके प्रति आदर भाव जाग जाया करता है। इसीलिए चित्रलिखित मालविका के विषय में राजा पूछे विना न रह सका, क्योंकि—**आकृति-विशेषेषु आदरः पदं करोति।**[213]

(घ) सौन्दर्य विषयीगत या विषयगत (subjective or objective)?—यहां एक महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार कर लेना नितान्त प्रासंगिक एवं उपयोगी होगा। सौन्दर्य विषयी पर आधारित है, या विषय पर, अथवा दोनों पर? और संस्कृत कवियों की इस सम्बन्ध में क्या धारणा है?

सौन्दर्य को विषयीगत मानने के लिए कई आधार प्रस्तुत परिच्छेद की सूक्तियों में विद्यमान हैं। प्रेम से सौन्दर्य की वृद्धि और सार्थकता बताने वाली सूक्तियां,[214] जिन्हें कालिदास और हर्ष ने कहा है, सौन्दर्य को बहुत कुछ प्रेमी पर अर्थात् विषयी पर आधारित बताती हैं। ममत्व से सौन्दर्य बताने वाली कालिदास की सूक्ति[215] भी सौन्दर्य की विषयीनिष्ठता को स्वीकारती है। सौन्दर्य ही क्यों अन्य सभी गुणों की प्रतीति का कारण भी प्रेम की शक्ति को मानने वाली सूक्तियां[216], जिनके प्रयोक्ता भास, भारवि, और माघ हैं, विषयी की दृष्टि के महत्त्व को प्रकट करती हैं। इस प्रकार भास, कालिदास, और माघ सौन्दर्य को विषयीगत मानते प्रतीत होते हैं।

दूसरी ओर, सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठ विशेषताएं बताने वाली सूक्तियों में भी[217] भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, भारवि, भवभूति और माघ अपना योगदान करते हैं। इस प्रकार जो कवि सौन्दर्य को विषयी-निष्ठ बताते हैं वे ही उसे विषय-निष्ठ भी मान लेते हैं। अतः स्वीकारना होगा कि भास से लेकर माघ तक प्रायः सभी संस्कृत कवि सौन्दर्य को उभयनिष्ठ मानते हैं। उनकी दृष्टि में कोई वस्तु जहाँ स्वतः सुन्दर होती है, वहां इसलिए भी सुन्दर कही जाती है कि द्रष्टा उसे सुन्दर समझता है।

इस सम्बन्ध में श्री अविनाशचन्द्र भट्टाचार्य की मान्यता है—"श्रेण्यकाल के प्रारम्भ में सुन्दर का दर्शन मन के दर्शन का अविभाज्य अंग था परन्तु बाद के वर्षों में लोगों ने सुन्दर को विषयी-निष्ठता की अपेक्षा विषय-निष्ठ दृष्टि से देखना प्रारंभ कर दिया[218]।" किन्तु यह धारणा ऊपर के विवेचन को देखते हुए स्वीकार्य नहीं हो सकती। वास्तविकता यही है कि भारतीय कवि प्रायः सौन्दर्य को एक पहलू से नहीं देखते[219]। हां, अश्वघोष जैसे कवि जो सौन्दर्य को झूठा आकर्षण बताना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं, सौन्दर्य को एकांगी दृष्टि से केवल द्रष्टा पर आधारित[220] बताएं तो कोई आश्चर्य नहीं।

साथ ही, शूद्रक आदि जिन कवियों की वस्तुनिष्ठता-परक सूक्तियां मिल जाती हैं और दर्शकनिष्ठता-परक नहीं मिलतीं, उनके मत को सूक्तियों के आधार पर निश्चयपूर्वक एकांगी नहीं बताया जा सकता।

१०. निष्कर्ष

युग-परिवर्तन के साथ-साथ समाज के आदर्श और जीवन के मापदण्ड भी बदलते रहते हैं। परन्तु कुछ चिरन्तन सत्य ऐसे होते हैं, जो सदा अपरिवर्तित रहते हैं। प्रेम और सौन्दर्य-सम्बन्धी सूक्तियों का अध्ययन यह बात विशेष रूप से सिद्ध करता है। साथ ही, यह भी प्रकट होता है कि जबसे मानव का इस धरा पर अवतार हुआ तब से उसके जीवनमें प्रेम और सौन्दर्य की भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, चाहे उसका बाह्य स्वरूप, प्रेम-प्रदर्शन का प्रकार, या मर्यादाएं बदलती रही हों।

सूक्तियों का अध्ययन करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत कवियों के प्रेम-सम्बन्धी दृष्टिकोण में कोई विशेष अन्तर नहीं है। यह दूसरी बात है कि किसी के प्रेम-वर्णनों में संयतता अधिक है तो अन्यों में उन्मुक्तता! उदाहरण के लिए भास, शूद्रक और भवभूति का प्रेम-वर्णन और तत्सम्बन्धी सूक्तियां संयत प्रतीत होती हैं, जबकि बाण, हर्ष, माघ और भारवि की उन्मुक्त। कालिदास इन दोनों के बीच पड़ते हैं। वैराग्योन्मुखता के कारण अश्वघोष और भर्तृहरि प्रेम और सौन्दर्य के अवांछनीय और अनुज्ज्वल पक्ष को उभारने में प्रवृत्त रहे हैं।

भारतीय कला के विकास में विचारों की शृंखलाबद्धता को खोजने में विद्वान् असफल रहे हैं और उसमें विचार-भेद का कारण विदेशी प्रभाव को माना जाता है। श्री अधिकारी के अनुसार कला पर धार्मिक प्रभाव यहां के मौलिक हैं और सांसारिक (seculer) प्रभाव विदेश की देन हैं।[२२१] जहां तक सौन्दर्य के प्रति दृष्टिकोण का प्रश्न है, सूक्तियों में ऐसा कोई भेद नहीं किया जा सकता। सौन्दर्य के विभिन्न पहलुओं पर जो कुछ कहा गया है वह परस्पर साम्य ही अधिक रखता है। विषय और विषयी की मुख्यता का प्रश्न ऊपर[२२२] उठाया ही गया है, और उसमें भी कवियों में प्राय: सामञ्जस्य दृष्टिगत होता है। धार्मिकता की भावना अश्वघोष और भर्तृहरि में तो कही जा सकती है, किन्तु शेष सभी में सांसारिक दृष्टि है। इसलिए इसे विदेशी प्रभाव कहना अनुचित ही होगा।

सौन्दर्य के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालने वाली इन सूक्तियों के होते हुए श्री मैक्समूलर का यह कथन भी समुचित प्रतीत नहीं होता—"आश्चर्य है कि हिन्दुओं जैसे वे लोग जो सारवत्ता को सर्वाधिक चाहते हों सुन्दर के प्रति अपने दृष्टिकोण को कभी भी सारगर्भित रूप में व्यक्त न करें।"[२२३] यद्यपि सौन्दर्यशास्त्र नाम से कोई वैज्ञानिक अध्ययन सौन्दर्य का नहीं हुआ, तथापि सूक्तियों में प्रतिपादित इन सारगर्भित विचारों का अस्तित्व भी नकारा तो नहीं जा सकता। प्राय: सौन्दर्य के मापदण्ड देश-काल के अनुसार बदलते हैं[२२४]। किन्तु सूक्तियों में अधिकत: सामान्य विशेषताओं का उल्लेख हुआ है जो प्राय: हर

देश-काल में मान्य हों। उनमें एक विशेषता ऐसी भी है जो स्थानीय दृष्टि से प्रभावित है। 'कुलीनता से सौन्दर्य-सृष्टि'[२२५] मानना भारतीय समाज के ढांचे में वर्ण-व्यवस्था को जन्म से निर्धारित करने की[२२६] परिपाटी को ही पुष्ट करती है।

सूक्तियों में मुख्यतः एकनिष्ठ और मर्यादित प्रेम का ही उल्लेख हुआ है। यहां उपभोग-प्रधान लम्पटता के दर्शन नहीं होते। इनमें आधुनिक छायावादी कवियों की भांति न तो आध्यात्मिकता का आरोप है और न वासना-ग्रन्थियों या शृंगारिक कुण्ठाओं का बन्धन, न उनके प्रति प्रतिक्रिया-भाव और न मानसिक छलना; यद्यपि कुछ साहित्य-समीक्षकों ने कुछ संस्कृत-कवियों में आध्यात्मिक भावना खोज निकालने का प्रयास[२२७] अवश्य किया है। पर वास्तविकता यही है, कि इन सूक्तियों में जो भी भाव व्यक्त किया गया है वह सरल भाव से कहा गया प्रतीत होता है, और स्वतन्त्र विचार-शक्ति से प्रेरित होकर भी उच्छृंखल नहीं है। इसी अंश में वह हिन्दी के रीतिकालीन कवियों के प्रेम[२२८] से पृथक् है। संक्षेप में संस्कृत-सूक्तियों का प्रेम स्वस्थ है, रुग्ण या विकृत नहीं।

ये सूक्तियां संस्कृत रचनाकारों की एक विशेषता का महत्त्वपूर्ण संकेत देती हैं। इनमें प्रेम एवं गुणों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को देखा गया है, और इसलिए जहां सौन्दर्य आदि गुणों से प्रेमोद्भव बताया गया है, वहां प्रेम के कारण प्रिय के गुणों की प्रतीति भी स्वीकारी गयी है। ऐसे ही समन्वयभाव से जहां सौन्दर्य को द्रष्टा की भावना पर निर्भर माना गया है, वहां वस्तुनिष्ठ भी। इस प्रकार ये सूक्तियां संस्कृतकवियों के विशाल दृष्टिकोण की परिचायक हैं, जो प्रायः एकपक्षीय न होकर तथ्यात्मक अधिक है। □□

सन्दर्भ-संकेत

१. "...the madness of love is the greatest of heaven's blessings..."
—The Dialogues of Plato, Jowett, Vol.I, p. 250

२. "He (physiologist) would say that love was a physical urge provoked by certain chemical changes in the body, much as thirst is a longing for water ..."
—Kenneth Walker and Peter Fletcher, Sex and Society, p 15

३. "Sex love is a complex sentiment, and in its constitution the protective impulse and tender emotion of the parental instinct are normally combined with the emotional conative disposition of the sex instinct, restraining, softening and ennobling the purely egoistic and somewhat brutal tendency of lust."
—William Mcdougal, Social Psychology. p. 338

४. तुलनार्थ—"प्रेम चाहे जैसा हो, भौतिक या अलौकिक, यदि वह आत्मसम्बन्ध से अनुप्राणित है,·· तो वह प्रेम है, अन्यथा स्थूल कामोपभोग की वृत्ति ।"

—डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, प्रेम और सौन्दर्य, पृ० १०६

५. "शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः ।···
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो, वयं तु, शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः ।"

—भोजदेव, शृंगारप्रकाश, १।३,६

६. तुलनार्थ : "संसार के सब देशों और सब कालों के साहित्य का मन्थन करके यदि उसमें से कोई शाश्वत तत्त्व निकाला जाय तो वह होगा—प्रेम और सौन्दर्य की भावनाएं। साहित्य में यही विषय सनातन होते हुए भी चिर-नवीन है।"

—डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, प्रेम और सौन्दर्य, पृ० २००-२०१

७. वही पृ० १९७

८. "Love creates beauty at least as much as beauty creates love,···"

— Will Durant, The Pleasures of Philosophy, p,194

९. जायसी ग्रन्थावली, भूमिका पृ० ६४

१०. आगे परि० ८, अनु० ३ (क) तथा ९ (क)

११. "प्रेमन्—1. affection; 2. Favour,···tender regard"

—V. S. Apte, p. 380

१२. इसके अतिरिक्त देखिए—"प्रेम की भावना के पूर्ण स्पष्टीकरण व विकास के लिए दो की कल्पना करनी ही पड़ती है·· क्योंकि दो के सम्बन्ध के बिना प्रेम-वृत्ति के प्रकाशन की गुंजायश ही नहीं।"

—डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, प्रेम और सौन्दर्य, पृ० १०२

१३. विशेष विवरण के लिए देखिए—वही०, 'प्रेम के विविध रूप' पृ० ११२-१३९

१४. संस्कृत में 'प्रणय' का भी अर्थ व्यापक है और वह प्रेम का समानार्थक है। (देखिए शब्दकल्पद्रुम, पृ० २५०)। किन्तु हिन्दी में इसे कान्ता-विषयक रति या दाम्पत्य के लिए प्रयुक्त किया जाता है। 'प्रणयी' और 'प्रणयिनी' शब्दों के अर्थ यही द्योतित करते हैं। इस परिच्छेद में प्रणय का यही संकुचित अर्थ अभीष्ट है।

१५. इस दृष्टि से अन्य विषयों की सूक्तियों के साथ तुलना करने पर 'व्यवहार एवं नीति' से सम्बन्धित सूक्तियों की संख्या का अनुपात उस विषय के साहित्य में विद्यमान अश की अपेक्षा अधिक बैठता है।

१६. अवि० ५।४। पं० १०·· नायक। तुलनार्थ—
"In the same heart love and fear cannot thrive"—S.P.L., p. 83

१७. तुलनार्थ—"a new form of relatedness in which the integrity of the other person is an important concern."

—Clemens E. Benda, The Image of Love, p. 18

१८. तुलनार्थ—"प्रेम गरी अति सांकरी ता में दोऊ न समाय"—कबीर

१९. मालवि० ३।१९, पं० ४८४—राजा

२०. देखिए—"the mutuality so essential to a love experience·· "

—Clemens E. Benda, The Image of Love, p. 18

२१. शाकु० २।१

२२. देखिए—"मनसिजः कामः, तस्याकृतार्थत्वमालिङ्गनाद्यभावः"

—वही—श्रीवैखानस श्रीनिवासाचार्य की व्याख्या, पृ११३

२३. देखिए—"तासीरे-इश्क होता है दोनों तरफ जनाब।

मुमकिन नहीं जो आग इधर हो, उधर न हो।'

—उद्धृत, डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, प्रेम और सौन्दर्य, पृ० १०५

२४. मालवि० ३।१५

२५. वही ३।१३—वकुलावलिका, पं० ३३९

२६. उत्तर० ६।११—राम, तथा मालती० १।२३—मकरन्द

२७. उत्तर० ६।१२, तथा मालती० १।२७

२८. उत्तर० ६।३२

२९. "प्रेमन्···२-Favour."—V. S. Apte, p. 380

३०. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'कालिदास और लालित्य-विधान', हिन्दी विभाग, पंजाब वि० वि०, १९६३-६४, पृ० ६

३१. किरात० ८।३७

३०. पञ्च० ३।१३

३१. शिशु० १५।१४

३२. वही ८।६९

३३. वही ३।३१

३४. "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"

—वही ४।१७, तथा देखिए आगे परि०८, अनु०९ (ग) (v)

३५. "Love, then, is the mother of beauty, and not its child,···"

—Will Durant, The Pleasures of Philosophy, p. 195

३६. किरात० ८।४६

३७. अवि० ३।०। पं० ९९—नलिनिका

३८. उत्तर० २।१९ तथा ६।५

४०. वही ५।१६—सुमन्त्र

४१. देखिए—पीछे परि०८, अनु०२ (घ) नैसर्गिकता,

४२. उत्तर० ५।१७

४३. मालती० ५।२४—मालती, मिलाइए—'भर्तृस्नेहात्सा हि दग्धाप्यदग्धा।'

—स्वप्न० १

४४. शाकु० ६।१०—विदूषक

४५. विक्र० २।८—राजा
४६. मालवि० ४।६
४७. बुद्ध० ४।६८, तथा मिलाइए—"नैर्गुण्यात् त्यज्यते स्नेहः।"—वही ६।२४
४८. मृच्छ० १।३२—वसन्तसेना
४९. किरात० ४।२५, तुलनार्थ
—"नवैर्गुणैः सम्प्रति संस्तवस्थिरं तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः..."
—किरात० ४।२२
—("गुणतंत्राः प्रेमाणो न परिचयतन्त्रा इति भावः।"—मल्लिनाथ)
तथा—"भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।" —किरात० ३।१२
५०. पीछे परि० ८, अनु० ३ (क)
५१. आगे परि० ८, अनु० ९ (घ)
५२. शाकु० ३।१०—प्रियंवदा, सं० ४१
५३. मालवि० ३।१४
५४. मृच्छ० ५।१६
५५. काद० ३३५, महाश्वेता का विचार
५६. रत्ना० ३।९
५७. काद० पृ० ४८९, पत्रलेखा, कादम्बरी की दशा सुनकर
५८. वहीं
५९. वही पृ० ५२७
६०. वही पृ० ५२७-२८
६१. नागा० २।१४
६२. यह सूक्ति नायक ने नायिका से विवाह की आशा बांधते हुए कही है।
६३. शृं०, ९५
६४. शिशु० १०।२१
६५. विक्र० २।२२
६६. किरात० ८।५४
६७. "अवधूतप्रणिपाताः पश्चात् सन्तप्यमानमनसोऽपि।
निभृतैर् व्यपत्रपन्ते दयितानुनयैर्मनस्विन्यः॥" —विक्र० ३।५
६८. 'प्रकुपितमभिसरणेऽनुनेतुं प्रियमियती ह्यवलाजनस्य भूमिः।' —किरात० १०।५८
६९. शिशु० ११।३५
७०. किरात० ९।३५
७१. शिशु० ११।३३
७२. "स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः।" —कु० ७।२२, तथा देखिए आगे अनु० ९(क)
७३. "प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।" —कु० ५।१, तथा देखिए आगे अनु० ९ (क)
७४. स्वप्न० ३।०, पं० ११—वासवदत्ता

७५. वही—४।६
७६. "अयं तावद्बाष्प-(ते वाष्पौघ-)स्त्रुटित इव मुक्तामणिसरः" —उत्तर० १।२९
७७. "एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्" —उत्तर० ३।४७
७८. किरात० ११।२८
७९. रघु० ८।५६
८०. "वलवती खलु वल्लभजन-समागमाशा यद्···प्राप्यते' —काद० पृ० ५०७
८१. शाकु० ४।३
८2. मेघ० ०।२७
८३. मिला० आगे अनु० ७ (च)
८४. वही २।३७
८५. वही २।४९, तुलनार्थ—"The falling-out of lovers is the renewing of love." —S P.L., p. 49
८६. तुलनार्थ—"नैकु न झरसी विरह झर नेह लता कुम्हिलाति।
नित नित होति हरी हरी खरी झालरति जाति ।।" —बिहारी।
८७. "पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं,
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु।" —मेघ० २।४७
८८. संभवतः इसका ध्यान रखते हुए स्मृतिकारों ने पत्नी को विरह की कुछ दशाओं में पुनर्विवाह की अनुमति दी है। यथा—"ह्रस्वप्रवासिनां शूद्रवैश्यक्षत्रियब्राह्मणानां भार्याः संवत्सरोत्तरं कालमाकांक्षेरन्···ततः परं धर्मस्थैर्विसृष्टा यथेष्टं विन्देत।" —अर्थ० ३।४ पृ० २६०-२६१
८९. "काम" Love. 4. Love or desire of sensual enjoyment considered as one of the four ends of life (पुरुषार्थ),..... 5 Desire of carnal gratification, lust..." —V.S. Apte, p. 143
९०. "In love···the integrity of the other person is an important concern." —Clemens E. Benda. Image of Love, p. 18
[पीछे भी उद्धृत सन्दर्भ संख्या १७]
९१. तुलना कीजिए—"The separateness is eliminated, not because the two experience sex at the same time, but because they are not afraid to lose their identity in each other, so that to possess and to be possessed loses its meaning." —ibid. loc. cit.
९२. हर्ष च० १, पृ० ३५, पं० ७
९३. काद० पृ० २९७, पुण्डरीक को देखकर महाश्वेता का विचार
९४. वही पृ० ३२४-३२५, कपिञ्जल, पुण्डरीक की मदनातुरता देखकर
९५. वही पृ० ५१९, चन्द्रापीड, केयूरक से
९६. वही पृ० ४७४, कादम्बरी चन्द्रापीड के विषय में पत्रलेखा से

९७. वही पृ० ४७८, पत्रलेखा, कादम्बरी को समझाती हुई
९८. वही पृ० ३१९, पुण्डरीक की दशा देखकर कपिञ्जल का विचार
९९. पीछे परि० ८, अनु० ४ (क)
१००. मालती० १।२०
१०१. काद० पृ० ३२५, इसी भाव को व्यक्त करने वाली सूक्तियों की भरमार देखिये—
"कमलिन्यपि शशिकरद्वेषमुज्झति", "निशापि वासरेण सह मिश्रतामेति",
"छायापि प्रदीपाभिमुखमवतिष्ठते", "तडिदपि जलदे स्थिरतामेति",
"जरापि यौवनेन संचारिणी भवति।" —वहीं
१०२. विक्र० ३।८
१०३. अवि० ३।१५
१०४. मालवि० ३।९, पं० १८२—राजा
१०५. वही ३।१३, पं० ३४९—वकुलावलिका
१०६. पीछे परि० ८, अनु० ४ (ग)
१०७. चारु० ३।७, पं० १—सज्जलक
१०८. मेघ० १।५
१०९. शाकु० १।२५—राजा, सं० १५३
११०. मृच्छ० ५।१९—विदूषक
१११. शिशु० ८।१०,
तुलनार्थ—'Passion blinds the eye of reason.' —S.P.L., p. 97
११२. शाकु० २।२
११३. विक्र० १।१७—राजा
११४. कु० ५।८२
११५. आगे अनु ८ (ङ) 'प्रेम में अभिलाषाएं'
११६. प्रिय० ३।०, सं० १५ इसी भाव का स्पष्ट आख्यान देखिए
—"कोऽपि कामिजनस्य स्वगृहिणीसमागमपरिभाविनोऽभिनवजनं प्रति पक्षपातः।"
—रत्ना० ३।८—राजा, सं० ४८
११७. मालवि० ४।१४, पं० ३३९
११८. शृं० ७६, तुलनार्थ—"It is impossible to love and be wise."
—S.P.L., p. 83
११९. शृं० ७३
१२०. "शुनीमन्वेति श्वा, हतमपि च (नि-) हन्त्येव मदनः।" —वही ७८
१२१. कामाभिभूता हि न यान्ति शर्म त्रिविष्टपे किं वत मर्त्यलोके!
कामैः सतृष्णस्य हि नास्ति तृप्तिर्यथेन्धनैर्वातसखस्य वह्नेः॥ —बुद्ध० ११।१०
१२२. सौन्द० ९।४३, तथा देखिये
—"हव्यैरिवाग्नेः पवनेरितस्य लोलस्य कामैर्न हि तृप्तिरस्ति।" —वही ५।२३

मिलाइए—'न खलु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥' —मनु० २.९४

१२३. तृप्तिर्नास्तीन्धनैरग्नेर्नाम्भसा लवणाम्भसः।
नापि कामैः सतृष्णस्य तस्मात् कामा न तृप्तये। —सौन्द० ११।३२

१२४. रत्ना० ३।१०

१२५. अवि० ३।१७—पं०३, नलिनिका, कुरंगी के समान ही अविमारक को भी मदनातुर देखकर

१२६. शाकु० ३।१५

१२७. देखिये ऊपर अनु० ६ (ख)

१२८. "In men tumescence tends to occur almost spontaneously,··· In a very large number of women the sexual impulse remains latent until aroused by a lover's caresses."
—Havelock Ellis, Psychology of sex, Vol. 1, part 2, p. 240-41

१२९. "···that women have a special capacity for resisting large scale disturbances in spite of the paradox that they are often upset by trifles which a man would not even notice."
—Kenneth Walker and Peter Fletcher, sex and Society, p. 41

१३०. रघु० १२।३३

१३१. चारु० २।० पं० १८—चेटी

१३२. मृच्छ० २।०—मदनिका, पृ० ६८

१३३. यहां 'अनुगृहीतः' शब्द का अर्थ "you are···obliging" किया गया है, (देखिये—मृच्छ० tr. M. R. kale, p. 69) जिससे यह वसन्तसेना के साथ सम्बद्ध किया गया है। किन्तु यदि भास का अनुकरण करते हुए इसे भी 'सामान्यीकृत' रूप में देखकर सूक्ति माना जायं तो कोई हानि प्रतीत नहीं होती।

१३४. किरात० १०।५९

१३५. विक्र० ३।१६

१३६. "It is because the sexual orgasm is founded on a special adaptation and intensification of touch sensations that the sense of touch generally is to be regarded as occupying the very first place in reference to the sexual emotions."
—Havelock Ellis, Psychology of Sex, Vol. I. Part 3, p. 7

१३७. शृं० २५

१३८. नागा० २।० पं० ९२—चेटी

१३९. "Visṇu is described as having Laksmi resting on his bosom."
—Notes by R.D. Karmarkar, p. 176

१४०. विक्र० ४।१२

१४१. "The domination of women over their lovers does not stand in need of any deviation from faithful love for them (or) to be angree." —tr. by Karnak and Desai. p. 105

१४२. काद० पृ० ५१७। इस भाव को पुष्ट करने के लिए बाण ने दृष्टान्त पर दृष्टान्त दिये हैं। —देखिये वहीं

१४३. मृच्छ० ८।६

१४४. मेघ० १।४१

१४५. शिशु० ७।५०

१४६. "अनेकसुरतसमागम-लास्यलीलोपदेशोपाध्यायो मकरकेतुरेव विलासानुपदिशति।" —काद० पृ० २६६

१४७. किरात० ६।४६

१४८. तुलनार्थ—"कामो वाम:"—मृच्छ० ५·६—विदूषक। देखिये—पीछे अनु०७(घ)

१४९. विक्र० २।३—राजा, पं० ६

१५०. मृच्छ० ८।३०।—"...for love becomes enjoyable (or, gains flavour) only through the confidence born of privacy." —tr. M.R. Kale, p. 285

१५१. अवि० २।२—अविमारक। मिलाइए:
'चेष्टाप्रतिरूपिका कामिजन-मनोवृत्ति:' —शाकु० १।२५—राजा

१५२. सौन्द० ७।२३

१५३. मेघ० १।३

१५४. मालवि० ३।६

१५५. मालवि० ४।६—विदूषक, पं० २१७। तुलनार्थ:
"एकत्र चायं पापकारी चन्द्रहतको न शक्यते सोढुम्" —काद० पृ० ३३१

१५६. ऋतु० ६।२७

१५७. शृं० ८६

१५८. रत्ना० १।१६

१५९. शिशु० ६।३६

१६०. वही ८।२२

१६१. ऋतु० ६।२

१६२. वही ६।३

१६३. विक्र० ४।०—सहजन्या, पृ० ९८

१६४. ३।१५

१६५. मृच्छ० ८।३२

१६६. मधुप को लोलुप और अनेकोन्मुख कामी का प्रतीक कहा जाता है। पर उसे भी

एक जाति के पुष्प—कमल में आवद्ध मानकर कवि ने उस पर भी एकनिष्ठता आरोपित कर दी है।

१६७. "सहकारपादपं सेवित्वा न पलाशपादपमङ्गीकरिष्यामि"—मृच्छ० ८।३३—वसन्तसेना। इस उक्ति के पीछे कोई सूक्ति, लोकोक्ति या मुहावरा निहित है।

१६८. शाकु० ४।१९—सख्यौ, पं० १४४

१६९. नागा० ५।१

१७०. किरात० ९।७०

१७१. मृच्छ० ७।४—चारुदत्त

१७२. हर्ष च० ८, पृ० २५६, पं० ४

१७३. "श्लाघनीयं दुर्लभमनोरथफलं जीवलोकस्य यद्गुरुकानुरागसदृशो महाभागवल्लभ-समागमः" —मालती० २।१—लवङ्गिका

१७४. काद० पृ० ५१८

१७५. "···विशेषतोऽपरित्यक्तनिःशेषवालभावानाम् अनतिप्रवुद्धमुग्धमनसिशयानां कन्यकानाम्।" —वहीं

१७६. मेघ० १।२८

१७७. "विलासैरेव राग-प्रकाशनं न तु कण्ठत इति भावः" —वहीं, मल्लिनाथ

१७८. पीछे परि० ८, अनु० १

१७९. मालवि० १।१३

१८०. विक्र० ३।११—देवी, पृ० ८२

१८१. नागा० ३।२—विट, पं० १९

१८२. कु० ५।१

१८३. "सौभाग्यं प्रियवाल्लभ्यं···सौन्दर्यस्य तदेव फलं यद् भर्तृसौभाग्यं लभ्यते; नो चेद्विफलं तदिति भावः"। —वहीं, मल्लिनाथ

१८४. कु० ७।२२

१८५. शाकु० २।७—राजा, पं० ५०। तुलनार्थ :
"Everyone likes his own things best." —S.P.L., p. 80

१८६. प्रतिभा १।४, पं० ५४—चेटी (अवदातिका)

१८७. स्वप्न० २।—पद्मावती वासवदत्ता से उदयन को उज्जयिनी में 'दर्शनीय' के रूप में प्रसिद्ध जानकर

१८८. मालवि० २।५—राजा, मालविका के चलने, बैठने, उठने और लौटने में सौन्दर्य देखकर

१८९. शाकु० ६।५—कञ्चुकी, सं० ७१, शकुन्तला के विरह में पश्चात्तापयुक्त राजा के विषय में

१९०. अवि० २।८, पं० ३३—विदूषक, मदनवेग से पाण्डुर अविमारक के लिए

१९१. कु० ५।९

१९२. शाकु० १।१८
१९३. किरात० ४।२३, तुलनार्थ—"स्वभावसुन्दरं वस्तु न संस्कारमपेक्षते"
—दृष्टान्तशतक—४९। उद्धृत—V. S. Apte, p. 573, (संस्कार···6···)
१९४. अवि० ४।०। पं० २३—मागधिका। तुलना कीजिए हर्ष से—
"स्वाङ्गैरेव विभूषितासि वहसि क्लेशाय किं मण्डनम् ?" —नागा० ३।६
१९५. अवि० ४।०। पं०५—विलासिनी
१९६. रघु० १६।६९। इस सूक्ति में प्रेम से सौन्दर्य-वृद्धि की भावना भी पुष्ट होती है, कारण इस सूक्ति का उस प्रसंग से सम्बन्ध है जिसमें 'कुश' के साथ जलविहार करती रानियों को पहले से भी अधिक सुशोभित बताया गया है। वहां 'मुक्ता' प्रेमिका का और 'इन्द्रनील' प्रेमी का प्रतीक बन गया है। इस प्रकार प्रिय-समागम भी सौन्दर्यवर्धक अलंकार के समान हुआ।
१९७. किरात० ७।५
१९८. देखिए—"एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः"
—कु०१।३
१९९. देखिए—"न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्"—शाकु० १।२३
—देखिए परि० २, अनु० ३
२००. नागा० ३।१२—नायक, पं० १२। तुलनार्थ :
—"रत्नाकरे युज्यत एवं रत्नम्।"—कु० ११।११। देखिए पीछे परि०२, अनु०३
२०१. शिशु० ४।१७
२०२. कु० ५।८। सुकुमार के प्रति कठोर कर्म की निन्दा और उपमा देखिए—'ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।" —शाकु० १।१७
२०३. शाकु० ४।१—प्रियंवदा, सं० २१, दुर्वासा के शापका वृत्तान्त शकुन्तला को न बताने की इच्छा से
२०४. चारु० १।१५—विट, पं० ८
२०५. मृच्छ० १।३०—विट
२०६. मालती०९। ५१
२०७. वही २।४
२०८. सामान्यतः भी काम से सौन्दर्य-वृद्धि मानी गई है, देखिए पीछे, परि० ८, अनु० ७ (छ)
२०९. किरात०१०।१७
२१०. कु० ५।३६। तुलनार्थ—"यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति"—लोकोक्ति
२११. "Faces are often deceptive"—English Proverb
२१२. मुद्रा० १।१६
२१३. मालवि०१।३—द्वितीया, पं० ७१। इसी प्रकार उसे प्रत्यक्ष देखकर राजा कह उठा—"अहो, सर्वस्थानानवद्यता रूपविशेषस्य।"—वही २।२—राजा

२१४. देखिए—ऊपर परि० ८, अनु० ६ (क)
२१५. देखिए—ऊपर परि० ८, अनु० ६ (ख)
२१६. देखिए—ऊपर परि० ८, अनु० ३ (क)
२१७. देखिए—ऊपर परि० ८, अनु० ६ (ग)
२१८. "In the begining of the classical period the philosphy of the beautiful was an inseparable part of the philosophy of the mind, but in later years, people began to look on the Beautiful no louger snbjectively but objectively".

—A.C. Shastri, Studies in Sanskrit Aesthetics, p. 36

२१९. हिन्दी कवि विहारी भी मानते हैं—"रूप रिझावनहारु वह, ये नैना रिझवार।"
२२०. "दृष्ट्वैकं रूपमन्यो हि रज्यतेऽन्यः प्रदुष्यति।
कश्चिद्भवति मध्यस्थस्तत्रैवान्यो घृणायते।।"—सौन्दर० १३।५२
२२१. देखिए—"This difference of openion may be partly due to what is considered to have been the foreign influence in the development of Indian Art…"

—P.B. Adhikari, in Acārya Puspānjali Vol., p.66

२२२. देखिए—ऊपर परि० ८, अनु० ६ (घ)
२२३. देखिए—"But it is strange, nevertheless, that a people, so fond of the highest abstractions as the Hindus, should never have summarized their perception of the beautiful."

—quoted, P.B. Adhikari, ibid, p.63-64

२२४. देखिए—"Beauty, like morals, tends to vary with geography."

—Will Durant, Pleasures of Philosophy, p. 201

२२५. देखिए—ऊपर परि० ८, अनु० ६ (ग) (iv)
२२६. देखिए—पीछे परि० २, अनु० ३
२२७. देखिए—वासुदेवशरण अग्रवाल, कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन,

—परिशिष्ट १, पृ० ३३६-६३

२२८. रीतिकालीन कवियों के प्रेम के सम्बन्ध में देखिए—डा० नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १५६

००

परिच्छेद-९

महनीय गुण स्वभाव और आचार

१. पृष्ठभूमि

मानव-मन में आने-जाने वाले भावों के सातत्य के कारण जहां उनका परिगणन असम्भव है वहां वैविध्य के कारण उनका वर्गीकरण भी सरल कार्य नहीं है। किंतु निश्चय ही, उनमें से अनेक भाव अच्छा मानव बनने की भावना से प्रेरित होते हैं। इसे मानव की उदात्त-भावना[1] या सतोगुणी प्रकृति माना जा सकता है। दूसरी ओर, मानव-मन में महत्त्वाकांक्षा की रजोगुणी प्रवृत्ति[2] भी है, जिसे उसकी बड़ा बनने की अभिलाषा कहा जा सकता है, और जो प्रभुता प्राप्त करने की क्षमता देने वाले उसके गुण, स्वभाव और आचार की प्रेरक है। महनीय गुण, स्वभाव और आचार सम्बन्धी सूक्तियों में उदात्त भावना और स्पृहणीय महत्त्वकांक्षा दोनों ही प्रकट हुई हैं।

उदात्त भावना से तात्पर्य—कोई व्यक्ति ऊपर से चाहे कितना ही बुरा दिखता हो परन्तु उसके भी अन्तराल में एक उत्कृष्ट मानव छुपा होता है, जो उसके मन में यथासमय द्वन्द्व उत्पन्न करता रहता है, जो मानसिक देवासुर-संग्राम में देवसेना का प्रतीक होता है; और सम्भवतः जिसके आधार पर मनु ने 'आत्म-प्रियता' को अन्तिम धर्म-लक्षण,[3] तथा 'आत्म-परितोष' को करणीय एवं त्याज्य की कसौटी[4] बताया है। कालिदास भी—**सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण-प्रवृत्तयः**[5]—'सन्दिग्ध वस्तुओं में सज्जनों के अन्तः-करण की प्रवृत्ति ही प्रमाण है।'—इस सूक्ति में निर्मल अन्तःकरण की भावनाओं द्वारा, विशेषतः सज्जन व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन होना स्वीकार करते हैं। पर वास्तविकता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में सामान्य रूप से सात्त्विक गुण से उद्भूत उदात्त भावनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन विविध मनोभावों का अध्ययन करना यद्यपि मुख्यतः मनो-वैज्ञानिक का कार्य है, तथापि इन्हें जाने बिना एक साहित्यकार भी अपनी रचना में मानव का सही चित्र नहीं दे सकता।

हित-भाव को लेकर चलने वाले साहित्य का स्रष्टा मानव के हिताहित का ध्यान रखकर ही साहित्य का सृजन करता है। वह ऐसी भावनाएं अपने पाठक के हृदय में जगाना चाहता है जो उसे उन्नत करें, उत्कृष्ट बनाएं और उसका परिष्कार करें।[6] तदर्थ

वह मानव की उदात्त भावना को प्रेरित करता है। कतिपय सूक्तियों में उसकी यह प्रेरणा सुस्पष्ट रूप में मुखरित हो उठती है।

धार्मिक एवं उदात्त भावनाओं में अन्तर—उदात्त भावनाएं धार्मिक भावना से पृथक् हैं। धार्मिक भावना के मूल में एक परम्परागत विश्वास और प्रथा की स्थापना हुई रहती है, परन्तु उदात्त भावना में ऐसी बात नहीं। इसमें तो श्रेष्ठ मानव बनने की भावना रहती है। यह ठीक है कि उदात्त भावना के आधार पर किसी में धार्मिक भाव जगाया जा सकता है, परन्तु दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, कृतज्ञता की उदात्त भावना से ईश्वरीय कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए पूजापाठ की धार्मिक भावना को पुष्ट किया जा सकता है, परन्तु दोनों भावों का पार्थक्य भी स्पष्ट है। जहां धर्म में इस प्रकार मानव के उदात्त भाव व्यक्त होते हैं वहां, प्रचलित या स्वीकृत धर्म की परिपाटियां भी व्यक्ति की उदात्त भावनाओं को प्रभावित करती हैं। भारतीय धर्म में दान की महत्ता परोपकार की उदात्त भावना को निश्चय ही उद्दीप्त करती है।

महत्त्वाकांक्षा—महनीय गुणों की प्राप्ति के पीछे महत्त्वाकांक्षा का भी हाथ रहता है चाहे महत्त्वाकांक्षा की प्रवृत्ति नैसर्गिक न रही हो, किंतु ज्यों-ज्यों सभ्यता और समृद्धि का विकास हुआ होगा त्यों-त्यों मानव में यह अभिलाषा अधिकाधिक जाग उठी होगी। सूक्तियों में इसके विविध पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ मान और यश की कामना से युक्त महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति यथा-समय पराक्रम भी दिखा सकता है, या वीरता आदि गुणों को भी अपना सकता है। दोनों स्थितियों में उसमें अन्तर्हित महत्त्वा-कांक्षा ही प्रतिफलित होती है। भारतीय गुण-विभाजन के अनुसार यह उसके रजोगुण का ही विस्फार है।

यद्यपि महनीय गुणों के लिए उदात्त भावना या महत्त्वाकांक्षा से मनुष्य प्रेरणा ग्रहण करता है, तथापि उदात्त-भावना-जन्य गुणों और महत्त्वाकांक्षा-प्रसूत गुणों को एक दूसरे से पृथक् करना सम्भव नहीं है। वस्तुतः एक ही गुण किसी व्यक्ति में उदात्तता या सतोगुण से प्रेरित होता है, तो दूसरे में महत्त्व-भाव से या रजोगुण से। परोपकार, दान, नम्रता, सत्य आदि उदात्त गुणों को प्रधानतः उदात्त भावनाओं से प्रेरित कहा जा सकता है; किन्तु कभी-कभी उनके पीछे भी सम्मानप्राप्ति की राजसी अभिलाषा दृष्टि-गोचर होती है। इसी प्रकार शूरता-वीरता आदि महनीय गुणों को मुख्यतः महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित कहा जा सकता है, विशेषतः वहां जहां कोई व्यक्ति शत्रु से बदला लेकर अपने अहं की तुष्टि के लिए या त्रिजेता कहलाने के लिए युद्धवीर बन जाता है। किंतु, इसके विपरीत, किसी अत्याचारी से निर्बल की रक्षा के लिए, कर्त्तव्य-भाव से प्रेरित होकर यदि कोई युद्ध करता है तो उसकी वीरता उदात्त कोटि की सात्त्विक ही होगी। कहना न होगा कि गुणों का इस आधार पर विभाजन नहीं हो सकता। हां, मौलिक भावनाओं का अन्तर अवश्य दिखाया जा सकता है। यहां भी गुणों आदि के मूल में निहित भावनाओं का संकेत करने भर के लिए इन्हें दिखाया गया है, वर्गीकरण के लिए नहीं।

उदात्त भावना से प्रेरित व्यक्ति जहां हृदय पर छाता है वहां महत्त्वाकांक्षा से

प्रेरित व्यक्ति बुद्धि पर। उनके व्यवहार में भी यह अन्तर आ जाता है। उदाहरण के लिए उदात्त व्यक्ति सभी पर उपकार करने के लिए तत्पर रहता है[७], किंतु महत्त्वाकांक्षी नहीं। उदात्त में ईर्ष्या नहीं होती, किंतु महत्त्वाकांक्षी में हो सकती है।[८] उदात्त छिद्रान्वेषी नहीं होता[९], परंतु महत्त्वाकांक्षी को तो होना ही पड़ता है क्योंकि इसी पर उसकी विजय आधारित है।[१०] इस प्रकार दोनों के स्वभाव, व्यवहार और दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। सूक्तियों में महान् शब्द का प्रयोग यद्यपि दोनों के लिए कर दिया गया है, जो दोनों की अपने-अपने क्षेत्र में उच्चता दर्शाता है, तथापि उदात्त के लिए सज्जन का प्रयोग अधिक हुआ है, और वही उचित भी है।

प्रस्तुत वर्गीकरण—मानव के महनीय भाव अनेक हैं। उनका तात्त्विक दृष्टि से विवेचन करना कवियों को अभीष्ट नहीं था। इसलिए तत्सम्बन्धी सूक्तियों के अध्ययनार्थ 'व्यक्तिगत और व्यावहारिक' गुण आदि, या 'आन्तरिक और वाह्य' गुण आदि, तात्त्विक वर्ग बनाना सुविधाजनक न होता। सूक्तियों में महनीय भावनाओं को महान् या सज्जन के स्वभाव, गुण और आचार के माध्यम से व्यक्त किया गया है। इन माध्यमों (स्वभाव, गुण, आचार) को वर्गीकरण का आधार बनाया जा सकता है, किन्तु तब एक ही भावना कई माध्यमों से व्यक्त होने के कारण पुनरुक्ति होगी, और सम्भवतः यह बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं होगा। विशिष्ट महनीय भावों के आधार पर वर्ग बनाए जाएं तो भी कुछ सूक्तियां बच रहती हैं। इसलिए, सभी बातों को ध्यान में रखकर निम्न वर्गीकरण उपयोगी और सुविधाजनक प्रतीत होता है—

१. महनीय गुणों की विशेषताएं, २. परोपकार, ३. प्रत्युपकार और कृतज्ञता, ४. दान, ५. उदारता, गुणग्राहिता एवं सहिष्णुता, ६. सत्य, ७. सन्तोष, महत्त्वाकांक्षा और शान्ति, ८. नम्रता और प्रियवादिता, ९. कर्त्तव्य-पालन, १०. स्थैर्य, धैर्य और दृढ़ता, ११. आत्म-सम्मान और तेजस्विता, १२. निर्भयता और पराक्रम, १३. यशस्विता, १४. महनीय पुरुषों के चरित्र की विलक्षणता, १५. महनीय भावों का प्रभाव।

२. महनीय गुणों की विशेषताएं

सभी महनीय गुणों का उल्लेख तो न सूक्तियों में ही सम्भव है, और न अपेक्षणीय ही। इतना अवश्य है कि जहां अधिकतर सूक्तियों में कतिपय विशेष गुणों की प्रशंसा है, वहां कुछ में सामान्यतः भी गुणों के विषय में कहा गया है।

(क) गुणों की दुर्लभता—यद्यपि सभी उत्कृष्ट गुणों का सम्बन्ध प्रत्येक मानव में किसी-न-किसी अंश में विद्यमान महत्त्वाकांक्षा और उदात्त भावना से है, तथापि मानव की प्रवृत्ति किसी गुण-विशेष की ओर ही झुकी हुई हुआ करती है। कोई भी मनुष्य सर्व-गुण-सम्पन्न नहीं हो सकता। भास के शब्दों में—**एकस्मिन् दुर्लभो गुणविभवः**[११]—'एक ही व्यक्ति में सभी गुणों का वैभव दुर्लभ है।' सब गुणों की बात तो दूर है, किसी गुण-विशेष की प्राप्ति भी एक कठिन कार्य है। भारवि शारीरिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य की तुलना करते हुए कहते हैं—**सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम्**[१२]—'संसार में

सौन्दर्य पाना तो सरल है, परन्तु गुणों को अर्जित करना कठिन ।' अर्थात् शरीर से सुन्दर तो प्रायः सभी होते हैं, मन से सुन्दर कम ही होते हैं। सम्भवतः कवि की दृष्टि में अधिकतर गुण पैतृक होते हैं, अर्जित करने योग्य बहुत कम ।

(ख) गुणों की महत्ता—अश्वघोष बाह्य तथा आन्तरिक गुणों को ही वास्तविक सौन्दर्य और अलंकार मानते हैं—

भवत्यरूपोऽपि हि दर्शनीयः स्वलङ्कृतः श्रेष्ठतमैर्गुणैः स्वैः ।
दोषैः परीतो मलिनीकरैस्तु सुदर्शनीयोऽपि विरूप एव ॥[13]

—'अपने श्रेष्ठतम गुणों से सुशोभित रूपहीन व्यक्ति भी दर्शनीय ही है, जबकि मलिन करने वाले दोषों से ढका हुआ दर्शनीय व्यक्ति भी कुरूप ही है।' भर्तृहरि ने भी गुणों को आभूषण माना है और एक-एक श्रेष्ठ गुण को एक-एक प्रकार की शक्ति का अलंकार इस प्रकार बताया है—'ऐश्वर्य का सुजनता, शौर्य का वाक्संयम, ज्ञान का उपशम (मानसिक शान्ति और संयम), शास्त्राध्ययन का विनय, धन का सुपात्र में दान, तपस्या का अक्रोध, सामर्थ्य का क्षमा, धर्म का निश्छलता आभूषण है'[14]। और—सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्[15]—'सभी गुणों का कारणभूत यह शील ही सभी (शक्तियों) का उत्कृष्टतम आभूषण है।' अश्वघोष ने भी भर्तृहरि से पूर्व शील की महत्ता स्थापित की थी—शीलमास्थाय वर्तन्ते सर्वा हि श्रेयसि क्रियाः[16]—'श्रेयस् की ओर ले जाने वाली सभी क्रियाएं शील पर टिकी हैं।' स्पष्ट ही, कवि ने धर्म के उद्देश्य की प्राप्त्यर्थ आचरण की महत्ता यहां प्रतिपादित की है। कालिदास ने भी चरित्र के महत्त्व को सर्वोपरि स्वीकारा है—स्त्री पुमान् इत्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्[17]—'यह स्त्री है, यह पुरुष है, ऐसी भेदक स्थिति उचित नहीं, सज्जनों का चरित्र ही पूजनीय होता है।' स्त्री पुरुष के भेद-भाव के समान ही छोटे-बड़े का अन्तर भी गुणों की तुलना में कुछ महत्त्व नहीं रखता। भवभूति के शब्दों में—गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गम् न च वयः[18]—'गुणी लोगों में सत्कार का स्थान गुण हैं न कि स्त्रीत्व या पुरुषत्व का चिह्न या उनकी वय (-उमर)।'

शूद्रक मानते हैं कि—गुणैर्युक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः[19]—'गुणों से युक्त दरिद्र भी गुणहीन धनवानों के समान नहीं है, श्रेष्ठतर है।' इसलिए—

गुणेषु यत्नः पुरुषेण कार्यो, 'न किञ्चिदप्राप्यतमं गुणानाम्।'
गुणप्रकर्षादुडुपेन शम्भोरलङ्घ्यमुल्लङ्घितमुत्तमाङ्गम् ॥[20]

—'पुरुष को सदा गुणों के लिए यत्न करना चाहिए।' 'गुणों के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है।' 'गुणाधिक्य के कारण ही चन्द्रमा ने शिवजी का अनुल्लङ्घनीय मस्तक लांघ दिया, (अर्थात् उस पर विराजमान है)।' गुणों की ऐसी प्रभविष्णुता के कारण भारवि का यह कथन भी सच है कि—कमिवेशते रमयितुं न गुणाः[21]—'गुण किसे प्रसन्न करने में समर्थ नहीं?' कवि यह भी मानता है कि व्यक्ति की गरिमा गुणों में है—गुरुतां नयन्ति हि गुणा, न संहतिः[22]—'गौरव गुणों से आता है, संघात (शारीरिक गुरुता) से नहीं।'

(ग) **गुणवान् की महत्ता**—गुणों का विशेष महत्त्व होने के कारण गुणी व्यक्ति केवल अपने लिए ही नहीं, अपितु सभी के लिए उपयोगी होता है। अतः भास मानते हैं कि वह सभी के द्वारा रक्षणीय है—**गुणवान् रक्षितव्यो भवति।**[२३]—'गुणवान् रक्षा के योग्य होता है।' ऐसे मूल्यवान् व्यक्ति की रत्न से तुलना की जाती है, और उसकी सुरक्षा में प्रयुक्त साधन या व्यक्ति रत्न के पात्र से समान हैं। यदि गुणी की रक्षा हो गई तो साधन सार्थक हैं, अन्यथा साधन को सम्भाल कर रखने की आवश्यकता ही क्या है? वत्सराज के स्वतन्त्र हो जाने पर उसकी रक्षार्थ सन्नद्ध यौगन्धरायण राजा प्रद्योत के सैनिकों द्वारा बांधा जाता हुआ यही भाव व्यञ्जनापूर्ण शब्दों में कहता है—**नीते रत्ने भाजने को निरोधः**[२४]—'रत्न के चले जाने पर उसके पात्र को संभाल कर रखने से क्या लाभ?'

गुणी व्यक्ति के लिए इसी उपमान को लेकर कालिदास ने एक और तथ्य की ओर संकेत किया है—**न रत्नमन्विष्यति, मृग्यते हि तत्।**[२५]—'रत्न किसी को खोजता नहीं है। वह तो खोजा जाता है।' भावार्थ यह है कि सौन्दर्य आदि गुणों से युक्त व्यक्ति अपने अभीप्सित व्यक्ति को खोजने नहीं जाता अपितु दूसरे उसे खोजा करते हैं। कारण, योग्यतासम्पन्न व्यक्ति सभी के लिए उपयोगी होता है—**योग्येनार्थः कस्य न स्याज्जनेन?**[२६] —'योग्य से किसे काम नहीं पड़ता?'

जिसमें सर्वगुणसम्पन्नता हो ऐसे ही व्यक्ति को गुणी कहा जाय, यह आवश्यक नहीं। गुणों की अधिकता और दोषों की कमी से ही कोई गुणी कहलाता है। यह गुणाधिक्य का ही प्रभाव है कि कालिदास को कहना पड़ा—**एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः**[२७]—'गुणों के समुदाय में एक (या एकाध) दोष ऐसे डूब जाता है जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक।' गुणवान् व्यक्ति का एकाध दोष हम सह लेते हैं, यह स्वाभाविक ही है।

(घ) **गुणहीनता**—सभी गुणी हों यह आवश्यक नहीं, गुणहीन या दुर्गुणयुक्त व्यक्ति भी होते हैं। परन्तु कोई पहले से ही गुणहीन हो इसकी अपेक्षा किसी का अच्छाई से बुराई की ओर जाना अधिक खलता है। इसीलिए भारवि का कथन है—

'वरं कृतध्वस्तगुणाद् अत्यन्तमगुणः पुमान्।'
प्रकृत्या ह्यमणिः श्रेयान् नालङ्कारश्च्युतोपलः॥[२८]

—'गुणों का नाश करने वाले की अपेक्षा एक नितान्त गुणहीन व्यक्ति श्रेष्ठ है।' 'मूलतः मणिरहित आभूषण निश्चय ही उससे अच्छा है जिसका रत्न गिर गया हो।' इस विचार का मनोवैज्ञानिक पहलू यह हो सकता है कि वस्तु का अभाव इतना नहीं अखरता जितना कि कुछ पाकर खो देना, या जैसा कि माघ बताते हैं चढ़ कर गिरना भी बुरा है—**आरूढः पतितः इति स्वसम्भवोऽपि स्वच्छानां परिहरणीयतामुपैति**[२९]—'चढ़ कर गिरने वाला तो स्वयंभू (ब्रह्मा) भी उत्तमों द्वारा त्याज्य हो जाता है।'

गुणहीनता और सदोषता में अन्तर है। गुणों के होने का अर्थ यह नहीं है कि कोई दुर्गुणों से भर जाता है। गुण महनीयता के पचायक हैं और दुर्गुण निन्दनीयता के,

किन्तु गुण और दुर्गुण दोनों से रहित होने पर यदि कोई महनीय नहीं है तो निन्दनीय भी नहीं। माघ तो दोषाभाव को भी गुण ही मानते हैं—अपदोषतैव विगुणस्य गुणः[30]—'दोषराहित्य ही गुणहीन का गुण है।' इस सूक्ति में यह प्रेरणा छिपी है कि यदि व्यक्ति किसी गुण को न अपना सके तो दोषों को ही त्यागने का यत्न करे। यही उसके लिए श्रेय की बात है। गुणवान् पुरुष तो दोषों से इतना बचे रहते हैं कि उनमें दोषों को ढूंढ़ना भी कठिन होता है। भारवि बतलाते हैं—दुर्लभा सद्स्ववाच्यता[31]—'सज्जनों में दोष या निन्दनीयता[32] पाना कठिन है।'

इस प्रकार गुणों के विषय में सामान्यतः कहकर जैसे महनीयता की भावना व्यक्त हुई है, वैसे ही विशेष उल्लेख द्वारा भी वह पोषित हुई है। आगे गुणविशेष को लेकर तत्सम्बन्धी सूक्तियों के सार-सार-ग्रहण का यत्न किया जा रहा है।

३. परोपकार

उदात्त-भावना के प्रकाशन में जिस गुण का सर्वाधिक आख्यान हुआ है वह है परोपकार। तदर्थ परोपकारी के आचार और स्वभाव को माध्यम बनाया गया है। सभी सूक्तियां परोपकार की उदात्तता स्थापित करती हैं। भास मानते हैं कि "परोपकारी व्यक्ति अपने परोपकार गुण से ही झट पहचाना जा सकता है। इसलिए कई बार परोपकारी व्यक्ति स्वयं को छुपाने की इच्छा होने पर भी दूसरे का दुःख देखकर वैसा करने में असमर्थ हो जाता है।"[33] ऐसे उत्कृष्ट व्यक्ति की तुलना वे ऐसे सरोवर से करते हैं जो लोगों की प्यास बुझाकर ही सूखते हैं—निदाघसंशुष्क इव ह्रदो महान् नृणां तु तृष्णामपनीय शुष्यति।[34] इसमें सभी सहायतार्थियों को उपकारी व्यक्ति के उपकार का पात्र समझा गया है। इसी प्रकार कालिदास ने उपकारियों का उपकारभाजन आपत्तिग्रस्तों और विशेषतः उनके आश्रितों को माना है—आपन्नार्त्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम्।[35]
—'उत्तम जनों की सम्पत्तियों का फल आपत्तिग्रस्तों का कष्ट मिटाने में है।' तथा—

> अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णम्।
> शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्।[36]

—'वृक्ष अपने सिर पर गर्मी झेलकर अपनी छाया में ठहरे लोगों का ताप मिटाता है।' वह परोपकारी ही है जो दूसरों के दुःख अपने ऊपर ले लेता है, और बदले में सुख देता है।

ऐसे परोपकारी व्यक्ति की समृद्धि होने पर उसमें नम्रता की वृद्धि होती है, अहं की नहीं, क्योंकि उसकी भावना अपने धन को भी दूसरों के लिए समझती है। इसलिए—

> 'भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः,' 'नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।'
> 'अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः, स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।।'[37]

—'फलों के आने पर तरु नम्र हो जाते हैं।' 'नया जल पाकर मेघ भी नीचे झुक आते हैं।' 'सज्जन समृद्धियों से उद्दण्ड नहीं होते, यह तो परोपकारियों का स्वभाव ही है।' यहां पर सज्जन और परोपकारी का अभेद द्रष्टव्य है। नम्रता सामान्यतः प्रत्येक सज्जन

का गुण है और उसे परोपकारियों का स्वभाव बता कर परोपकारी की भावना को एक प्रकार से उदात्तता का मूलाधार कह दिया गया है।

परोपकार की भावना से शरणागत-रक्षा और अभयदान जैसे गुण भी प्रेरणा पाते हैं, और उन्हें निभाते हुए परोपकारी व्यक्ति लाभ-हानि की चिन्ता नहीं करता। इन गुणों की महत्ता दिखाते हुए शूद्रक कहते हैं—'जो शरणागत को छोड़ देता है, उसे जय-लक्ष्मी, मित्र और बन्धु लोग छोड़ देते हैं; तथा वह सदा उपहासास्पद होता है।'[३८] यह शरणागत-रक्षा अभयदान के रूप में इस संसार में बहुत बड़ा गुण माना जाता है, चाहे इससे परोपकार-प्रेमी को आत्यन्तिक हानि ही उठानी पड़े।[३९] परोपकारी की हानि कैसे हो सकती है, इसका स्पष्टीकरण भारवि की ये सूक्तियां करती हैं—**युक्तानां खलु महतां परोपकारे कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्तिः।**[४०]—'परोपकार में लगे महापुरुषों की प्रवृत्ति पीड़ा देने वालों के लिए भी भलाई वाली होती है।' सम्भवतः इसका कारण यह है कि—**अरुन्तुदत्वं महतां ह्यगोचरः**[४१]—'महापुरुषों के लिए किसी को दुःख देना उनके विषय से बाहर है, अकरणीय है।' अपनी अपेक्षा दूसरों की अधिक चिन्ता करने वाले वे—**स्वामापदं प्रोज्झ्य विपत्तिमग्नं शोचन्ति सन्तो ह्युपकारिपक्षम्।**[४२]—'अपनी आपदा को भुलाकर सज्जन लोग विपत्तिग्रस्त उपकारिपक्ष (उपकारयोग्य व्यक्तियों) की चिन्ता करते हैं।' इस प्रकार परोपकारियों की दृष्टि व्यावहारिक न होकर उदात्त भावना से सम्पन्न होती है। इसलिए उनका ध्यान अपने हानि-लाभ की ओर नहीं रहता, और उनकी हानि हो जाना सहज सम्भाव्य है।

इसी स्वर में स्वर मिलाकर बाण कहते हैं—**अनपेक्षितगुणदोषः परोपकारः सतां व्यसनम्**'[४३]—'(पात्र के) गुण-दोष देखे बिना किया गया परोपकार सज्जनों का व्यसन (लत और कष्ट) है।' यह उनकी प्रकृति है कि वे सभी का उपकार करने के लिए तत्पर रहते हैं, चाहे कोई उसके योग्य हो या न हो। परार्थ में लगे परोपकारी का सभी की भलाई सोचना यहां तक बढ़ता है कि वह शत्रु को भी उपकरणीय मानता है। माघ ने इसका संकेत राजनीति के सन्दर्भ में[४४] किया है—

'महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि।'
सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः॥[४५]

—'शरण में आये शत्रु पर भी महापुरुष अनुग्रह करते हैं।' 'सिन्धु जैसी नदियां अपनी सौतरूपी सरिताओं को भी समुद्र तक पहुंचा देती हैं।' इसी प्रकार शत्रुओं को भली बात बताने में भी सज्जन पीछे नहीं रहते—'**उपदेशपराः परेष्वपि स्वविनाशाभिमुखेषु साधवः**[४६]—'अपने विनाश की ओर प्रयत्नशील शत्रु के लिए भी सज्जन लोग सीख दिया करते हैं।' यह सूक्ति यद्यपि सज्जनता का दम भरने वाले शिशुपाल के दूत ने कही है, तथापि शत्रु के लिए परोपकार भाव रखने वाले सज्जन के स्वभाव की परिचायिका भी अवश्य है।

सबके लिए समान रूप से लाभकारी परोपकारी की तुलना माघ ने मेघ से की है—**वर्षुकस्य किमपः कृतोन्नतेरम्बुदस्य परिहार्यमूषरम्?**[४७] "जल बरसाने वाले उमड़े

हुए मेघ के लिए क्या ऊसर भूमि त्याज्य है ?" इस प्रकार की सज्जनता में माघ भी बाण के समान[४८] पात्र के गुण दोष को विचारणीय नहीं मानते। इस विवेकाभाव पर भी उन्हें 'भव्य' और 'वीर' शब्दों से अभिहित किया जाता है—**स्वार्थालसाः परोपकारदक्षाश्च प्रकृतयो भवन्ति भव्यानाम्**[४९]—'अपने प्रयोजन के प्रति आलसी परन्तु परोपकार में दक्ष होती हैं, भव्यों की प्रकृतियां।' तथा—**वीराणां त्वपुनरुक्ताः परोपकाराः**[५०]—'वीरों का परोपकार अडिग (अपरिवर्त्तनशील) होता है', अर्थात् वे यदि एक बार किसी का उपकार करने की ठान लें तो फिर उसे मिथ्या नहीं करते। इस सम्बन्ध में उनकी दो बात नहीं होतीं। दूसरों के प्राणों की रक्षा को, जिसे परोपकार का ही अंग कहा जा सकता है, वाण पुण्यों का समूह मानते हैं।[५१] ऐसे परोपकारी की विशालता पर उनका कथन है—'जहां क्षुद्र हृदय वाले आलसी लोगों के मनोरथ दूरगामी नहीं होते वहां सज्जनों के उपकार स्वभाव से ही पृथ्वी पर फैलने वाले होते हैं'।[५२]

दूसरों के लिए अपने जीवन की बाजी लगा देने वाले जीमूतवाहन के परोपकार भाव की प्रशंसा अन्योक्ति द्वारा हर्ष ने इस प्रकार की है—'**एकः श्लाघ्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयासः**[५३]—'सूर्य अद्वितीय है और प्रशस्य है, जिसका प्रयास केवल परहित करने के लिए होता है।' भर्तृहरि ने भी परोपकार को अन्य सभी गुणों में श्रेष्ठतर माना है—**तथाप्येतद् भूमौ न हि परहितात् पुण्यमधिकम्**[५४]—'फिर भी इस भूमि पर परहित से बढ़कर और पुण्य नहीं।'

परोपकारी की सराहना करते हुए माघ दर्शाते हैं कि सज्जन जो महान् हृदय वाला होता है 'अपने स्वभावानुसार उपकार करने के पश्चात् दूसरों के कार्य में बाधक नहीं बनता'।[५५] अतः कह सकते हैं कि क्षुद्र व्यक्ति प्रथमतः किसी का उपकार नहीं करते और यदि कोई भलाई उनसे हो भी जाए तो उसके कारण उपकृत से कुछ लाभ उठाना अपना अधिकार मानते हैं।

ऊपर की सूक्ति में माघ ने उपकारी के उपकार की स्वाभाविकता की ओर संकेत किया है। इसी प्रकार भर्तृहरि ने भी मेघ से सज्जन की तुलना करते हुए उसे स्वभाववश परोपकार में स्वतः-प्रवृत्त[५६] बताया है। कालिदास व शूद्रक के व्यञ्जनापूर्ण शब्दों में भी इसका स्पष्ट आख्यान क्रमशः इस प्रकार हुआ है—**चन्द्रादमृतमिति किमत्राश्चर्यम्**[५७] 'चन्द्रमा से अमृत हो तो क्या आश्चर्य ?' सच है—**न चन्द्रादातपो भवति**[५८]—'चान्द से धूप नहीं होती।' भाव यह है कि सज्जन से सुखद उपकार की ही आशा की जा सकती है, दुःखद दुर्व्यवहार की नहीं। तथापि कभी-कभी आपाततः परोपकारी सज्जनों का व्यवहार कठोर और रूखा प्रतीत होता है, किन्तु वह परिणाम में सुखकर ही होता है। अश्वघोष कहते हैं—**बालस्य धात्री विनिगृह्य लोष्ठं (यथो-) द्धरत्यास्यपुटप्रविष्टम्**, तथा—**अनिष्टमप्यौषधमातुराय ददाति वैद्यः**।[५९]—'बालक को पकड़कर उसके मुख-गह्वर में घुसे हुए ढेले को (जैसे) धाय निकालती है।' तथा—'वैद्य रोगी को न चाही हुई कटु औषध भी देता है।' इस प्रकार परोपकारी के हर व्यवहार के मूल में परहित-भावना कार्य करती दिखाई देती है।

उपकारी के प्रति मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी भी आत्मभाव से युक्त हो जाते हैं। कारण यह हो सकता है कि उपकार मुख्यतः हृदय को छूता है जो सभी प्राणियों में विद्यमान है। इसका मार्मिक दृष्टान्त है, राम के वनगमन पर वन्य पशुओं की उदासी, जिसके आधार पर भास का कथन है—तिर्यग्योनयोऽपि उपकृतमवगच्छन्ति[६०]—'पशु-पक्षी भी उपकार को समझते हैं।'

ऐसे सर्वातिशायी परोपकार को भर्तृहरि बहुत बड़ा आभूषण मानते हैं—विभाति कायः करुणा (कुलानां) पराणां परोपकारेण न चन्दनेन'[६१]—'पर-दुःख में अकुला जाने वाले करुणावान् लोगों का शरीर चन्दन से नहीं परोपकार से सुशोभित होता है।' इससे यह ध्वनित होता है कि परोपकारी की आत्मा पवित्र होती है और इसलिए उसे बाह्य पवित्रीकरण वा अलंकरणों की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार सभी सूक्तियां परोपकार की उदात्तता ख्यापित करती हैं। दान, अभयदान, शरणागत-रक्षा, प्राण-रक्षा जैसी उदात्त भावनाएं भी इसी से उद्भव पाती हैं। हानि उठाकर भी परहित-साधन में प्रवृत्त परोपकारी के लिए परोपकार करना उसका स्वाभाविक गुण और शारीरिक अलंकार भी बताया गया है।

४. प्रत्युपकार और कृतज्ञता

उपकार का बदला चुकाने की, प्रत्युपकार की भावना उपकृत के लिए तो अपेक्षणीय है, किन्तु सच्चा उपकारी व्यक्ति ऐसी आशा से उपकार में प्रवृत्त नहीं हुआ करता। भास ने यही दिखाया है। वसन्तसेना के उपकार के प्रतिकार-स्वरूप संवाहक उसकी चेटी को अपनी कला सिखाना चाहता है। किन्तु वसन्तसेना द्वारा न स्वीकारने पर समझ जाता है कि—को हि नाम आत्मना कृतं प्रत्युपकारेण विनाशयति ?[६२]—'कौन भला अपने द्वारा किये हुए (उपकार के पुण्य) को प्रत्युपकार लेकर नष्ट करता है ?' प्रत्युपकार न लेने की भावना का संकेत बाण ने भी किया है—'प्रत्युपकार-दुष्प्रवेशास्तु भवन्ति धीराणां 'हृदयावष्टम्भाः[६३]—'धीरों के हृदय की दृढ़ता में प्रत्युपकार (की इच्छा) का प्रवेश कठिन है।'

उपकृत के लिए यही उचित है कि वह उपकार का प्रत्युत्तर यथाशक्ति और यथावसर देने का यत्न करे। ऐसे ही भाव से सज्जलक वसन्तसेना के उपकार को लौटाने की इच्छा करता है, किंतु उसके विचार में उपकार के अवसर की प्रतीक्षा करना बुरा है, क्योंकि—नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तौ लभते फलम्[६४]—'प्रत्युपकार देने की इच्छा वाला उपकृत व्यक्ति (उपकार करने वाले की) विपत्ति में ही अपनी कामना पूरी कर सकता है।' अतः उचित यही है कि प्रतिकार-स्वरूप कुछ लाभ पहुंचा दिया जाय, जैसा कि माघ ने निशा-वर्णन करते हुए रजनी से सुशोभित चन्द्रमा द्वारा प्रत्युत्तर में रजनी का सजाया जाना दिखाकर संकेतित किया है। और इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है—'महापुरुषों का चरित्र शीघ्र ही अन्योन्य को उपकृत करने वाला होता है।'[६५] इसके अतिरिक्त, सज्जन—'जो कृतज्ञता का एकमात्र घर है'[६६]—दूसरे के उपकार को सदा कृतज्ञ-

भाव से देखता है, और फलतः प्रत्युपकार की भावना उसकी सज्जनता का तकाजा है। ध्यान रहे, अकृतज्ञता को बुरा समझा जाता है, और कृतघ्नता को भयंकर।[६७]

५. दान

सूक्तियों में जिस प्रकार के दान की चर्चा हुई है वह परोपकार की उदात्त-भावना से ही प्रेरित है। व्यावहारिक दृष्टि से महत्त्व पाने की इच्छा वाले (—जैसे कि आजकल के कतिपय दानी होते हैं और पहले भी होते होंगे, ऐसे—) दानियों का संकेत उनमें नहीं है। सज्जन व्यक्ति तो आवश्यकता अनुभव करने वाले को उसकी अभीप्सित वस्तु देना चाहता है, उसके मन में से पुण्य और यश की प्राप्ति जैसी व्यावहारिक भावना गौण ही होती है—

> न तथा रत्नमासाद्य सुजनः परितुष्यति ।
> यथा तत् तद्गताकाङ्क्षे पात्रे दत्वा प्रहृष्यति ॥[६८]

—'रत्न (मूल्यवान् वस्तु) पाकर (भी) सज्जन इतना प्रसन्न नहीं होता जितना कि उसे उसकी अपेक्षा रखने वाले सत्पात्र को देकर प्रसन्न होता है।' बाण भी यही बात इन शब्दों में कहते हैं—**अर्थिजने च किमिव नातिसृजन्ति महान्तः?**[६९]—'महापुरुष याचक (या आवश्यकता वाले, needy) को क्या नहीं दे देते?' इससे एक ध्वनि तो यह निकलती है कि वे मांगने पर अवश्य देते हैं; दूसरे, सभी कुछ दे सकते हैं।[७०] इसलिए, यदि यह कहा जाय कि सज्जनों की समृद्धि दूसरों के लिए ही होती है,[७१] तो अत्युक्ति न होगी। बाण के अनुसार उनके (सज्जनों के) धन पर दूसरों का अधिकार स्वतःसिद्ध है—**अप्रतिपाद्या हि परस्वता सज्जन-विभवानाम्।**[७२] कहना न होगा, दानार्थ अपनी सम्पत्ति का उपयोग सर्वोत्तम है। भारवि तो मानते हैं कि—**सा लक्ष्मीरुपकुरुते यथा परेषाम्**[७३]—'वस्तुतः लक्ष्मी (धन, समृद्धि, शोभा आदि) वही है जिससे कोई दूसरों का उपकार करे।'

सज्जन व्यक्ति किसी से कुछ लेने की अपेक्षा उसे देना अधिक अच्छा समझते हैं[७४], यदि किसी से कुछ लेते भी हैं तो उससे अधिक दे देते हैं। देखो न,—**सहस्रगुण-मुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः**[७५]—'सहस्रधा गुण उत्पन्न करने के लिए सूर्य (पृथ्वी से) जल लिया करता है।' प्रकृति से यह दृष्टान्त केवल राजा दिलीप पर ही नहीं प्रत्येक दानी पर लागू होता है। और इसी प्रकार—**आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव**[७६]—'मेघों के समान सज्जनों द्वारा ग्रहण दानार्थ ही होता है।'

दानी की वैभव-क्षीणता—ऐसा दानी दान के कारण हीन-वैभव होकर अधिक ही शोभा पाता है। तभी तो सर्वस्व-दान करने वाले राजा रघु में कौत्स ने सुन्दरता का दर्शन किया और पुष्टि में यह उदाहरण दिया—**पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः**[७७]—'देवताओं द्वारा क्रम से पिये हुए चन्द्रमा का कलाक्षय उसकी कलावृद्धि की अपेक्षा प्रशंसनीय होता है।' इसी भाव से भर्तृहरि की यह सूक्ति प्रेरित हुई होगी—

कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता।
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नराः (नृपाः) ॥[७८]

—'एक कलामात्र अवशिष्ट चन्द्रमा, रतिक्रीड़ा से शिथिलीभूता बाल-ललना, और याचकों पर उत्सृष्ट वैभव वाले मनुष्य (राजा) अपनी क्षीणता से ही शोभा पाते हैं।' इस प्रकार दान से प्राप्त वैभव-क्षीणता की प्रशंसा करके और 'दान को हाथ की शोभा'[७९] बताकर परोक्षरूपेण वैभवशालियों को दान देने की प्रेरणा दी गई है। काव्य के 'कान्ता-सम्मित उपदेश' की पद्धति यही तो है।

६. उदारता, गुणग्राहिता एवं सहिष्णुता

सज्जनों की एक विशिष्टता है—उदारता। यह उदारता उनमें असीमित मात्रा में हुआ करती है। सच है—**अक्षीणः खलु दाक्षिण्यकोशो महताम्**[८०]—'बड़े लोगों की उदारता का कोष अक्षय है।' स्वभाव से ही सज्जन व्यक्ति इतना उदार होता है कि उसके सम्पर्क में आने वाला हर कोई प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। सेवकों तक पर उसकी उदारता का प्रभाव पड़ता है, जैसे राजा उदयन का प्रभाव विदूषक पर पड़ा, और पद्मावती ने पहचाना—**सदाक्षिण्यस्य जनस्य परिजनोऽपि सदाक्षिण्य एव भवति**[८१]—'उदार व्यक्ति के सेवक भी उदार होते हैं।'

अश्वघोष ने उदारता गुण के श्रृंगारिक (स्त्री-पुरुष-प्रेम-परक, आभूषण व सौन्दर्य-परक) महत्त्व को एक सूक्ति द्वारा दर्शाया है—

'दाक्षिण्यमौषधं स्त्रीणां, दाक्षिण्यं भूषणं परम्।'
दाक्षिण्य-रहितं रूपं निष्पुष्पमिव काननम् ॥[८२]

—'स्त्रियों के लिए उदारता औषध है।' 'उदारता उत्कृष्ट अलंकार है।' 'उदारता-विहीन रूप ऐसा है जैसा कि पुष्प-विहीन वन।'

सज्जन व्यक्ति उदार होने के कारण दूसरों का कार्य करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। कालिदास ने बताया है—**स्वार्थात् सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव**[८३]—"स्वार्थ की अपेक्षा सज्जनों के लिए प्रार्थी अपेक्षावान्[८४] का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है।" उसे वे पूरा करके ही छोड़ते हैं, चाहे शब्दों से कुछ कहें या नहीं—**प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थ-क्रियैव**[८५]—'याचकों[८६] के विषय में अभीष्ट प्रयोजन को पूरा करना ही सज्जनों का प्रत्युत्तर है।' बाण मानते हैं कि 'सज्जनों के हृदय प्रायः अकारण मित्र और सदा अत्यन्त करुणार्द्र होते हैं'।[८७] अतः यदि वे सब की सहायता में तत्पर रहें तो क्या आश्चर्य ?

गुणग्राहिता—उदारता से सम्बन्धित एक गुण है गुणग्राहिता, जिसके फलस्वरूप सज्जन दूसरों के गुणों को अपना लेता है। बाण ने सज्जनों के मन को कुसुम के समान छोटे-छोटे गुणों को संभालने वाला[८८] कहा है। गुणों के प्रति सज्जनों का झुकाव इतना होता है कि वे दूसरों में गुण ही गुण देखते हैं—**सतां हि वाणी गुणमेव भाषते**[८९]—'सज्जनों की वाणी गुणों को ही कहती है', दोषों को नहीं। तथा वे सज्जन गुणों के ग्रहण में अपने-पराये का ध्यान नहीं रखते। भारवि कहते हैं—'**ननु वक्तृ-विशेष-निःस्पृहा**

गुणगृह्या वचने विपश्चितः[६१]—'गुणग्राही विद्वज्जन किसी वचन के सम्बन्ध में उसके वक्ता से निस्पृह रहते हैं।' वस्तुतः मनस्वीजन यह नहीं देखते कि कहने वाला कौन है, अपितु वे वचन के गुण/वगुण के आधार पर उसको ग्रहण कर लेते हैं। हर्ष के अनुसार वे तो शत्रु में भी गुणों को ढूंढ़ लेते हैं—...**गुणैकपक्षपातिनां रिपोरपि गुणाः प्रीतिं जनयन्ति**[६१]—'गुण का ही पक्ष लेने वाले व्यक्तियों को शत्रुओं के गुणों से भी प्रसन्नता होती है।' क्योंकि उनकी दृष्टि में—**अभिगमनीयाश्च गुणाः सर्वस्य**[६२]—'सबके गुण अनुसरणीय होते हैं।'

यह उनकी गुणग्राहिता ही है जो उनकी समत्व-बुद्धि को भी प्रभावित करती है। कालिदास कहते हैं—**भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः**[६३]—'समत्व-बुद्धि से युक्त स्थिर-चित्त वालों का व्यवहार भी विशिष्ट व्यक्तित्व वालों के लिए अत्यन्त आदरपूर्ण होता है।'[६४] वस्तुतः गुणग्राही सज्जन व्यवहार में व्यक्ति के गुणों का ध्यान रखते हैं। वे प्रचण्ड व्यक्ति से चाहे जैसा व्यवहार करें, किन्तु—**प्रह्वेष्व-निर्बन्धरुषो हि सन्तः**[६५]—'सज्जन व्यक्ति नम्रजनों पर क्रोध नहीं करते।' या दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है—**प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम्**[६६]—'महापुरुषों के क्रोध का प्रतिकार विनम्रता से किया जा सकता है।' यही नहीं, उन्हें वश में करने के लिए कभी-कभी नम्रता से आगे बढ़कर आत्मसमर्पण भी करना पड़ता है—**आत्मार्पणं हि महतामभूलमन्त्रमयं वशीकरणम्**[६७]—'स्वयं को समर्पित कर देना मूलमन्त्र से (अथवा औषधि और मन्त्र से)[६८] रहित होने पर भी महान् को वश में करने का साधन है।' इस प्रकार व्यवहार करने पर—**अभिराद्धुमादृतानां भवति महत्सु न निष्फलः प्रयासः।**[६९]—'महापुरुषों को प्रसन्न करने के लिए आदर करने वाले व्यक्तियों का प्रयास व्यर्थ नहीं होता।'

उन्हें प्रथमतः दूसरों में दोष देखने का स्वभाव नहीं होता पर यदि उन्हें दोष दिख भी जाए तो वे उस पर ध्यान नहीं देते। फलतः, माघ के अनुसार—**स्मर्तुमधिगत-गुणस्मरणाः पटवो न दोषमखिलं खलूत्तमाः**[१००]—'गुणों को स्मरण करने के स्वभाव वाले उत्तम जन समस्त दोष स्मरण रखने में चतुर नहीं होते।'

सहिष्णुता – उदारता के प्रभाववश मनुष्य एक अन्य गुण से युक्त हो जाता है जो दूसरों के अच्छे-बुरे सभी प्रकार के व्यवहारों को सह लेने की सामर्थ्य देता है। इसे क्षमा या सहिष्णुता कह सकते हैं। भारवि इसे सब प्रकार से सिद्धिदायक कहते हैं—**न तितिक्षासममस्ति साधनम्**[१०१]—'सहनशीलता जैसा कोई अन्य साधन नहीं।' बाण इस गुण को ही वास्तविक तपस्या मानते हैं—**क्षमा हि मूलं सर्वतपसाम्**[१०२]—'सब तपस्याओं का मूल है क्षमा।' तपस्या में कष्ट-सहिष्णुता आवश्यक है, और क्षमा में यही क्षमता है। केवल दूसरों के व्यवहारों को ही नहीं सब प्रकार की परिस्थितियों को सह लेने की प्रवृत्ति भी इस गुण में निहित है।

गुणग्राहिता और सहिष्णुता होने पर व्यक्ति दूसरे के व्यवहार और प्रयोजन का अपने मानापमान की अपेक्षा अधिक ध्यान रखता है। फलतः—**रूक्षमप्याशये शुद्धे**

रूक्षतो नैति सज्जनः[१०३]—'अभिप्राय शुद्ध होने पर रूखे वचनों को भी सज्जन रूखा नहीं मानता।' इस प्रकार वह कठोर हितकारी को सह लेता है।

७. सत्य

भास, अश्वघोष एवं भर्तृहरि ने सत्य की महत्ता क्रमशः इस प्रकार स्थापित की है—**मृतेऽपि हि नराः सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति**[१०४]—'सत्य स्थित हो तो मरने पर भी सब मनुष्य (यशः-शरीर से) रहते हैं।' अर्थात् सत्य से मर्त्य भी अमर हो जाता है। फिर—**शिरस्यथो वाससि संप्रदीप्ते सत्यावबोधाय मतिर्विचार्या**[१०५]—'सिर या कपड़ों के जल उठने पर भी सत्य जानने में बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए।' कह सकते हैं कि— **सत्यं चेत्तपसा च किम्**[१०६]—'यदि सत्य है तो तपस्या से क्या ?'

सत्य सदा एक-सा रहता है। बाण ने बताया है कि सज्जन एक बात को कहकर बदलते नहीं— **भव्या न द्विरुच्चारयन्ति वाचम्**[१०७]—'उत्तम जन दो बार (दो प्रकार की बातें) नहीं बोला करते।' वे एक वात पर दृढ़ रहने वाले सत्यप्रतिज्ञ होते हैं। भर्तृहरि ने इस सत्यव्यवहार को तेजस्वी के नाम से कहा है—'सत्यनियम के स्वभाव वाले तेजस्वी लोग प्राणों को भी सरलता से छोड़ देते हैं, पर प्रतिज्ञा को नहीं'।[१०८] इसी प्रकार माघ के अनुसार—'सच्चाई में स्थिर वाणी वाले सज्जन को कौन भला अपने वचन से चलायमान कर सकता है।'[१०९]

८. सन्तोष, महत्त्वाकांक्षा और शान्ति

सन्तोष गुण मनुज-मन की अवांछित उड़ानों पर रोक लगाता है और उसे शान्ति प्रदान करता है। इसकी प्रशंसा में अश्वघोष कहते हैं—**तुष्टौ च सत्यां पुरुषस्य लोके सर्वे विशेषा ननु निर्विशेषाः**[११०]—'संसार में मनुष्य के सन्तुष्ट हो जाने पर सभी विशेषताएं एक-सी हैं।' भर्तृहरि के शब्दों में—'**स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला**', '**मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ?**'[१११]—'वह तो दरिद्र होता है जिसकी तृष्णाएं विशाल हों', 'मन के सन्तुष्ट होने पर कौन धनी, कौन दरिद्र ?' इसलिए सन्तोष को मनुष्य के लिए धन का बहुत बड़ा कोष[११२] कहा गया है।

महत्त्वाकांक्षा—किन्तु सन्तोष का अर्थ विचारवान् भारतीय दृष्टि में यह नहीं है कि व्यक्ति की आकांक्षाएं ऊंची न हों। कालिदास कहते हैं—**उत्सर्पिणी खलु महतां प्रार्थना**[११३]—'महापुरुषों की अभिलाषा (aspiration) भी उच्च (उत्कृष्ट) होती है।' एक के बाद एक उच्चतर प्राप्ति की कामना और प्रयत्न वाले वे महत्त्वाकांक्षाविहीन नहीं होते। माघ तो बलराम के नीति-वचनों द्वारा ऐसा भाव व्यक्त करते हैं कि सतत उन्नति चाहने वाले व्यक्ति जीवन में कभी सन्तोष करके नहीं बैठते—

'तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महात्मनाम्।'
'पूर्णश्चन्द्रोदयाकांक्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः॥'[११४]

—'अत्यन्त महत्ता पाकर भी महात्माओं को सन्तोष नहीं हुआ करता।' 'इस विषय में समुद्र दृष्टान्त है जो पूर्ण होने पर चन्द्रोदय की आकांक्षा करता है।' उनका विचार है कि सन्तोषी उन्नति नहीं कर पाता, क्योंकि—

सम्पदा सुस्थिरंमन्यो भवति स्वल्पयापि यः।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम्॥'[११५]

—'थोड़ी सी भी सम्पत्ति से जो अपने को सुव्यवस्थित मान लेता है, उसकी सम्पत्ति को भाग्य भी स्वयं को कृतकृत्य मानता हुआ नहीं बढ़ाता।' सांसारिक दृष्टि से सन्तोषी की अपेक्षा महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को अधिक सफल कहा जाता है। यहां उदात्त भावना और महत्त्वाकांक्षा[११६] का स्पष्ट विरोध देखा जा सकता है किन्तु निस्सन्देह दोनों गुण महनीय हैं, और इसलिए सूक्तियों में दोनों की प्रशंसा है। हां, 'प्राप्त' से सन्तोष और 'प्राप्तव्य' की आकांक्षा द्वारा दोनों का समन्वय भी किया जा सकता है। निश्चय ही अति होने पर दोनों अपना महत्त्व खो देते हैं। कभी-कभी व्यक्ति-विशेष के कार्य-क्षेत्र के अनुसार भी इन्हें बाँटा जा सकता है, जैसे—ब्राह्मण के लिए सन्तोष और राजा के लिए आकांक्षा।[११७]

शान्ति—सन्तोष के साथ-साथ सज्जन को विशेष आनन्द शान्ति से रहने में आता है। अश्वघोष के अनुसार—पिपासु व्यक्ति धनलक्ष्मी में आनन्द लेता है, मूर्ख काम-सुख में और सज्जन अपनी विद्या (ज्ञान) से परिभोगों को अपने अधीन करके 'प्रशम' में।'[११८] सज्जन में क्षुब्धता या विकार किसी कारणवश आ जाए तो और बात है किन्तु प्रधानतः, उसका स्वभाव शान्तिप्रिय है—**उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगात्, शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य**[११९]—'पानी में गर्मी तो अग्नि के संयोग से आती है, स्वभाव से तो वह शीतल ही है।' महान् व्यक्ति भी अकारण शान्ति नहीं त्यागा करते। ऐसे सन्तुलित व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाएं भी उनके सन्तोष और शान्ति का अपहरण नहीं कर सकतीं।

६. नम्रता और प्रियवादिता

शान्तिप्रिय सज्जनों में नम्रता का गुण होना स्वाभाविक ही है। नम्रता साधारणतः सभी व्यक्तियों के लिए वांछनीय गुण है, किन्तु सामर्थ्यवान् को ही यह विशेष शोभा देता है। कालिदास के अनुसार - **अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः**[१२०]—'दर्पाभाव (-नम्रता) विक्रम का आभूषण है।' बाण भी ऐसा ही प्रकट करते हैं—**अलंङ्कारो हि परमार्थतः प्रभवतां प्रश्रयातिशयः, रत्नादिकस्तु शिलाभारः**[१२१]—'समर्थ लोगों की नम्रता का प्राचुर्य वस्तुतः अलंकार है, रत्न आदि तो पत्थर का बोझा हैं।' इससे दो तथ्य ध्वनित होते हैं। एक यह कि सामर्थ्य-सम्पन्न व्यक्ति प्रायः गर्वीले और मदयुक्त हो जाया करते हैं, अतः नम्रता का गुण उनके लिए विशिष्ट अलंकार है। दूसरे, जैसाकि राष्ट्रकवि स्वर्गीय रामधारीसिंह दिनकर ने कहा है, पराक्रमरहित के लिए नम्रता कायरता ही है :

'क्षमा सोहती उस भुजङ्ग को, जिसके पास गरल हो।
उसको क्या, जो दन्तहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो।।'[१२२]

स्वभाव से ही नम्र सज्जनों को इस तथ्य का ध्यान रखना अत्यावश्यक है। वे मित्र और शत्रु सभी से नम्रता का व्यवहार करते हैं। किन्तु शत्रु के साथ नम्रता के व्यवहार का समय क्या है?—**निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्त्तये**[१२३]—'बलपूर्वक शत्रुओं को जीतने पर ही उनसे नम्रता का व्यवहार वलवान् की कीर्ति को बढ़ाता है।' इसमें नम्रता का प्रदर्शन प्रारम्भ में न होकर विजय के पश्चात् वताया गया है। विजय से पहले की नम्रता को दुर्बलता का चिह्न माना जाता है, अतः विजयोपरान्त ही नम्रता को वांछनीय समझा गया है।

अपनी प्रशंसा न करना भी नम्रता का एक अंग कहा जा सकता है। विशाखदत्त ने विद्वानों के नाम पर यह वात कही है—**विद्वांसोऽप्यविकत्थना भवन्ति**[१२४]—'विद्वान् भी बड़बोल नहीं होते।' उनके कार्य ही उनकी महत्ता के द्योतक होते हैं—**व्यक्तिमायाति महतां माहात्म्यमनुकम्पया**[१२५]—'महापुरुषों की महत्ता उनकी कृपाशीलता से व्यक्त हुआ करती है।' आत्मश्लाघा और परनिन्दा से वे वचा करते हैं—'दूसरों के प्रकट दोषों को भी देर तक छुपाने में श्रेष्ठ व्यक्तियों की वड़ी निपुणता है, और अपने गुणों को प्रकट करने में अकौशल है'[१२६]। यह व्यवहार उनकी सज्जनता के साथ-साथ नम्रता का भी परिचायक है।

प्रियवादिता—नम्रता से मिलता-जुलता गुण है प्रियादिता। सज्जनों को तो मानो यह वंश-परम्परा से प्राप्त होता है—**सतां हि प्रियंवदता कुलविद्या**[१२७]—'प्रियवादिता सज्जनों की कुलविद्या ही है।' किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे दूसरों को जैसे-तैसे प्रसन्न करने के लिए मिठबोले होते हैं। वस्तुतः वे स्वभाव से ही प्रियवादी होते हैं, तथा ऐसा होने पर भी वे 'हितैषी लोग मिथ्या प्रिय बोलना नहीं चाहते,' जैसा कि भारवि कहते हैं—**न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः**[१२८]

१०. कर्त्तव्य-पालन

अपने धर्म अर्थात् कर्त्तव्य-पालन के लिए मर-मिटने की शिक्षा देनेवाली गीता[१२९] का अनुसरण करते हुए भास कहते हैं—**निधनमपि यशः स्यान्मोक्षयित्वा तु धर्मः**[१३०]—'धर्म को बचाकर मर जाना भी यशस्कर होता है।' इससे विपरीत स्थिति में जीना निन्दनीय है। अश्वघोष के अनुसार भी—**निधनमपि वरं स्थिरात्मनश्च्युतविनयस्य न चैव जीवितम्**[१३१]—'(धर्मनिर्दिष्ट) विनयपथ पर अडिग रहकर मरना भी अच्छा है, किन्तु उससे स्खलित होकर जीना नहीं।' कारण यह कि संयम और नियम से हीन जीवन भारस्वरूप हो जाता है, जबकि नियम या कर्त्तव्य को पूर्ण करने से शोभा की वृद्धि होती है। भारवि के शब्दों में—**व्रताभिरक्षा हि सतामलङ्क्रिया**[१३१]—'व्रत का पालन निश्चय ही सज्जनों का अलंकरण है।' यह कर्त्तव्यनिष्ठा ही व्यक्ति को प्रौढ़ता प्रदान करती है।

इसी कारण—न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते[133]—'जो धर्म में समृद्ध हैं उनकी वय नहीं देखी जाती।' इन सूक्तियों से विदित होता है कि कर्त्तव्य, नियम आदि को भारतीय जीवन में विशेष महत्त्वपूर्ण समझा जाता रहा है।

११. स्थैर्य, धैर्य और दृढ़ता

अविकारिता—उत्कृष्ट व्यक्ति की यह विशेषता होती है कि वह हर अवस्था में संतुलित विचारधारा बनाए रखता है। कारण उपस्थित होने पर भी वह स्थिर बना रहता है। अश्वघोष कहते हैं—

'किमत्र चित्रं यदि वीतमोहो वनं गतः स्वस्थमना न मुह्येत् ?'
आक्षिप्यमाणो हृदि तन्निमित्तैर्न क्षोभ्यते यः स कृती स धीरः ॥[134]

—'यदि स्वस्थ मन वाला वैरागी व्यक्ति वन में जाकर मोहित न हो तो इसमें क्या आश्चर्य ? उन कारणों द्वारा हृदय में आलोडन होने पर भी जो क्षुब्ध नहीं होता वह पुण्यशाली है, धीर है।' कालिदास के अनुसार भी—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः[135]—'विकार का कारण होने पर भी जिनके चित्त विकृत नहीं होते वे ही धीर हैं।'

विकार कभी न आता हो ऐसी बात नहीं, किन्तु यदि कभी किसी उत्तम व्यक्ति में विकार आ भी जाए तो भास के अनुसार—आगमप्रधानानि सुलभपर्यवस्थानानि महः-पुरुष-हृदयानि भवन्ति[136]—महापुरुषों के हृदय शास्त्रों की विशेषता से युक्त होने के कारण (किसी कारणवश विकृत होकर भी फिर) सरलता से पर्यवस्थित (प्रकृतिस्थ, स्वस्थ) हो जाते हैं।' कालिदास भी इसका समर्थन करते हैं—'कु-समय के दोष से उत्पन्न विकार निर्मल स्वभाव वालों में देर तक नहीं टिकता'[137]।

जहां 'मन का विकार' मानव की एक दुर्बलता है, वहां 'परिस्थिति एवं व्यक्ति-विशेष के अनुरूप अपनी मनोवृत्ति में परिवर्तन कर लेना' महापुरुषों की एक विशेषता है। हर स्थिति में धैर्यशाली उत्तम जनों के चित्त के इस अद्भुत सामर्थ्य की भवभूति ने विषमालंकार की सहायता से प्रशंसा भी की है—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ?[138]

—'वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल विलक्षण पुरुषों के चित्त को कौन जान सकता है ?' सहृदयता के प्रसंग में वे मृदु होते हैं और मर्यादा एवं कर्त्तव्य-पालन के लिए कठोर हो जाते हैं। अथवा जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्यु(-वेदु-)त्पलकोमलम्।
आपत्सु च महाशैलशिला-संघात-कर्कशम् ॥[139]

—'सम्पत्तियों में महापुरुषों का चित्त कमल सा कोमल होता है, और आपत्तियों में महा-गिरि की चट्टान-सा कठोर।' यह परिवर्तन विकार न होकर महान् की 'एकरूपता'[140] या व्यक्ति का महनीय गुण ही है। विशाखदत्त भी सज्जन की कठोरता का एक प्रसंग दर्शाते

है—निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः[१४०]—'निस्पृहों के लिए समर्थ लोग तिनके के समान तिरस्कार का विषय हैं।' इसका यह अर्थ नहीं कि तिरस्कार करने में कुछ उदात्तता है। यहां अभिप्रेत यह है कि जैसे तृण पर कोई ध्यान नहीं देता, वैसे ही वैभवशालिता से सज्जन आतंकित नहीं होता। वह तो निर्धन और दुःखियों का अधिक ध्यान रखता है। यहां कवि की दृष्टि में धन, वैभव, राजसम्मान आदि के प्रति तिरस्कार भाव रखनेवाला चाणक्य-सा वीतराग व्यक्ति श्रद्धास्पद है।

मर्यादित होना—सूक्तियों में उदात्त व्यक्ति के स्थिर एवं मर्यादित अविकारी स्वभाव की तुलना समुद्र से की गई है। कालिदास के अनुसार उत्कृष्ट व्यक्ति का आचार धन-वैभव की ऊष्मा में भी अपरिवर्तित रहता है; वह तो सदा सदाचरण में प्रवृत्त होता है, और अपनी मर्यादा में रहता है—**वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः**[१४१]—'बढ़ोतरी होने पर समुद्र की गति नदियों में ही होती है (अन्यत्र नहीं)।' भारवि के अनुसार—'समुद्रों के जल तथा मनस्वियों के मन मर्यादा-भंग से डरने वाले तथा क्षुब्ध होने पर भी स्वच्छ होते हैं।'[१४२] समुद्र के इसी उपमान का प्रयोग करते हुए माघ कहते हैं—'मेघजल से और क्षुब्ध नदियों के जल से समुद्र का जल विकार को प्राप्त नहीं होता।'[१४३] सज्जन के इस अक्षुब्ध स्वभाव की स्पष्ट स्वीकृति कालिदास व भर्तृहरि ने इस सूक्ति में की है—**अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः**[१४४]—'सज्जन समृद्धि से उद्धत नहीं होते।' और न अहंकारहीन सज्जन कभी भी बहुत सी धन-सम्पत्ति पाकर किसी स्वजन आदि को भूलते हैं।[१४५]

क्रोधाभाव और शोकाभाव—विकार, मर्यादाभंग और क्षोभ से प्रायः रहित सज्जन व्यक्ति को क्रोध और शोक नहीं सताया करते। भास ने तो सज्जनों को नितान्त क्रोधहीन देखा है—**कुतः क्रोधो विनीतानां लज्जा वा कृतचेतसाम्?**[१४६]—'विनीत व्यक्तियों को क्रोध कहां, या सुसंस्कृत चित्तवालों को लज्जा कैसी?' लज्जा या डर तो उसी को होगा जो बुरा काम करे।[१४७] इसी प्रकार कालिदास के अनुसार—**कदापि सत्पुरुषाः शोकवास्तव्या न भवन्ति**[१४८]—'सज्जन कभी भी शोक का निवास नहीं बनते।' बाण भी तेजस्वी के विषय में कहते हैं—...**न स्पृशत्येव तेजस्विनं शोकः**[१४९]—'तेजस्वी को शोक छू ही नहीं सकता।'

धैर्य—महनीयों के धैर्यगुण की महत्ता बताते हुए भारवि कहते हैं—**महतां हि धैर्यमविभाव्य-वैभवम्**[१५०]—'महापुरुषों के धैर्य का वैभव (-सामर्थ्य) जानना कठिन है।' बाण के अनुसार यही उनकी सम्पत्ति है—**धैर्यधना हि साधवः**[१५१]—'सज्जनों का धन वस्तुतः उनका धैर्य ही है।'

विरुद्ध और दुःखद परिस्थितियों में धैर्य ही महान् व्यक्ति का सहायक होता है। कालिदास प्रकृति से दृष्टान्त देकर तीन सूक्तियों द्वारा विरोधों में भी स्थिर रहने वाले धीर व्यक्तियों की महत्ता व्यंजित करते हैं—**ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः**[१५२]—'भयंकर तूफ़ान आने पर भी पर्वत अविचलित रहते हैं।' और—**द्रुम-सानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः?**[१५३]—'वृक्ष और पर्वत में क्या अन्तर रहे यदि वे दोनों

ही वायु आने पर अस्थिर हो जाएं।' इसी प्रकार—**दर्दुरा व्याहरन्तीति किं देवः पृथिव्यां वर्षितु विरमति ?**[१५४]—'मेंढक टर्राते हैं, क्या इसलिए देवता पृथ्वी पर बरसना बन्द कर देते हैं ?' अर्थात् नीचों की बकवास पर ध्यान न देकर महान् व्यक्ति अपना कार्य करते रहते हैं। यही भारवि ने भी कहा है—**परोऽवजानाति यदज्ञताजडस्तदुन्नतानां न विहन्ति धीरताम्**[१५५]—'मूर्खतावश जड़बुद्धि वाला कोई व्यक्ति यदि अवज्ञा करता है तो इससे ऊंचे लोगों का धैर्य नष्ट नहीं होता।'

बाण बताते हैं कि महान् व्यक्ति छोटी-छोटी आपत्तियों से नहीं घबराते। देखा जाता है कि—**न हि क्षुद्रनिर्घातपाताभिहता चलति वसुधा**[१५६]—'छोटे से वज्रपात के प्रहार से भूमि विचलित नहीं होती।' भाव यह कि महान् व्यक्ति को विचलित करने के लिए संभवतः बहुत बड़ा आघात ही समर्थ हो सकता है। अतः महान् धैर्यशाली भी विचलित हो सकते हैं, पर क्षुद्र कारणों से नहीं। किन्तु भर्तृहरि आदर्श धैर्यशाली को किसी भी पीड़ा के सामने न झुकने वाला मानते हैं—

> **कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम्।**
> **अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा यान्ति कदाचिदेव॥**[१५७]

—'उत्पीड़ित किये हुए भी धैर्यशाली की धीरता नहीं मिटाई जा सकती।' 'आग को अधोमुखी करने पर भी उसकी लपटें कभी नीचे नहीं जातीं।' जिस व्यक्ति को धैर्य अपने स्वभाव के रूप में प्राप्त हुआ हो उसके लिए कवि की यह बात अवश्य सही हो सकती है। धैर्यपूर्वक विपत्तियों का सामना करने के फलस्वरूप—**धीरा हि तरन्त्यापदम्**[१५८]—'धैर्यशाली जन आपत्तियों को पार कर जाते हैं।'

दृढता—महनीयों के दृढ़ निश्चय को कहती हैं ये सूक्तियां—**क ईप्सितार्थ-स्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्**[१५९]—'अभिलषित प्रयोजन के लिए स्थिर निश्चय वाले मन को और नीचे की ओर बहने वाले जल (के स्वभाव) को कौन बदल सकता है ?' तथा—**सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः**[१६०]—'सज्जनों का अन्तःकरण सरलता से वश में नहीं आ सकता'; अर्थात् अपने स्वरूप में दृढ रहता है, और क्रोध आदि दोषों से विकृत नहीं किया जा सकता।

दृढ़ता गुण से सम्पन्न सज्जन अपने मार्ग से विचलित नहीं होते, और फलतः 'आफलोदयकर्म'[१६१] कहाते हुए स्वीकृत कार्य को पूर्ण करके ही छोड़ते हैं—**प्रारब्ध-मुत्तमगुणा न परित्यजन्ति**[१६२] (या **'प्रारभ्य चोत्तमजनाः परिपालयन्ति'**)—'उत्तम गुणों वाले प्रारब्ध कार्य को छोड़ा नहीं करते।' (या 'कार्य प्रारम्भ करके उत्तमजन उसे निभाते हैं।') विशाखदत्त फिर कहते हैं—**निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्र-व्रतम्**[१६३]—'अंगीकृत वस्तुओं का अन्त तक निर्वाह करना सज्जनों का कुल-नियम है।' भर्तृहरि भी इसी भाव को स्पष्ट करते हैं—**न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः**[१६४]—'धीर लोग अपने निर्धारित विषय को पाये विना नहीं रुकते, (या निश्चित विषय से विमुख नहीं होते)।' वस्तुतः उन महापुरुषों का मुख्य ध्यान अपने कार्य की ओर होता है, और

बाधाएं उन्हें चिन्तित नहीं करतीं…'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्'[१६५] —'कार्य से प्रयोजन रखने वाला विचारशील प्राणी न दुःख गिनता है, न सुख।'

सज्जनों के विचलित न होने का कारण यह भी हो सकता है कि उनका आधार न्याय पर टिका होता है,[१६६] इसलिए उनकी दृढ़ता के साथ न्याय्यता भी जुड़ी है—न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः[१६७]—'धीर व्यक्ति न्याय्य पथ से एक डग भी नहीं डिगते।' यह आचार स्वभाव की उत्कृष्टता का परिचायक अवश्य है, किन्तु इससे व्यावहारिक सफलता या परिस्थिति-विशेष (जैसे राजनीति) में असफलता भी मिल सकती है, और इतने अंश में उदात्त भावनाओं की सांसारिक उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लगता है।

१२. आत्म-सम्मान और तेजस्विता

ओजस्वी कवि भारवि की दृष्टि में स्वाभिमानविहीन व्यक्ति तिनके के समान है—

जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः।[१६८]

तथा— तावदाश्रीयते लक्ष्म्या तावदस्य स्थिरं यशः।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ॥[१६९]

—'लक्ष्मी तभी तक किसी का आश्रय लेती है, यश भी तभी तक स्थिर है, और तभी तक वह पुरुष कहाने योग्य है, जब तक कि कोई अपने मान से नहीं गिरता।' आपत्ति से घबराने की तो बात ही क्या, प्रत्युत वह आपत्ति भी मानी के लिए आनन्द का विषय होती है, जिसमें उसका स्वाभिमान जिन्दा रहे--परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्।[१७०]—'शत्रुओं से जिनकी वीरता रूपी सम्पत्ति को कोई हानि नहीं पहुंची ऐसे मानियों के लिए आपत्ति भी उत्सव का ही कारण है।' मानी स्वयं अर्जित वैभव में ही स्वाभिमान का अनुभव करता है अन्यथा नहीं—न महान् इच्छति भूतिमन्यतः।[१७१] —'महान् व्यक्ति दूसरे (की कृपा) से ऐश्वर्य प्राप्त करना नहीं चाहता।'

मानी कभी अपनी शान से घटिया वस्तु को नहीं स्वीकारता—किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ?[१७२]—'क्या मानियों में अग्रगण्य सिंह सूखी घास खा सकता है ?' मानी जो कुछ भी करता है गौरवपूर्ण ढंग से करता है। सामान्य व्यक्ति से या अधम से यहां उसका भेद किया जा सकता है—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनं च।
श्वा पिण्डदस्य कुरुते, गजपुङ्गवस्तु धीरं विलोकयति, चाटुशतैश्च भुङ्क्ते।[१७३]

—'पूंछ हिलाना, नीचे चरणों में गिरना और भूमि पर लेटकर पेट दिखाना यह सब कार्य कुत्ता अपने अन्नदाता के लिए करता है। किन्तु श्रेष्ठ हाथी तो धैर्य से देखता है, और सैंकड़ों बार प्रार्थना करने पर खाता है।'

ये मानी व्यक्ति संसार में सबसे ऊंचे रहना चाहते हैं, नहीं तो सामने भी नहीं आना चाहते। भर्तृहरि के शब्दों में—

कुसुमस्तबकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा ।[१७४]

—'पुष्पगुच्छ के समान मनस्वी के दो व्यवहार हैं—या तो सब संसार के सिर पर, या फिर वन में ही बिखर जाना।' मानी स्वभाव के वशीभूत होकर वह दूसरे को अपने से बढ़ा हुआ नहीं देख सकता। वह मानी हो या तेजस्वी, दूसरों के उत्कर्ष के प्रति असहनशील होता है—

'न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते।'
स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः।[१७५]

—'तेजस्वी दूसरों के फैले हुए तेज को नहीं सह सकता। यह तो उसकी प्रकृति में नियत होने से उसका अकृत्रिम स्वभाव है।' भारवि के अनुसार भी—

'किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः ?'
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया।[१७६]

—'गरजते मेघों से किस फल की आशा में मृगराज याचना करेगा ?' 'अरे ! यह तो महान् की प्रकृति है जिसके कारण वह शत्रु की उन्नति नहीं सह सकता।' शत्रु को नीचा दिखाने की महान् की प्रवृत्ति सकारण है। इसके बिना उसकी महत्ता कैसे स्थापित हो ? माघ भी मानते हैं कि मानी दूसरे की वृद्धि नहीं सह सकता—'परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम्[१७७]—'मानियों का मन दूसरे की वृद्धि से ईर्ष्या करता है।' इसे महनीयों का महत्त्वाकांक्षाजन्य दोष कहना भी गलत न होगा। यह उसके अहं और तेजस्विता का ही एक पहलू है। इसी के प्रकाशनार्थ वह शत्रु के पूर्ण शक्तिसम्पन्न होने पर ही आक्रमण करने के लिए जितना लालायित होता है, उसकी दुर्बलता पर उतना नहीं। अतः—

'नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रियै।'
विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः ॥[१७८]

—'शत्रु पर उसकी विपत्ति में आक्रमण करना चाहिए, यह नीति मानी के लिए लज्जाजनक है।' 'राहु को जैसे पूर्ण चन्द्र पर वैसे ही मानी को समृद्ध शत्रु पर ही आक्रमण करना आनन्द देता है।' शक्ति आदि गुणों में अपने से न्यून व्यक्ति महान् को शत्रुता के लिए क्यों नहीं भाता ? इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि—

अन्योन्यमाहात्म्यविदोरन्यैरविदितात्मनोः।
विराजते विरोधोऽपि, नाम स्नेहे तु का कथा ![१७९]

'एक दूसरे की महत्ता जाननेवाले तथा अन्य व्यक्तियों से न जाने हुए दो (श्रेष्ठ व्यक्तियों) का विरोध भी अच्छा लगता है, स्नेह हो तो भला क्या कहना !' अतः भवभूति की दृष्टि में महान् का व्यवहार महान् से ही अच्छा लगता है।

विशेषतः मानी ही तेजस्विता धारण करता है, क्योंकि वह अच्छी तरह समझता है कि संसार में तेजोहीन व्यक्ति को सभी तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, और ऐसी स्थिति उस मानी के लिए असह्य होती है। भारवि ने इस तथ्य का संकेत लोकोक्ति-सूक्ति के समन्वय[१८०] द्वारा इस प्रकार दिया है—

'ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।'
'अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः ॥'[१८१]

—'कोई व्यक्ति जलती हुई अग्नि को नहीं अपितु भस्मसमूह को उलांघा करता है।' '(इसी) तिरस्कार के भय से मानी अपने प्राणों की अपेक्षा भी तेजस्विता को सुख से नहीं छोड़ते।' 'मानी भी और तेजस्वी भी अपमान नहीं सह सकता' इस तथ्य को कालिदास ने इस प्रकार व्यंजित किया है—**अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ?**[१८२]—'क्षमा न करने वाला क्रुद्ध सर्प पैर से छूने वाले को क्या रक्त पीने की इच्छा से काटता है ?' नहीं, वह तो अपमान के प्रतिकारार्थ ऐसा करता है। इसी प्रकार भर्तृहरि पूछते हैं कि—'जब जड़ सूर्यकान्त मणि भी सूर्य के पादों (किरणों और चरणों) के स्पर्श से जल उठता है, तब तेजस्वी पुरुष दूसरे का अपकार कैसे सह सकता है ?'[१८३]

शत्रु से व्यवहार में तेजस्वी पुरुष का यह मानी-स्वभाव और भी स्पष्टतापूर्वक देखा जा सकता है। माघ बताते हैं— **विलम्बितुं न खलु सहा मनस्विनो विधित्सवः कलहमवेक्ष्य विद्विषः**[१८४]—'शत्रुओं को (अपने से) कलह करता देखकर मनस्वीगण देर नहीं कर सकते।' किन्तु शत्रु से प्रतिशोध लेते समय भी वे अपनी महत्ता और उदात्तता से प्रेरित होकर निकृष्ट साधनों का प्रयोग नहीं करते—**न परेषु महौजसश्छलादपकुर्वन्ति मलिम्लुचा इव**[१८५]—'महान् ओजस्वी पुरुष मलिन व्यक्तियों के समान शत्रु पर छल से आक्रमण नहीं करते।' उन्हें विश्वास होता है कि उनके अदम्य तेज को शत्रु किसी प्रकार नहीं रोक सकता—**प्रलयोल्लसितस्य वारिधेः परिवाहो जगतः करोति किम् ?**[१८६]—'प्रलय काल में उद्वेलित समुद्र को रोकने में सांसारिक बांध क्या करेंगे ?' तेजस्वी का क्रोध भी खाली बातों से शान्त नहीं हो जाया करता।

तेजस्विता में वयोवृद्ध या दीर्घकाय होने या न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। कालिदास कहते हैं—**तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते**[१८७]—'तेजस्वियों की वय नहीं देखी जाती।' कवि ने छः वर्ष के राजा सुदर्शन के महाराज कहलाए जाने पर औचित्य स्थापित करते हुए जो उपमा दी है उसमें भी इसी भाव की समर्थक यह सूक्ति छिपी है—'छोटी-सी मणि में महानील नाम उसके प्रभाव के कारण मिथ्या नहीं है।'[१८८] इसी प्रकार माघ का विचार है कि दीर्घकाय व्यक्ति की अपेक्षा तेजस्वी का प्रभाव अधिक होता है—**इन्धनौघधगप्यग्निस्त्विषा नात्येति पूषणम्**[१८९]—'ईन्धन के ढेर को लील जाने वाली आग भी तेजस्विता में सूर्य को नहीं लांघ सकती।'

१३. निर्भयता और पराक्रम

पराक्रमी का व्यवहार उसकी आत्मगौरव की भावना से प्रेरित रहता है। शारीरिक शक्ति के साथ-साथ मानसिक शक्ति का प्राचुर्य भी उसकी शूरता और वीरता का कारण बनता है। निर्भयता उसकी सतत सहचरी है इसलिए समय उपस्थित होने पर—**युयुत्सुभिः किं समरे विलम्ब्यते ?**[१९०]—'युद्ध के इच्छुक कहीं युद्ध में देर लगाते हैं ?' और फिर शत्रु को खोज-खोज कर मारते हैं—**धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत**

एव वह्निः[१६१]—वायु के कारण धूआं लौट सकता है, परन्तु अग्नि वहीं पहुंचती है जहां भूसा हो।' तात्पर्य यह कि विरोध में कायर चाहे भाग जाएं, परन्तु शूरवीर तो शत्रु को नष्ट करने में जुटे रहते हैं। इसी भाव से माघ की यह सूक्ति कही गई है—हरिराक्रमणेन सन्नतिं किल बिभ्रीत भियेत्यसम्भवः[१६२]—'आक्रमण से डरकर सिंह झुक जाए यह असम्भव है।'

कालिदास मानते हैं कि तुच्छ शत्रु पर आक्रमण करना शूरवीर का कार्य नहीं—किं महोरग-विसर्पि-विक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते[१६३]—'क्या महान् सर्प के विसर्पण पर आक्रमण करने वाला गरुड़ केंचुओं पर धावा बोलता है?' ऐसा करने में उसका क्या गौरव? उसकी महत्ता तो इसमें है कि वह अपने प्रचण्डतम शत्रु को परास्त कर दे—पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः[१६४]—'अग्नि का माहात्म्य इसमें है कि वह सागर में भी तिनकों के समान जल उठे।' पराक्रमी का पराक्रम अपने शक्तिशाली शत्रु को परास्त करके ही प्रकट होता है। इसलिए वह अपने छोटे-मोटे शत्रु की ललकार का प्रत्युत्तर भी नहीं देता—अनुहुंकुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी[१६५]—'सिंह मेघ-गर्जन पर हुंकारता है, गीदड़ के रुदन पर नहीं।'

इन सूक्तियों का आधार यह भावना प्रतीत होती है कि अपने से हीन व्यक्ति पर विजय पाना कोई गौरव की बात नहीं समझी जाती, और यदि कहीं हीन से पराजित होना पड़े तो नितान्त लज्जाजनक होता है। दूसरी ओर अपने से अधिक शक्तिशाली के साथ लड़ना भी गौरव का विषय होता है।

वीर जब दृढ़ निश्चय कर लेता है तब उसके लिए बड़े से बड़ा कार्य भी सहल, और कठिन से कठिन शत्रु को भी वश में करना सरल हो जाता है। बाण के अनुसार—वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य[१६६]—'प्रण कर लेने वाले वीर के लिए सुमेरु पर्वत भी बांबी के समान है', और फिर—धृतधनुषि बाहुशालिनि शैला न नमन्ति यत्तदाश्चर्यम्[१६७]—'यदि भुजाओं वाला धनुष उठा ले और पर्वत न झुक जाएं तो आश्चर्य ही है!' बस एक बार तैयार होने की देर होती है, फिर तो वीर की विजय सहज ही हो जाती है—संकल्पान्तरितो विजयस्तरस्विनाम्[१६८]—'पराक्रमी वीर की विजय में केवल संकल्प का व्यवधान रहता है।' उसका निश्चय हुआ और उसे विजय मिली।

जहां दो वीर मिलते हैं वहां वीर-भाव की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है, अन्य शृंगार, करुण आदि की नहीं। अतः भवभूति कहते हैं—वीराणां समयो हि दारुणरसः स्नेहक्रमं बाधते[१६९]—'वीरों का आचरण (युद्ध आदि के कारण, वीर, रौद्र आदि) दारुण रसों से युक्त है, अतः स्नेह के प्रसार को रोकता है।' अर्थात् दो वीर योद्धा प्रतिद्वन्द्विता होने पर प्रायः एक दूसरे के प्रति स्नेह से युक्त नहीं हो सकते।

१४. यशस्विता

यश की कामना वाले महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों के लिए निन्दा सहना अत्यन्त कठिन है। इसलिए वे स्वयं भी—नोत्सहन्ते महात्मानो ह्यात्मानमपस्तोतुम्[२००]—'महापुरुष अपनी निन्दा नहीं कर सकते।' दूसरे के द्वारा की हुई निन्दा को तो सहने की बात ही क्या? इसका कारण यह है कि वे अपने यश को बहुत महत्त्व देते हैं—अपि स्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थाद् यशोधनानां हि यशो गरीयः[२०१]—'इन्द्रियों के विषय से ही क्यों अपने शरीर से भी अधिक यशस्वियों को अपना यश प्यारा होता है!' शरीर से भी अधिक वे अपनी यशः-काया से जीवित रहना चाहते हैं—स्थायिनि यशसि शरीरधीर्वीराणाम्[२०२] —'वीर स्थायी यश को ही अपना शरीर मानते हैं', और इसे हर प्रकार से सुरक्षित रखना चाहते हैं, विशेषकर शत्रुओं से। अतः उनकी दृष्टि में—यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः[२०३]—'यशस्वियों को शत्रुओं से अपने यश की रक्षा करनी चाहिए।'

यश का आधार है लोक में प्रसिद्धि, और कालिदास के अनुसार असामान्य या विचित्र सा कार्य प्रसिद्धि देने वाला होता है—अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म[२०४]—'चाहे अप्रशस्त हो किन्तु असाधारण कार्य ही यशस्कर होता है।' भारवि असाधारण की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट कार्य को महत्त्व देते हैं—

करोति योऽशेष-जनातिरिक्तां संभावनामर्थवतीं क्रियाभिः।
संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे न पूरणी तं समुपैति सङ्ख्या॥[२०५]

—'जो व्यक्ति सभी लोगों से बढ़े-चढ़े समादर (या सम्भावना—possibility) को अपनी क्रियाओं से सफल करता है, सभाओं में योग्य पुरुषों की गणना[२०६] होने पर उसकी संख्या पूरक (द्वितीय, तृतीय आदि) नहीं होती', वह तो अग्रणी ही रहता है। कवि ऐसे ही महापुरुष का जीवन सफल समझता है जिसके साथ किसी अन्य की तुलना न हो सके[२०७], तथा जिसका यश चन्द्र-मण्डल को भी लज्जित करदे। उसी के कारण पूर्वजों को सन्ततिवाला एवं वसुन्धरा को सार्थक (प्राण, धन आदि मूल्यवान् वस्तुओं को धारण करने वाली) मानता है।[२०८] यशस्करी लोक-प्रसिद्धि को बाण तो परमार्थ जैसे गुण से भी अधिक फलदायी[२०९] बताते हैं।

१५. महनीय पुरुषों के चरित्र की विलक्षणता

माघ के अनुसार उदात्त चरित्र में कई परस्पर विरुद्ध लगने वाली विशेषताओं का समन्वय हुआ रहता है, जैसे—

तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः, कर्म शान्तं प्रतापवत्।
नोपतापि मनः सोष्म, वागेका वाग्मिनः सतः॥[२१०]

—'सज्जन की बुद्धि तीक्ष्ण होती है किन्तु चुभने वाली नहीं, प्रतापी होने पर भी कर्म शान्त होता है, (प्रेम आदि की) ऊष्मा से युक्त होने पर भी मन सन्ताप नहीं देता, और वाग्मी होने पर भी उसकी वाणी एक ही होती है।'

महापुरुषों के अद्भुत और अलौकिक चरित्र के बारे में भर्तृहरि कहते हैं—अहह, महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः[२११]—'अहो, महापुरुषों के चरित्रों का वैभव असीम हैं।' भाव यह कि उनके गुणों की प्रभूतता के कारण उन्हें गिनाना सम्भव नहीं। और माघ के अनुसार उनका चरित्र सामान्य लोगों में अप्राप्य है—महतां हि सर्वमथवा जनातिगम्[२१२]—'महापुरुषों का सभी कुछ लोकातीत है।' वस्तुतः उनके बाह्य आचारों और व्यवहारों से भी उनकी मनोवृत्ति को समझना कठिन होता है। भारवि बतलाते हैं—दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः[२१३]—'महापुरुषों की चेष्टाओं (व्ययहारों) के हेतु को समझना कठिन है।' इसका कारण क्या है, यह बाण की एक सूक्ति से कुछ स्पष्ट होता है—निसर्गस्वैरिणी स्वरुच्यनुरोधिनी च भवति हि महतां मतिः[२१४]—'महापुरुषों की बुद्धि स्वभावतः स्वेच्छाचारिणी और अपनी रुचि का आग्रह रखने वाली होती है।' इसके पीछे भाव यह हो सकता है कि महापुरुषों के कुछ विचार ऐसे अनूठे होते हैं, जिन्हें तर्क-बुद्धि और लोकाचार की कसौटी पर खरा सिद्ध कर पाना कठिन है।

१६. महनीय गुणों का प्रभाव

कतिपय सूक्तियों में बताया गया है कि महान् व्यक्ति की उत्कृष्टता का प्रभाव किस-किस रूप में हो सकता है। कुछ प्रभाव गुण-विशेष की प्रभविष्णुता के रूप में दर्शाये गये हैं, और कुछ सामान्यतः महनीय व्यक्ति की उपलब्धियों या सिद्धियों के द्योतक हैं।

(क) **संयम का प्रभाव**—संयम और आत्मवशित्व से सम्पन्न जितेन्द्रियों के सामर्थ्य और प्रभाव को कालिदास एक सूक्ति से इस प्रकार कहते हैं—अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बुधराश्च योनयः—[२१५]'संयमी और मेघ जहां वज्र गिरा सकते हैं, वहीं अमृत भी बरसा सकते हैं।' उनकी सज्जनता भी तो इसी में होती है कि वे समर्थ होते हुए भी किसी को हानि नहीं पहुंचाते[२१६]। भारवि ने संयमी को सदा प्रसन्न, गरिमा-मण्डित और सुरक्षित बताया है—

किमिवावसादकरमात्मवताम् ?...
वशिनां न निहन्ति धैर्यमनुभावगुणः...
प्रभवति न तदा परो विजेतुं भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा।[२१७]

—'संयमी के लिए दुःख का कारण क्या हो सकता है ?' (कुछ भी नहीं)।
'संयमी की गरिमा (dignity) का गुण धैर्य को नष्ट नहीं होने देता।'
'जब जितेन्द्रियता आत्मरक्षा करती है तब शत्रु जीत नहीं सकता।'

आत्मसंयम मनुष्य का व्यक्तिगत गुण है और जिस प्रकार परोपकार को सब उदात्त एवं व्यावहारिक गुणों का मूलाधार कहा गया है उसी प्रकार इसे अन्य सभी महनीय व्यक्तिगत गुणों का प्रस्तोता कह सकते हैं।

(ख) **शक्ति का प्रभाव**—शारीरिक और मानसिक शक्तियों से सम्पन्न बलवान् व्यक्ति का प्रभाव अनेक रूपों में पड़ता है। भारवि इसे अन्य सब गुणों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली मानते हैं—गुणसंहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि

सिताम्[२१५]—'गुणसमूह से भी बढ़कर सज्जन (यहां सज्जन शब्द निश्चय ही महापुरुष का वाचक है) की अपनी शक्ति उसका उपकार करती है।' कहा भी गया है, महान् की सफलता साधनों पर नहीं, उसकी अपनी शक्ति पर आश्रित होती है।[२१६]

सभी लोग शक्तिशाली को मित्र बनाना चाहते हैं। इसलिए उसकी प्राप्तियों के कारण चाहे उससे ईर्ष्या उत्पन्न हो जाए; जैसा कि भवभूति ने भी कहा है—सुलभद्वेषं हि वीरव्रतम्[२२०]—'वीर के कर्म या निश्चय से द्वेष हो जाना सरल है;' फिर भी, प्रायः विरोध में कोई नहीं आना चाहता। बलशाली से विरोध का अभाव प्रकृति के व्यवहार में भी परिलक्षित होता है—समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः।[२२१]—'हवा की सहायता होने पर भी दावाग्नि जलाने के लिए पानी की खोज नहीं करती।' अर्थात् अधिक सशक्त जल से विरोध करने का साहस नहीं करती। अतः, नीतिवान् व्यक्ति शक्तिशाली होते हुए भी अपने से अधिक समर्थ को शत्रु नहीं बनाता। शूद्रक का तो स्पष्ट मत है—बलवता सह को विरोधः?[२२२]—'बलवान् के साथ कैसा विरोध?' भारवि भी कहते हैं—अहो, दुरन्ता बलवद्विरोधिता[२२३]—'ओहो, बलवान् से विरोध करने का परिणाम बुरा ही होता है।' माघ इसे सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

'महतस्तरसा विलङ्घयन् निजदोषेण कुधीर्विनश्यति।'
'कुरुते न खलु स्वयेच्छया शलभानिन्धनमिद्धदीधितिः।'[२२४]

—'शीघ्रता में (शक्ति के दिखावे में) महापुरुषों को लांघता हुआ दुर्बुद्धि अपने ही दोष से नष्ट होता है। (चण्ड किरणों वाली) लपटें शलभों को अपनी इच्छा से ईंधन नहीं बनातीं।' सच है, अपनी मूर्खतावश पतंगा शमा से टक्कर लेता है और प्राण गंवाता है।

बलवान् का विरोध करके उसे उचित मार्ग पर यदि कोई हीनशक्ति चलाना चाहे तो असम्भव है। क्योंकि— न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम्।[२२५]—'कमलनाल के रेशे मस्त हाथी के निवारणार्थ नहीं होते।' युद्ध के प्रसंग में भी शक्ति की विशेष महत्ता है— प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः[२२६]—'युद्ध में जय की शोभा प्रकृष्ट के अधीन है।' जो शक्ति में बहुत अधिक है उसको विरोध द्वारा या लड़कर वश में करने का प्रयत्न वृथा हो जाता है, चाहे वह बुद्धि में मन्द हो या तीव्र—आक्रान्तितो न वशमेति महान् परस्य। तथा— मन्दोऽपि नाम न महान् अवगृह्य साध्यः।[२२७]—'शक्ति में महान् व्यक्ति शत्रु द्वारा आक्रान्त होकर उसके वश में नहीं आता।' तथा—'शक्तिशाली मन्दबुद्धि को भी लड़ाई से नहीं साधा जा सकता।'

यह तो हुई उन बलवानों की बात जो शारीरिक शक्ति में बढ़े-चढ़े हैं। जिनके पास बौद्धिक बल है उनका विरोध या अपमान बहुत भयंकर हो सकता है—बाण मानते हैं—अभिचारा इव विप्रकृताः सद्यः सकलकुलप्रलयमुपहरन्ति मनस्विनः।[२२८]—'ब्राह्मणों द्वारा किए अभिचार (यातु-जादू के-मन्त्रों के प्रयोग[२२९]) के समान तिरस्कृत मनस्वी शीघ्र ही समस्त कुल की प्रलय ले आते हैं।'

(ग) आत्मसम्मान और तेजस्विता का प्रभाव—तेजस्वी के प्रति व्यवहार के सन्दर्भ में सूर्य और सिंह का उदाहरण प्रायः दिया गया है। कोई व्यक्ति उसका तेज रोकना चाहे तो सम्भव नहीं। देखिये—कः शक्तः सूर्यं हस्तेनाच्छादयितुम्[230]—'सूर्य को हाथ से ढकने में कौन समर्थ है?' इसी प्रकार—न व्याघ्रं मृगशिशवः प्रधर्षयन्ति[231]। —'बाघ को हिरणों के बच्चे नहीं दबा सकते (या आक्रान्त नहीं कर सकते)।' तेजस्वी के तेज और शक्ति के सामने प्रकृति भी कभी-कभी विरोध करने में असमर्थ रहती है,[232] छोटे-मोटे आदमी तो सिर क्या उठाएंगे? यही कारण है कि कोई उसके आत्मसम्मान को चोट पहुंचाने का साहस नहीं कर सकता।

तेजस्वी के सामने विरोधी वैसे ही भाग जाते हैं जैसे सूर्य के सामने अन्धकार। कालिदास कहते हैं— तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति?[233]—'सूर्य के तपते हुए होने पर अन्धकार कैसे प्रकट हो सकता है?' इसीलिए तेजस्वी राजा के रहते प्रजाओं पर कष्ट नहीं आता। इसी भाव को कवि ने फिर कहा है—सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा?[234]—'सूर्य के प्रकाशित होने पर संसार की दृष्टि को ढकने के लिए अन्धकार कैसे समर्थ हो सकता है?'—इन सूक्तियों का कथन यद्यपि तेजस्वी राजा के रहते हुए प्रजा की कुशलता के प्रसंग में हुआ है, परन्तु इनसे यह सामान्य तथ्य प्रकट होता है कि तेजस्वी के विरोधी उससे भय खाते हैं।

मानी को अलंघ्य-अतिरस्करणीय बताते हुए भारवि उसकी तुलना पर्वत से करते हैं—

> दुरासदवनज्यायान् गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधरः।
> न जहाति महौजस्कं मानप्रांशुमलङ्घ्यता॥[235]

—'दुष्प्राप्य वनों से विशाल और ऊंचा गिरि भी लंघ्य है, किंतु मान में ऊंचे प्रतापी पुरुष को अलङ्घ्यता कभी नहीं छोड़ती।' माघ ने, जैसे इस सूक्ति से प्रेरणा पाकर मानी की तुलना समुद्र से भी कर डाली—

> तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाधता।
> अलङ्घनीयताहेतुरुभयं तन्मनस्विनि॥[236]

—'पर्वत में ऊंचाई है गहराई नहीं, सागर में गहराई है ऊंचाई नहीं। किन्तु मनस्वी में दोनों हैं, जिससे वह अलंघ्य है।'

तेजस्वी पुरुष के संरक्षण में रहने वाले व्यक्ति को कोई हानि नहीं पहुंचा सकता। माघ पूछते हैं— को विहन्तुमलमास्थितोदये वासरश्रियमशीतदीधितौ?[237]—'सूर्य के उदित रहने पर कौन दिन की शोभा नष्ट कर सकता है?' हानि पहुंचाना तो दूर, तेजस्वी से रक्षित वस्तु पर बुरी नजर डालना भी दुस्साहस ही होगा। क्योंकि—'कः करं प्रसारयेत् पन्नगरत्नसूचये?[238]—'सर्प की मणि की ओर इंगित करने के लिए कौन हाथ फैलाएगा?' या विशाखदत्त के शब्दों में—को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्?[239]—'तिरस्कार करके कौन सिंह की दाढ़ उखाड़ना चाहता है?'

तेजस्वी के सामने तो क्या उसके पीछे भी उसका भय विरोधी को सिर नहीं उठाने देता। सिंह का ही उदाहरण देखिये—**वसुधाधर-कन्दराभिसर्पी प्रतिशब्दोऽपि हरेर्भिनत्ति नागान्**[२४०]—'गिरिगुफा में फैलने वाली सिंह की हुंकार भी हाथियों के झुण्ड को छिन्न-भिन्न कर देती है।' तेजस्वी पुरुष का तो आतंक ही बहुत होता है। अतः बाण भी प्रश्न करते हैं—**केसरिणि वनविहाराय विनिर्गते निवासं गिरिगुहां कः पाति पृष्ठतः?**[२४१]—'वनविहार के लिए सिंह के निकल जाने पर उसके आवास गुफा की पीछे से कौन रक्षा करता है?' ऐसे ही पराक्रम की महत्ता से युक्त व्यक्ति के लिए भास ने बाह्य रक्षा को अनावश्यक कहा है—**के रक्षन्ति रक्षितात्मानम्?**[२४२]—'स्वयं संरक्षित की रक्षा कौन करेगा?' यहां बाण और भास ने महनीय और उदात्त-भावना से प्रेरित दृष्टि ही प्रस्तुत की है। इसे राजनीति के साथ जोड़ना ठीक न होगा। इसके विपरीत, राजनीति में तो अपने पीछे राजधानी की देखभाल का प्रबन्ध करना राजा के लिए आवश्यक कहा गया है।[२४३]

तेजस्वी के व्यक्तित्व का प्रभाव दूसरों पर अवश्य पड़ता है, और इसका कारण यह भी हो सकता कि—**महानुभावः प्रतिहन्ति पौरुषम्**[२४४]—'महापुरुष दूसरे के पौरुष को फीका कर देता है।' अतः सामान्य व्यक्ति हीनता का अनुभव करता हुआ न केवल सामने ही आदर दिखाता है, अपितु उसके दूर रहने पर भी उसकी तेजस्विता को नहीं भुला पाता—

'तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते।'

'पञ्चमः पञ्चतपसस्तपनो जातवेदसाम्॥'[२४५]

—'दूर रहने पर भी तेजस्वी तेजस्वियों में गिना जाता है।' 'पञ्चतापियों की पांच जातवेदस अग्नियों में सूर्य भी पांचवा है।'

(घ) महनीय व्यक्तियों की उपलब्धियां—पिछले अनुच्छेदों में बताए महनीय गुणों से युक्त और विशेषतः उदात्त-भावना से प्रेरित महापुरुषों की कुछ सामान्य उपलब्धियां भी सूक्तियों में कही गई हैं। माना गया है कि उनकी अभिलाषाएं शीघ्र ही पूरी हो जाती हैं—**सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम्**[२४६]—'कल्पवृक्ष के फलोद्गम के समान सत्कर्म करने वालों का अभीष्ट शीघ्र ही फलीभूत होता है।' और कवि भारवि का विश्वास है कि उनकी सभी इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं—**'ईप्सितस्य न भवेदुपाश्रयः कस्य निर्जितरजस्तमोगुणः?**[२४७]—'रजस्[२४८] और तमस् को जीतने वाला, पूर्ण सतोगुणी व्यक्ति किस इच्छापूर्ति का आश्रय नहीं होता?' इस प्रकार—'मनोरथ से अभिलषित वस्तुएं सहसा सम्पन्न कराते हुए दैव भी मानो भव्य-जनों की सेवा करता है'।[२४९] प्रतीत होता है कि भाग्य भी महापुरुष के वश में हो जाता है—**भव्यं रक्षति भवितव्यता**[२५०]—'होनहार भी भव्यजन की रक्षा करती है।'

उत्कृष्ट गुणों को अभिलषणीय बनाने के लिए इन सूक्तियों में भाग्य अच्छाई का सहायक बताया गया है। किन्तु अधिकतर इसके विपरीत देखने में आता है। मानवता की दृष्टि से अत्यन्त अभव्य और निकृष्ट व्यक्ति प्रायः व्यवहार-पटुता आदि के कारण

सज्जन की अपेक्षा कहीं अधिक उपलब्धियां और भौतिक सुख प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। सज्जन तो प्राय: दु:ख में पड़े रहते हैं, जो तथ्य भर्तृहरि के मन में भी कांटे की तरह चुभता रहा।[२५१] परन्तु फिर भी वे कहते हैं—

'पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः।'
'प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः॥'[२५२]

—'हाथ के प्रहार से गिराई हुई गेंद भी ऊपर उछलती है।' 'प्राय: सदाचरण वालों की विपत्तियां अस्थायी होती हैं।' तथ्य और आदर्श का यह विरोध सूक्तिकार के इच्छापूर्ण चिन्तन (wishful thinking) का ही परिचायक है।

भारवि बताते हैं—**अमृतायते हि सुतपः सुकर्मणाम्**[२५३]—'अच्छा कर्म करने वालों की तपस्या अमृत सी बन जाती है।' सज्जनों के कार्यों की अमृत से तुलना उनकी (सज्जन और कर्म दोनों की) अमरता, निर्मलता, उत्कृष्टता आदि की भी द्योतक है। कवि यह भी मानता है कि—**किमिवास्ति यन्न सुकरं मनस्विभिः ?**[२५४]—'ऐसा क्या है जिसे मनस्वी सरलतया न कर सकें ?' अतः महनीय की उपलब्धि का बहुत बड़ा श्रेय उसकी मननशील कार्य-प्रणाली को जाता है।

ये तो हुई महनीयों की कुछ व्यक्तिगत सिद्धियां, कुछ व्यावहारिक उपलब्धियां भी हैं। बाण बताते हैं—'विद्वत्सम्मत (विद्वानों द्वारा स्वीकृत, या जिनसे विद्वान् सहमत हों ऐसे) शब्दों के समान सज्जन लोग केवल श्रवण-पथ में आने पर भी, अत्यन्त धैर्य-शाली मन में भी यश को जन्म देते हैं।'[२५५] अभिप्राय यह है कि सज्जनों के बारे में सुनते ही मन उनके गुणों से प्रभावित हो जाता है। और फिर उनके प्रति एक स्वाभाविक झुकाव हो जाता है—**भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः**[२५६]—'अच्छों के प्रति पक्षपात हो ही जाता है।' उनके गुणों के कारण ही—**न कुतूहलि कस्य मनश्चरितं च महात्मनां श्रोतुम् ?**[२५७] —'किसका मन महात्माओं का चरित्र सुनने में कुतूहल नहीं रखता ?'

महनीयों के गुणों का श्रवण मनन और निदिध्यासन पूरा करने के लिए उन्हें अनुकरणीय समझा जाता है। भर्तृहरि कहते हैं—**पदमनुविधेयं च महताम्**[२५८]—'महा-पुरुषों के पदचिह्नों पर चलना चाहिए।' किन्तु भारवि के अनुसार—**क इव नाम बृहन्म-नसां भवेदनुकृतेरपि सत्त्ववतां क्षमः ?**[२५९]—'कौन है जो विशाल-हृदय और उत्साह-शक्ति से सम्पन्न व्यक्तियों की नकल भी कर सके ?' इन दोनों सूक्तियों का सामंजस्य यह है कि महापुरुषों के कार्य का अनुसरण करने का यत्न अवश्य करते रहना चाहिए। चाहे उनके समान कार्यक्षमता प्राप्त न हो सके, फिर भी कुछ लाभ ही होगा।

प्रत्येक व्यक्ति महान् व्यक्ति का साथ चाहता है और उसकी विपत्ति में भी उसे नहीं छोड़ना चाहता। अतः माघ कहते हैं—**शोभायै विपदि सदाश्रिता भवन्ति**[२६०]— 'सज्जनों का आश्रय लेने वाले लोग (सज्जनों की) विपत्ति में भी (वैभव क्षीण हो जाने पर भी) सज्जनों की शोभा के लिए होते हैं।' वैभवक्षीणता में भी सज्जन के साथ पुराना सम्बन्ध बनाये रखने की या नया सम्पर्क स्थापित करने की प्रेरणा देने में उसके गुण ही कारण हैं और इससे वे गुण ही प्रमाणित भी होते हैं। यह तथ्य जहां महनीय की

उत्कृष्टता और व्यावहारिक उपलब्धि का परिचायक है, वहां सामान्य व्यक्ति के लिए व्यावहारिक दृष्टि से ही अपेक्षणीय है। अतः 'सत्संगति' का विस्तार से निरूपण 'व्यवहार और नीति'[६१] के अन्तर्गत किया गया है।

यह ठीक है कि उत्कृष्ट व्यक्ति दुर्जनों के विरोध का लक्ष्य बना करता है, किन्तु यह अवांछनीय होने के साथ-साथ—दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः[२६२]—'सज्जनों को लांघना अनर्थ लाता है।' और इससे सज्जनों का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता—

'वचनैरसतां महीयसो न खलु व्येति गुरुत्वमुद्धतैः।'

'किमपैति रजोभिरौर्वरैर् अवकीर्णस्य मणेर्महार्घता?'[२६३]

—'असज्जनों के उद्धत वचनों से महापुरुषों का गौरव नहीं गिरता।' 'क्या मणि पर धूलकण बिखरे हों तो उसका महामूल्य कम होता है?' माघ फिर कहते हैं—'मूर्खों का सम्प्रदाय भी स्वच्छता से भरे सज्जनों के तिरस्कार में समर्थ नहीं हो सकता।'[२६४] उत्कृष्ट व्यक्तियों का मूल्य तो कुछ विशिष्ट ही है—महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्युतिशयः[६५]—'तीर्थों के समान महापुरुषों का लोकोत्तर उत्कर्ष विशेष मूल्यवान है।' इससे उनके महत्त्व की अनिर्वचनीयता प्रकट की गई है। जैसे तीर्थों की महिमा हृदय की श्रद्धा पर निर्भर है ऐसे ही उत्कृष्ट जनों की भी। हृदयहीन व्यक्ति उनका आदर क्या करेगा?

१७. निष्कर्ष

महनीय भावों से सम्बद्ध इन सूक्तियों में सूक्तिकारों की उदात्तीकरण की प्रवृत्ति विशेष स्पष्ट हुई है। इनमें ऊंचे आदर्शों और मानवीय सिद्धान्तों को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। सामान्य जीवन में प्रायः अनुपलब्ध होने पर भी आदर्श की आकांक्षा में इन सूक्तियों में 'उदात्त आचरण ऐसा होता है'—यह शैली अपनाई गई है। इस प्रकार, इनमें वास्तविक तथ्य के आख्यान की प्रवृत्ति के स्थान पर प्रेरणा देने की प्रवृत्ति कार्य करती दिखाई देती है।

इनमें कभी महनीय मानवीय गुण, स्वभाव और आचार की उदात्तता और महत्ता, और कभी महनीय भावों का प्रभाव दिखाया गया है। जिन उदात्त भावनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं की प्रशंसा हुई है, वे मनुष्य के व्यक्तिगत गुणों को और व्यावहारिक आचार को उदात्त बनाती हैं; और इस प्रकार व्यक्ति पर आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का प्रभाव रखती हैं। कौनसी मुख्यतः उसके स्वभाव से सम्बन्धित है और कौनसी मुख्यतः आचार से, यह विश्लेषण करना सम्भव नहीं है। विचार करने पर ऐसी प्रतीति होता है कि प्रायः सभी भावनाओं के दोनों पहलू हो सकते हैं।

उदात्त भावनाओं का प्रभाव दिखाते हुए उत्कृष्ट व्यक्ति के सामाजिक सम्मान के[२६६] सम्बन्ध में कवियों ने यथार्थ की अपेक्षा आदर्श को ही प्रकट करने का प्रयास किया है। वास्तविकता यही है कि मानवीय महत्ता से मण्डित होने पर भी सज्जन को व्यवहार में यथोचित आदर नहीं मिलता। वह दुर्व्यवहार का भी शिकार हो सकता है, और सच

पूछ तो होता आया है। इस तथ्य का स्पष्ट संकेत[२६७] नहीं हुआ है, यद्यपि उत्कृष्ट के प्रति दुर्व्यवहार करने वाले और ईर्ष्या रखने वाले को सदा दुर्जन के रूप में चित्रित करना[२६८] भी इसी तथ्य की ओर इंगित करता है। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि उदात्त गुणों की प्रशंसा करना चाहता है, और इसलिए ऐसी कोई भी बात नहीं कहना चाहता जिससे व्यावहारिक हानि देखते हुए पाठक को उत्कृष्ट गुण अपनाने में हिचकिचाहट हो।

यह भी उल्लेखनीय है कि उदात्त-भावनाओं को धार्मिक विश्वासों से सम्बद्ध नहीं किया गया है। इनमें तो जीवन के उच्च मूल्यों का अंकन मात्र है, और इस विषय में लगभग सभी कवियों का यथासम्भव योगदान हुआ है। एक विशेषता जो ध्यान आकृष्ट करती है वह यह है कि भारवि और माघ ने महनीय भावों को सर्वाधिक विशदरूपेण सूक्तिबद्ध किया है। बाणभट्ट, कालिदास, भर्तृहरि आदि ने भी पर्याप्त मात्रा में एतद्विषयक सूक्तियां दी हैं। माघ, मानों सबसे बाजी मार लेना चाहते हैं, और तदर्थ उन्होंने कभी-कभी अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों के आधार पर नवीन उद्भावनाएं भी की हैं, और उनका विशदीकरण भी किया है। उदाहरणार्थ भारवि के—'दुरासदवनज्यायान्…' का 'तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ…'[२६९]—द्वारा, एवं कालिदास के—'सूर्ये तपत्यावरणाय…' का 'को विहन्तुमलम्…'[२७०] द्वारा।

आत्माभिमानी, तेजस्वी, पराक्रमी, यशस्वी आदि की व्यक्तिगत श्रेष्ठता और सामाजिक महत्त्वाकांक्षा को प्रकट करने वाले महनीय गुण, स्वभाव और आचार का यह सूक्तिगत उल्लेख सज्जन की सात्त्विक भावोद्भूत उदात्तता के साथ राजसी-प्रवृत्ति-जन्य महत्ता को जोड़कर ही देखा गया है। जीवन में दोनों दृष्टियों के परस्पर संश्लिष्ट होने के कारण यही स्वाभाविक भी है। □□

संदर्भ-संकेत

१. तुलनार्थ—'Moral Sense: …sense of right and wrong,…and the affections of pity, kindness, gratitude, and their contraries.…'
—Dictionary of Philosophy and Psychology,
Baldwin, Vol. II, p. 106

२. मनोवैज्ञानिक ऐडलर ने तो एक बार यहां तक मान लिया था कि—
'The desire to make oneself felt, a desire whose goal is superiority over others, is the guiding force which directs all

human activities.'

—The Individual Psychology of Alfred; Adler;
Ed. Ansdacher, p. 113-114

बाद में उन्होंने कुछ विचार परिवर्तन करते हुए इस भावना के आधिक्य को न्यूरौटिक रोगी की विशेषता माना है। किन्तु फिर भी इसकी शक्ति को नकारा नहीं है। —देखिए वहीं

३. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥ —मनु० २।१२

४. यत् कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत् प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥ —वही ४।१६१

५. शाकु० १।२०

६. 'काव्यं यशसे···शिवेतरक्षतये।'—काव्यप्रकाश १।२

७. देखिए—शिशु० १४।४६, एवं हर्षच० २।२, पृ०४४
तथा देखिए—आगे अनु० ३

८. देखिए—वही १५।१। तथा देखिए—आगे अनु० १२

९. देखिए—वही १५।४३ तथा देखिए—आगे अनु० ६

१०. 'जयो रन्ध्रप्रहारिणाम्'—रघु० १५।१७। देखिए आगे परि० ११, अनु० १५(ख)

११. चारु० २।०, पं १४३-४४—वसन्तसेना, संवाहक द्वारा निर्दिष्ट गुणों से चारुदत्त को पहचान कर

१२. किरात० ११।११

१३. भवत्यरूपोऽपि हि दर्शनीयः स्वलङ्कृतः श्रेष्ठतमैर्गुणैः स्वैः।
दोषैः परीतो मलिनीकरैस्तु सुदर्शनीयोऽपि विरूप एव। —सौन्दर० १८।३४
तुलनार्थ—'Virtue···is beauty.' —S.P.L. p. 125

१४. 'ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता', 'शौर्यस्य वाक्संयमः।'
'ज्ञानस्योपशमः', 'श्रुतस्य विनयो', 'रिक्तस्य पात्रे व्ययः।'
'अक्रोधस्तपसः', 'क्षमा प्रभवितुः', 'धर्मस्य निर्व्याजता।'... —नीति० ८०

१५. वहीं

१६. सौन्दर० १३।२१

१७. कु० ६।१२ (शिवजी ने अरुन्धती का भी सप्तर्षियों के समान ही स्वागत किया।)

१८. उत्तर० ४।११

१९. मृच्छ० ४।२२

२०. वही ४।२३

२१. किरात० ६।२४

२२. वही १२।१०

२३. चारु० २।०। पं० ७५—वसन्तसेना, शरणागत संवाहक की रक्षा में तत्पर होती हुई

२४. योग० ४।११

२५. कु० ५।४५। (पार्वती की तपस्या के पीछे पति-कामना की सम्भावना को व्यर्थ बताते हुए)

२६. शिशु० १८।६६

२७. कु० १।३

२८. किरात० १५।१५

२९. शिशु० ८।५४

३०. वही ६।१२

३१. किरात० ११।५३

३२. 'अवाच्यता निन्द्यता'—वहीं मल्लिनाथ

३३. छन्ना भवन्ति भुवि सत्पुरुषाः कथञ्चित् स्वैः कारणैर्गुरुजनैश्च नियम्यमानाः ।
भूयः परव्यसनमेत्य विमोक्तुकामा विस्मृत्य पूर्वनियमं विवृत्ता भवन्ति ॥
—अवि० १।६

३४. चारु० १।२६

३५. मेघ० १।५३ । तुलनार्थ—'परोपकाराय सतां विभूतयः' —संस्कृत लोकोक्ति
तथा—'A tree is known by its fruit.' —S.P.L., p. 120

३६. शाकु० ५।७

३७. वही ५।१२

३८. त्यजति किल तं जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च ।
भवति च सदोपहास्यो यः खलु शरणागतं त्यजति ॥ —मृच्छ० ६।१८
तुलनार्थ—'शरणागतपरित्राणं हि तपस्विनामपि धर्म एव' —काद० पृ० ६१८

३९. भीताभय-प्रदानं ददतः परोपकाररसिकस्य ।
यदि भवति भवतु नाशस्तथापि लोके गुण एव ॥ —मृच्छ०६।१९

४०. किरात० ७।१३

४१. वही १४।५५
तुलनार्थ—'नातिपीडयितुं भग्नानिच्छन्ति हि महौजसः ।'—वही १५।६
इसमें यह भावना भी कार्य करती प्रतीत होती है—'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।"—संस्कृत लोकोक्ति

४२. वही १७।४०

४३. हर्ष च० २।२। पृ० ४४

४४. और इसलिए यह भारतीयों की राजनीतिक दुर्बलता एवं तज्जन्य पराजयों का स्मरण करा देता है। सज्जनता और राजनीति को मिलाना भारतीयों की भूल रही है।

४५. शिशु० २।१०४। तुलनार्थ—'Set good against evil'— S.P.L., p. 68.
४६. शिशु० १६।४१
४७. वही १४।४६
४८. देखिए—ऊपर उद्धृत संकेत सं० ४३, हर्ष च० २।२
४९. वही (हर्ष च०) ३। पृ० १०८। पं० ११। तुलनार्थ—
'We are not born for ourselves alone.' —S.P.L., p. 24
५०. हर्षच० पृ० ११५। पं० ७
५१. 'प्राणरक्षणाच्च न परं पुण्यजातं जगति गीयते जनेन' ।—वही ८।पृ०२४४।पं०२०
५२. 'अदूरव्यापिनः फल्गुचेतसामलसानां मनोरथाः ।' 'सतां तु भुवि विस्तारवत्यः स्वभावेनैवोपकृतयः ।।'—वही ३। पृ० ११५। पं० २१। तथा पृ० ११६ पं०१
५३. नागा० ३।१८
५४. शृं० ३५
५५. 'उपकृत्य निसर्गतः परेषामुपरोधं न हि कुर्वते महान्तः ।' —शिशु० २०।७४
५६. 'नाभ्यर्थितो जलधरोऽपि (हि) जलं ददाति ।'
'सन्तः स्वयं परहिते (विहिता-) सुकृताभियोगाः ।।' —नीति० ६३
५७. विक्र० १।९—उर्वशी
५८. मृच्छ० ४।१९—मदनिका
५९. सौन्दर० ५।४७,४८ यहां उपमा में छुपी सूक्तियां ले ली गई हैं । विवरण के लिए देखिए—पीछे परि० १, अनु० ७
६०. प्रतिमा० ६।९ पं०६—सुमन्त्र, भरत से
६१. नीति० ६२
६२. चारु० २।०। पं० १९३-१९४—संवाहक
६३. हर्ष च० ३। पृ० ११६। पं० ६
६४. चारु० ४।७। अर्थ के लिए देखिए
—C. R. Devadhar, Cārudattam, (1943) p. 145
६५. 'अविलम्बितक्रममहो, महतामितरेतरोपकृतिमच्चरितम् ।' —शिशु० ९।३३
इस प्रसंग और भाव की तुलना कीजिए—
'शशिना च निशा निशया च शशी, शशिना निशया च विभाति नभः ।'
—लोकोक्ति
६६. 'सज्जनैकवसतिः कृतज्ञता'—किरात० १३।५१। किरात-दूत के वाक्य का यह एक अंशमात्र है; और पृथक् करने पर सूक्तिवत् प्रयोज्य है, क्योंकि क्रियाविहीन विशेषण-विशेष्य का वाक्यांश भी संस्कृत में पूर्ण वाक्य का अर्थ दे सकता है।
६७. तुलनार्थ—'Ingratitude is the worst of all vices.' —S.P.L., p. 73
६८. अवि० ४।१४
६९. हर्ष च० ८। पृ० २५६। पं० २१

७०. सर्वस्वदान का स्वरूप 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' और 'दानी कर्ण' आदि महापुरुषों की कथाओं के माध्यम से भी प्रशस्त हुआ ही है।
७१. तुलनार्थ—'परोपकाराय सतां विभूतयः'—लोकोक्ति
७२. काद० पृ० ४१३—मदलेखा कादम्बरी के 'शेष' हार के विषय में चन्द्रापीड से
७३. किरात० ७।२८
७४. तुलनार्थ—'It is better to give than to take' —S.P.L., p. 66
७५. रघु० १।१८
७६. वही ४।८६
७७. वही ५।१६
७८. नीति० ३५
७९. 'दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन'—वही ६२
८०. हर्ष च० १।पृ० २७। पं० ५
८१. स्वप्न० ४।६। पं० २९—पद्मावती (आत्मगतम्)
८२. बुद्ध० ४।७०
८३. विक्र० ४।१५
८४. 'प्रणयिन्…3 A supplicant, humble petetioner…'
—V.S. Apte, p. 354
८५. मेघ० २।५१
८६. '.. प्रणयिषु याचकेषु विषये…'—वहीं मल्लिनाथ
८७. 'प्रायेणाकारण-मित्राण्यतिकरुणार्द्राणि सदा खलु भवन्ति सतां चेतांसि।'
—काद० पृ० ७८
८८. 'प्रतनुगुणग्राह्याणि कुसुमानीव हि भवन्ति सतां मनांसि।'
—हर्ष च० ३।पृ० १०६। पं० ९
८९. किरात० १४।११
९०. किरात० २।५
९१. प्रिय० १।१०। सं २८—रुमण्वान्, विन्ध्यकेतु के मरने पर दुःखी राजा से
९२. हर्ष च०—८। पृ० २३३, पं० २०
९३. कु० ५।३१
९४. देखिए—'For, noble forms do expect a special treatment even at the hands of those who have come to look upon all objets with a समबुद्धि. साम्य is समत्व.'
—Notes by R. D. Karmarkar, p. 261
९५. रघु० १६।८० (नम्र नाग ने कुश पर क्रोध नहीं किया।)
९६. वही ४।६४
९७. हर्ष च० ७। पृ० २२५। पं० १२

९८. देखिए—'मूलमन्त्र:,—प्रधानदेवमन्त्र:...यद्वा मूलानि—शिफा:, ओषधय इति यावत् मन्त्राश्च...'—श्रीमन् जीवानन्द विद्यासागर, पृ० ८१०

९९. शिशु० ७।१

१००. शिशु० १५।४३

१०१. किरात० २।४३

१०२. हर्ष च० १।पृ० १२। पं० १२

१०३. सौन्दर० ११।१५

१०४. पञ्च० ३।२५

१०५. सौन्दर० १६।४३

१०६. नीति० ४४

१०७. हर्ष च० ८। पृ० २५९। पं० १

१०८. 'तेजस्विन: सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति सत्यव्रतव्यसनिनो न पुन: प्रतिज्ञाम् ।' — नीति०, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफ़िस, वाराणसी, श्लोक० सं० १०९

१०९ 'सत्य-नियत-वचसं वचसा सुजनं जनश्चालयितुं क ईशते ?'—शिशु० १५।४०

११०. बुद्ध० ११।४९

१११. वैराग्य० ५३

११२. 'सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम्'—संस्कृत लोकोक्ति । तथा तुलनार्थ—
'The greatest wealth is contentment with a little.'

—S.P.L. p. 127.

११३. शाकु० ७।१२—मातलि तपस्वियों के विषय में राजा से

११४. शिशु० २।३१

११५. शिशु० २।३२ तथा हितोपदेश, सुहृद्भेद ६

११६. देखिए—ऊपर परि० ६, अनु० १, पृष्ठभूमि

११७. मिलाइए—'असन्तुष्टा द्विजा नष्टा:, सन्तुष्टाश्च महीभुज: ।'—हितो०विग्रह ६६

११८. 'रमते तृषितो धनश्रिया', 'रमते कामसुखेन बालिश: ।'
'रमते प्रशमेन सज्जन: परिभोगान् परिभूय विद्यया ।' —सौन्दर० ८।२६

११९. रघु० ५।५४

१२०. विक्र० १।१५—चित्ररथ । पृ० २४

१२१. हर्ष च० ८। पृ० २३९, पं०३४

१२२. 'दिनकर' की कविता—'शक्ति और क्षमा'

—राष्ट्रभारती, भाग २, पृ० १५२

१२३. रघु० ११।८९

१२४. मुद्रा० ३।२८—राजा, चाणक्य से कृतक कलह में

१२५. किरात० १५।४ तुलनार्थ—'प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव'

—मेघ० २।५१ मिलाइए पीछे अनु० ६, टि० ८५

१२६. प्रकटान्यपि नैपुणं महत् परवाच्यानि चिराय गोपितुम् ।
विवरीतुमथात्मनो गुणान् भृशमकौशलमार्यचेतसाम् ।।—शिशु० १६।३०

१२७. हर्ष च० १।पृ० २६, पं० ३

१२८. किरात० १।२ तुलनार्थ—'...प्रियं च नानृतं ब्रूयात् ..' —मनु० ४।१३८

१२९. 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।'—गीता० ३।३५

१३०. पञ्च० २।५

१३१. सौन्दर० ८।५७

१३१. किरात० १४।१४

१३२. कु० ५।१६

१३३. सौन्दर० १६।८४

१३४. कु० १।५९

१३५. स्वप्न० २।०। पं० ७५-७६—धात्री, राजा उदयन के विषय में वसन्तसेना से

१३६. 'विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ।' —कु० ८।६५

१३७. उत्तर० २।७

१३८. नीति० ५५

१३९. तुलनार्थ—'सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता'—लोकोक्ति

१४०. मुद्रा० ३।१६

१४१. रघु० १७।५४

१४२. 'स्थित्यतिक्रान्तभीरुणि स्वच्छान्याकुलितान्यपि ।
तोयानि तोयराशीनां मनांसि च मनस्विनाम् ।।' —किरात० ११।५४

१४३. घनाम्बुभिर्बहुलितनिम्नगाजलैर्जलं न हि व्रजति विकारमम्बुधेः।—शिशु० १७।१८

१४४. शाकु० ५।७, तथा नीति० ६१

१४५. 'महतीमपि श्रियमवाप्य विस्मयः सुजनो न विस्मरति जातु किंचन'
—शिशु० १३।६८

१४६. प्रतिमा० ६।९

१४७. तुलनार्थ—'He that lives ill, fear follows him.' —S.P.L., p. 53

१४८. शाकु० ६।८, सं० ९६— विदूषक राजा से

१४९. हर्ष च० ६, पृ० १९२ । पं० ४-५

१५०. किरात० १२।३

१५१. काद० पृ० ३०४—कपिञ्जल, पुण्डरीक को उपदेश देते हुए

१५२. शाकु० ६।८—सं० ९६, विदूषक, राजा को सान्त्वना देते हुए

१५३. रघु० ८।९०

१५४. मालवि० ४।१५—वकुलावलिका, (पृ० ४३३-३४) अग्निमित्र के विषय में

१५५. किरात० १४।२३

१५६. काद० पृ० २८४, महाश्वेता को रोते देखकर चन्द्रापीड का विचार

१५७. नीति० ७६।—यही सूक्ति कुछ शब्द-भिन्नताओं के साथ देखिए—
'कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्तेर्बुद्धेर्विनाशो न हि शङ्कनीयः।
अधःकृतस्यापि तनूनपातो नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥'
—हितो०—सुहृद्भेद ६९

१५८. काद० पृ० ३५९, चन्द्रापीड की महाश्वेता को सान्त्वना

१५९. कु० ५।५

१६०. किरात० १४।१

१६१. रघु० १।५

१६२. मुद्रा० २।१७, तथा नीति० ७२
तुलनार्थं—आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ —शिशु० २।७९

१६३. मुद्रा० २।१८, (यह सारा पद भी तीन सूक्तियों वाला है।)

१६४. नीति० ७१

१६५. वही ७३

१६६. 'न्यायाधारा हि साधवः।' —किरात० ११।३०

१६७. नीति० ७४

१६८. किरात० ११।५९

१६९. वही ११।६१

१७०. वही १।४१

१७१. वही २।१८, तथा—'मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्त्तयते स्वयं हतैः।'
—वहीं

१७२. नीति० २१

१७३. नीति० २३। तथा हितो० सुहृद्भेद ४२

१७४. नीति० २५

१७५. किरात० २।२१

१७६. शिशु० १५।१

१७७. वही २।६१, तुलनार्थ भर्तृहरि की यह सूक्ति देखिए—
'द्वावेव ग्रसते दिवाकरनिशाप्राणेश्वरौ भास्वरौ,
भ्रातः, पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषाकृतिः ॥' —नीति० २६

१७८. महावीर० ४।३४

१७९. स्पष्टता के लिए देखिए पीछे परि० १, अनु० ५

१८०. किरात० २।२०

१८१. रघु० १४।४१

१८२. 'यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरनिकान्तः।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते ?' —नीति० २९

१८३. शिशु० १७।५०
१८४. शिशु० १६।५२
१८५. वही १६।५१
१८६. उत्तर० ६।१४
१८७. रघु० ११।१, तुलनार्थ—'न खलु वयस्तेजसो हेतुः' —नीति० ३०
१८८. 'मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या' —रघु० १८।४२
यहां 'यथा न' के स्थान पर यदि 'भवेन्न' या 'क्रमस्ति' जैसा कोई शब्द होता तो यही अर्थान्तरन्यस्त सूक्ति बन जाती, उपमा नहीं रहती। विशेष विवरणार्थ देखिये—पीछे परि० १, अनु० ७ (ग) (अ)
१८९. शिशु० २।२३
१९०. कु० १५।४७
१९१. रघु० ७।५५
१९२. शिशु० १६।३४
१९३. रघु० ११।२७
१९४. वही ११।७५
१९५. शिशु० १६।२५
१९६. हर्ष च० ७।१, पृ० २०२
१९७. वही ७।२, पृ० २०२
१९८. वही ७, पृ० २१३, पं० १८
१९९. उत्तर० ५।१९
२००. पञ्च० १।२५—द्रोण
२०१. रघु० १४।३५
२०२. हर्ष च० ६, पृ० १९२, पं० ३
२०३. रघु० ३।४८
२०४. कु० ३।१९
२०५. किरात० ३।५१
२०६. '…पुरुषाधिकारे योग्यपुरुषगणनाप्रस्तावे'… —वहीं, मल्लिनाथ
२०७. 'स पुमानर्थवज्जन्मा यस्य नाम्नि पुरःस्थिते।
नान्यामङ्गुलिमभ्येति सङ्ख्यायामुद्यताङ्गुलिः॥' —वही ११।६२
२०८. गुरून् कुर्वन्ति ते वंश्यान् अन्वर्था तैर्वसुन्धरा।
येषां यशांसि शुभ्राणि ह्रेपयन्तीन्दुमण्डलम्॥ —वही ११।६४
२०९. 'प्रसिद्धिरत्रायशसे यशसे वा,…परत्र फलदायी कुत्रोपयुज्यते परमार्थः।'
कादं० पृ० ५८२
२१०. शिशु० २।१०९
२११. नीति० २७

२१२. शिशु० १३।१७
२१३. किरात० १७।२३
२१४. हर्ष च० ३, पृ० १००, पं० ४
२१५. कु० ४।४३
३१६. तुलनार्थ—'To be able to do harm and to abstain from doing it is noble.' —S.P.L., p. 69
२१७. किरात० ६।१९, ६।२८ तथा १०।३५
२१८. किरात० १८।१४
२१९. देखिए—'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे'—भोजप्रबन्ध, श्लोक १६९
२२०. महावीर ३।३
२२१. रघु० १७।५६
२२२. मृच्छ० ६।२
२२३. किरात० १।२३
२२४. शिशु० १६।३५
२२५. नीति० १३
२२६. किरात० ३।१७
२२७. शिशु० ५।४१, ४९, (हाथियों का वर्णन करते हुए)
२२८. हर्षच० ६, पृ० १९०, पं० १२, इसमें 'विप्रकृता' का सभंगश्लेष सूक्ति को बोझिल बना रहा है।
२२९. 'अभिचारः—...employment of magic spells.'...—V.S.Apte. p.38
२३०. अवि० १।५, पं० ५०—भूतिक, अविमारक की शूद्रता में विश्वास न करते हुए
२३१. प्रतिमा० ५।१८

यही भाव और यही दृष्टान्त भास में अन्यत्र देखिये—
'कथं लम्बसटः सिंहो मृगेण विनिपात्यते ?'
'गजो वा सुमहान् मत्तः शृगालेन निहन्यते ?' —अभि० ३।२०
एवं—'रुष्टोऽपि कुञ्जरो वन्यो न व्याघ्रं घर्षयेद् वने।' —मध्य० ४४
'को हि सन्निहितशार्दूलां गुहां घर्षयितुं शक्तः ?' —घटो० ८, पं० ९।१०

२३२. तुलनार्थ—···सशङ्क इवास्य समीपमुपसर्पति गन्धवाहः।
'प्रायो महाभूतानामपि दुरभिभवानि भवन्ति तेजांसि।'
—काद० पृ० ९४, जाबालि के विषय में शुक का विचार
२३३. किरात० ११।६३, यही भाव देखिये वहीं ११।६०
२३४. शिशु० २।४८
२३५. शाकु० ५।१४, —राजा के रहते अपने तप को निर्विघ्न मानते हुए ऋषिगण यह सूक्ति कहते हैं। अतः प्रकट होता है कि राजा के लिए ऋषियों को विघ्न देने वाला शत्रु के समान होता था।

२३६. रघु० ५।१३, (राजा रघु के रहते स्वयं को कुशली मानते हुए कौत्स)
२३७. शिशु० १४।८, (श्रीकृष्ण की उपस्थिति से युधिष्ठिर को यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति की आशा हुई।)
२३८. कु० ५।४३, (पिता हिमालय के घर में पुत्री पार्वती के अपमान की कैसी संभावना ?)
२३९. मुद्रा० १।८ (चन्द्र ग्रहण की बात सुनकर चाणक्य)
२४०. विक्र० १।१५
२४१. हर्षच० ६, पृ० १८२, पं० ४-५। (राजा हर्षवर्धन के पीछे राजधानी की रक्षा की चिन्ता को व्यर्थ बताते हुए सेनापति का कथन)
२४२. अवि० ३।१०—अविमारक
२४३. 'पश्चात्कोपचिन्ता बाह्यान्तर-कोपप्रतीकारश्च।' —अर्थ० ९।३
२४४. किरात० १४।४३
२४५. शिशु० २।५१
२४६. रघु० ११।५०
२४७. किरात० १३।४०
२४८. रजोगुण को भी उदात्तता का विरोधी कालिदास ने बताया है, देखिए आगे परि० १०, अनु० १
२४९. 'सहसा सम्पादयता मनोरथप्रार्थितानि वस्तूनि।
दैवेनापि क्रियते भव्यानां पूर्वसेवैव ।।' —हर्षच० ८।१।पृ० २३१
२५०. मुद्रा० २।२० (पं० ११२)—विराधगुप्त, शकटदास के जीवित होने का समाचार पाकर। तुलनार्थ—'God saves the king.' —English Proverb
२५१. देखिए—'सततदुर्गतिः सज्जनो‥मनसि सप्त शल्यानि मे।'—नीति० ४५
२५२. भर्तृहरिसुभाषित-संग्रह, दा० ध०, कौसम्बी, संशयित श्लोक सं० २७०, पृ० १०५
२५३. किरात० १२।४
२५४. वही, १२।६
२५५. 'विद्वत्सम्मताः श्रूयमाणा अपि साधवः शब्दा इव सुधीरेऽपि हि मनसि यशांसि कुर्वन्ति।'
—हर्षच० ३।पृ० १०६।पं० १०-११ भैरवाचार्य, पुष्पभूति की प्रशंसा में
२५६. किरात० ३।१२
२५७. हर्षच० ३।२।पृ० ८३
२५८. नीति० ५६
२५९. किरात० १८।३
२६०. शिशु० ८।५५
२६१. देखिए आगे परि० ११, अनु० ९
२६२. किरात० १४।९

२६३. शिशु० १६।२७
२६४. 'युक्तानां विमलतया तिरस्क्रियायै नाक्रामन्नपि हि भवत्यलं जलौघः'—वही ८।२८
२६५. उत्तर० ६।११
२६६. देखिए आगे ऊपर परि ६, अनु० १६ (घ)
२६७. प्रच्छन्न संकेत के लिए देखिए—शिशु० १६।२०,२२
२६८. देखिए आगे परि० १०, अनु० २
२६९. किरात० ११।६३, तथा शिशु० २।४८
२७०. रघु० ५।१३, तथा शिशु० १४।८
इन सूक्तियों का विवेचन देखिए ऊपर अनु० १६ (ग), 'तेजस्विता का प्रभाव'
००

परिच्छेद-१०

निन्दनीय दोष, स्वभाव और आचार

१. पृष्ठभूमि

महनीय गुणों एवं महनीय व्यक्तियों के स्वभाव व आचार के माध्यम से सूक्तियों में व्यक्त महनीय भावों का दिग्दर्शन पिछले परिच्छेद में किया जा चुका है। प्रस्तुत परिच्छेद में उसके विपरीत दुर्गुणों और निन्दनीय व्यक्तियों के स्वभाव तथा आचार के माध्यम से व्यक्त भावनाओं को समझने का प्रयास किया जा रहा है।

महनीय व्यक्ति जहां बुद्धि, बल, सौजन्य आदि उत्कृष्ट गुणों के प्रभाववश समाज में सम्माननीय होते हैं, वहां कुछ व्यक्ति इन् गुणों के अभाव में तथा कुछ दोषों और व्यसनों से युक्त होने के कारण विशेष निन्दा के पात्र बनते हैं।

इस संसार में अच्छाई और बुराई—दोनों ही रहती हैं, जैसा कि भास ने कहा है—**चम्पकारामे पिचुमन्दा जायन्ते।**[1]—'चम्पक के उपवन में नीम के पेड़ भी होते हैं।' जिस स्थान पर वांछनीय वस्तुएं पलती हैं, वहीं अवांछनीय भी पनपती रहती हैं। इसलिए स्वाभाविक यही है कि एक ही व्यक्ति गुण और दोष—दोनों से संयुक्त हो। किन्तु सामान्यतः गुणों की कमी और दुर्गुणों की अधिकता पाकर एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखने वाले लोगों का यह विश्वास है—**अतिदुर्जनो लोकः**[2]—'संसार बहुत बुरा है।' इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि संसार में बुराई प्रायः अधिक है।

व्यक्ति में निन्दनीय प्रवृत्तियों की सत्ता के अनेक कारण हो सकते हैं। भारतीय प्रकृति-विश्लेषण की दृष्टि से इस प्रवृत्ति का आधार रजोगुण की अधिकता और तमोगुण के उद्रेक को कहा जा सकता है। कालिदास की निम्न सूक्ति में यही दृष्टि प्रतीत होती है—**अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः**[3]—'ज्ञानवान् व्यक्तियों के भी रजोगुण द्वारा नेत्र बन्द हो जाते हैं और वे कुपथ में पग धरते हैं।' ऐसे व्यक्तियों के दोष, स्वभाव और आचार को अप्रशस्य दिखाकर सूक्तियों में परोक्षरूपेण उदात्त-भावना या महत्त्वाकांक्षा की ही प्रशंसा की गई है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो दोषों का प्रत्याख्यान करने की अपेक्षा गुणों का सुझाव व्यक्ति के मानसिक झुकान पर अधिक प्रभावशाली होता है।[4] इसी प्रकार

सदाचार के लिए पारितोषिक देकर भावी सद्गति की आशा अधिक की जा सकती है, अनाचार के लिए दण्ड देकर कम।[५] आचार के सम्बन्ध में कवियों के टिप्पण को पारितोषिक और दण्ड के स्थान पर समझा जा सकता है। सम्भवतः इसे जानते हुए ही सूक्तिकार को वास्तविक जगत् में गुणों की अपेक्षा दोषों की अधिकता होने पर भी उनका कथन कम भाया है। प्रतीत होता है कि जैसे कवियों की इस भावना को माघ की यह सूक्ति एक अन्य आधार भी प्रदान करती है—कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे (यतः)[६] —'(क्योंकि) पापों की कहानी भी अकल्याण के लिए पर्याप्त है।' ऐसे ही विचार के कारण सूक्तियों में भी और साहित्य में भी दुर्गुणों और दुर्जनों की चर्चा सद्गुणों और सज्जनों की अपेक्षा बहुत कम हुई है। यह भारतीय दृष्टिकोण का प्रतिफलन है जिसे आधुनिक यथार्थवाद की तुलना में आदर्शवाद तो कहा जा सकता है, पर निष्प्रयोजन या अनुचित नहीं।

निन्दनीय भावों के प्रकाशन में कमी का कारण यह भी हो सकता है कि दुर्जनों का चरित्र अज्ञेय होता है, उसे कहना तो दूर, जानना भी कठिन है, जैसाकि भारवि कहते हैं—

अपवादादभीतस्य, समस्य गुणदोषयोः
असद्वृत्तेरहो, वृत्तं, दुर्विभावं विधेरिव ॥[७]

—'अपवाद से न डरने वाले और गुण दोष में भी अन्तर न करने वाले दुर्जन का चरित्र तो विधाता के समान ही कठिनता से समझने योग्य है।' दुर्जन कब क्या कर बैठे, नहीं कहा जा सकता। अतः उसके दोषों का परिगणन और विश्लेषण भी सरल कार्य नहीं।

पिछले परिच्छेद की[८] भांति यहां भी सूक्तियों के वर्गीकरण के लिए सब दृष्टियों का ध्यान रखते हुए निम्न वर्ग उपयोगी और सुविधाजनक प्रतीत होते हैं—१. ईर्ष्या, २. मूर्खता, ३. दुर्बलता, ४. धूर्तता और नृशंसता, ५. उद्दण्डता, ६. क्षुद्रता, ७. गणिका-वृत्ति, ८. द्यूत-क्रीड़ा, ९. निन्दनीय भावों का परिणाम।

२. ईर्ष्या

दूसरे को अपने से अधिक उन्नति करते देखकर जिनके मन में प्रशंसा का भाव जागृत नहीं होता उन्हें ईर्ष्या जकड़ लेती है। पौराणिक कथाओं में इन्द्र को प्रायः हर उस राजा से द्वेष करते दिखाया गया है जो श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हो और यज्ञ, दान आदि पुण्य-कर्मों में प्रवृत्त रहता हो। 'देवता भी दूसरे की समाधि से डरे रहते हैं'—अस्त्येतदन्य-समाधिभीरुत्वं देवानाम्[९]—इस तथ्य का उल्लेख कालिदास ने किया है, जो ईर्ष्यालु लोगों के व्यवहार का निदर्शन कराता है। भारवि ने भी अर्जुन की तपस्या में देवताओं द्वारा मूक दानव का प्रयोग दिखाया है। वराह वेश में उसकी उपस्थिति को किसी ईर्ष्यालु द्वारा परिचालित होने की कल्पना करते हुए अर्जुन ने विचार किया—परवृद्धिषु बद्ध-मत्सराणां किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलङ्घ्यम् ?[१०]—"दूसरे की वृद्धि पर ईर्ष्या करने वाले दुष्टों के लिए क्या (कौन सी मर्यादा) उलंघनीय नहीं है ?" अर्थात् उसके लिए

कुछ भी अकरणीय नहीं है। ईर्ष्याग्रस्त व्यक्ति दूसरे को नीचे गिराने के लिए कोई भी उपाय प्रयोग में ला सकते हैं। माघ भी ईर्ष्यालु की इस विवेकहीन स्थिति को प्रकट करते हैं— **न क्षमं भवति तत्त्वविचारे मत्सरेण हतसंवृति चेत:**[11]—"ईर्ष्या से जिसका हृदय ढक जाता है वह तत्त्व का विचार करने में असमर्थ रहता है।" इस प्रकार ईर्ष्या दोनों के कार्य में बाधक है ईर्ष्यालु के भी, और ईर्ष्या-योग्य व्यक्ति के भी। इसीलिए यह एक निन्दनीय प्रवृत्ति मानी गई है।

स्वयं गुणों से हीन और दोषों से परिपूर्ण निन्दनीय व्यक्ति के चरित्र की यह विशेषता है कि वह स्वभाव से ही ईर्ष्यालु होता है और चूंकि ईर्ष्या के लिए दूसरे की श्रेष्ठता ही आधार बनती है, इसलिए महनीय व्यक्ति उसकी ईर्ष्या के पात्र बनते हैं। गुणी के गुण की पूजा देखकर ईर्ष्या करना अनुचित है, क्योंकि— **व्यसनाय ससौरभस्य कस्तरुसूनस्य शिरस्यसूयति ?**[12]—'सुगन्धित पुष्प के सिर पर रखे जाने पर उससे कौन ईर्ष्या करता है?' जो करता है वह सज्जन नहीं हो सकता है। ईर्ष्यालु दुर्जन तो सभी से ईर्ष्या करता है, किसी की सज्जनता से उसे क्या ? भारवि बताते हैं—**मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि, स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि**[13]—'ईर्ष्या-भाव से मरी आत्मा वालों के मन सज्जनों पर भी बिगड़ जाते हैं।' माघ भी आश्चर्य करते हैं कि 'यद्यपि स्वभाव से सज्जन सबके उपकार में लगा रहता है फिर भी उसकी उन्नति असज्जनों के मन में भारी रोग उत्पन्न करती है।'[14] कवि के अनुसार इस सन्दर्भ में उत्तम, मध्यम और अधम लोगों का अन्तर देखा जा सकता है—'दूसरे की वृद्धि से उत्तम व्यक्ति को परिताप ही नहीं होता, मध्यम (सामान्य व्यक्ति) को हो भी जाए तो वह उसे गुप्त रखता है, किन्तु अधम तो व्यथित होकर अपने दुराशय को स्पष्ट कह देता है।'[15] इस प्रकार की प्रवृत्ति से किसी और को हानि पहुंचाने से पहले ही— **सद्यस्तु दह्यते तावत्स्वं मनो दुष्टचेतस:**[16]—'दुष्ट-चित्त-वाले का अपना मन तो एकदम जल ही उठता है।' ईर्ष्या का यह सर्वविदित परिणाम है।

महनीय के प्रति निन्दनीय की इस ईर्ष्या का निरूपण कालिदास ने इस प्रकार किया—**अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्**[17]—'महात्माओं के ऐसे असाधारण चरित्र से जिसका कारण नहीं जाना जा सकता, मन्दबुद्धि वाले लोग द्वेष करते हैं, अर्थात् हेतु न जान पाने के कारण उन्हें दूषित करते हैं।'[18] छिद्रान्वेषण में आनन्द लेने वाले दुर्जन गुणी व्यक्तियों के गुण को भी दोष-रूप में देखते हैं, जैसा कि भर्तृहरि बताते हैं—**तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कित: ?**[19]—'गुणयुक्तों का ऐसा कौन सा गुण है जिसे दुर्जनों ने कलंकित या दूषित नहीं किया ?' इस भांति सज्जनों का तिरस्कार करने वाले दुर्जनों के लिए शूद्रक का भी आक्रोश व्यक्त हुआ है —**येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते चाण्डाला:**[20]—'जो सज्जन का निरादर करते हैं वे पापी हैं, चाण्डाल हैं।'

सज्जनों के साथ दुर्जनों का विरोध देखकर भारवि तो यह मान बैठे हैं कि— **प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधव:**[21]—'दुर्जन तो प्रकृति से ही, स्वभावत: ही, सज्जनों के

शत्रु होते हैं।'[२२] इनकी प्रकृति एक दूसरे से नितान्त विरुद्ध है। बाण के अनुसार जहां सज्जन अकारण मित्र होते हैं वहां 'दुर्जन अकारण शत्रु, अतः उनसे किसे भय न होगा। महासर्प की भांति उनके मुख में कटु वाणी रूपी विष सदा भरा रहता है।'[२३] दुर्जनों की कटुता को सज्जनों की मधुरता की तुलना में रखते हुए वे कहते हैं—'बांधने की शृंखला के समान कर्णकटु शब्द करते हुए दुष्ट केवल सन्ताप ही देते हैं, जबकि सज्जन तो मणि-नूपुरों के समान मनोरम ध्वनियों से पग-पग पर मन हरते रहते हैं।'[२४] इन दोनों की एक तुलना तथा दुर्जन के कटु वक्ता होने का एक कारण माघ के शब्दों में—

सुकुमारमहो लघीयसां हृदयं तद्गतमप्रियं यतः,
सहसैव समुद्गिरन्त्यमी जरयन्त्येव हि तन्मनीषिणः ॥[२५]

—'अहो, ओछे लोगों का दिल बहुत दुर्बल (तुच्छ, मूढ) होता है कि जिसमें आई हुई कटु बात को वे सहसा उगल देते हैं, जबकि मनीषी उसे मिटा देते है।' दुर्जन यह चिन्ता नहीं करता कि उसके क्रिया-कलाप का किसी पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसलिए वह दूसरे को चुभने वाली बात भी अनायास ही कह देता है।

३. मूर्खता

बुद्धि से हीन व्यक्ति समाज में सभी की आंख का कांटा हुआ करता है और सब के लिए निन्दनीय भी। प्रायः सभी कवियों ने ऐसे मूर्ख के स्वभाव और आचार के किसी न किसी पक्ष का उल्लेख किया है। सर्वाधिक चर्चा उसकी विवेकहीनता की हुई है। भास के अनुसार—**आक्रुष्टमात्मानं न जानाति मूर्खः**[२६]—'मूर्ख को अपने कोसे जाने का भी पता नहीं चलता,' फिर, जैसा कि माघ कहते हैं, बनावटी प्रशंसा को तो वह क्या पहचानेगा ? —**तोषमेति वितथैः स्तवैः परस्ते च तस्य सुलभाः शरीरिभिः**[२७]—'दूसरा कोई (साधारण) व्यक्ति झूठी स्तुतियों से सन्तुष्ट हो जाता है, और वे उसे सरलतया सभी देहधारियों से मिल जाती हैं।' मूर्ख को अपनी प्रशंसा सुनने की उत्सुकता रहती है, अतः वह उसे सच्ची ही समझकर कुछ गर्व अनुभव करने लगता है, और तब प्रशंसा करने वाले को ही पछताना पड़ता है—**लज्जते न गदितः प्रियं परो वक्तुरेव भवति त्रपाधिका**[२८]—'(स्तुति आदि की) प्रिय बात सुनकर साधारण व्यक्ति लज्जित नहीं होता, वक्ता को ही अधिक लज्जा होती है।' कभी-कभी तो वह यह भी नहीं जानता कि उसे किसी बात पर प्रसन्न होना चाहिए या दुःखी। भर्तृहरि के शब्दों में—'**विषादे कर्त्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम्**[२९]—'विषाद करने योग्य विषय में भी मूर्ख लोग प्रसन्न होने लगते हैं।' ऐसे मूर्खों के लिए अश्वघोष भी ठीक ही कहते हैं—**प्रज्ञामयं यस्य हि नास्ति चक्षुश्चक्षुर्न तस्यास्ति सचक्षुषोऽपि**—[३०]'जिसके पास बुद्धि रूपी आंख नहीं है वह सनेत्र होते हुए भी नेत्रहीन ही है।' मूर्ख के इसी विवेकाभाव को कालिदास भी अन्धे व्यक्ति के व्यवहार से व्यंजित करते हैं—**स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया**[३१]—'सिर पर फेंकी हुई माला को भी अन्धा व्यक्ति सर्प-भय से दूर फेंकता है।' कारण, बाण के

शब्दों में—**अतत्त्वदर्शिन्यो हि भवन्ति अविदग्धानां धियः**[३२]—'मूर्खों की बुद्धि तत्त्व की बात नहीं देख सकती।'

मूर्ख व्यक्ति अपने लिए उपयोगी या हानिकर पदार्थों में स्वयं भेद करने में असमर्थ रहता है, और तदर्थ वह दूसरों पर निर्भर करता है। इसलिए कालिदास ने कहा है—**मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः**[३३]—'मूर्ख की बुद्धि दूसरों के विचार से परिचालित होती है।' अथवा—**पण्डितपरितोष-प्रत्यया ननु मूढजातिः**[३४]—'मूर्खजाति का विश्वास पण्डितों के सन्तोष पर आश्रित होता है।' इससे भी अधिक, माघ के अनुसार मूर्ख तो बताने पर भी नहीं समझ पाता—

विविनक्ति न बुद्धिदुर्विधः स्वयमेव स्वहितं पृथक्जनः।
यदुदीरितमप्यदः परैर्न जानाति तदद्भुतं महत्॥[३५]

—'बुद्धि-दरिद्र व्यक्ति अपने हित का विवेचन पृथक्शः स्वयं तो कर नहीं पाता, किन्तु महान् आश्चर्य तो यह है कि दूसरों के द्वारा कहने पर भी नहीं जान पाता।' फलतः कालिदास के शब्दों में—**महतां वृथा भवेदसद्ग्रहान्धस्य हितोपदेशनम्**[३६]—'झूठी बात के आग्रह से (या, बुरे ग्रहों के कारण) अन्धे बने (मूर्ख) व्यक्ति के लिए महापुरुषों का हितोपदेश व्यर्थ हो जाता है।' इसलिए अपशकुनों को देखकर और सयानों से रोका जाने पर भी तारकासुर युद्ध से नहीं मुड़ा। इस सूक्ति में मूर्ख द्वारा दूसरों का कथन ग्रहण न करने के दो कारणों की ओर संकेत हुआ है। एक तो, अपने दुर्भाग्य के कारण अपने हिताहित को वह जान नहीं पाता और दूसरे, दुराग्रह के कारण कहने पर भी उचित व्यवहार को स्वीकार नहीं करता।

भर्तृहरि की दृष्टि में भी केवल अशिक्षित या अज्ञानी व्यक्ति मूर्ख नहीं, अपितु ऐसा दुराग्रही ही मूर्ख है जो थोड़ा सा ज्ञान पाकर अत्यन्त अहंमन्य हो गया है। वे कहते हैं कि ऐसे ही व्यक्ति से सुलझना कठिन होता है—

'अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।'
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति॥[३७]

—'न जानने वाले को सरलतया प्रसन्न किया जा सकता है, और विशेषज्ञ को और भी सरलता से।' 'ज्ञान की कणिका पाकर दुर्विदग्ध बने हुए मूर्ख को तो ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकता।' अतः अच्छा यही है कि—**न तु प्रतिनिविष्ट-मूर्खजनचित्तमाराधयेत्**[३८]—'दुराग्रही मूर्खों के चित्त को प्रसन्न करने का यत्न न करे।' यह सोचना कि उन्हें सुधारा जा सकता है, गलत है—**सर्पस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्**[३९]—'शास्त्र में सबकी औषध लिखी है, पर मूर्ख की कोई दवा नहीं।' इस प्रकार मूर्ख व्यक्ति विवेक के अभाव में यद्यपि दूसरों पर निर्भर करता है, तथापि दुराग्रह में पड़कर किसी की नहीं सुनता।

मूर्ख का अविवेक उसकी बोलचाल में भी स्पष्ट हो उठता है। शूद्रक के अनुसार—**यदेव परिहर्त्तव्यं तदेवोदाहरति मूर्खः**[४०]—जो 'छुपाना चाहिए मूर्ख उसी को व्यक्त कर देता है।' माघ के विचार में वह वाक्यचातुरी से रहित हुआ करता है—**कस्मिन् वा**

सजलगुणे गिरां पटुत्वम् ?[४१]—'(पानी से युक्त धागों वाली मेखला के समान) जड़ता से युक्त किस पुरुष में वाणी की पटुता हो सकती है ?' इसलिए मूर्ख के लिए भर्तृहरि का यह सत्-परामर्श है—**विभूषणं मौनमपण्डितानाम्**[४२]—'मौन ही मूर्खों का सच्चा आभूषण है।'

भर्तृहरि ने मूर्खों के सम्बन्ध में बड़ी व्यग्रतापूर्वक और मात्रा में सबसे अधिक कहा है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनको ढीठ और मूर्खजनों से बहुत काम पड़ा था। सम्भवतः, इसीलिए वे उनके सम्पर्क से बुरी तरह बचना चाहते हैं—

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजन-सम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥[४३]

—'अगम्य पर्वतों में जंगलियों के साथ घूमना अच्छा है, पर देवभवनों में भी मूर्खों का सम्पर्क नहीं।'

४. दुर्बलता

शारीरिक और मानसिक दुर्बलताओं का शिकार हो जाना समाज में सभी के द्वारा निन्दा की दृष्टि से देखा जाता है। सूक्तियों में ऐसी दुर्बलताओं का कुछ परोक्ष संकेत हुआ है। शारीरिक शक्ति में विश्वास रखने वाले लोग अस्त्र-शस्त्र पर आश्रित रहने वालों को दुर्बल ही समझते हैं। भीम की ऐसी ही भावना भास ने व्यक्त की है—**दुर्बलैर्गृह्यते धनुः**[४४]—'धनुष को तो दुर्बल व्यक्ति पकड़ते हैं।' अर्थात् सशक्त को शस्त्र से क्या ? वह तो अपने शारीरिक बल से ही अपनी रक्षा कर लेता है। शरीर से अशक्त व्यक्ति ही अपनी रक्षार्थ शस्त्रास्त्रों का संग्रह करना चाहता है। किन्तु इसे एकपक्षीय विचार ही कहा जाएगा, क्योंकि शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में नैपुण्य होना भी सदा शक्ति का प्रतीक रहा है।

क्षीणबल व्यक्ति अपने से अधिक शक्तिशाली के साथ विरोध नहीं करता, करता भी है तो आश्चर्य का विषय बनता है—**कथमये, मृगी व्याघ्रमनुसरति**[४५]—'मृगी बाघ का पीछा करे, यह कैसे हो सकता है ?' दुर्बल शत्रु के लिए तो यही स्वाभाविक है कि वह अपने शक्तिशाली शत्रु से डरकर बचता रहे। विशाखदत्त कहते हैं—**कीदृशस्तृणानामग्निना सह विरोधः ?**[४६]—'तिनकों का आग से कैसा विरोध ?' माघ भी दुर्बलों की तुलना तुच्छ तृणों से करते हैं, जो थोड़े से विरोध के सम्मुख भी झुक जाते हैं।[४७] विरोध तो दूर, दुर्बल व्यक्ति तो शक्तिशाली के सम्मुख स्वतः ही फीका पड़ जाता है—**प्राकृतानि तेजांस्यप्राकृते ज्योतिषि प्रशम्यन्ति**[४८]—'साधारण तेज असाधारण ज्योति के सम्मुख ठण्डे हो जाते हैं।'

यह व्यक्ति की दुर्बलता ही होती है कि दूसरों द्वारा तिरस्कृत होकर भी चुप रहे। अपना तिरस्कार निर्विरोध सहने वाले ऐसे व्यक्तियों की निन्दा करते हुए माघ कहते हैं—

मा जीवन् यः परावज्ञा-दुःखदग्धोऽपि जीवति ।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ।।

तथा— पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरहोति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद् वरं रजः ।।[४६]

—'जो दूसरे के तिरस्कार के दुःख से जल कर भी जीता रहता है, उसके जीवन को धिक्कार है। माता को प्रसव-पीड़ा देने वाले उस व्यक्ति का जन्म न लेना ही अच्छा होता।' तथा—'अपमानित होकर भी स्वस्थ (मन से) रहने वाले व्यक्ति की अपेक्षा तो वह धूलि ही श्रेष्ठ है जो पैर की चोट खाने से उठकर सिर पर चढ़ जाती है।' इस प्रकार अपमानित होकर भी प्रतिकार न करने वाला व्यक्ति समाज में निन्दनीय होता है। कारण, उसे दुर्बल और तमोगुणी माना जाता है। अतः कह सकते हैं, मान-अपमान की परवाह न करने वाले सतोगुणी साधु की संभावना केवल सैद्धान्तिक है, वास्तविक नहीं।

मानसिक दुर्बलता के प्रतीक क्रोध, शोक आदि दुर्गुणों की भी सूक्तियों में निन्दा की गई है। क्रोध के विषय में बाण का विचार है कि यह धर्म (उचित कर्त्तव्य-पालन) की बाधा है—**निसर्गविरोधिनी चेयं पयः-पावकयोरिव धर्मक्रोधयोरेकत्र वृत्तिः**[५०]—'जल और अग्नि के समान धर्म और क्रोध की एक स्थल पर विद्यमानता नैसर्गिक विरोध वाली है।' क्रोधवश विमूढ बने[५१] व्यक्ति से अधर्म की आशंका करना अस्वाभाविक नहीं। क्रोधी व्यक्ति के स्वभाव को अग्नि के समान प्रचण्ड बताया जाता है, फलतः, भर्तृहरि के शब्दों में—**होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः**[५२]—'आहुति देने वाले होता को भी आग छूने पर जला देती है।' जिस प्रकार आग आपने अन्नदाता को भी क्षमा नहीं करती वैसे ही क्रोधी भी। भर्तृहरि की दृष्टि में प्रायः राजा भी ऐसे चण्डकोप वाले होते हैं[५३]। यह क्रोध ऊपर दर्शाये प्रतिकारार्थ या अन्यथा शत्रुओं पर सफल और सप्रयोजन किये जाने वाले क्रोध से भिन्न है। वहां तो क्रोध आवश्यक है और अपेक्षणीय भी[५४]। यहां तो अनावश्यक और निष्प्रयोजन क्रोध की निन्दा है।

शोक की गर्हणा में बाण कहते हैं—**यं च किल शोकः समभिभवति तं कापुरुषमाचक्षते शास्त्रविदः**[५५]—'जिसे शोक दबा लेता है, शास्त्रज्ञ उसे कायर कहते हैं।' शोक हो या क्रोध, 'मानव स्वभाव के विशिष्ट पहलू' के रूप में उनका अनिवार्य और कभी-कभी वांछनीय अस्तित्व होने पर भी[५६] उनके प्रभाववश असहाय हो जाना मनुष्य की दुर्बलता ही होती है, और तब वह निन्दनीय ही है।

५. धूर्त्तता और नृशंसता

धुर्त्तता और नृशंसता को दर्शाने वाले कतिपय दोष जो सूक्तियों में गर्हित हुए हैं, वे हैं—विश्वासघात, क्रूरता, छिद्रान्वेषण और छल-कपट। शूद्रक कहते हैं— **विश्वस्तेषु च वञ्चनापरिभवश्चौर्यं न शौर्यं हि तत्**।[५७]—'विश्वस्त व्यक्तियों को ठगना या तिरस्कृत करना चोरी है, शूरता नहीं।' अतः विश्वासघात चोरी के समान घृणित कार्य है।

जहां दुर्जन किसी अन्य की अपेक्षा शक्तिशाली हो गया वहीं नृशंसतापूर्वक व्यवहार करने लगता है। ऐसे आचरण के विषय में यह खेदजनक आश्चर्य होता है—

मुक्त्वाऽमिषाणि मरणभयेन तृणैर्जीवन्तम्।
व्याधानां मुग्धहरिणं हन्तुं को नाम निर्बन्धः?[५८]

—'मांस का परित्याग कर मरने के भय से केवल तिनकों पर जीने वाले भोले-भाले हिरण को मारने में शिकारियों का कैसा आग्रह होता है!' यहां कवि की भावुक दृष्टि में शिकार खेलने वाले आखेटक नृशंसकों के प्रतीक बन गए हैं।

नृशंस व्यक्ति दूसरों के सुख में या कष्ट-निवृत्ति में बाधा उपस्थित करके भी अपनी हृदयहीनता का परिचय दिया करते हैं। अश्वघोष की दृष्टि में यह इतना ही अनुचित है जितना—**शरणाज्ज्वलनेन दह्यमानान्न हि निश्चिक्रमिषुः क्षमं** (क्षमः[५९]?) **ग्रहीतुम्**[६०]—'आग से जलते हुए घर से निकलने की इच्छा वाले को रोकना उचित नहीं।' यह तो दुर्जन का ही दुष्टतापूर्ण क्रूर कर्म होगा, सुजन का कभी नहीं।

दुर्जनों की तुलना सांप से प्रायः की जाती है। जैसे सांप विष का घर है वैसे ही दुर्जन दुष्टता का। हर्ष कहते हैं—**विषधर-वदनाद्विषमन्तरेण किमन्यन्निः-सरति?**[६१]—'विषधर के मुख से विष के अतिरिक्त और क्या निकलेगा?' अथवा दुर्जन से दुष्टता के अतिरिक्त और क्या आशा की जा सकती है? वह तो दूसरों को दुःख देने के लिए ही होता है। भर्तृहरि के शब्दों में—**नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः?**[६२]—'नीच की दृष्टि में आने पर कौन सुख से रह सकता है?' और भवभूति के शब्दों में—**दुर्जनो-ऽसुखमुत्पादयति**[६३]—'दुर्जन दुःख उत्पन्न करता है।' माघ इसी के समर्थन में प्रश्न करते हैं—**उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम्?**[६४]—'कौन चरित्रहीन औरों के लिए सुखद हो सकता है?' औरों के लिए तो क्या, अपने लिए भी वह कोई अच्छा काम नहीं कर सकता—**नैवात्मनीनमथवा क्रियते मदान्धैः**[६५]—'मदान्ध व्यक्ति अपनी भी तो भलाई नहीं करते।'

अपनी धूर्तता और दुष्टता की प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए दुर्जन व्यक्ति सदा दूसरे की दुर्बलताएं खोजने में लगा रहता है, और वह वहीं प्रहार करता है—**पिशाचानामिव नीचात्मनां चरितानि छिद्रप्रहारीणि प्रायशो भवन्ति**[६६]—'पिशाचों के समान नीचों के चरित्र प्रायः छिद्र पर प्रहार करने वाले होते हैं।' शत्रु के छिद्र पर प्रहार करना व्यावहारिक बुद्धि का परिचायक[६७] तो हो सकता है, किन्तु इसका प्रयोग उदात्त भावना का विरोधी होने से दुर्जनता कहलाता है। छिद्रान्वेषण का यह दोष दुर्जनों का स्वभाव बन जाता है और वे 'अपने दोषों के प्रति अन्धे रहकर दूसरों के दोष दर्शन में दिव्य नेत्र वाले होते हैं, अपने गुणों का ऊंचे स्वर से उद्घोष करते हैं किन्तु दूसरों की प्रशंसा करने में मौन धारण करते हैं।'[६८]

अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को कष्ट देकर भी मौन धारण करने वाले और ऊपर से उदार बने हुए धूर्तों का छल-कपट भी कुछ सूक्तियों में बताया गया है। परशु-राम के व्यवहार पर कही गयी राजा जनक की एक कहावत भी धूर्तों पर एक अच्छा

व्यंग्य है—**अण्डभेदनं क्रियते प्रश्रयश्चेति**[६९]—'अण्डकोश तोड़ते हुए नम्रता दिखायी जाए, यह तो ऐसा हुआ।' इसी तरह, कुछ धूर्तों का व्यवहार गुप-चुप अपना काम निकालने वाला होता है। भवभूति ऐसे धूर्त को 'विद्वान्' की उपाधि से अलंकृत करते हैं—

> **जनं विद्वानेकः सकलमतिसंधाय कपटैस्**
> **तटस्थः स्वानर्थान् घटयति च मौनं च भजते।**[७०]

—'छलपूर्वक सभी को वंचित करके कोई चतुर व्यक्ति तटस्थ रूप से अपना स्वार्थ साधता है और मौन भी रहता है।'

ऐसे धूर्त और दुष्ट व्यक्तियों को उनका भला बनकर या उनकी भलाई करके भी बदलना कठिन होता है। इनसे 'व्यवहार में औचित्य'[७१] का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। इनके स्वभाव के विषय में कालिदास की स्पष्ट मान्यता है—**शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः**[७२]—'प्रत्युत्तर में उपकार से नहीं, अपकार से ही दुर्जन शान्त हो सकता है।' भर्तृहरि भी स्वीकारते हैं कि उसे उत्तम वचनों से सन्मार्ग पर लाना असम्भव है—

> **माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते।**
> **नेतुं वाञ्छति यः खलान्यपि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः।'**
> **(पाठा०—मूर्खान् यः प्रतिनेतुमिच्छति बलात् सूक्तैः ०……।)**[७३]

—'मधु की एक बूंद से वह खारी समुद्र की मिठास चाहता है जो दुष्टों को भी सज्जनों की अमृतवर्षक सूक्तियों के अनुसार चलाना चाहता है।' निश्चय ही अच्छी वाणी का प्रभाव उनमें असफल हो जाता है। वे सीधे-सीधे नहीं मानते, टेढ़े ढंगों से ही वश में आ सकते हैं।

६. उद्दण्डता

विनय के अभाव और दुस्साहस के आधिक्य के कारण दुर्जनों में उद्दण्डता और धृष्टता बढ़ी-चढ़ी हो सकती है। हर्ष प्रश्न करते हैं—**किं पुनरपरं साहसिकानां पुरुषाणां न सम्भाव्यते?**[७४]—'दुस्साहसी पुरुषों से क्या कुछ सम्भावना (आशंका) नहीं की जा सकती?' ये उद्धत और चंचल व्यक्ति अपने बड़ों को भी क्षुब्ध कर देते हैं—**क्षोभयन्त्यनिभृता गुरूनपि**[७५]।

उद्दण्डता से भरे ये व्यक्ति मद में कुछ ऐसे चूर होते हैं कि जब तक उन्हें अपनी शक्ति की हीनता का भान अच्छी तरह नहीं हो जाता, वे शान्त नहीं होते। दो गर्वीलों पर कालिदास की यह टिप्पणी देखिये—**अन्योन्यकलहितयोर्मत्तहस्तिनोरेकतरस्मिन्ननिर्जिते कुत उपशमः?**[७६]—'एक-दूसरे से कलह में पड़े दो मतवाले हाथियों में से एक के हारे बिना शान्ति कहां?'

निरंकुश व्यक्ति को विनयशील बनाने के लिए कभी-कभी दण्ड की आवश्यकता पड़ती है, और तब उसे दण्ड देने के लिए कोई न कोई शक्ति अवश्य विद्यमान रहती है। बाण के शब्दों में—**विनयविधायिनि भग्नेऽपि चाङ्कुशे विद्यत एव व्यालवारणस्य**

विनयाय······खरतरः केसरिनखरः[७७]—'विनयाधान करने वाले अंकुश के भग्न हो जाने पर मतवाले हाथी को विनीत करने के लिए सिंह का प्रचण्ड पंजा तो रहता ही है।' भाव यह कि यदि किसी उद्दण्ड व्यक्ति या राजा को कोई छोटा व्यक्ति या दूसरा राजा दण्ड देने में असमर्थ हो तो कोई शक्तिशाली तो रहता ही है, जो उसे दण्ड दे सके। जो हो, उद्दण्ड को दण्ड अवश्य मिलेगा।

उद्दण्ड व्यक्ति को सुधारने का यत्न भी किया जा सकता है किन्तु अपमान आदि द्वारा नहीं, विशेषतः तब जब कि उससे धृष्टता की आशंका हो। माघ ने इसका संकेत इस प्रकार किया है—अवधीरितानामप्युच्चैर्भवति लघीयसां हि धार्ष्ट्यम्[७८]—'तिरस्कृत होकर भी क्षुद्र लोगों की ढिटाई और बढ़ती है।' अतः उन्हें सन्मार्ग पर लाने के लिए मृदुता और सान्त्वना का उपाय ही सर्वोत्तम है, जैसा कि भास ने कहा है—गज इव बहुदोषो मार्दवेनैव ग्राह्यः[७९]—'बहुत दोष वाले को हाथी के समान मृदु व्यवहार से ही वश में किया जा सकता है।' तथा—सान्त्वं हि नाम दुर्विनीतानामौषधम्[८०]—'शान्ति ही दुर्विनीतों (उद्दण्डों) की सही दवा है।'

७. क्षुद्रता

निन्दनीय व्यक्तियों में सामान्यतः नीचता, तुच्छता या ओछेपन के दर्शन होते हैं। उनके दोष, स्वभाव और आचार गन्दे होने के कारण घृणास्पद होते हैं। माघ बताते हैं—लघवः प्रकटीभवन्ति मलिनाश्रयतः[८१]—'ओछे लोग निकृष्ट व्यक्ति के या बुराई के सहारे प्रकट होते हैं।' इन में दीनता, व्याकुलता आदि दोष देखे जा सकते हैं। दीन व्यक्ति के व्यवहार की कवि ने कुत्ते से समानता की है—अशनं खलु वान्तमात्मना कृपणः श्वा पुनरत्तुमिच्छति[८२]—'अपने द्वारा उल्टी किये हुए भोजन को दीन-हीन कुत्ता फिर खाना चाहता है।' भाव यह कि परित्यक्त वस्तु को फिर से स्वीकार करना घृणास्पद हो जाता है। कारण, परित्याग के समय वस्तु के प्रति अरुचि दर्शायी जाती है, और बाद में उसी को वापिस लेने के लिए लालायित होना दीनता का प्रतीक है।

ऐसे दीन और क्षुद्र व्यक्ति को अपने से ही मतलब होता है, आसपास की विशालता तक उसकी तुच्छ दृष्टि पहुंच ही नहीं पाती। भर्तृहरि के शब्दों में—

सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते।
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्॥[८३]

—'(अपने मांस खण्ड खाने में लगा हुआ) कुत्ता पास खड़े हुए देवराज को देखकर भी नहीं चौंकता।' 'क्षुद्र प्राणी अपनी स्वीकृत वस्तु की असारता को नहीं गिन सकता।' यह नासमझी उसकी क्षुद्रता का परिणाम है। इसी प्रकार आश्चर्य करना यद्यपि बहुत सामान्य बात है तथापि भास के अनुसार ओछे और छोटे व्यक्ति सरलता से आश्चर्य-चकित हो जाते हैं—लघुजनस्य सुलभो विस्मयः[८४]—'तुच्छ जन का चकित होना सुलभ है।' गरिमा के अभाव में वह शीघ्र आकुल हो जाता है।

ऐसा तुच्छ व्यक्ति बड़ों के सम्पर्क से या उनके द्वारा सम्मान पाकर भी गुणी नहीं हो जाता, वैसे ही जैसे कि—सहसि प्लवगैरुपासितं न हि गुञ्जाफलमेति सोष्णताम्[८५] —'माघ मास में वानरों से सेवित अथवा (अंगारे समझकर फूत्कार द्वारा उपासित होने से) सत्कृत रत्ती का दाना गर्म नहीं हो जाता।' किसी के चाहने मात्र से किसी में वह गुण उत्पन्न नहीं हो सकता जिसका उसमें नितान्त अभाव है।

८. गणिका-वृत्ति

(क) गणिका-वृत्ति का स्थान—सूक्तियों में गणिका-वृत्ति के प्रति दोषोद्भावना प्रायः गणिका के प्रति भावाभिव्यक्ति द्वारा ही हुई है। यद्यपि भारतीय समाज में गणिकाओं का अस्तित्व प्राचीन काल से रहा है, और चाहे चाणक्य ने राजनीतिक दृष्टि से इनके भरण-पोषणार्थ एक पृथक् विभाग[८६] की कल्पना भी की है, तथापि इन्हें निन्दनीय ही समझा गया है। काव्यों में गणिका और उसके जीवन के चित्र मिल जाते हैं। भास का 'चारुदत्त' और शूद्रक का 'मृच्छकटिक' तो ऐसे नाटक हैं ही, जिनके कथानक की नायिका वेश्या है। दोनों की कथा और पात्र लगभग एक से हैं। दोनों में वसन्तसेना के चरित्र में ऐसी गणिका की सृष्टि हुई है जो वेश्या के नाम से प्रसिद्ध अवश्य है, किन्तु उसका शील कुलीन स्त्रियों से कम नहीं है। भास और शूद्रक ने वास्तविक जीवन में वेश्या को एकदम हृदयहीन नहीं पाया होगा, क्योंकि उन्होंने वसन्तसेना को एक सच्चे प्रेमी की खोज में आतुर दर्शाया है। साथ ही वह ऐसा प्रेम करना चाहती है जिससे उसकी सच्चाई समाज के सम्मुख प्रकट हो सके, तभी तो वह यह सूक्ति कह उठती है—अतिदरिद्रपुरुषसक्ता गणिका अवचनीया भवति[८७]—'अति दरिद्र पुरुष पर आसक्त वेश्या की निन्दा नहीं होती।' शूद्रक की दृष्टि में भी गणिका का उत्कर्ष दरिद्र किन्तु चरित्रवान् पुरुष की सेवा द्वारा हो सकता है। क्योंकि (अपने) योग्य व्यक्ति से प्रेम करना ही वेश्याओं की शोभा है[८८]। इसका कारण यह हो सकता है कि समाज की सामान्य पर अविचारवान् दृष्टि में 'वह सच्चा प्यार कभी नहीं कर सकती। वह तो उसी पर प्रेम का प्रदर्शन किया करती है जिससे उसे कुछ प्राप्ति हो।' इसलिए दरिद्र पुरुष को अपनाकर वह अपने प्रेम की सच्चाई स्थापित करती हुई श्लाघनीया हो सकती है। अन्यथा सामान्यतः उसमें दोषों और तज्जन्य बुराइयों को ही देखा और कहा जाता है।

(ख) गणिका के दुर्गुण

लोभ—गणिका का पेशा है—पुरुष मात्र के प्रति दिखावटी प्रेम करना, और अपना शरीर बेचना। यह व्यापार उसे अपनी आजीविका के लिए न जाने किन-किन कारणों से बाध्य होकर करना पड़ता है। सामान्य व्यक्ति उसके प्रेम के सौदे को स्थायी समझने की भूल करता है, परन्तु जब उसे सच्चाई का भान होता है, तब वह वेश्या के लोभ की चर्चा करने लगता है—

> एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतोर्, विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।
> तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः॥[८९]

अकन्दसमुत्थिता पद्मिनी, अवञ्चकोवणिक्, अचोरः सुवर्णकारः,
अकलहो ग्रामसमागमः, अलुब्धा गणिकेति दुष्करमेते संभाव्यन्ते ।[९०]
यस्यार्थास्तस्य सा कान्ता धनहार्यो ह्यसौ जनः ।[९१]

—'ये धन के लिए हंसती हैं और रोती हैं। पुरुष को विश्वास दिला देती है पर स्वयं कभी विश्वास नहीं करतीं। इसलिए कुलीन और शीलवान् व्यक्ति को वेश्याओं का त्याग श्मशान के पुष्प के समान करना चाहिए।' 'मूल के बिना उत्पन्न कमलिनी, न ठगने वाला बनिया, न चुराने वाला सुनार, कलहरहित गांव का मेला और लोभहीन वेश्या—ये सब कठिनता से ही हो सकते हैं।' 'यह वेश्या उसी की प्रिया है जिसके पास पैसा है, क्योंकि यह व्यक्ति धन द्वारा ग्राह्य है।' ये वचन विविध परिस्थितियों में विभिन्न दृष्टिकोणों से कहे गये हैं। प्रतीत होता है कि इन सब के मूल में वेश्या के प्रति अविश्वास की सामान्य भावना कार्य कर रही है।

चालाकी—वेश्या को चालाक माना जाता है। उसके परिजन भी कम चालाक नहीं होते। स्वयं वेश्या इस 'जनवाद' को स्वीकार करती है—**दक्षो वेशवासजनः**, या—**वेशवासजनः सर्वो दक्षिणो भवति**[९२]—'वेश्या के पास रहने वाले (सेवकादि) भी चतुर होते हैं।' चतुराई किस कारण से आ जाती है इसका शूद्रक ने उल्लेख किया है—**नाना-पुरुषसङ्गेन वेश्याजनोऽलीकदक्षिणो भवति।**'[९३]—'बहुत प्रकार के पुरुषों के संग के कारण वेश्याएं झूठ बोलने में चतुर हो जाती हैं।'

ईर्ष्या—वेश्या की ईर्ष्या निम्न सूक्ति,में कही गयी है—**सखीजनसपत्नीको गणिकाजनो नाम।**[९४]—'वेश्या की सखियां ही उनकी सौत होती हैं।' सखियों के प्रति वेश्याओं में सौत की सी ईर्ष्या होने का कारण एक-दूसरे के सौन्दर्य और आकर्षण की अधिकता का भय ही हो सकता है, जिससे उनकी आजीविका भी प्रभावित हो सकती है।

अपवित्रता—भारतीय समाज में वेश्या को हेय दृष्टि से देखा गया है—

न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति, न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति ।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो न वेशजाताः शुचयस्तथाङ्गनाः ।।[९५]

—'पर्वत शिखर पर नलिनी नहीं उगती, गधे घुड़गाड़ी नहीं ढोते, जौ बिखेर कर चावल नहीं उगा सकते, और वेश्याएं पवित्र नहीं हो सकतीं।' इस पद के साथ वहीं 'सूक्तं खलु कस्यापि' यह वाक्यांश रखा गया है, जिससे प्रतीत होता है कि यह पद शूद्रक के समय भी सूक्तिरूप में लोकव्यवहृत था।

विनाशकारिता—वेश्या का सम्पर्क अत्यन्त विनाशकारी हो सकता है, ऐसा विचार भारतीय समाज का रहा है। शूद्रक तो यहां तक कहलवाते हैं कि—**गणिका हस्ती कायस्थो भिक्षुश्चाटो रासभश्च, यत्रैते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न जायन्ते।**[९६]—'वेश्या हाथी, कायस्थ, भिक्षु, गुप्तचर और गधा—ये जहां रहते हैं वहां दुष्ट भी नहीं रह सकते।' इतना ही नहीं, जैसे विहग वृक्षों के वैसे ही गणिका कुलीन पुरुषों की भक्षक है[९७]। वह सुरतज्वाला से युक्त ऐसी कामाग्नि है जिसमें पुरुष लोग अपने धन और

यौवन की आहुति देते हैं[९८]। भर्तृहरि ने भी शूद्रक की सूक्ति के भाव एवं शब्दों के अनुरूप ही वेश्यावर्ग की ऐसी ही विनाशकारिता[९९] सूचित की है।

इस प्रकार यद्यपि समाज की दृष्टि में वेश्या-वृत्ति घृणित थी और समाज के लिए घातक भी मानी जाती थी, फिर भी उसकी प्रथा अद्यावधि समाप्त नहीं की जा सकी। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य-समाज के लिए कुछ दुर्गुण अपरिहार्य भी हैं।

(ग) गणिका की विवशता—दोषारोपण करने की अपेक्षा शूद्रक वेश्याओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण अधिक प्रतीत होते हैं। वे उसकी दयनीय अवस्था का चित्र प्रस्तुत करके पाठक के हृदय में दयाभाव जागृत करते हैं। वेचारी वेश्या की अपनी इच्छा क्या ? उसे अपने मन के प्रेमी से मिलने में सामाजिक बन्धन तो हैं ही, साथ ही राज्य के वरिष्ठ और तथाकथित सम्माननीय जन भी उसका यथेष्ट उपभोग करना चाहते हैं। एक स्थान पर राजश्यलाल शकार अनभिलाषिणी वसन्तसेना का पीछा करता है, तब विट के मुख से यह सूक्ति वेश्या की विवशता को चित्रित करती है—

वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो, मूर्खोऽपि वर्णाधमः।
फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लतां, या नामिता बर्हिणा।
ब्रह्मक्षत्रविशस्तरन्ति च यया, नावा तयैवेतरे।
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं, वेश्यासि सर्वं भज ॥[१००]

—'बावड़ी में विद्वान् ब्राह्मण भी और मूर्ख शूद्र भी नहाता है। विकसित लता को मोर भी और कौवा भी झुकाता है। जिस नाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य पार होते हैं, उसी से शूद्रादि भी जाते हैं। तू वेश्या है ! अतः बावड़ी, लता और नाव के समान सब की सेवा कर।'

इस सूक्ति के पाठक को वेश्या की विवशता को देखते हुए उस पर दया ही आएगी, आक्रोश तो समाज पर ही होगा। पर यह सही है कि गणिका-वृत्ति को समाज की बुराई के रूप में ही सबने देखा है, चाहे उसके निवारण या प्रतिकार का उपाय किसी को न सूझता हो।

९. द्यूत-क्रीडा

द्यूत का प्रचलन बहुत प्राचीन है। वेद में भी इसका बुराई के रूप में उल्लेख है[१०१]। महाभारत में इसका भयंकर दुष्परिणाम युधिष्ठिर के राज्य हारने से समझाया गया है। धर्मशास्त्र में इसे भी व्यसनों में गिनाया गया है।[१०२] अन्य व्यसनों की भांति व्यक्ति को द्यूत की भी लत पड़ जाती है। कोई भी जुआरी इसके आकर्षण से बचने में असमर्थ हो जाता है। कितव (जुआरी) का द्यूत के प्रति आकर्षण दिखाते हुए शूद्रक कहते हैं—

कत्ता-शब्दो निर्नाणकस्य हरति हृदयं मनुष्यस्य।
ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभ्रष्टराज्यस्य ॥[१०३]

—'पासे का शब्द निर्धन मनुष्य के हृदय को वैसे ही हर लेता है, जैसे भ्रष्ट राज्य वाले राजा को भेरी (ढपली) का शब्द।' शूद्रक इसके खोखलेपन पर व्यंग्य करते हैं—

द्यूतं हि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्—
न गणयति पराभवं कुतश्चिद्धरति ददाति चयनित्यमर्थजातम् ।
नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभववता समुपास्ते जनेन ॥[१०४]

—'द्यूत तो मनुष्य के लिए सिंहासनरहित राज्य के समान है ।' 'जुआ या जुआरी अपने तिरस्कार को नहीं गिनता, नित्य धन हरता भी है और देता भी है । राजा के समान अत्यन्त आय को दिखाने वाला वह ऐश्वर्यशालियों से घिरा रहता है ।' जुआ खेलते समय जुआरी कैसा अनुभव करता है, यह इन पंक्तियों में दिखाने का प्रयत्न किया गया है । यहां अपने दोष को गुण और तज्जन्य हानि को लाभ के रूप में देखने वाले कितव की व्यसनासक्ति दिखायी गयी है । इन सूक्तियों में व्यंग्यात्मक निन्दा ही है । कवि ने स्पष्ट शब्दों में भी द्यूत की घातकता प्रकट की है—

द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव, दारा मित्रं द्यूतेनैव ।
दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव, सर्वं नष्टं द्यूतेनैव ॥[१०५]

—'द्यूत से ही धन, स्त्री, मित्र (और उपभोग) मिलते हैं, दिया भी जाता है और भोगा भी, पर सब कुछ नष्ट भी इसी से हो जाता है ।' समझदार व्यक्तियों की गम्भीर दृष्टि में द्यूत कभी भी प्रशंसा का विषय नहीं रहा ।

१०. निन्दनीय भावों का परिणाम

जहां सद्गुणों के कारण महनीय व्यक्ति की संगति वांछनीय हो जाती है, वहां दुर्गुणों के कारण निन्दनीय व्यक्ति से लोग दूर से ही बचने का यत्न करते हैं । भर्तृहरि स्पष्ट शब्दों में यह परामर्श देते हैं—

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ?[१०६]

—'विद्या से सुशोभित होने पर भी दुर्जन का परिहार करना चाहिए ।' 'क्या मणि से भूषित सांप भयंकर नहीं होता ?' अतः विद्या आदि शक्ति से सम्पन्न दुर्जन व्यक्ति और भी भयंकर होने से निश्चय ही त्याज्य है ।

दुर्जन की सम्पत्ति का भी उसकी अन्य शक्तियों के समान दुरुपयोग होता है । फलतः—विपदन्ता ह्यविनीत-सम्पदः[१०७]—'विनयहीन (उद्धत या उद्दण्ड) की सम्पत्तियां विपत्ति में परिणत होती हैं ।' भाव यह कि उनका अवसान बुरा होता है, या उनसे भी वह विपत्ति को ही बुलाता है ।

व्यक्ति के दोषों का एक परिणाम तो यह होता है कि वह सम्मान से वंचित हो जाता है । इसीलिए भास दर्शाते हैं कि भरत स्वयं को राम-वनवास आदि दोषों का कारण समझते हुए राजोचित सम्मान के अयोग्य मानकर कहते हैं—किं ब्रह्मघ्नरानामपि परेण निवेदनं क्रियते ?[१०८]—'क्या ब्रह्मघातियों की सूचना (आदरपूर्वक) दूसरे के द्वारा दी जाती है ?' राजा का किसी अन्य के द्वारा अपने आगमन की सूचना दिलवाना उसके सम्मान का सूचक है । इस व्यवहार को अपनाने में सकुचाते हुए भरत दोषी को आदर

से च्युत होने के योग्य सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त, दोष से युक्त व्यक्ति में प्रत्युत्तर देने की शक्ति नहीं रहती, जब तक कि वह दोष करने में बहुत अनुभवी और ढीट न हो। रंगे हाथों पकड़े जाने पर उसके लिए कोई बहाना बनाना प्रायः असम्भव हो जाता है। ऐसे अवसर पर कहा जा सकता है—**लोत्रेण गृहीतस्य कुम्भीरकस्यास्ति वा प्रतिवचनम्?**[१०९]—'लूट के माल के साथ पकड़े गये चोर के पास प्रत्युत्तर कहां?'

गिरकर उठना कठिन हुआ करता है, और यह निकृष्ट व्यक्तियों के विषय में भी सही है ऐसा अश्वघोष ने कहा है—**उदेति दुःखेन गतो ह्यधस्तात्**[११०]—'नीचे गया हुआ कठिनाई से ऊपर आता है।' अतः यथासम्भव निन्दनीय भावों से बचने का यत्न करना हर व्यक्ति के लिए वांछनीय है, यही इन सूक्तियों में निहित भावना है।

११. निष्कर्ष

सूक्तियों में जो स्वभाव और आचार अशोभन कहे गये हैं उनमें से कुछ प्रमुख ये हैं—सज्जन का अकारण विरोध, कटुवचन, ईर्ष्या, विवेकहीनता, मिथ्या-प्रशंसा पाकर भी प्रसन्न होना, दूसरे की बुद्धि पर निर्भर करना, वाक्पटुता का अभाव, दुराग्रह, विरोध से डरना और तिरस्कार सहना, क्रोध, शोक, विश्वासघात, नृशंसता, छिद्रान्वेषण, दूसरों को दुःख या बाधा देना, छल-कपट, दुःसाहस, गर्व, दीनता, वेश्यागमन और द्यूत-क्रीडा।

गणिका को यद्यपि लोभ, चालाकी, ईर्ष्या, अपवित्रता, आदि दोषों से युक्त देखा गया है, और समाज के लिए विनाशकारिणी भी माना गया है, तथापि कुछ कवियों ने उसकी विवशता को समझा है और इस वृत्ति को छोड़ने की इच्छुक वेश्या के लिए यह उपाय भी सुझाया है कि वह किसी गुणवान् किन्तु दरिद्र पुरुष से सच्चा प्रेम करके समाज में अपने लिए अच्छा स्थान बना सकती है। इस प्रकार भास और शूद्रक ने वेश्याओं को उदार दृष्टि से देखा है और सभी को नितान्त हृदयहीन नहीं पाया है। किन्तु निस्सन्देह गणिका-वृत्ति को किसी ने प्रशंसनीय दृष्टि से नहीं देखा।

इस प्रकार सूक्तियों में दोषों और दुष्टों के प्रति निन्दा का भाव अभिव्यक्त हुआ है। सूक्तियों में क्षुद्र-भावों की हेयता और उदात्त-भावनाओं की उपादेयता की प्रेरणा प्रच्छन्नरूपेण दी जाने पर भी कम सशक्त नहीं कही जा सकती। यद्यपि यह ठीक है कि काव्य उपदेश के लिए नहीं होता, तथापि भारतीय मनीषियों का दृष्टिकोण काव्य में भी आदर्शवादी रहा है। यहां काव्य को जीवन के नैतिक आदर्शों से नितान्त पृथक् नहीं समझा गया। अपितु इसे जीवन के मुख्य उद्देश्य 'वर्ग-चतुष्टय' की सिद्धि का एक साधन[१११] माना गया है। इसी हेतु सूक्तियों में इस प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जो व्यक्ति के लिए अनुकरणीय और उपयोगी आदर्श प्रस्तुत करता है। □□

सन्दर्भ-संकेत

१. चारु० ४।०।पं० १६, चेटी

२. प्रिय० ४।७ पृ० ८८—वासवदत्ता । तुलनार्थ—

'Man is by nature wicked.··· Trust no man.'—S.P.L., p.84,120

३. रघु० ९।७४

४. देखिए—'It is probably generally easier to develop attitudes positively than negatively...it is therefore much better to develop a liking for some substiute form of respone which will effectively replace the objectionable behaviour.'

—Robert S. Ellis, Educational Psychology, p. 305

५. देखिए—'···the giving of material rewards for good behaviour was more likely to be a predictor of good condct...than was punishment'.

—Crow & Crow, Child Development and Adjustment. p. 400

६. शिशु० २।४०

७. किरात० ११।५६

८. देखिये—पीछे परि० ९. अनु० १,

९. शाकु १।२२—राजा, सं० १३१

१०. किरात० १३।७

११. शिशु० १०।३५

१२. शिशु० १६।२०

१३. किरात० ३।५३

१४. उपकारपरः स्वभावतः सततं सर्वजनस्य सज्जनः ।
असतामनिशं तथाप्यहो, गुरुहृद्रोगकरी तदुन्नतिः ।। —शिशु० १६।२२

१५. परितप्यत एव नोत्तमः, परितप्तोऽप्यपरः सुसंवृत्तिः ।
परवृद्धिभिराहितव्यथः स्फुटनिर्भिन्नदुराशयोऽधमः ।। —वही १६।२३

१६. सौन्दर० १५।१६

१७. कु० ५।७५

१८. देखिये—'द्विषन्ति हेत्वपरिज्ञानाद् दूषयन्ति, विद्वांसस्तु कोऽप्यत्र हेतुरस्तीति बहु मन्यन्त इत्यर्थः'—वहीं, मल्लिनाथ

१९. नीति० ४३

२०. मृच्छ० १०।२२ । यहां जाति का चाण्डाल भी अपने को चाण्डाल शब्द से पुकारा जाना पसन्द नहीं करता। जन्म के स्थान पर कर्म की श्रेष्ठता या दुष्टता के

आधार पर ऊंच-नीच का भाव जगाने के लिए छटपटाती हुई तत्कालीन समाज के तथाकथित नीच लोगों की आत्मा का इसमें अच्छा दिग्दर्शन हुआ है।

२१. किरात० १४।२१
२२. देखिये आगे परि० ११, अनु० ११ (ग)
२३. अकारणाविष्कृतवैरदारुणाद् असज्जनात् कस्य भयं न जायते ?
विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचः सुदुःसहं सन्निहितं सदा मुखे। —काद०, मंगल० ५.
२४. कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे-पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥ —वहीं, ६
२५. शिशु० १६।२१
२६. चारु० १।१५—विट, पं० १८। वसन्तसेना के आक्रोश को न समझने वाले शकार के लिए। सामान्यतः प्रत्येक मूर्ख के लिए भी प्रयुक्त हो सकने के कारण यह सूक्ति है।
२७. शिशु० १४।३
२८. वही १४।२
२९. वैराग्य ५८
३०. सौन्दर० १८।३६
३१. शाकु० ७।२४, (शकुन्तला से अपने 'प्रत्याख्यान' के लिए क्षमायाचना करते हुए राजा)
३२. हर्ष च० ७, पृ० २०३, पं० १६
३३. मालवि० १।२
३४. वही २।१०—पं० १०६, विदूषक, परिव्राजिका के अनुसार स्वयं भी मालविका के नृत्य की प्रशंसा करते हुए
३५. शिशु० १६।३९
३६. कु० १५।२६, माघ से तुलना कीजिए—
'अथवाऽभिनिविष्ट-बुद्धिषु व्रजति व्यर्थकतां सुभाषितम्।'
रविरागिषु शीतरोचिषः करजालं कमलाकरेष्विव॥ —शिशु० १६।४३
३७. नीति० ३
३८. वही ४,५
३९. वही १० (अतिरिक्त)
४०. मृच्छ० १।३२—विट, शकार की मूर्खता पर (पृ० ३८)
४१. शिशु० ८।४५ (यहां 'डलयोरभेदः'—पर 'जल' और 'जड' का श्लेष आधारित है।)
४२. नीति० ७। तुलनार्थ—'Fools are wise as long as silent.'
—S. P. L., p. 57'
४३. 'भर्तृहरिसुभाषितसंग्रह, दा० ध० कोसम्बी, संशयित श्लोक ३२०, पृ० १२५

४४. पञ्च० २।५५
४५. मृच्छ० ८।१५—पृ० २७० विट, वसन्तसेना को शकार की गाड़ी में देख कर
४६. मुद्रा० १।२१ अ (सं० १५२)—चन्दनदास, चाणक्य से अपने राज्यविरोध की बात सुनकर
४७. स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायावुपेयुषि।
निदर्शनमसाराणां लघुर्बहुतृणं नरः॥ —शिशु० २।५०
४८. महावीर० ३।१८—जामदग्नि, अपने समक्ष शतानन्द को तुच्छ बताते हुए
४९. शिशु० २।४५, ४६
५०. हर्ष च० १, पृ० १२, पं० १०
५१. 'क्रोधाद् भवति संमोहः' —गीता० २।६३
५२. नीति० ४६
५३. 'न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम्।' —वहीं
५४. देखिए—'अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः॥'
—किरात० १।३३
५५. हर्ष च० ६, पृ० १७६, पं० १०-११
५६. देखिये पीछे परि० ६, अनु० ६
५७. मृच्छ० ३।११
५८. मुद्रा० ७।३ चन्दनदास द्वारा राजा के विषय में कही जाने पर भी यह उक्ति मुख्यतः नृशंसता की निन्दार्थ है, कठोर राजनीति की आलोचनार्थ नहीं।
५९. यहां 'निश्चिक्रमिषुः' (पु०) के साथ 'क्षमः' पाठ अधिक उचित प्रतीत होता है।
६०. बुद्ध० ५।३७
६१. नागा० ५।१०—पं० ७, शंखचूड, अपने लिए। तुलनार्थ—'बिटौड़े के मूं से गोस्से ही तै निकलें सें।'—एक हरियाणवी लोकोक्ति
६२. नीति० ४८
६३. उत्तर० १।१७—सीता, चित्र में शूर्पनखा को देख कर
६४. शिशु० ८।१८
६५. वही ५।४४
६६. हर्ष च० ६, पृ० १८३, पं० १-२
६७. 'जयो रन्ध्रप्रहारिणाम्'—रघु० १५।१७, देखिये आगे परि० ११, अनु० १५ (ख)
६८. 'सहजान्धदृशः स्वदुर्नये, परदोषेक्षणदिव्यचक्षुषः।
स्वगुणोच्चगिरो, मुनिव्रताः परवर्णग्रहणेष्वसाधवः॥' —शिशु० १६।२९
तुलनार्थ—'राजन्, सर्षपमात्राणि, परच्छिद्राणि पश्यसि!
आत्मनो बिल्वमात्राणि, पश्यन्नपि न पश्यसि!!' —सूक्ति
६९. महावीर० ३।२६—जनक

७०. मालती० १।१७
७१. व्यावहारिक दृशा विचार के लिए देखिये आगे परि० ११, अनु० १५
७२. कु० २।४०
७३. नीति० ६, तुलनार्थ बाण की सूक्ति देखिये—

'सुभाषितं हारि विशत्यधो गलान्न दुर्जनस्यार्करिपोरिवामृतम् ।
तदेव धत्ते हृदयेन सज्जनो हरिर्महारत्नमिवातिनिर्मलम् ।।

—काद० मंगल० ७

७४. रत्ना० ३।११—सं० ७३, काञ्चनमाला, वासवदत्ता से जो अपने पति राजा का सागरिका से प्रेमालाप सुन कर आश्चर्य करती है। प्रसंगानुसार यह सूक्ति स्त्रियों का पुरुषों के प्रति सामान्यतः अविश्वास और उनको दुस्साहसी मानना भी दर्शाती है, किन्तु सूक्ति में 'साहस' पर बल होने से यह दुःसाहस की निन्दा के लिए भी मानी जा सकती है।
७५. किरात० १३।६६
७६. मालवि० १।१५,—सं० २७१, विदूषक, हरदत्त और गणदास के संघर्ष पर
७७. हर्ष च० ६, पृ० १८८, पं० १४-१६
७८. शिशु० ८।६०
७९. पञ्च० १।३८
८०. वही १।३८—भीष्म, दुर्योधन के प्रति व्यवहार के विषय में। मिलाइए पीछे परि० ६, अनु०६ (ढ)
८१. शिशु० ९।२३
८२. सौन्दर० ८।२१
८३. नीति० ९
८४. चारु० २।०, पं० २०७—वसन्तसेना, चेटकी उत्सुकता पर
८५. शिशु० १६।४७, (श्रीकृष्ण को गुणहीन और इसलिए पाण्डवों द्वारा उसकी पूजा को व्यर्थ बताते हुए शिशुपाल का दूत यह सूक्ति कहता है।)
८६. देखिये अर्थ० २।२७—'गणिकाध्यक्ष'
८७. चारु० २।०।४८—वसन्तसेना। तुलनार्थ शूद्रक से—'दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोके अवचनीया भवति' —मृच्छ० २।०—वसन्तसेना, पृ० ७०
८८. देखिये—'यत्नेन सेवितव्यः पुरुषः कुलशीलवान् दरिद्रोऽपि ।

शोभा हि पणस्त्रीणां सदृशजनाश्रयः कामः ।।' —मृच्छ० ८।३३

८९. वही ४।१४ (मदनिका पर सन्देह करता हुआ शर्विलक)
९०. वही ५।६—विदूषक, वसन्तसेना द्वारा रत्नावली स्वीकार कर लेने पर। 'सुष्ठु खलूच्यते' के साथ कहा होने से प्रतीत होता है कि यह पद लोकविश्रुत रहा होगा।
९१. वही, ५।९, ('वसन्तसेना का मुझसे कैसा नाता?' यह दर्शाने के लिए चारुदत्त विदूषक से)

९२. चारु० ४।०, पं० १०, १५—वसन्तसेना एवं चेटी

९३. मृच्छ० ४।०—वसन्तसेना मदनिका से, पृ० १३२

९४. चारु० ४।०, पं० २१—चेटी वसन्तसेना से

९५. मृच्छ० ४।१७, (सन्देह से भरा शर्विलक मदनिका से)

९६. मृच्छ० ५।७—विदूषक, वसन्तसेना को लोभी बताते हुए चारुदत्त से

९७. 'इह सर्वस्वफलिनः कुलपुत्रमहाद्रुमाः।
निष्फलत्वमलं यान्ति वेश्याविहगभक्षिताः ॥' —वही ४।१०

९८. 'अयं च सुरतज्वालः कामाग्निः प्रणयेन्धनः'
नराणां यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥' —वही ४।११

९९. 'वेश्याऽसौ मदनज्वाला-रूपेन्धन (समेन्धिता)-विवर्धिता
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥' —शृं० ५९

१००. मृच्छ० १।३२

१०१. देखिये—'अक्षसूक्त', ऋ० १०।३४

१०२. देखिये—मनु० ७।४७

१०३. मृच्छ० २।५

१०४. मृच्छ० २।७

१०५. वही २।८

१०६. नीति० ४२

१०७. किरात० २।५२

१०८. प्रतिमा० ४।४—पं० १४, भरत

१०९. विक्र० २।२०, पृ०६२—विदूषक, उर्वशी का प्रेमपत्र देकर राजा को संभ्रम में डालने वाली देवी के सामने निरुत्तर राजा पर टिप्पणी करता हुआ

११०. सौन्दर० १८।२७

१११. 'चतुर्वर्ग-फल-प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि'—साहित्यदर्पण १।२

००

परिच्छेद-११

व्यवहार एवं नीति

१. पृष्ठभूमि

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी दैनिक लोक-यात्रा में अनेक प्रकार की परिस्थितियों में से होकर निकलना पड़ता है तथा अनेक प्रकार के लोगों से व्यवहार करना पड़ता है। मानव जीवन का यह महत्त्वपूर्ण अंग है। समाज मनोविज्ञान के अन्तर्गत मुख्यतः इस मानव-व्यवहार का ही विशिष्ट अध्ययन होता है।[1] कवि और उसकी कृति भी इससे अछूते नहीं रह सकते।

कहा जाता है कि संस्कृत की कृतियों में साधारण जनता के लोक-व्यवहार-सम्बन्धी वर्णन नहीं के बराबर हैं; क्योंकि अधिकतर काव्यों का नायक राजा, राजर्षि देवर्षि आदि कोई उच्चकुलोत्पन्न पात्र ही चुना गया है; और उन्हीं का व्यवहार कथावस्तु का आधार रहा है। भारतीय साहित्य-शास्त्रियों की परम्परा भी इस तथ्य को पुष्ट करती है, जैसा कि महाकाव्य तथा नाटकों के लक्षणों में नायक के विषय में विचार करते हुए कहा भी गया है।[2] इस परम्परा के कारण लोक-व्यवहार के वर्णन-प्रसंगों की स्वल्पता अवश्य रही है, फिर भी उसका सर्वथा अभाव हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।[3] दूसरी ओर, लोक-व्यवहार-सम्बन्धी तथ्यों का और तत्सम्बन्धी सूक्तियों का पर्याप्त विशाल मात्रा में समावेश हुआ है, यह अवश्य असन्दिग्ध है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि साहित्य-शास्त्र के आचार्यों ने जहां काव्य के विविध प्रयोजनों पर विचार किया है, वहां लोक-व्यवहार का बोध कराना भी काव्य का एक प्रमुख प्रयोजन माना है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये।[4]

—'काव्य यश के लिए, धन के लिए, व्यवहार-ज्ञान के लिए और अमंगल-नाश के लिए।'

संस्कृत साहित्य के विविध अंगों के परिशीलन से भी इस बात की पुष्टि होती है कि यहां साहित्य का एक विशाल अंग केवल नीति और व्यवहार का बोध कराने के लिए ही लिखा गया है। नीतिशतक आदि नीति-काव्य तथा पञ्चतन्त्र आदि लोककथाएं इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। दशकुमार-चरित आदि गद्य-काव्यों में भी जहां गद्य का सरल, सुबोध और परिमार्जित रूप दृष्टिगोचर होता है, वहां लोक के विविध व्यवहारों का यथार्थ निरूपण एवं व्यावहारिक शिक्षण भी कवि का अभिप्रेत रहा है। सूक्तियों में भी

इस प्रकार की प्रवृत्ति बहुधा परिलक्षित होती है। और, यह उल्लेखनीय है कि व्यावहारिक सूक्तियों की मात्रा अन्य सब प्रकार की सूक्तियों की अपेक्षा अधिक है।

व्यवहार और नीति का सम्बन्ध—'व्यवहार' शब्द 'वि, अव' उपसर्गपूर्वक आहरणार्थक √हृ धातु से निष्पन्न हुआ है और प्रायः मानव के सम्पर्क में आने पर किये जाने वाले मानव के क्रिया-कलाप[५] के लिए प्रयुक्त होता है। 'नीति' शब्द प्रापणार्थक √नी धातु से बनता है और 'उचित व्यवहार' या सफलतापूर्वक जीवन-यापन के लिए सही उपाय या रहन-सहन के ढंग या 'व्यावहारिक दर्शन'[६] के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार व्यवहार में औचित्याधान का काम नीति करती है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि जिन सूक्तियों में लोक-व्यवहार का वर्णन मात्र रहता है वे व्यावहारिक, और जिन में व्यवहरणीय का अर्थात् व्यवहार के औचित्य-अनौचित्य का निर्देश रहता है वे नीतिपरक कही जा सकती हैं। सीधे सादे शब्दों में 'क्या होता है' यह तो व्यवहार है और 'क्या होना चाहिए' यह नीति। फिर भी इन दोनों में स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना है कठिन ही।

व्यवहार और नीति का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण बहुत कम सूक्तियां ऐसी हैं जो निश्चितरूपेण 'केवल व्यावहारिक' या 'केवल नीतिपरक' कही जा सकती हैं। उदाहरण के लिए—**'सदृशाः सदृशेषु रज्यन्ते'**[७]—'समान समान के साथ ही प्रसन्न होते हैं'—इस सूक्ति में मैत्री का आधारभूत व्यवहार बताया गया है। दूसरी ओर, उचित व्यवहार का निर्देश करने वाली सूक्तियों को नीतिपरक कहा जा सकता है, यथा—**वक्तव्यं परिहर्त्तव्यम्**[८]—'निन्दा-योग्य कर्म से बचना चाहिए।' किन्तु ऐसी सूक्तियों को भी एक दूसरे के क्षेत्र से बिल्कुल अछूता नहीं कहा जा सकता। इनमें से पहली सूक्ति में निर्दिष्ट व्यवहार, 'स्तर में अपने समान व्यक्तियों से मैत्री' की नीति को को छू रहा है, तो दूसरी सूक्ति की नीति भी 'निन्दनीय कार्यों से बचने वाले श्रेष्ठ व्यक्तियों के व्यवहार' को कह रही है। यदि इस प्रकार का अन्तर्निहित सम्बन्ध न भी जोड़ा जाए तो भी व्यवहार और नीतिपरक सूक्तियों का विभाजन सम्भव न होगा, क्योंकि अधिकांश सूक्तियों में व्यवहार और नीति दोनों ही स्पष्टतः घुले-मिले हैं। यथा—**बहुभाषिणे न श्रद्दधाति लोकः**[९]—'बहुत बोलने वाले पर संसार विश्वास नहीं करता', या—**मूले छिन्ने कुतः पादपस्य पालनम्**[१०]—'मूल के नष्ट हो जाने पर पौदे की रक्षा कहां?', या—**सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्?**[११]—'कहो, सत्संगति पुरुषों को क्या नहीं बना देती?' या—**मधुरमपि बहु खादितमजीर्णम् भवति**[१२]—'मीठा भी अधिक खाने पर अजीर्ण करता है'—आदि-आदि। इनमें क्रमशः 'अतिभाषी के प्रति औरों का व्यवहार', 'कारण नष्ट होने पर कार्य का नाश', 'सत्संगति के प्रभाववश लोगों का अच्छा बनना', और 'अधिकता के परिणामस्वरूप हानि होना'—ये व्यावहारिक तथ्य प्रकट हुए हैं। साथ ही इनमें ये नीतियां भी क्रमशः कह दी गई हैं—'मितभाषिता अपनाना', 'किसी भी कार्य के मूल कारण की रक्षा करना', 'सत्संगति करना', और 'अति न करना'।

सूक्तियों में व्यवहार और नीति के इस समन्वय का कारण सीधा सा यह है कि दोनों का क्षेत्र एक ही है। जहां व्यक्ति का व्यवहार प्रारम्भ हुआ वहीं उसे उसमें औचित्य की दृष्टि से नीति को अपनाना पड़ता है। अतः प्रस्तुत परिच्छेद में व्यवहार और नीति दोनों को एक साथ देखा जा रहा है।

व्यवहार और नीति का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। जीवन के हर क्षेत्र में इनका प्रवेश हो सकता है। सूक्तियों में निबद्ध उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए निम्न वर्गीकरण उपयोगी प्रतीत हुआ है :—

१. शरीर, चेष्टाएं और आकृति, २. बुद्धि और विवेक, ३. विद्या और वाणी, ४. कला और साहित्य, ५. पुरुषार्थ, उत्साह और साहस, ६. धन और निर्धनता, ७. देशकाल और परिस्थितियां, ८. संगति, ९. परिचय, सहायता और याचना, १० मित्र मित्र का व्यवहार, ११. शत्रु से व्यवहार, १२. स्वामी-सेवक, १३. शिष्टाचार, १४. व्यवहार में औचित्य, १५. विविध व्यवहार और नीति।

२. शरीर, चेष्टाएं और आकृति

व्यावहारिक जगत् में वैयक्तिक उन्नति का प्रथम सोपान है शरीर। शरीर का स्वस्थ होना या न होना जहां मानव के वैयक्तित सुख और दुःख के लिए प्रमुखतः उत्तरदायी है, वहां यह उसके साथ सम्बन्द्ध अन्य व्यक्तियों पर भी प्रभाव डालता है। अतः मानव-समाज का सदस्य होने के नाते भी शरीर को स्वस्थ रखना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है, तथा आत्मिक उन्नति के लिए भी शरीर-रक्षा आवश्यक है। कालिदास कहते हैं—**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**[13]—'धर्म का प्रथम साधन शरीर है।' वस्तुतः अस्वस्थ व्यक्ति का जीवन स्वयं उसके लिए और समाज के लिए भी भार-स्वरूप होता है। अतः शरीर को स्वस्थ रखना ही उत्तम नीति है।

शरीर की रक्षा के लिए उचित खान-पान आवश्यक हो जाता है। किन्तु कई लोगों के लिए इसकी ललक ऐसी होती है कि उन्हें हर ओर भोजन ही भोजन दिखाई देता है। विदूषकों को विशेष रूप से भोजनभट्ट चित्रित किया जाता है। भोजन की महत्ता दर्शाते हुए कालिदास का विदूषक कहता है—**आश्वासितः पिशाचोऽपि भोजनेन**[14]—'भोजन से तो राक्षस भी आश्वस्त (प्रसन्न) हो जाता है'। अतः यदि इससे पित्त-प्रकोप भी शान्त हो जाए तो कौनसी बड़ी बात है ?[15]

अनेक बार शरीर को ऐसे कष्टों का सामना करना पड़ता है जो मनुष्य के अपने वश में नहीं होते। उदाहरण के लिए सर्प जैसे विषैले और भयंकर जीवों का आक्रमण। इस प्रकार के आधिभौतिक कष्टों का प्रतिकार यद्यपि वैद्यक-शास्त्रीय विषय है, तथापि संस्कृत-काव्य में ऐसी एकाध सूक्ति मिल जाती है, जैसे—

छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः॥[16]

—'सर्पदंश का छेदन, जलाना या घाव से रक्त निकालना ये सभी सांप द्वारा काटे हुए

व्यक्ति के जीवन के उपाय है।' इस प्रकार की अनेक उक्तियां जीवनोपयोगी होने के कारण प्रायः लोक में प्रचलित हो जाती हैं।

शरीर पर व्यक्ति की अवस्था का भी प्रभाव पड़ता है। वृद्धावस्था में मनुष्य की शारीरिक शक्ति क्षीण होने लगती है और साथ ही अन्य सभी शक्तियां भी। भवभूति के शब्दों में— **शक्तिर्हि कालस्य विभोर्जराख्या शक्त्यन्तराणां प्रतिबन्धहेतुः**[१७]—'वृद्धावस्था नाम वाली शक्तिमान् काल की शक्ति अन्य शक्तियों की अवरोधक है।' यही कारण है कि धन विद्या आदि अन्य दृष्टियों से समृद्ध होने पर भी वृद्धावस्था में मनुष्य अनादर और उपहास का पात्र बन जाता है। इस पर भर्तृहरि का टिप्पण है—**हा कष्टं, पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते**[१८]—'हाय दुःख है, बूढ़े पुरुष के पुत्र भी उसके शत्रु बन जाते हैं।' तथा भावुक भर्तृहरि की मनोव्यथा का एक प्रमुख कारण यह है—**वामाक्षीणामवज्ञाविहसितवसतिर्वृद्धभावोऽप्यसाधुः**[१९]—'बांके नयन वाली रमणियों के द्वारा अवज्ञापूर्वक उपहासास्पद होने के कारण वृद्धावस्था भी बुरी चीज़ है।' बुढ़ापे का यह निरादर व्यावहारिक जीवन में शारीरिक महत्त्व को ही प्रकट करता है।

चेष्टाएं और आकृति— मनुष्य की शारीरिक चेष्टाएं और आकृति भी उसके लिए व्यावहारिक महत्त्व रखती हैं। व्यक्ति के क्रियाकलाप से उसके मन की बात भी कुछ लोग भांप लेते हैं। भारवि मानते हैं—**प्रच्छन्नमप्यूह्यते हि चेष्टा**[२०]—'चेष्टाएं, क्रिया-व्यापार गुप्त बात भी समझा (कल्पित करा) देते हैं।' राजाओं एवं राज-पुरुषों के लिए 'संवृतांग' और 'गुप्ताकारेंगित' रहने का आदर्श[२१] भी व्यवहार पर प्रभाव डालने वाले इस चेष्टातत्त्व के कारण अपेक्षणीय हो जाता है।

जिस प्रकार चेष्टाओं से उसी प्रकार व्यक्ति की आकृति से भी उसका चरित्र जाना जा सकता है। शूद्रक कहते हैं—**नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु न ह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्**[२२]—'हाथी, गौ, अश्व और मनुष्यों में आकृति अपने अनुरूप व्यवहार को नहीं त्यागती।' व्यक्ति की आकृति के अनुसार उससे अच्छे या बुरे व्यवहार की अपेक्षा रखना कहां तक उचित है, निश्चय से नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसके विरुद्ध मान्यताएं[२३] भी हैं, और जीवन में दृष्टान्त भी पाये जाते हैं। किन्तु फिर भी प्राचीन काल से ही ऐसी धारणाएं रही हैं कि गुणों का आकृति से कोई सम्बन्ध अवश्य है[२४]। आज भी आकृति-विज्ञान के रूप में इसकी चर्चा की जाती है।

३. बुद्धि और विवेक

शरीर के समान ही बुद्धि का मानव के लिए बहुत महत्त्व है। एक जैसी शारीरिक शक्ति होने पर भी अनेक बार दो व्यक्तियों की प्राप्तियों में जो अन्तर दिखायी देता है उसका प्रमुख कारण है—बुद्धि-तत्त्व। भास ने इसी तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है—**प्राज्ञस्य मूर्खस्य च कार्ययोगे समत्वमभ्येति तनुर्न बुद्धिः**[२५]—'विद्वान् और मूर्ख के कार्य-प्रसंग में शरीर की समानता है— बुद्धि की नहीं।' यह बुद्धि का ही प्रभाव है कि कोई व्यक्ति बात को शीघ्र समझ लेता है और कोई देर से। एक ही गुरु के शिष्यों में विद्या-

मान भेद इसका उदाहरण है। ऐसे ही एक प्रसंग में भवभूति के शब्द हैं—**प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादय:**।[२६]—'स्वच्छ मणि प्रतिविम्ब के ग्रहण में समर्थ होती है, मिट्टी आदि नहीं।'

इसी बुद्धि-स्तर के अन्तर के कारण व्यक्ति-व्यक्ति की अभिव्यक्ति में भी अन्तर होता है, चाहे उनकी शिक्षा एक-सी ही क्यों न हुई हो। कालिदास ऐसा मानते हैं कि—**सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शने न निपुणो भवति**।[२७]—'भली प्रकार सिखाये जाने पर भी हर कोई शिक्षा के प्रदर्शन के समय निपुणता नहीं दिखा सकता।' बुद्धि के अभाव के कारण ही जड़ पदार्थ और वैसे ही व्यक्ति भी गुण-दोष के ज्ञान में असमर्थ रहता है।[२८]

जिनके पास उत्तम बुद्धि होती है, उन्हें कई प्रकार की सफलताएं प्राप्त होती हैं। कालिदास के अनुसार—**न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम**।[२९]—'बुद्धिमानों की सभी विषयों में गति होती है।' बाण के अनुसार भी—**विशुद्धया हि धिया पश्यन्ति कृतबुद्धय: सर्वानर्थानसत: सतो वा**।[३०]—'सुसंस्कृत मतिवाले व्यक्ति अपनी विशुद्ध बुद्धि से सत् अथवा असत् (उपस्थित एवं अनुपस्थित) सभी विषयों को देख लेते हैं।' मघ का विचार है कि बुद्धि की स्थिरता ही शास्त्रज्ञान में सहायक होती है और वही सफलता प्रदान करती है—**शास्त्रं हि निश्चितधियां क्व न सिद्धिमेति ?**[31]—'स्थिर बुद्धिवालों के लिए शास्त्र कहां सिद्धि देने वाला नहीं होता?' इसके अतिरिक्त—'बुद्धिमान लोग आगामी अनर्थ को या तो स्वयं जान लेते हैं, या फिर दूसरे (आप्तजन) के कहने पर श्रद्धा करते हैं; परन्तु अनुभवशून्य होने के कारण अल्प बुद्धि वाला न तो स्वयं ही जान सकता है, और न दूसरे के द्वारा कहा हुआ ही स्वीकार करता है।'[३२]—इस प्रकार बुद्धि का उपयोग करके बुद्धिमान व्यक्ति अन्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहरता है।

विवेक—बुद्धि का सही उपयोग विवेकोत्पत्ति द्वारा होता है। विवेक-तत्त्व बुद्धि की तर्क-वितर्क शक्ति से पृथक् है। अकेला तर्क विवेक के बिना अपूर्ण है और तात्त्विक ज्ञान कराने में असमर्थ है—**तत्त्वावबोधैकफलो न तर्क:**।[33]—इस उक्ति पर मीमांसा दर्शन का प्रभाव भी स्पष्ट है जो तर्क के स्थान पर श्रद्धापूर्वक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान को फलप्रद मानता है।

उचित-अनुचित, सत्य-असत्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य आदि द्वन्द्वों के मध्य पार्थक्य करने की क्षमता को विवेक कहा जा सकता है। काव्यों में ऐसे विवेक से युक्त पुरुषों का प्रतीक 'नीर-क्षीर-विवेक करने में समर्थ हंस'[34] बन गया है। कालिदास की यह सूक्ति ऐसे ही विवेकी पुरुषों के लिए प्रयुक्त की जा सकती है—**हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यप:**।[३५]—'हंस दूध ले लेता है और उसमें मिले हुए पानी को छोड़ देता है।'

भारवि ने दो उपमाएं देकर विवेक का महत्त्व स्पष्ट किया है। एक तो यह कि विवेकी का ज्ञान ही दीपक के समान प्रकाश देकर अर्थ के दर्शन कराता है।[३६] दूसरे, 'जो व्यक्ति प्रतीक्षा करते हुए कार्य-रूपी बीजों को विवेक के जल से सींचता है वह फलों से समलंकृत शरद् ऋतु की भांति सदा क्रियाओं में सफलता पाता है।'[३७] इसलिए कवि का परामर्श है—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।'
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।[३८]

—'अचानक कोई क्रिया न करे । अविवेक परम आपत्तियों का स्थान है ।' 'गुण के प्रति आकृष्ट होने वाली सम्पत्तितां विचारपूर्वक कार्य करने वाले को स्वयं चुन लेती हैं ।' भर्तृहरि भी ऐसा ही संकेत करते हैं—**अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयग्राही शल्यतुल्यो विपाकः**[३९]—'अति शीघ्रता से किये कार्यों का परिणाम विपत्ति आने तक शल्य के समान मर्मान्तिक होता है ।' और परिणाम-स्वरूप—**विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः**[४०]—'विवेकहीनों का पतन सैकड़ों मार्गों से होता है ।' अतः बुद्धि के साथ-साथ विवेक की जीवन में अनिवार्य उपयोगिता है ।

४. विद्या और वाणी

बुद्धि की शक्ति द्वारा व्यक्ति विद्या की प्राप्ति में समर्थ होता है, और विद्या मनुष्य का बहुत प्रभावशाली वैभव है । भर्तृहरि ने अपने युग में ऐसा अनुभव किया था कि विद्या कुछ हीन दशा को प्राप्त होती जा रही थी, और तत्कालीन राजा लोग शास्त्र-विमुख हो गये थे[४१] । किन्तु इससे विद्या की महत्ता कम नहीं हुई, और कवि ने मुक्तकण्ठ से विद्या का गुणगान किया है—'विद्या मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ रूप है, छुपा हुआ धन है ।' 'विद्या भोगैश्वर्य और यश का सुख देती है ।' 'विद्या गुरुओं की गुरु है ।' 'विदेश जाने पर विद्या ही बन्धुबान्धव है।' 'विद्या महान् देवता है ।' 'विद्या की ही पूजा राजाओं द्वारा होती है, धन की नहीं ।' (प्रतीत होता है कि या तो यहां 'बाल-सुपूजिता' पाठ रहा होगा, या फिर प्रेरणा देने के लिए कवि यहां वास्तविकता की उपेक्षा कर रहा है[४२] ।) 'विद्या से विहीन व्यक्ति तो पशु है ।'[४३] कहा भी जाता है—**विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्**—'विद्यारूपी धन सबसे प्रमुख धन है ।' और यह—**कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनम्**...[४४]—'विद्या नाम वाला आन्तरिक धन प्रलय होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होता ।'

शिक्षणीय और शिक्षक—विद्या-रूपी धन प्राचीन काल से ही गुरु-शिष्य-परम्परा[४५] द्वारा हस्तान्तरित होता चला आया है । इस धन की समुचित सुरक्षा के लिए शिष्य की सुपात्रता अपेक्षित रही है[४६] । कालिदास इसके महत्त्व को प्रकारान्तर से कहते हैं—**क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति**[४७]—'उत्तम पदार्थ से संयुक्त क्रिया ही पूर्णता को प्राप्त होती है', अर्थात् सुपात्र को प्रदत्त विद्या ही सफल होती है[४८] । सुपात्र की प्रशंसा में विशाखदत्त ने भी कहा है—

'चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।'
'न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते ।।[४९]

—'अच्छे खेत में लगाई हुई मूर्ख की भी खेती लहलहा उठती है ।' 'धान का अच्छा होना बोने वाले के गुण की अपेक्षा नहीं रखना ।' अर्थात् मूर्ख द्वारा भी कही हुई अच्छी बात का सुविज्ञ व्यक्ति लाभ उठा सकता है । किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि विद्या की

फलवत्ता में विद्यादाता का कोई महत्त्व नहीं। विद्या के आदान-प्रदान में ग्रहीता की सुपात्रता के समान ही दाता का कौशल भी अपेक्षणीय है। इसीलिए सूक्तियों में श्रेष्ठ अध्यापक द्वारा ही विद्या का सम्यक् हस्तान्तरण सम्भव बताया गया है। कारण, किसी विषय में ज्ञान की उच्चता पा लेना और बात है, एवं दूसरे को उसकी प्राप्ति करा सकना और। कालिदास ने अध्यापकों के विषय में यह सूक्ति कही है—

शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।[५०]

—'किसी अध्यापक में स्वयं अभिनय आदि क्रियात्मक ज्ञान पर्याप्त होता है, और किसी के द्वारा संक्रमण (दूसरे शिष्य आदि को सिखा देना) विशिष्टरूपेण किया जाता है। जिसके पास दोनों गुण हैं उसे शिक्षकों का अग्रणी मानना चाहिए।' शिक्षक की योग्यता का मापदण्ड वस्तुतः यही है कि वह अपने शिक्षण-कौशल की सहायता से मन्दबुद्धि शिष्य को भी शिक्षा दे सके—विनेतुरद्रव्यपरिग्रहोऽपि बुद्धिलाघवं प्रकाशयति[५१]—'अयोग्य शिष्य को भी (शिक्षा देने के लिए) स्वीकार लेना शिक्षक की तीक्ष्ण बुद्धि का परिचायक है।'

विद्या देने वाला विद्वान् यदि विद्या को केवल अपनी आजीविका की दृष्टि से देखे तो वह केवल अप्रशस्य ही नहीं है अपितु व्यापार-बुद्धि होने के कारण लोभी बनिये के समान निन्दनीय भी है। इसलिए वह विद्वान् नहीं जिसकी विद्वत्ता में कोई शंका करे, और वह अपनी आजीविका पर उसका कोई बुरा प्रभाव न देखकर सह जाए। जैसे विद्वान् का गर्व निन्दनीय है वैसे ही उसमें आत्मगौरव का अभाव भी अवांछनीय है। इसीलिए शास्त्रार्थ पण्डितों की विशेषता थी और कालिदास के समय भी विद्वान् मानते थे कि—

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस् तितीक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥[५२]

—'लब्ध-प्रतिष्ठ हूं, ऐसा सोचकर विवाद से डरने वाले को, तथा दूसरे से निन्दा सहने वाले जिस व्यक्ति का ज्ञान केवल जीविका के लिए है उसे विद्या के सौदे वाला बनिया कहते हैं।'

शिक्षा की कसौटी—किसी भी वस्तु के परीक्षणार्थ एक कसौटी आवश्यक होती है, शिक्षा के लिए भी ऐसा ही है। यथोचित शिक्षा और उपदेश की पहचान कवि के अनुसार यह है कि वह विद्वानों के सम्मुख मलिनता को प्राप्त नहीं होती।[५३] जो शिक्षा क्रियात्मक उपयोगिता रखती हो उसके विषय में यह और भी सही है। अतः—'जब तक विद्वान् सन्तुष्ट न हों प्रयोगात्मक ज्ञान (नाटकादि की शिक्षा) को साधु नहीं कहा जा सकता', क्योंकि—बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः[५४]—'अत्यधिक सीखे हुए व्यक्ति के चित्त का भी स्वयं पर विश्वास नहीं होता'। इसके लिए शिक्षा की परीक्षा हो जाना एक उत्तम उपाय है। और इसका लाभ यह है कि—हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ

विशुद्धिः श्यामिकापि वा[५५]—'स्वर्ण का खरा-खोटापन अग्नि में परिलक्षित होता है।' वस्तुतः सही मूल्यांकन परीक्षा द्वारा ही हो सकता है।

कई बार व्यक्ति या वस्तु का उचित मूल्य नहीं आंका जाता, तब परीक्षकों का दोष होता है। भर्तृहरि के अनुसार—**कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः**[५६]—'वे कुपरीक्षक ही निन्दनीय हैं जिन्होंने मणियों को उनके मूल्य से गिरा दिया है।' माघ भी मानते हैं कि यदि किसी मूल्यवान् व्यक्ति का उचित मूल्य कोई न करे तो इसमें व्यक्ति की निन्दनीयता न होकर परखने वाले की ही मूर्खता सिद्ध होती है—**प्रियमांसमृगाधिपोज्झितः किमवद्यः करिकुम्भजो मणिः**[५७]—'मांसप्रेमी सिंह द्वारा परित्यक्त होने से क्या हाथी की मस्तकमणि निन्द्य होती है?' अतः परीक्षकों के अनुचित निर्णय करने पर योग्य और सुशिक्षित व्यक्ति को घटिया कहना ठीक नहीं होगा।

इस प्रकार शिक्षा की कसौटी है शिक्षा से प्राप्त ज्ञान का कठिन समय में भी मलिन न होना और उससे विद्वानों की परितुष्टि। किन्तु यदि किसी यथार्थतः शिक्षित व्यक्ति को भी अधिकार एवं पद पर प्रतिष्ठित जन किन्हीं ज्ञात-अज्ञात या व्यक्तिगत कारणों से उचित सम्मान नहीं देते तो इसे पारखी का ही दोष कहा जाएगा पात्र का नहीं।

वाणी—विद्या और वाणी का आपस में गहरा सम्बन्ध है। दोनों की देवी 'सरस्वती' कहलाती हैं। वाण के द्वारा कही हुई—**उच्छ्वासान्तेऽप्यखिन्नास्ते येषां वक्त्रे सरस्वती**[५८]—'मृत्यु के पश्चात् भी वे खिन्न नहीं होते जिनके मुख में देवी सरस्वती निवास करती हैं'—यह सूक्ति विद्या की सफलता के लिए वाक्-शक्ति की प्रमुखता दर्शाती है। विद्या केवल बुद्धि में सोये रहना पर्याप्त नहीं, अपितु यथासमय उसे यथोचित और यथेष्ट अभिव्यक्ति दे पाना भी विद्यावान् व्यक्ति से अपेक्षित है। विद्या को प्रतिफलित करने वाली और सम्यक् बुद्धि से परिचालित इस वाणी की विशेषताएं बताते हुए अनेक सूक्तियों में इसका महत्त्व स्वीकारा गया है। भर्तृहरि के अनुसार 'सुसंस्कृत वाणी ही सर्वश्रेष्ठ आभूषण है।'[५९] और भवभूति के शब्दों में—**धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः**[६०]—'सत्य और प्रिय[६१] वाणी को विद्वानों ने दुधारू कहा है।' और ऐसी वाणी कल्याणकारी भी हो ऐसा संयोग कठिनता से ही होता है—**हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः**[६२]। केवल मनोहारी वाणी ही सदा सुनने को मिले यह भी कठिन है—**सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः**[६३]।

अश्वघोष ने ये सभी बातें इस प्रकार समन्वित की हैं—'अप्रिय बात भी यदि हितकर है तो स्नेह-सिक्त है।' 'प्रिय किन्तु अहितकारी बात भी रूखी है।' 'प्यारी और हित की बात मीठी औषध के समान दुर्लभ है'[६४]।

भारवि के अनुसार—'प्रसन्न और गम्भीर पदों से युक्त वाणी' पुण्यशालियों द्वारा ही प्रयुक्त की जाती है—**प्रवर्त्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती**।[६५] इस प्रकार सुरुचिपूर्ण वाणी का प्रयोग मनुष्य का एक वैयक्तिक गुण है। भवभूति का विचार तो यहां तक है कि इसी पर व्यवहार की और पुण्य-पाप की व्यवस्था निर्भर करती है।[६६]

वाणी-विषयक इन सूक्तियों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि यहां वाणी के जिन गुणों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है उनमें सत्य, प्रिय (सूनृता), और हित-भावना से युक्त होना मुख्य हैं। साहित्य की कसौटी 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' से इसकी तुलना करना रुचिकर होगा।

वाणी की कुछ अन्य विशेषताएं भी सूक्तियों में प्रदर्शित की गई हैं। जैसे, वाणी निर्णयात्मिका भी हो सकती है और इसके विपरीत अनिश्चयात्मिका भी। माघ ने इस भेद की ओर संकेत किया है। बलराम जी के निश्चयात्मक कथन के बाद उद्धव जी वार्त्तारम्भ करते हुए कहते हैं—**निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम्।**[६७]—'लेख द्वारा अर्थ निश्चित हो जाने पर मौखिक वचन व्यर्थ है।' विशेषकर तब जब कि उसे बदलना हो। अर्थात् निश्चयात्मिका वाणी के बाद बात को बदला नहीं जाता।

माघ ने परस्पर अर्थ-सम्बन्ध को न छोड़ने वाले प्रबन्ध[६८] के प्रयोग में कठिनाई का उल्लेख किया है। ऐसे प्रबन्ध से हीन और निष्प्रयोजन प्रयुक्त वाणी को भारवि[६९] और माघ[७०] दोनों ने ही व्यर्थ बताया है। वार्तालाप करते हुए जब ऐसी प्रबन्धहीनता आ जाती है, या जब विषय कहीं से चल कर कहीं और पहुंच जाए, तब कहा जाता है—**अन्यत् प्रस्तुतमन्यदापतितम्**[७१]—'प्रस्ताव कुछ और किया था, बात कुछ और आ पड़ी है।' इस प्रकार कथन में अप्रासंगिकता आ जाती है और वह श्रोता के लिए परस्पर असम्बद्ध होने के कारण ऊब पैदा करने वाली होती है।

इसके अतिरिक्त भवभूति के अनुसार 'ऋषियों ने उन्मत्त और दर्पयुक्त व्यक्ति की वाणी को राक्षसी कहा है, क्योंकि वह सब वैरों को जन्म देती है और सब को दूर करने वाली है'[७२]। किन्तु साथ ही वे यह भी कहते हैं कि—'सब प्रकार से खुलकर वाणी का व्यवहार करना चाहिए','अनिन्दनीयता कहां से आए ?' 'लोग तो जैसे स्त्रियों के लिए वैसे ही वाणियों के अच्छेपन के प्रति भी बुरे हैं'[७३], अर्थात् लोगों का दृष्टिकोण तो सदा दोषान्वेषण का ही रहता है। इस सूक्ति द्वारा वाणी में निर्भयता का परामर्श है, अधिक बोलने का नहीं; क्योंकि मितभाषिता को ही अच्छा समझा और बताया जाता है। बाण कहते हैं—**बहुभाषिणे न श्रद्दधाति लोकः**[७४]—'संसार बहुत बोलनेवाले पर विश्वास नहीं करता।' और इसी के समर्थन में महान् के व्यवहार द्वारा माघ भी यही प्रेरणा देते हैं—**महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः**[७५]—'महापुरुष स्वभाव से ही मितभाषी होते हैं।'

इन सब सूक्तियों से वाणी के उचित उचित प्रयोग का महत्त्व और इस कला का सबके पास न होना सूचित होता है।

५. कला और साहित्य

जीवन में कला और साहित्य का एक विशिष्ट स्थान है। भर्तृहरि की प्रसिद्ध और बहूद्धृत सूक्ति है—**साहित्य-सङ्गीत-कलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः**[७६]—'साहित्य, संगीत और कला से रहित पुरुष साक्षात् पशु है, पूंछ और सींग के बिना।' यद्यपि शास्त्रप्रसिद्ध चौंसठ कलाओं में संगीत का प्रमुख स्थान है[७७] तथापि उसे पृथक्

से निर्दिष्ट करना कवि की उसके प्रति विशेष अभिरुचि के साथ-साथ संगीत का साहित्य-वत् विविध प्रयोग[७८] और उत्कृष्ट प्रभाव द्योतित करता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार साहित्य को भी ललित कला मान लिया गया है, किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में स्पष्टता के लिए साहित्य को कला से पृथक् ही रखा गया है।

चित्रकला—कालिदास के अनेक काव्य-वर्णन इस प्रकार के हैं कि यदि उन्हें किसी चित्रकार की तूलिका अंकित कर सके तो अनेक मनोहारी चित्रों की सृष्टि हो सकती है। कभी कभी तो ऐसा लगता है कि कोई चित्रकार ही साहित्यिक शक्ति से सम्पन्न होकर चित्रों का वर्णन कर रहा है। 'शाकुन्तल' में विदूषक द्वारा वर्णित शकुन्तला का चित्र साधारण कलाकार का चित्र नहीं हो सकता। उस प्रसंग में कवि का विनम्र चित्रकार ही यह सूक्ति कह देता है—**यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा**[७९]—'चित्र में जो असुन्दर हो वह चित्रकार द्वारा विकृत किया होता है।' सामान्यतः चित्रकार द्वारा चित्र में उस-उस अंश को परिवर्तित करने का यत्न किया जाता है जो सुन्दर नहीं होता, किन्तु चित्र की असुन्दरता को अपना दोष मानना कलाकार की महत्ता है। इसी प्रकार हर्षदेव भी एक सूक्ति द्वारा चित्रकला का ज्ञान व्यक्त करते है—**आत्मा किल दुःखेना-लिख्यते।**[८०]—'अपने आपको चित्रित करना कठिन होता है।'

संगीत—कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारत में संगीत-कला के प्रति सामाजिकों की विशेष रुचि रही है। सूक्तियों में भी संगीत-सम्बन्धी वाद्य-यन्त्रों का उल्लेख मिलता है। भास और शूद्रक ऐसा मानते हैं कि वीणा, जो चाहे समुद्र से नहीं निकली, किन्तु है रत्न ही—**वीणा (हि) नामासमुद्रोत्थितं रत्नम्।**[८१] इसकी उप-योगिता यही है कि यह विनोद और प्रमोद का बड़ा उत्कृष्ट साधन है।[८२]

साहित्य—यहां साहित्य से ललित-साहित्य ही अभिप्रेत है, जिसके 'दृश्य' और 'श्रव्य'— ये दो मुख्य भेद किये जाते हैं। 'दृश्य' के प्रति भारतीयों की विशेष रुचि को प्रकट करते हुए कालिदास यह सूक्ति कहते हैं—**नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।**[८३]—'भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए प्रायः नाटक अकेला ही मनोरंजन का साधन होता है।' इससे स्पष्ट है कि कालिदास के समय नाटकों के प्रति लोगों की विशेष रुचि थी।

काव्य-साहित्य में अनेक रसों का समावेश होता रहा है और जो रस जिस कवि-विशेष को रुचिकर प्रतीत हुआ वही उसने अपना लिया। भवभूति को करुण रस विशेष रूप से भाया है, अतः वे राम की दशा का वर्णन करते हुए जैसे करुण रस का ही वर्णन कर देते हैं—'गहनता के कारण बाहर प्रकट न होने वाला, जिसकी गहन व्यथा अन्तर्तम में छिपी है और जो पुटपाक[८४] के समान है (भीतर ही भीतर पकता है), ऐसा करुण रस राम का है।'[८५] कवि इसी को एकमात्र रस मानता है, जो कारण-भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिभासित होता है—**एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक्पृथगिवा-श्रयते विवर्त्तान्।**[८६]

काव्य-साहित्य का स्रष्टा कवि अपनी मौलिकता के कारण आदर का पात्र होता है। अन्यों की नकल करके लिखने वाला कवि सभा में सम्मानित नहीं होता। बाणभट्ट के अनुसार—**'अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते।'**[८७]—'चुरा कर लिखने वाला कवि सज्जनों के बीच बिना बताये भी पहचान लिया जाता है।' सत्कवि की एक पहचान वे यह भी बताते हैं कि उसे लोकप्रिय होना चाहिए, क्योंकि—**'किं कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृत्तान्तगामिनी। कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम्।'**[८८]—'उस कवि के काव्य से क्या जिसकी वाणी सब घटनाओं में गति नहीं रखती और तीनों लोकों को नहीं ढक लेती?'

सच है श्रेष्ठ कवियों के पास धन हो या न हो फिर भी वे अपने कवियश के कारण ही वैभव-सम्पन्न हैं, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है—**कवयस्त्वर्थं (सुधियस्त्वर्थं) विनापीश्वराः**[८९]।

साहित्य के विषय में कही गई ये सूक्तियां अन्य काव्यांगों की अपेक्षा नाटक, करुण रस एवं कवि की उत्कृष्टता के विशेष महत्त्व को स्वीकार करती हैं।

६. पुरुषार्थ, उत्साह और साहस

पुरुषार्थी मनुष्य अपनी आन्तरिक क्षमताओं को यथासम्भव कार्य में प्रयुक्त करता है। बिना पुरुषार्थ के जीवन के कार्य पूरे नहीं हो सकते। कवियों ने इसकी भूरि-प्रशंसा की है। भास की सूक्ति है—

'काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद्', 'भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति।'
'सोत्साहानां नास्त्यसाध्यंनराणाम्', 'मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति।'[९०]

—'काठ के मथने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, खोदी गयी भूमि जल दे देती है, उत्साही मनुष्यों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। सही रास्ते से किए सभी यत्न सफल होते हैं।' अश्वघोष की एक सूक्ति बिल्कुल इसी भाव को लगभग इन्हीं शब्दों में कहती है—

'काष्ठं हि मन्थन् लभते हुताशं', 'भूमिं खनन् विन्दति चापि तोयम्।'
'निर्बन्धिनः किञ्चन नास्त्यसाध्यं', 'न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम्।।'[९१]

—'(कोई व्यक्ति) लकड़ी घिस कर आग पा लेता है, भूमि खोदता रहे तो पानी मिल जाता है, सतत लगे हुए (पुरुषार्थी) के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। न्याय (उचित मार्ग) से युक्त हो, तो सब कुछ किया जा सकता है।' अतः कवि का परामर्श है—**न त्वेव हेयो गुणवान् प्रयोगः**[९२]—'उत्तम उद्योग नहीं छोड़ना चाहिए।'

ऊपर पुरुषार्थ के साथ जिस उत्साह गुण का संकेत हुआ है उसके मूल्य को समझते हुए भवभूति यही अच्छा समझते है कि कभी किसी को निरुत्साहित न किया जाय—**नोत्साहः परिधीरणावैरस्यमर्हति**[९३]—'उत्साह गुण तिरस्कार द्वारा विरस करने योग्य नहीं है।'

किसी भी वस्तु की प्राप्ति के लिए कुछ परिश्रम करना अत्यावश्यक है, केवल इच्छामात्र पर्याप्त नहीं—**न हि घृतवचनेन पित्तं नश्यति।**[९४]—'घी घी' कहने से पित्त

मष्ट नहीं होता।' इसी भाव की द्योतक एक लोकोक्ति हिन्दी में प्रचलित है— 'गुड़-गुड़ कहने से मुँह मीठा नहीं होता।' भवभूति ने भी इस कथन के सत्य को स्वीकारा है— **अपि चिन्तामणिश्चिन्तापरिश्रममपेक्षते।**[९५]—'चिन्तामणि[९६] भी चिन्ता के श्रम की अपेक्षा रखता है।' अर्थात् श्रम के विना सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

पुरुषार्थ के अभाव में भारवि तो पुरुष को पुरुष मानने के लिए भी तैयार नहीं— **कृतं पुरुषशब्देन जातिमात्रावलम्बिना**[९७]—'पुरुष-जाति का होने से ही किसी को पुरुष कहने से बस करो।' इसके साथ ही कवि का विश्वास है— **निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः।**[९८]—'पराक्रम के सहारे मिलने वाली समृद्धियां विषाद के साथ नहीं रहतीं।' विषादयुक्त अथवा निरुत्साही व्यक्ति पुरुषार्थ करने में सक्षम नहीं हो पाता जबकि उद्यमी का साफल्य निश्चित है— **निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः।**[९९]—'(फल के प्रति) उत्सुकता छोड़ कर निरन्तर कार्यशील मनुष्यों की गोद में उत्कंठिता रमणी की भांति सफलता चली आती है।' सतत कार्यरत रहना इसलिए अनिवार्य है कि किसी की भी उन्नति एकदम नहीं हो जाती, अपितु उसमें कुछ समय लगता है— **दधति ध्रुवं क्रमश एव न तु द्युतिशालिनोऽपि सहसोपचयम्**[१००]—'तेजस्वी लोगों की भी उन्नति सहसा नहीं होती, अपितु क्रम से ही होती है।'

कोई व्यक्ति जब अपने पुरुषार्थ से कुछ सफलता पा लेता है, तो यह उसकी अपनी उपलब्धि होती है। माघ के अनुसार— **किं परस्य स गुणः, समश्नुते, पथ्यवृत्तिरपि यद्यरोगिताम्।**[१०१]—'यदि कोई रोगी पथ्य पर चलकर नीरोग हो जाय तो इसमें दूसरे (वैद्य आदि) का क्या गुण?' अतः अपने पुरुषार्थ से प्राप्त सफलता के लिए किसी अन्य की कृपा अपेक्षित नहीं रहती।

पुरुषार्थ के विपरीत प्रमाद को अपनाने वाले व्यक्ति की उन्नति असंभव है। अश्वघोष ने प्रमाद की निन्दा में कहा है— **वन्ध्यं हि शयनादायुः कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति?**[१०२] —'कौन बुद्धिमान् सोकर अपना जीवन व्यर्थ कर सकता है?' भर्तृहरि के अनुसार भी — **आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः**[१०३]—'आलस्य निश्चय ही मनुष्यों के शरीर में रहने वाला महान् शत्रु है।' माघ बताते हैं कि चाहे कोई कितने ही अच्छे साधन और उपाय काम में लाए किन्तु प्रमाद करने पर सफल नहीं हो सकता। दृष्टान्त के लिए — **हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान्**[१०४]।—'सोनेवाला व्याध मचान पर बैठा हुआ भी पशुओं को नहीं मार सकता।'

प्रमादी लोग अपने दोष को अपनी अज्ञानता दिखा कर छिपाना चाहते हैं। ऐसे लोगों के लिए भारवि कहते हैं— **प्रमाद्यतां संवृणोति खलु दोषमज्ञता।**[१०५]—'आलसियों के दोष को उनकी अज्ञानता ढकती है।' यह उक्ति उन प्रमादियों पर भी व्यंग्य है, जो अपने आलस्य के कारण ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते।

पुरुषार्थ के कई उद्देश्य हो सकते हैं। जो पुरुषार्थ सब क्षेत्रों में उन्नति कर सके वही सच्चा पुरुषार्थ है, इसीलिए भारतीय मनीषी धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्ग[१०६] की प्राप्ति कराने वाले पुरुषार्थ को ही सही अर्थों में पुरुषार्थ मानते हैं।

साहस--व्यवहार में पुरुषार्थ के समान ही साहस का भी अपना स्थान है। जहां तक यह अच्छे और ससीम साहस (daring courage, enterprise) की ओर संकेत करता है, यह जीवन के हर क्षेत्र के लिए आवश्यक है। परन्तु साहस शब्द दुस्साहस[१०७] को भी अपने में समेटे हुए है। इसी आधार पर चोरी का दुस्साहसपूर्ण कार्य करके चेटी द्वारा धिक्कृत सज्जलक यह सूक्ति प्रस्तुत करता है—**साहसे खलु श्रीर्वसति**[१०८]—'साहस में लक्ष्मी का निवास है।' और तब साहस की सीमा का संकेत चेटी द्वारा होता है—**को हि नाम जीवितेन शरीरं विक्रेष्यति ?**[१०९]—'कौन भला जीवन के बदले या जीते जी (जीवन के साथ-साथ)[११०] शरीर बेचेगा ?' अर्थात् अपने प्राण देकर कौन संकट मोल लेला ? भयंकर साहस कोई नहीं करेगा। अतः जिस अर्थ में 'साहस' आजकल प्रचलित है[१११] वही अपेक्षणीय और लाभकर है, दुस्साहस नहीं।

७. धन और निर्धनता

(क) धनोपार्जन और धन-संचय—पुरुषार्थ-चतुष्टय में स्थान पाने वाले अर्थ का व्यावहारिक जगत् में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे जानते हुए प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक क्षमता के अर्जन के लिए कोई-न-कोई उपाय करना पड़ता है। उपाय कोई हो, समाज द्वारा तभी अच्छा समझा जाता है जबकि वह न्यायोचित हो। भर्तृहरि के शब्दों में वही सज्जन है जिसे—**प्रिया न्याय्या वृत्तिः**[११२]—'न्यायपूर्ण आजीविका ही प्रिय हो।' अपनी रुचि के अनुकूल और नैतिक उपायों से अर्थोपार्जन द्वारा ही व्यक्ति सच्चा सुख पा सकता है। इसके अतिरिक्त, अनैतिक उपाय समाज की दृष्टि से अवांछनीय ही होते हैं।

धनवान लोग अपने धन को प्रायः गुप्त ही रखते हैं, सबके सामने प्रकट नहीं किया करते। शूद्रक के अनुसार—**यस्यास्ति धनं स किं क्रोडे कृत्वा दर्शयति ?**[११३]—'जिसके पास धन होता है, क्या वह उसे गोदी में करके दिखाता है ?' वह तो उसे संभाल कर ही रखता है, न केवल दूसरों की कुदृष्टि से अपितु व्यय से भी। और इस प्रकार—**अपेयेषु तडागेषु बहुतरमुदकं भवति**[११४]—'अपेय जल वाले सरोवरों में बहुत पानी होता है।' भाव यह है कि जो बहुत कम व्यय करते हैं (विशेषतः किसी दूसरे पर) उनके पास बहुत होता है। यह सूक्ति कृपणों के लिए भी प्रयुक्त की जा सकती है।[११५]

केवल धन-संचय में प्रवृत्त कृपणों के लिए भर्तृहरि का यह परामर्श है कि व्यय न करने से धन नष्ट हो जाता है। अतः उसका या तो उपयोग करो या दान—

> **'दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।'**
> **यो न ददाति न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति**[११६] ॥

—'धन की तीन गतियां होती हैं--दान, भोग, नाश।' 'जो व्यक्ति न देता है, न उपभोग करता है, उसके धन की तीसरी गति होती है।' वास्तव में भारतीय सन्त तो संग्रह में विश्वास न करके निष्किंचन बने रहना अच्छा समझते थे। सम्पत्ति-त्याग के इस आदर्श की प्रतिध्वनि, इसका एक लाभ बताकर विशाखदत्त ने भी की है—**न निष्परिग्रहं**

स्थानभ्रंशः पीडयिष्यति[११७]—'सम्पत्ति विहीन को स्थानच्युति कुछ भी पीड़ा नहीं देगी।' उसके लिए अपना स्थान बदलना कुछ कठिन नहीं रहता।

(ख) **धनी की वैभवक्षीणता**—बहुत बड़े धनी का वैभव चाहे कितना ही कम क्यों न हो जाय, किन्तु विश्वास किया जाता है कि फिर भी उसके पास इतना बच रहता है कि सामान्य व्यक्ति के लिए वही आश्चर्यजनक होता है। शूद्रक की एक सूक्ति है—**हीनकुसुमादपि सहकारपादपान्मकरन्दविन्दवो निपतन्ति।**[११८]—'कुसुम से रहित हो जाने पर भी आम्र-वृक्ष से मधु की बूंदें झरा करती हैं।' हिन्दी में कहा जाता है—'सागर सूखेगा तो भी गोड़े-गोड़े तो पानी रहेगा', या 'बड़े बर्तन की खुरचन भी बड़ी होती है।' इस सूक्ति से विशाल-हृदय व्यक्ति की उदारता भी द्योतित होती है जो निर्धन होने पर भी दूसरे से कुछ लेना नहीं चाहता[११९], प्रत्युत देता ही है।

(ग) **धनी और निर्धन**—आर्थिक दृष्टि से सभी व्यक्ति समान नहीं होते, कुछ धनवान् होते हैं, तो कुछ निर्धन। दोनों के प्रति दूसरों का व्यवहार भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, जो धन की महत्ता को ही प्रदर्शित करता है। समाज में देखा जाता है कि प्रायः सभी व्यक्ति धनी के सम्पर्क में आना चाहते हैं, और निर्धन के प्रति उदासीन दृष्टि रखते हैं। यह सदा का तथ्य है। भास के समय भी—**उद्घूतपुष्पं सहकारं मधुकरा उपासते।**[१२०]—'खिले पुष्प वाले आम्र-वृक्ष के पास ही भ्रमर रहते हैं।' कालिदास मानों इसी का व्यंग्यार्थ स्पष्ट कर रहे हैं—**अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम।**[१२१]—'वैभव की विशालता होने पर ज्ञाति (रिश्तेदारी) वाले भाई-बन्द स्वयं ही बन जाते हैं।' उन्हें बनाना नहीं पड़ता, नकली भी बन जाते हैं।

धनी और निर्धन के प्रति समाज के व्यवहार का अन्तर शूद्रक द्वारा दर्शाया गया है—

> **सर्वः खलु भवति लोके लोकः सुखसंस्थितानां चिन्तायुक्तः।**
> **विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति।**[१२२]
> **परोऽपि बन्धुः समसंस्थितस्य, मित्रं न कश्चिद्विषमस्थितस्य।**[१२३]

—'सुखी के लिए संसार में सभी लोग चिन्ता रखते हैं, पर विपत्तिग्रस्त मनुष्यों का प्रिय करने वाला दुर्लभ होता है।' 'सम परिस्थिति वाले के शत्रु भी बन्धु बन जाते हैं, पर विषम परिस्थिति वाले का कोई मित्र नहीं होता।'

धन की चंचलता के कारण धनवान् व्यक्ति या कोई अन्य साधारण जन भी जब विपत्तियों में फंस जाता है तब लोगों का व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण होने के स्थान पर तिरस्कारपूर्ण हो जाता है।[१२४]

धनी और निर्धन के प्रति दूसरों के व्यवहार के इस महान अन्तर को ध्यान में रखते हुए धनवान् से निर्धन बने व्यक्ति का विशेष दुःखी होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। भास के अनुसार—**सुखात्तु यो याति दशां दरिद्रतां, स्थितः शरीरेण मृतः स जीवति**[१२५]—'जो व्यक्ति सुख से हटकर दारिद्र्य की दशा को प्राप्त होता है, वह शरीर रहते हुए भी मरा हुआ सा जीता है।' इसी सूक्ति का प्रयोग कुछ शब्द-परिवर्तनों के साथ शूद्रक ने भी किया है।[१२६] ऐसे व्यक्ति के दुःख को बढ़ाने वाली बात यह होती है

कि—**परिभवास्पदं दशाविपर्ययः**[१२७]—'अवस्था का विपर्यय (परिवर्तन) तिरस्कार का घर होता है।' चाहे तिरस्कार वास्तव में ही बढ़ जाता हो, चाहे उस (धनी) के द्वारा पूर्वानुभूत न होने के कारण अधिक कष्टकर प्रतीत होता हो, किन्तु फिर भी उसका गौरव और सम्मान अवश्य कम हो जाता है। ऊंचाई से गिरना, यही अधिक भयंकर है। अतः भर्तृहरि का यह आश्चर्य भी वास्तविक न होकर व्यंग्यात्मक ही है कि—**अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्**[१२८]—'धन की गर्मी से रहित कोई व्यक्ति क्षण भर में ही कुछ और हो जाता है, यह बड़ी विचित्र बात है।' कवि का यह भाव धन को इतना महत्त्व देने वाले इस सांसारिक व्यवहार के प्रति ही व्यक्त हुआ है।

निर्धन व्यक्ति के अपार कष्टों का उल्लेख भास और शूद्रक ने विस्तार से किया किया है। निर्धनता के कारण व्यक्ति निष्प्रभाव, निस्तेज और शंकनीय हो जाता है।[१२९] बन्धु-बान्धव भी निर्धन के वाक्यों का विश्वास नहीं करते, शक्ति कम हो जाती है, चरित्र शोभाहीन हो जाता है, मित्र अकारण विमुख हो जाते हैं, आपत्तियां टूट पड़ती हैं, और, औरों की बुराई भी उसके सिर मंढ़ दी जाती है।[130] दरिद्र के शोक, चिन्ता और एकाकीपन[131] का वर्णन करते हुए शूद्रक कहते हैं—**निधनता सर्वापदामास्पदम्**।[१३२]—यमराज द्वारा प्रेषित भाग्यहीनता के कारण पीडाभरी निर्धनता की दशा में मित्र भी शत्रु और पुराने प्रियजन भी विरक्त हो जाते हैं।[१३३] न वह किसी पर क्रोध कर सकता हैं और न प्रसन्नता का प्रकाशन[१३४]। इसलिए वह बिना दैन्य या कृपण भाव के कैसे बोल सकता है?—**दरिद्रः किमकृपणं मन्त्रयते?**[१३५]

इन अनेक कष्टों के कारण भास की दृष्टि में दरिद्रता मनस्वी पुरुष के लिए सांस रहते भी मरण के समान है।[१३६] शूद्रक के अनुसार दरिद्र के लिए सारा संसार सूना है।[१३७] अनन्त दुखों को देने वाली दरिद्रता से तो मृत्यु ही अच्छी।[१३८] पौरुष को भी विफल करने वाली ऐसी दरिद्रता को धिक्कार है।[१३९] दरिद्र की समानता पक्षहीन पक्षी, सूखे जीर्ण-शीर्ण ठूंठ, निर्जल सरोवर, भग्नदन्त सर्प, शून्य घर, जलहीन कुएं से ही हो सकती है।[१४०]

धनी का ऐसा सम्मान और निर्धन का ऐसा तिरस्कार तथा अन्य कष्ट देखकर कालिदास को कहना पड़ा—**रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः, पूर्णता गौरवाय**[१४१]—'खाली होने पर प्रत्येक छोटा हो जाता है। पूर्णता गौरव के लिए होती है।' इसी प्रकार भर्तृहरि ने भी कहा—

> **'यस्यस्ति वित्तं स नरः कुलीनः', 'स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।'**
> **'स एव वक्ता स च दर्शनीयः', 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।'**[१४२]

—'जिसके पास धन है वही कुलीन हैं', 'वही पण्डित है, शास्त्रज्ञ और गुणज्ञ है।' 'वही वाग्मी है सुन्दर है', 'सभी गुण सोने के सहारे रहते हैं।' इस प्रकार व्यावहारिक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण धनी के यौवन को सदा-बहार कहा जाय[१४३] तो कोई अत्युक्ति नहीं, या केवल धन की कामना प्रकट की जाय[१४४] तो अनुचित भी नहीं।

संस्कृत-सूक्तियों में धनी या धन की महत्ता का, या धन के कारण गौरवाधान का यह दृष्टिकोण कवियों के विचार का एक पक्ष ही प्रस्तुत करता है; और संभवतः इस लोक-व्यवहार के प्रति उनकी प्रतिक्रिया आलोचनात्मक व्यंग्यात्मक रुख लिये हुए है। दूसरी ओर, धनी में दोषों का आधिक्य भी देखा गया है। कालिदास का कथन है— **मूर्छन्त्यमी विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु**[१४५]—'ये विकार प्रायः ऐश्वर्य से मतवाले लोगों में स्थान पाते हैं।' इसी प्रकार शूद्रक कहते हैं—**दुर्लभा गुणा विभवाश्च**[१४६]—'गुणों और वैभवों का संयोग दुर्लभ है।'[१४७] वस्तुतः, दरिद्र को इतना अवकाश या सुविधा कहां कि दोष पाल सके। इस प्रकार यद्यपि धनी की व्यवहारिक महत्ता स्वीकारी गई है, किन्तु उत्कृष्ट गुणों से उसे वंचित माना गया है।

(घ) **लक्ष्मी**—धन की शक्ति के प्रतीक के रूप में धन की देवी लक्ष्मी की कल्पना हुई है। जिस प्रकार प्रत्येक देवी-देवता के अपने गुण हैं, वैसे ही लक्ष्मी का विशिष्ट गुण चंचलता बताया गया है। इसका कारण यही है कि संसार में सुख-दुःख और सम्पत्ति-विपत्ति का अस्थिर चक्र सदा घूमता रहता है[१४८]। अश्वघोष चंचल लक्ष्मी को अविश्वसनीय बताते हैं—**विश्रम्भितुं न क्षममध्रुवा श्रीः**[१४९]। भारवि के अनुसार भी —**असुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः**[१५०]—'बहुत छल वाली लक्ष्मी की रक्षा सरलता से नहीं हो सकती।' चंचलेन्द्रिय लोगों के लिए तो लक्ष्मी को वश में करना और भी कठिन है[१५१]। किन्तु कवि की दृष्टि में यह तो स्तुति का स्थान है, निन्दा का नहीं। लक्ष्मी की निन्दनीयता तो वहां है, जहां यह सच्चरित्र को भी छोड़ भागती है।[१५२]

लक्ष्मी की चंचलता को देखते हुए बाणभट्ट उसे अन्धेपन के दोष से युक्त बताते हैं[१५३]। 'शुकनासोपदेश' में लक्ष्मी के दोषों के सम्बन्ध में कवि ने बहुत विस्तार से कहा है। वह सब सूक्तिमय तो नहीं है पर लक्ष्मी के प्रति भारतीय दृष्टि का सही परिचायक है। संक्षेप में, उन्होंने लक्ष्मी की चंचलता प्रभविष्णुता और वंचनाओं को दिखाते हुए विद्वान्, गुणी, उदार, सज्जन, कुलीन, शूर, दानी, विनीत, मनस्वी आदि उत्कृष्ट व्यक्तियों से इसका विरोध माना है[१५४]। यह सब होते हुए भी लक्ष्मी की प्रभावशालिता सर्वस्वीकृत है, जिसे कालिदास ने भी इन शब्दों में व्यक्त किया है—**लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियम्, श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्** ?[१५५]—'किसी प्रार्थना करने वाले को लक्ष्मी मिले न मिले, परन्तु लक्ष्मी के द्वारा चाहा हुआ उसके लिए कैसे अप्राप्य हो सकता है ?' इससे प्रकट होता है कि केवल इच्छा से धन को पा सकना कठिन है। कामना सभी करते हैं, किन्तु प्रप्ति विरले को ही होती है।

८. देश-काल और परिस्थितियां

प्राकृतिक नियमों ने व्यक्ति के जीवन को नियन्त्रित किया हुआ है, किन्तु प्रकृति जिन तत्त्वों को जन्म देती है उन पर मनुष्य का नियन्त्रण नहीं के बराबर है। प्रकृति अपने नियमों के अनुसार चलती है, परन्तु क्योंकि मनुष्य उन सब से और प्रकृति के अन्य गुप्त रहस्यों से परिचित नहीं हो पाता इसलिए उसे उनमें विचित्रता प्रतिभासित होती है। कुछ सूक्तियों

में मानव और प्रकृति के इस सम्बन्ध का ध्यान रखते हुए जो कुछ बताया गया है उससे यही प्रकट होता है कि मानव-मात्र पर और व्यक्ति-विशेष पर देश-काल और परिस्थितियों का प्रभाव एक सचाई है तथा व्यवहार में इसका ध्यान रखना आवश्यक भी है।

(क) **देशकाल की विपुलता और संसार की विचित्रता**—मानवमात्र पर विश्व की विशालता और समय की अनन्तता के प्रभाव को स्वीकारते हुए भवभूति कहते हैं—**कालो ह्ययं निरवधिर् विपुला च पृथ्वी**[१५६]—'समय असीम है और पृथ्वी विशाल।' अतः मानव के जीवन में और आने वाले समय में बहुत कुछ घटित हो सकता है। इसी लिए यहां बहुत सी विचित्रताएं हैं, और प्रकृति-क्रीड़ा के अनेकानेक अवसर।

पृथ्वी की इस विशालता के कारण न तो यहां गुणीजन की न्यूनता है, न गुणहीनों की। भास ने संसार में अज्ञातरूप से रहने वाले 'गुदड़ी के लालों' को देखकर कहा है—**अहो प्रच्छन्नरत्नता पृथिव्याः !**[१५७]—'अहो, पृथ्वी में कैसे-कैसे रत्न छुपे रहते हैं।' इसके विपरीत शूद्रक ने मूर्खों का आधिक्य देखकर कहा है—**मांसवृक्षैरियं मूर्खैर्भाराक्रान्ता वसुन्धरा**[१५८]—'(जो बुद्धि के अभाव में) केवल मांस के वृक्ष जैसे हैं, ऐसे मूर्खों से यह पृथ्वी भाराक्रान्त है।' वस्तुतः इस विशाल संसार में विद्वान् और मूर्ख, सज्जन और दुर्जन, गुणी और दुर्गुणी सभी प्रकार के प्राणी मिल जाते हैं।

संसार की एक विचित्रता का संकेत भास ने इस प्रकार किया है—**परस्परगता लोके दृश्यते रूपतुल्यता**[१५९]—'संसार में रूप की समानता देखने में आती है।' सचमुच प्रकृति का यह बहुत बड़ा आश्चर्य है कि मनुष्यों की इतनी बड़ी संख्या होने पर सबको भिन्न-भिन्न रूप मिले हैं, और उससे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि देश और काल की दूरी होने पर भी किन्हीं दो व्यक्तियों को एक जैसा रूप मिल जाए।

सांसारिक विचित्रताओं के कारण कभी-कभी ऐसी घटनाएं सामने आ पड़ती हैं जो हमें असम्भव सी प्रतीत होती हैं। तब भवभूति की यह कहावत प्रयुक्त की जा सकती है—**अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि ग्रावाणः प्लवन्त इति।**[१६०]—'पानी में लौकी डूब रही है और पत्थर तैर रहे हैं!' कभी कभी हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि ऐसा होगा, और वैसा ही हो जाता है। तब बाण के स्वर में स्वर मिला कर हमें कहना पड़ता है—**अहो, जगति जन्तूनाम् असमर्थितोपनतान्यापतन्ति वृत्तान्तराणि**[१६१]—'संसार में प्राणियों के समक्ष नई-नई अविचारित घटनाएं आ उपस्थित होती हैं।' वस्तुतः प्रकृति के व्यवहार के समक्ष मनुष्य का चिन्तन बहुत सीमित है। भारवि के अनुसार भी—**दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम्**[१६२]—'प्रयोजनों की गति जानना कठिन है।' प्रयोजन के दो अर्थ यहां हो सकते हैं 'लक्ष्य और निमित्त'[१६३]। अतः कवि का संकेत जहां मानव के व्यवहार के पीछे निहित लक्ष्यों की ओर है, वहां प्रकृतिगत व्यवहार में छिपे कार्य-कारण-सम्बन्ध की ओर भी है।

(ख) **कार्य-कारण-सम्बन्ध**—प्रकृति के खेल चाहे कितने ही विचित्र हों और चाहे हमारे लिए उनको समझना कितना ही कठिन हो, किन्तु वे सब किसी-न-किसी नियम में बंध कर चलते हैं। कारण के बिना कार्य का न होना ऐसा ही एक नियम

है। कालिदास के शब्दों में—**ननु प्रथमं मेघराजिर्दृश्यते पश्चाद्विद्युल्लता**[१६४]—'निश्चय ही पहले मेघों का दर्शन होता है और फिर विद्युत् का।' अथवा—**धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः**[१६५]—'अग्निशिखाएं धूम्र के पश्चात् और सूर्य की किरणें उदय के पश्चात् आती हैं।' इसी प्रकार **'उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलम्'**, **'घनोदयः प्राक् तदनन्तरं पयः'**[१६६]—'पहले पुष्प उगता है फिर फल', 'पहले मेघ छा जाते हैं तदन्तर जल बरसता है।' निमत्त और नैमित्तिक का यही क्रम है कि कारण पहले और कार्य बाद में होता है।

कार्य-कारण के इस सम्बन्ध के प्रभाववश कारण के समाप्त कर देने पर अनपेक्षित व्यवहार भी समाप्त किया जा सकता है। अश्वघोष ने—**कार्यक्षयः कारणसंक्षयाद्धि**[१६७]—'(समवायी) कारण के नाश से कार्य का नाश होता है'—इस सूक्ति द्वारा अपने दार्शनिक ज्ञान को प्रतिफलित किया है। इसी के समर्थन में भवभूति की यह सूक्ति दी जा सकती है—**लतायां पूर्वलूनायां प्रसवस्योद्भवः कुतः?**[१६८]—'पहले से काटी हुई लता में पुष्पों की प्रसूति कैसी?' अर्थात् कारण के अभाव में कार्य की आशा करना व्यर्थ है। इसी तथ्य से शूद्रक इस नीति का निर्धारण करते हैं—**मूले छिन्ने कुतः पादपस्य पालनम्**[१६९]—'मूल के नष्ट हो जाने पर पौधे की रक्षा कैसे?' अतः मूलाधार या निमित्त के न रहने पर अन्य साधन भी फल देने में सहायक नहीं हो सकते।

जीवन में तथा व्यवहार में निमित्त और फल की यह महत्ता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। व्यक्तित्व के निर्माण पर भी 'कारण के अनुसार कार्य' का यह नियम लागू होता है। फलतः व्यक्तिगत विविधता में पैतृक प्रभावों के साथ-साथ परिस्थितियों का[१७०] भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

(ग) परिस्थितियां—कोई व्यक्ति जो कुछ है उसके लिए बहुत कुछ उसकी परिस्थितियों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। अपनी परिस्थितियों और सीमाओं से बंध कर ही व्यक्ति को चलना पड़ता है। सूक्तियों में व्यक्ति पर इनके प्रभाव को स्वीकारा गया है। कई बार अनुकूल परिस्थितियों के कारण व्यक्ति उन्नति के शिखर पर चढ़ता जाता है—**दृष्टो हि वृण्वन् कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः।**[१७१] —'अनुकूल वायु पाकर छोटे हाथी के समान आकार वाला मेघ भी दिशाएं ढक देता है।' सच है परिस्थितियां ही किसी में विस्तार अथवा संकोच लाती हैं—**अवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च।**[१७२]

यह परिस्थितियों का ही प्रभाव है कि व्यक्ति किसी से किसी विशेष प्रकार का व्यवहार करने के लिए बाध्य होता है। इन्हीं के कारण किसी से मैत्री तो किसी से शत्रुता हो जाती है—**अवस्था खलु नाम शत्रुमपि सुहृत्त्वे कल्पयति**[१७३] 'परिस्थितियां शत्रु को भी मित्र बना देती हैं।' प्रत्येक के जीवन में इसके या एतद्विरुद्ध व्यवहार के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

जब परिस्थितियां व्यक्ति के विरुद्ध हों तो वह अपना अभीप्सित पाने में असमर्थ रहता है। भवभूति के व्यंजनापूर्ण शब्दों में—**कियच्चिरं वा मेघान्तरेण पूर्णिमाचन्द्रस्य**

(पूर्णचन्द्र-) दर्शनम् ?[१७४]—'मेघ के छिद्र से आखिर कब तक पूनम का चांद देखा जा सकता है ?' परिस्थितयों के द्वारा उपस्थापित बाधाओं के कारण अभिप्रेत वस्तु के होने पर भी उसे पाना तो दूर हम देख या जान भी नहीं पाते।[१७५] इसलिए कई बार जब बुद्धि पर विस्मृति का मैल चढ़ा हो, तब बीती बातों का ध्यान नहीं आता। कालिदास की व्यंग्यात्मक शैली में—छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा।[१७६]—'मलिनता से नष्ट कान्तिवाले दर्पण में बिम्ब नहीं झलकता किन्तु शुद्ध दर्पण में सरलता से बिम्बित हो जाता है।'

सामान्य बाधाओं के अतिरिक्त परिस्थितियां देश और काल की सीमाओं से भी पुरुष को बांध देती हैं। भौगोलिक दूरी के कारण कई कार्य सम्पन्न नहीं हो पाते। अनेक बार, विशाखदत्त के शब्दों में यह भी कहना पड़ता है—शिरसि भयमति दूरे तत्प्रतीकारः[१७७]—'भय सिर पर है और उसका प्रतिकार बहुत दूर', अथवा—उपरि घनं घनरटितं दूरे दयिता',...'हिमवति दिव्यौषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः।'[१७८] 'ऊपर गहन मेघगर्जन है और प्रिय दूर है।' 'दिव्य औषधियां हिमालय पर हैं और सांप सिर पर चढ़ आया है।' इसी प्रकार भौगोलिक बाधाओं में स्थान-विशेष का प्रभाव दर्शाने वाली भवभूति की एक सूक्ति है—अट्टाल-प्रतोलीन्द्रपथेभ्यः सर्वविघ्ना भवन्ति[१७९]—'अट्टाल, प्रतोली और इन्द्रपथ[१८०] इन से ही सारे विघ्न होते हैं।' प्रतीत होता है कि भास के समय यह सूक्ति चौर-वर्ग में लोकोक्तिवत् प्रचलित रही होगी। इन सब सूक्तियों में देशगत सीमाओं का आख्यान है।

कालगत सीमाओं को स्वीकार करते हुए माघ कहते हैं—समय एव करोति बलाबलम्...शरीरिणाम्।'[१८१]—'समय ही प्राणियों की शक्ति या अशक्ति का निर्धारण करता है।' समय के कारण ही कई बार व्यक्ति के शत्रु बढ़ जाते हैं और वह बलवान् होने पर भी असमर्थ हो जाता है।[१८२] समय के प्रभाव को दर्शाने वाला एक तथ्य यह भी है कि दिन और रात के समय तक का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। बन्दियों और दोष करने वालों के लिए रात्रि का विशेष महत्त्व इसके उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। भास भी मानते हैं—तुल्येऽपि कालविशेषे निशैव बहुदोषा बन्धनेषु[१८३]—'बन्धनों के लिए सब समय एक से होने पर भी रात्रि ही विशेष दोषवाली है।' अर्थात् रात्रि के समय बन्धन तोड़ना सरल होता है। वैसे भी रात्रि सब बुराइयों का घर होती है—बहुदोषा हि शर्वरी[१८४]। (adventure) का अवसर प्रदान करने के कारण रात्रि का विहार विशेष सुखकर भी हो सकता है[१८५]। इस प्रकार समय का प्रभाव व्यक्ति का सहायक या बाधक हो सकता है।

देशकाल तथा अन्य परिस्थितिजन्य सीमाओं के कारण प्रत्येक व्यक्ति की शक्तियां भी ससीम हैं। जो जिस कार्य में समर्थ है वह उसी को कर सकता है, प्रत्येक कार्य को नहीं—न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य[१८६]—'पौधे उखाड़ने की शक्ति वाला वायु का वेग शिला-समूह पर नहीं उतर पाता। अर्थात् सामर्थ्य से बाहर का काम करना किसी के लिए सम्भव नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक की

अपनी कार्य-सीमाएँ होती हैं और अपना-अपना कार्यक्षेत्र—इन्दोरगतयः पक्षे सूर्यस्य कुमुदेऽशवः[१८७]—'चन्द्र-किरणों की कमल में और सूर्य-रश्मियों की कुमुदिनी में गति नहीं होती।'

प्रत्येक व्यक्ति की ज्ञानशक्ति भी इसी भांति सीमित है, इसलिए विशाखदत्त की यह उक्ति प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती—न हि सर्वः सर्वं जानाति।[१८८]—'सभी सब कुछ नहीं जानते।' सर्वज्ञ तो परमात्मा को ही माना गया है। व्यक्ति तो अपनी परिस्थितियों और देश-काल की सीमाओं में परिवेष्टित होकर ही ज्ञान आदि का सामर्थ्य अर्जित कर सकता है। इस प्रकार देशकाल की अनन्तता जहां एक ओर संसार की विचित्रताओं को जन्म देती है वहां दूसरी ओर व्यक्ति के वातावरण के रूप में उसकी शक्तियों की सीमा भी बनाती है।

९. संगति

किसी के भी व्यक्तित्व पर वातावरण के अंग-रूप में उसकी संगति का प्रभाव पर्याप्त महत्त्व रखता है। सूक्तियों में इसे विशेषरूपेण स्वीकारा गया है। अधिकांश सूक्तियां सत्संगति के लाभ दिखाकर संगति की महत्ता स्थापित करती हैं, दुर्जनों के संग का दुष्प्रभाव दिखाकर नहीं। बुराई का यथासम्भव उल्लेख न करने की भावना[१८९] यहां और भी स्पष्टरूपेण मुखरित हुई है।

अच्छी संगति का अच्छा प्रभाव बताते हुए प्रायः प्रत्येक कवि ने कोई नया लाभ दर्शाने का यत्न किया है। अश्वघोष कहते हैं—सद्भिः सहीया हि सतां समृद्धिः[१९०]—'सज्जनों (के साथ) द्वारा सज्जनों की समृद्धि अधिक शक्तिशाली[१९१] होती है।' कालिदास शक्ति और बुद्धि पर संगीत का प्रभाव[१९२] बताते हैं—न कस्य वीर्याय वरस्य सङ्गतिः?[१९३]—'श्रेष्ठ का साथ किसकी शक्ति (की वृद्धि) के लिए नहीं होता?' इसी प्रकार—

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः।
पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः॥[१९४]

—'विद्वान के संसर्ग से मन्द व्यक्ति भी तीव्र हो जाता है, जैसे कमलदल के सम्पर्क से गदला जल।' केवल शक्ति और विद्वता से ही नहीं किसी भी महान् गुण से युक्त व्यक्ति का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति को ऊंचा उठाने में समर्थ है। हर्ष के शब्दों में—

प्रायो यत्किञ्चदपि प्राप्नोत्युत्कर्षमाश्रयान्महतः।
मत्तेभकुम्भतटगतमेति हि शृङ्गारतां भस्म॥[१९५]

—'प्रायः जो कोई भी महान् के आश्रय से उत्कर्ष पाता है।' 'मत्त हाथी के मस्तक पर लगी भस्म भी शृंगार बन जाती है।'

बाण के अनुसार सज्जन की संगति चित्त-प्रसाद की जननी है—दुःखितमपि जनं रमयन्ति सज्जनसमागमाः[१९६]—'सज्जन का साथ दुःखी को भी प्रसन्न करता है।' भारवि के अनुसार—विश्वासयत्याशु सतां हि योगः[१९७]—'सज्जनों का संयोग शीघ्र

ही विश्वस्त करता है।' सत्संगति के ऐसे ही अनेक लाभ हैं। अतः यही कहना पर्याप्त है कि—**गुणमहतां महते गुणाय योगः**[१९८]—'गुणी पुरुषों से मेल बहुत गुणकारक है।' और—**सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्?**[१९९]—'कहो, अच्छे की संगति पुरुषों को क्या नहीं बना देती।'

सत्संगति के इतने लाभों को देखते हुए वह प्रत्येक के लिए वांछनीय बन गई है, कुलीन और श्रेष्ठ के लिए भी[२००]। चाहे जितने समय के लिए मिले और चाहे जिस प्रकार मिले वह प्रभाव अवश्य डालती है। थोड़े से भी सम्पर्क का फल दर्शाने के लिए वाण ने कहा है—**एकःप्लवोऽमृतरसास्पदचन्द्रपादसंपर्क एव हि मृगाङ्कमणेर्द्रवाय**[२०१]—'अमृत रस के घर चन्द्रमा की किरणों के सम्पर्क की एक धारा ही चन्द्रकान्तमणि को द्रवित करने के लिए पर्याप्त है।' यहां तक कि अनजाने ही सत्संगति हो जाए तो भी उसका प्रभाव हुए विना नहीं रहता। भारवि के शब्दों में—**संसक्तौ किमसुलभं? महोदयानामुच्छ्रायं नयति यदृच्छयाऽपि योगः**[२०२]—'महान् व्यक्तियों के सम्पर्क द्वारा क्या दुर्लभ है?' 'अकस्मात् ही उनसे हुआ संयोग भी उन्नति की ओर ले जाता है।' इसलिए कविकी दृष्टि में सत्संगति यथाकथंचित् पानी ही चाहिए, चाहे वह सेवक-रूप में मिले या विरोधी के रूप में—**परिजनताऽपि गुणाय सद्गुणाम्**[२०३]—'सद्गुणी की चाकरी भी गुणकारी होती है।' और—**वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः**[२०४]—महात्माओं के साथ विरोध (स्पर्धा) करना भी अच्छा है।' उससे भी गुणों की वृद्धि होती है। इस भावना का आधार यह है कि जब व्यक्ति का किसी गुणवान् सज्जन से विरोध या प्रतिस्पर्धा का भाव होता है तब उसे अवश्य ही गुणों को अर्जित करने का प्रयास करना पड़ता है, जैसाकि इस सूक्ति के प्रसंग में दुर्योधन को युधिष्ठिर के प्रजारंजन आदि गुणों को ग्रहण करने के लिए करना पड़ा। इस आधार पर कवि का यह कथन भी सत्य हो जाता है कि—**महते रुजन्नपि गुणाय महान्**[२०५]—'पीड़ा देते हुए भी महान् व्यक्ति बड़े गुणों (को देने) के लिए होता है।' भवभूति ने तो इस पौराणिक विश्वास के आधार पर कि भगवान् राम के हाथ से मरकर शम्बूक नामक शुद्र भी दिव्य पुरुष बन गया, यह कहा है—**सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति**[२०६]—'सज्जनों के संग में मिली मौत भी पार लगा देती है।' इतनी गुणकारी और प्रभावशाली सत्संगति को कौन छोड़ना चाहेगा?

सामान्य व्यक्ति से विछुड़ने का भी दुःख हुआ करता है, परन्तु जब सज्जन से मिलकर विछुड़ना पड़े तब तो दुःख बहुत ही बढ़ जाता है—**संधत्ते भृशमरतिं हि सद्वियोगः**[२०७]—'सज्जनों का वियोग बहुत दुःख देता है।' इसलिए भवभूति ने सत्संगति के दो रूप बताये हैं—**प्रत्यक्षसौख्यदायिनः परोक्षदुःखदुःसहाः सज्जनसमागमा भवन्ति**[२०८]—'सज्जनों के समागम प्रत्यक्ष में सुख देने वाले और परोक्ष में (वियुक्त हो जाने पर) दुःख के कारण असह्य होते हैं।'

इस प्रकार साधारण जन भी अच्छों का साथ चाहते हैं, फिर जो स्वयं सज्जन हैं वे क्यों न चाहेंगे? किन्तु भवभूति की दृष्टि में—**सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन**

भवति[२०९]—'सज्जनों का सज्जनों के साथ समागम किसी प्रकार पुण्य से ही होता है।' सचमुच सज्जनों की न्यूनता होने के कारण ऐसा कम ही सम्भव हो पाता है[२१०] और सज्जनों को दुर्जनों या साधारण व्यक्तियों के साथ ही अधिकतर निर्वाह करना पड़ता है।

सत्संगति के विपरीत दुष्ट की संगति दुःख का कारण बनती है। भारवि के अनुसार— **असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि।**[२११] 'असत्संगति जय का नाश करने वाली है, और मथ डालने वाली (या उन्मूलक) विपदाओं का घर है।'

इस प्रकार जैसी संगति हो वैसा ही मनुष्य में प्रभाव आता है। उसके गुणों पर भी इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भर्तृहरि के शब्दों में—**प्रायेणाधम-मध्यमोत्तम-गुणः संसर्गतो जायते।**[२१२]—'मनुष्यों में अधम, मध्यम या उत्तम गुण प्रायः संसर्ग से ही होता है।' मित्रों के आधार पर मनुष्य को पहचानने[२१३] की बात भी संगतिजन्य प्रभाव के कारण ही है। कहते भी हैं 'जैसी सोहबत होती है आदमी वैसा ही हो जाता है।'

१०. परिचय, सहायता और याचना

किसी के साथ रहने पर उससे परिचय हो जाता है और उसका व्यवहार में अपना स्थान है। परिचय कैसे होता है इस पर बाण कहते हैं—**स्वल्पाप्येकावस्थाने कालकला परिचयमुत्पादयति।**[२१४]—'एक स्थान पर कुछ देर का साथ भी परिचय उत्पन्न कर देता है।' ऐसे परिचय का लाभ व्यवहार में एक तो यह होता है कि परिचित को आसानी से अनुकूल किया जा सकता है, क्योंकि—**विदितेङ्गिते हि पुर एव जने सपदीरिता खलु लगन्ति गिरः।**[२१५]—'परिचित मनोभाव वाले व्यक्ति के सामने कही हुई वाणी उसको शीघ्र लगती है।'

दूसरा लाभ यह होता है कि परिचित व्यक्ति से अच्छा व्यवहार किया जाता है। मानव ही क्या पशु भी परिचित से ही स्नेह दर्शाते हैं—**तिर्यञ्चोऽपि परिचयमनुरुन्धन्ते।**[२१६]—'पशुपक्षी भी परिचय का अनुसरण करते हैं।' परिचय के अभाव में व्यक्ति को साधारण व्यवहार का ही सामना करना होता है। देवताओं तक को तिरस्कार सहना पड़ सकता है। वाण के शब्दों में—**अपरिगतानि दैवतान्यपि अनुचित-परिभव-भाञ्जि भवन्ति।**[२१७]—'न जाने हुए देवता भी अनुचित अपमान के भागी होते हैं।' इसके विपरीत यह भी सही है कि जहां परिचय अधिक बढ़ जाए वहां भी तिरस्कार की सम्भावना रहती है।[२१८] इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सामान्य व्यवहार में हर किसी से परिचय बढ़ाने पर मनुष्य सर्व जन-सुलभ हो जाता है और हर स्थल पर उसका अहं नहीं चल पाता। किन्तु जो हो, 'परिचय' है अत्यन्त आवश्यक। व्यावहारिक जगत् में अनेक प्रकार से यह सहायक होता है। किसी से किसी सहायता आदि की आशा भी प्रायः परिचय के सहारे ही की जाती है।

सहायता—व्यवहार में कई कार्य सम्पन्न करने के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रहती है, विशेषकर बड़े और भारी कामों में। भास के शब्दों में—**न ह्यनारुह्य**

नागेन्द्रं वैजयन्ती निपात्यते[२१९]—'बिना गजराज पर चढ़े ध्वजा नहीं झुकाई जा सकती।' अर्थात् बिना ऊंचे सहारे के ऊंचा काम नहीं किया जा सकता। इस सूक्ति का अप्रस्तुत-विधान युद्ध में जीतने पर शत्रु की ध्वजा को झुकाने और तदर्थ हाथी के प्रयोग की प्रथा से प्रेरित प्रतीत होता है।

समर्थ का सहयोग बहुत उपयोगी रहता है क्योंकि—प्राप्यते गुणवतापि गुणानां व्यक्तमाश्रयवशेन विशेषः[२२०]—'गुणवान् भी अपने आश्रय के प्रभाववश गुणों की विशिष्टता पा लेता है।' यही कारण है कि तेजस्वी से सम्बन्धित व्यक्ति भी तेजस्विता-पूर्ण कार्य कर पाता है। कालिदास के शब्द हैं—यावत् प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम्[२२१]—'अभी तेजोदीप्त सूर्य का उदय भी नहीं हुआ था कि उसकी लालिमा ने ही अन्धकार नष्ट कर दिया।' इसी प्राकृतिक तथ्य का वर्णन करते हुए माघ ने इसका व्यावहारिक निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—

'व्रजति विषयमक्ष्णामंशुमाली न यावत् तिमिरमखिलमस्तं तावदेवारुणेन।'
परपरिभवि तेजस्तन्वतामाशु कर्त्तुं प्रभवति हि विपक्षोच्छेदमग्रेसरोऽपि॥[२२२]

—'अंशुमाली अभी आंखों के सामने भी नहीं आया कि उसकी अरुणाई ने ही सारा अन्धकार मिटा दिया।' 'शत्रु को हराने वाले तेज के विस्तारक तेजस्वी वीर के आगे-आगे चलने वाले भी शीघ्र ही शत्रून्मूलन करने में समर्थ होते हैं।' भाव यह है कि जिसे महान् व्यक्ति का आश्रय प्राप्त हो वह सामान्य नहीं रहता, अधिक समर्थ हो जाता है। और यदि उसे महान् की कृपा प्राप्त हो तब तो क्या कहना!—कवि कहता है—चक्षुष्यः खलु महतां परैरलङ्घ्यः[२२३]—'महान् लोगों का प्रिय अन्यों से अलंघ्य है।' कारण यहां भी महान् की सहायता ही है।

अपने स्थान पर सहायता की आशा बनी रहती है, अतः यह कहावत प्रसिद्ध है—स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावच्चण्डो भवति[२२४]—'अपने घर में कुत्ता भी प्रचण्ड होता है।' या जैसा कि हिन्दी में कहा जाता है—'अपनी गली में कुत्ता भी शेर होता है।' इससे प्रकट है कि आश्रय और सहायता की शक्ति से दुर्बल भी अपने को सशक्त अनुभव करने लगता है। इस सूक्ति का प्रयोग उन कायर-जनों के लिए भी किया जाता है जो किसी के भरोसे अपनी सीमा से अधिक शक्ति का प्रदर्शन करने लगें। जो भी हो, बाहरी सहायता व्यक्ति के व्यवहार में आत्मविश्वास की उत्पादिका है।

कई बार कार्यों में बाधा उपस्थित हो जाती है और तब कालिदास के अनुसार—

'अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव।'
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि।[२२५]

—'बाधायुक्त पदार्थों की प्राप्ति के लिए सहायता मिलने पर ही व्यक्ति समर्थ होता है।' 'आंख वाला भी अंधेरे में दीपक के बिना नहीं देख सकता।' अतः अपनी शक्ति के अति-रिक्त बाधा-निवारक सहायता भी अपेक्षित है। सचमुच, कोई भी व्यक्ति पूर्णतः आत्म-निर्भर नहीं हो सकता और इसलिए कभी-कभी उसे दूसरों से परामर्श भी लेना पड़ता है। माघ मानते हैं—ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि[२२६]—'तत्त्व

जानने वाला भी अकेला कार्य के निर्णय में सन्देहग्रस्त हो जाता है।' इस प्रकार की अनेक सहायताएं अवसर आने पर व्यक्ति को दूसरों से लेनी पड़ती हैं और यदि प्रेम आदि के अभाव में स्वयं प्राप्त न हों तो मांगनी भी पड़ती हैं।

याचना—मांगना सभी को बुरा लगता है और सूक्तियों में भी इस की गर्हणा हुई है। भारवि कहते हैं—**धिग्विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम्**[२२७]—'विद्वानों की या सज्जनों की मर्यादा का अतिक्रमण करने वाली याचना को धिक्कार है।' भर्तृहरि भी इसे अवांछनीय मानते हैं—**को देहीति वदेत् स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी पुमान्**[२२८]—'कौन मनस्वी व्यक्ति दुष्ट पेट की आग के लिए 'दे दे' ऐसा कहेगा ?' कालिदास के अनुसार उत्तम व्यक्ति इस गर्हित याचना से बचता है—**अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे**[२२९]—'प्रार्थना ठुकराये जाने के भय से सज्जन व्यक्ति अभीप्सित विषय में भी उदासीन रहता है।'

किन्तु, यदि याचना करनी ही पड़े तो कुछ नीतियों का पालन करना आवश्यक है। याचना उत्तम से करनी चाहिए अधम से नहीं, क्योंकि—**केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थना ह्युत्तमेषु**[२३०]—'उत्तम जनों से की गई किसी की प्रार्थना अभिमत फल देने वाली नहीं होती ?' अर्थात् अवश्य सफल होती है। जो भी हो नीच से मांगना अच्छा नहीं—**याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा**[२३१]—'गुणवान् से मांगना व्यर्थ होने पर भी अच्छा है किन्तु अधम से इष्टलाभ होने पर भी नहीं।' इसका कारण यह प्रतीत होता है कि नीच व्यक्ति कुछ दे या न दे याचक का अपयश अवश्य फैला देगा। भर्तृहरि भी इस नीति को स्वीकारते हैं—'असज्जन से नहीं मांगना चाहिए', साथ ही—'धनहीन मित्र से नहीं मांगना चाहिए।'[२३२] सामान्यतः भी धनहीन से कोई नहीं मांगा करता। दृष्टान्त के लिए—**निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि**[२३३]—'जिसका अन्तःस्थित जल बह गया हो, ऐसे शरत्कालीन मेघ से चातक भी नहीं मांगता।' भर्तृहरि ने भी याचक को सावधान करने के लिए कहा है—**यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः**[२३४]—'जिस-जिसको देखता है उस-उसके आगे दीन वचन मत बोल।' केवल देने में समर्थ और देने की इच्छा वाले से मांगना उचित है।

११. मित्र—मित्र का व्यवहार

परिचय बढ़ने से जब स्नेह आदि उत्पन्न हो जाता है तो मैत्री का जन्म होता है। मानव-व्यवहार की समीक्षा में मैत्री का महत्त्वपूर्ण हाथ है। मानव एक सामाजिक प्राणी है और वह सदा अपने समान स्थिति के व्यक्तियों से व्यवहार करने में आनन्द का अनुभव करता है।[२३५] इस कारण जो विशेष मैत्री-सम्बन्ध उत्पन्न होता है उसी का इस अनुच्छेद में सूक्तियों के आधार पर विवेचन किया गया है।

(क) मैत्री का जन्म—मैत्री-भाव की उत्पत्ति के लिए दो बातें आवश्यक हैं एक तो व्यवहार करने वालों की समानता, और दूसरे दोनों में स्नेह की विद्यमानता। समानता की अनिवार्यता बताने वाली ये सूक्तियां हैं—

'रत्नं रत्नेन संगच्छते।'[२३६] । **'सदृशाः सदृशेषु रज्यन्ते।'**[२३७]
'सहापकृष्टैर्महतां न संगतं', 'भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः।'[२३८]

—'रत्न रत्न के साथ मिलता है।' 'समान समान में ही प्रसन्न होता है।' 'निकृष्टों से महानों की संगति नहीं होती।' 'हाथी गीदड़ के सखा नहीं होते।' योग्य मैत्री के लिए भी स्नेह की अनिवार्यता कालिदास की व्यंजनापूर्ण शैली में इस प्रकार कही गई है— **तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम्।**[२३९]—'तपे हुए से ही तपा हुआ लोहा संघटन के योग्य होता है।' प्रचलित नियम भी यही है—**युक्तं युक्तेन योजयेत्।**

इन दो प्राथमिकताओं को पूरा करने वाले यदि थोड़ी देर भी साथ रहें या कुछ समय वार्तालाप कर लें तो भी एक दूसरे के निकट आ जाते हैं—**सतां···संगतं (मनीषिभिः) साप्तपदीनमुच्यते।**[२४०], **सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः।**[२४१]—'सज्जनों की मैत्री को (विचारकों) ने सातपदों (शब्दों या डगों)[२४२] का कहा है।' कुछ सम्भाषण के पश्चात् ही (मैत्री-) सम्बन्ध होता है, ऐसा कहते हैं।'

(ख) **मित्र के प्रति व्यवहार**—मित्र का मित्र से स्नेह तो होता ही है। साथ ही दोनों एक दूसरे की शक्ति होते हैं, तथा अवसर पर सहायक भी। इस अन्योन्याश्रयित्व पर कालिदास कहते हैं---**सूर्यः समेधयत्यग्निम् अग्निः सूर्यं च तेजसा।**[२४३] 'सूर्य अग्नि को और अग्नि सूर्य को (परस्पर एक-दूसरे को) अपने तेज से समृद्ध करते हैं।' एक अच्छा मित्र मित्र के कार्य को साधने के लिए सतत उद्यत रहता है—**मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः**[२४४]—'मित्र के कार्य को पूरा करने का बीड़ा उठाए हुए मित्र उसमें धीमे नहीं पड़ते।' मित्र के कार्य के लिए मित्रों को कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती, प्रत्युत वे स्वतः इसका ध्यान रखते हैं—**समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य?**[२४५]—'अग्नि का उकसाने वाला बन ऐसा वायु को कौन आदेश देता है?' कोई नहीं, अपितु—**स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते**[२४६]—'वायु स्वयं ही अग्नि का सारथित्व (प्रेरकत्व) सम्पन्न करता है।' इसी भाव से माघ ने प्रश्न किया है—**किमु चोदिताः प्रियहितार्थकृतः कृतिनो भवन्ति सुहृदः सुहृदाम्**[२४७]?—'प्रेरणा मिलने पर कहीं प्रिय मित्र का हित करके (सच्चे) मित्र कृतकृत्य होते हैं?' वे तो बिना कहे करना चाहते हैं। और यदि मित्र किसी कार्य के लिए कहे तब तो—**न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः**[२४८]—'पहले किए सुकर्म का विचार करके क्षुद्र व्यक्ति भी आश्रय के लिए आये हुए मित्र से विमुख नहीं होता।' साथ ही यदि मित्र का कार्य करते हुए अस्वाभाविक या अवांछनीय कार्य भी करना पड़े तो कोई बात नहीं, क्योंकि माघ के अनुसार—**सुहृदर्थमीहितमजिह्मधियां प्रकृतेर्विराजति विरुद्धमपि**[२४९]—'सरल हृदय वालों का मित्र के लिए अपनी प्रकृति से विरुद्ध कार्य भी शोभा देता है।' और बाण के अनुसार तो—'अत्यन्त निन्दित कार्य करके भी सज्जन सदा मित्र के प्राणों को रक्षणीय मानते हैं।'[२५०]

इस प्रकार परस्पर सहायक होने के साथ-साथ मित्र लोग एक दूसरे का समर्थन भी करते हैं। यही शकुन्तला की सखियों ने भी किया तो राजा ने कहा—**किमत्र चित्रं,**

यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्त्तेते[२५१]—'यदि दोनों विशाखा नक्षत्र चन्द्रमा का अनुसरण करें तो क्या आश्चर्य ?' अतः एक मित्र जो कहता है दूसरे उसको मान लेते हैं। इसके साथ ही वे एक दूसरे की भावनाओं का सम्मान करना भी जानते हैं। बाण के शब्दों में—**अवलेपिनि पशावपि केसरिणि बहुमानो हृदयस्य किं पुनः सुहृदि ?**[२५] —'पशु जाति के गर्वीले सिंह पर भी जब हृदय का बहुत सम्मान होता है, तो स्वाभिमानी मित्र पर क्यों न होगा ?' इसी कारण—'मित्रों के बीते हुए भी दुःख जब मित्रजन के विश्वास-योग्य वचनों से युक्त होते हैं तो अनुभव जैसी ही वेदना उत्पन्न करते हैं।'[२५३] मित्र के दुःख से मित्रों को संवेदना की अनुभूति होती है और वे उसके दुःख को अपने दुःख से भी बढ़कर मानते हैं। फलतः—**सुहृदस्तु स्वयं दुःखिता अपि निधानीकृत्यात्मदुःखं सुहृद्दुःखापनोदायैव यतन्ते**[२५४]—'स्वयं दुःखी होने पर भी मित्र तो अपने दुःख को छुपाकर मित्र के दु.ख-निवारण का यत्न करते हैं।'

सन्मित्र के व्यवहार की कतिपय विशेषताओं को अश्वघोष ने एक साथ निबद्ध किया है—

विश्वासश्चार्थचर्या च सामान्यं सुखदुःखयो।
मर्षणं प्रणयश्चैव मित्रवृत्तिरियं सताम् ॥[२५५]

—'विश्वास करना, प्रयोजन सिद्ध करना, सुख और दुःख में एक-सा रहना, क्षमा (सहन) करना, और प्रेम देना यह सज्जनों की मित्रता का व्यवहार है।' जिन मित्रों का ऐसा अन्योन्य को सुख देने की इच्छा से प्रेरित व्यवहार होता है, वे जब एक दूसरे से मिलते हैं तो बहुत प्रसन्न होते हैं—**प्रायशश्च जनस्य जनयति सुहृदपि दृष्टो भृशमाश्वासम्**[२५६]—'दिखाई देते ही मित्र प्रायः व्यक्ति के लिए आश्वासन उत्पन्न करता है।'

मित्र बनाते समय ध्यान रखने योग्य व्यावहारिक बुद्धि की एक बात अश्वघोष ने कही है—**वरं मनुष्यस्य विचक्षणो रिपुर्न मित्रमप्राज्ञमयोगपेशलम्**[२५७]—'मनुष्य का बुद्धिमान शत्रु अच्छा है, परन्तु मूर्ख पृथक् करने में कुशल और मित्र नहीं।' जैसे मूर्ख से बचने की नीति है वैसे ही मूर्ख मित्र से भी, जिससे मित्र बनाना लाभकारी होने के स्थान पर हानिकारक सिद्ध न हो।

(ग) सन्मित्र के लक्षण और उसकी दुर्लभता—यद्यपि मित्र का व्यवहार बताने वाली इन सूक्तियों से भी मित्र की पहचान की जा सकती है तथापि मित्र के गुणों या मित्रता की अनिवार्यताएं बता कर भी कतिपय सूक्तियों में सच्चे और अच्छे मित्र के लक्षणों पर प्रकाश डाला गया है। भास की दृष्टि में मित्र का प्राथमिक गुण है निश्छलता—**'अच्छलं मित्रत्वं नाम'**[२५८]—'मित्रता वह जिसमें छल न हो।' दूसरा यह कि मित्र मित्र का हित-चिन्तक होता है—

मज्जमानकार्येषु पुरुषं वियेसषु वै।
निवारयति यो राजन्, स मित्रं रिपुरन्यथा ॥[२५९]

—'हे राजन् ! जो अकरणीय (विषयों objects, या) प्रयोजनों में डूबते हुए मनुष्य को रोकता है वह मित्र है अन्यथा शत्रु है।' अश्वघोष 'अहित से रोकना और हित में

लगाना' दो पृथक् गुण मानते हैं तथा सम्पत्ति व विपत्ति में समानरूपेण साथ देना[२६०] तीसरा गुण बताते हैं—

अहितात् प्रतिषेधश्च हिते चानुप्रवर्त्तनम् ।
व्यसने चापरित्यागस्त्रिविधं मित्रलक्षणम् ॥[२६१]

—'मित्र के तीन लक्षण हैं—'बुराई से रोकना, भलाई में लगाना, और आपत्ति में न छोड़ना।' अन्तिम गुण को भर्तृहरि विशेष महत्त्व देते हैं—तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यत्[२६२]—'मित्र वह है जो आपत्ति और सुख में एक सी क्रिया वाला हो।'

भवभूति ने द्वेष न करते हुए अपने समान ही प्रेम करना चौथा गुण कहा है—

प्राणैरपि हिते वृत्तिरद्रोहो व्याजवर्जनम् ।
आत्मनीव प्रियाधानमेतन्मैत्रीमहाव्रतम् ॥[२६३]

—'प्राण देकर भी हित में लगे रहना, द्वेष का अभाव, छल त्याग और अपनी आत्मा जैसा प्यार करना यह मैत्री का महाव्रत है।'

इस प्रकार मित्र के ये कुछ गुण या लक्षण सूक्तियों में बताए गए हैं। किन्तु इन गुणों से युक्त सच्चा मित्र मिलना अत्यन्त कठिन है। बाण के शब्दों में—दुर्लभो हि दाक्षिण्यपरवशो निर्निमित्तमित्राकृत्रिमहृदयो विदग्धजनः[२६४]—'उदारता के कारण परवश (दूसरे के अर्थात् मित्र के आधीन) बना हुआ, अकारण मित्र, अकृत्रिम हृदय एवं चतुर बुद्धि से युक्त व्यक्ति मित्र के रूप में मिलना कठिन है।' यहां बाण ने मित्र के सभी गुणों का सार भी दे दिया गया है और 'अकारण मैत्री' एवं 'बुद्धिमत्ता' गुणों की आवश्यकता दिखाकर अपनी व्यावहारिक सूझबूझ का परिचय भी।

(घ) सच्चे और झूठे मित्र का अन्तर—सच्चे और झूठे मित्र की मित्रता का भेद इसी से ज्ञात हो जाता है कि पहले की मैत्री टिकाऊ होती है और दूसरे की भंगुर। पहला तो परम्परागत मैत्री का पालन और संवर्धन करता है, जबकि दूसरे में वह कुल से प्राप्त लक्ष्मी के समान ही विलीन हो जाती है।[२६५] भर्तृहरि ने सज्जन की मैत्री का इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ना और दुर्जन की मैत्री का उत्तरोत्तर घटना देखकर कहा है—दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ।[२६६]—'क्रमशः पूर्वाह्न की और अपराह्न की छाया के समान दुष्टों की और सज्जनों की मैत्री भिन्न होती है।'

सन्मित्रों का विछोह दुःख देने वाला होता है क्योंकि यदि वे संताप के समय पास हों तो चन्द्रमा के समान शीतल होते हैं, तथा उत्सव आने पर प्रसन्नता में साथ देते हैं।[२६७] ऐसे मित्रों को कालिदास तो कभी-कभी पत्नी से भी उत्कृष्ट बताते हैं—दयिताः स्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने।[२६८]—'प्रियाओं में मनुष्यों का चंचल प्रेम मित्रों पर स्थिर हो जाता है।' शूद्रक के शब्दों में भी—

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च ।
सम्प्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद् विशिष्टतमः ।[२६९]

—'मनुष्यों को संसार में ये दो वस्तुएं बहुत प्रिय हैं—मित्र और पत्नी। परन्तु अब तो (परिस्थिति विशेष में) सैकड़ों सुन्दरियों से भी मित्र बढ़कर है।'

इसके विपरीत असन्मित्र दुःख का कारण बनता है। और जब ऐसे व्यक्ति से दुःख मिलता है जिससे कभी कष्ट की सम्भावना भी न की जा सके तब कष्ट की अधिकता अत्यन्त स्वाभाविक है।[२७०] इसलिए भारवि के अनुसार दुष्टों से मित्रता अच्छी नहीं—**असन्मैत्री हि दोषाय कूलच्छायेव सेविता।**[२७१]—'असज्जन की मित्रता का सेवन कूलज वृक्ष की छाया के समान दोष करता है।' जैसे नदी तट पर उगा वृक्ष न जाने कब अपने ही ऊपर गिर पड़े, ऐसे ही असज्जन का व्यवहार अविश्वसनीय है तथा उसकी मैत्री भयावह।

इस प्रकार संस्कृत कवियों ने सच्चे मित्र की श्रेष्ठता पर, मित्रता के महत्त्व पर और मित्र के व्यवहार पर अपने विचारों को सूक्ति रूप में अभिव्यक्त करते हुए जीवन के अनुभवों का सार प्रस्तुत किया है। इसलिए इनमें आदर्श के साथ-साथ व्यावहारिक पक्ष का भी ध्यान रखा गया है।

१२. शत्रु से व्यवहार

राजनीति के क्षेत्र में और उससे प्रभावित काव्य में राजा के लिए शत्रु के प्रति जिस व्यवहार और नीति का निर्देश है, उसमें से बहुत कुछ सामान्य जीवन में मनुष्य अपने विरोधियों और अन्य अवांछनीय तत्त्वों के प्रति प्रयुक्त कर सकता है। अतः सूक्तियों में प्रयुक्त 'शत्रु' शब्द को (कभी-कभी सीमित अर्थ में होने पर भी) इसी व्यापक भाव-भूमि से सम्बद्ध मानकर यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

शत्रु को यथाशीघ्र समूल नष्ट कर देना और न पनपने देना ही उचित है क्योंकि उसके बिना पूर्ण निश्चिन्तता नहीं आ सकती। माघ मानते हैं कि—'मानी लोग शत्रु को समूल नष्ट किये बिना उदित नहीं होते। घोर अन्धकार को नष्ट करने वाला सूर्य इस विषय में उदाहरण है।'[२७२]

यह समझना भूल है कि शत्रु या बुराई को बदला जा सकता है। शूद्रक कहते हैं—**दुष्करं विषमौषधीकर्तुम्**[२७३]—'विष को औषधि बनाना कठिन कार्य है।' अर्थात् अन-चाही बात को परिवर्तित करना सरल नहीं। इस तथ्य से सुपरिचित होने पर भी शत्रुओं को भारतीयों ने अनेक बार क्षमादान करके ऐतिहासिक हानियां उठाई हैं। उनके इस क्षमाशील व्यवहार के पीछे सम्भवतः ऐसी कोई उदात्त भावना कार्य कर रही है—

> **शत्रुः कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतितः।**
> **शस्त्रेण न हन्तव्यः, उपकारहतस्तु कर्त्तव्यः॥**[२७४]

—अपराधी शत्रु शरण में आकर यदि पैरों में गिर पड़े तो उसे शस्त्र से नहीं उपकार से मारना चाहिए।' ऐसा मानवीय भाव व्यवहार-नीति को दुर्बल करता है।

विशाखदत्त बताते हैं कि प्रत्येक शत्रु को ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि नीति यही है—**न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम्**[२७५]—'साधारण शत्रु को भी कम जानना ठीक नहीं।' साथ ही, दूसरी ओर, बाण के अनुसार—**हरिणार्थमतिह्रेपणः सिंह-संभारः**[२७६]—'एक हिरण के लिए सिंहों का झुण्ड लज्जाजनक है।' अतः शत्रु की शक्ति

के अनुसार तैयारी अपेक्षित है, पर जो भी हो, कभी भी उपेक्षा करके शत्रु को और बुराई को पनपने नहीं देना चाहिए, क्योंकि—'रोग जैसा व्यवहार करने वाले छोटे से भी शत्रु की वृद्धि महान् अपकार के लिए होती है।'[२७७] इसके अतिरिक्त 'शत्रुता करके सक्रुद्ध शत्रु के प्रति जो उदासीन होता है, वह कोख में आग रखकर वायु की ओर अभिमुख होकर नींद लेता है।'[२७८] यह भी सच है कि शत्रु से संघर्ष में विजय अनिश्चित होती है। वहुतों को जीत लेने वाला भी कभी किसी से हार ही सकता है। दृष्टान्त के लिए—'तम के नाशक दिनपति को भी राहु नाम का अन्धकार ग्रस लेता है।'[२७९] अतः शत्रु के प्रति हर सावधानी आवश्यक है।

भारवि मानते हैं कि शत्रु के क्षय से बढ़कर और कोई लाभ नहीं—**परमं लाभमरातिभङ्गमाहुः**[२८०]। शत्रुनाश से ही यश[२८१], जयलाभ[२८२] आदि को प्राप्य मानते हुए उन्होंने शत्रुओं को छोड़ देने वाले का जीवन व्यर्थ[२८३] वताया है।

शत्रु और बुराई का साथ देने वाले भी शत्रु और बुरे होते हैं। प्रकृति का यह व्यवहार देख कर कि—'अन्धकार का नाश करने के लिए उगे हुए सूर्य ने इस दर्शनीय (सुन्दर) तारागण को भी छुपा दिया है'—माघ यह निष्कर्ष निकालते हैं—'शत्रु को निर्मूल करने की इच्छा वाले के लिए वे भी हन्तव्य-पक्ष में आते हैं जो शत्रु के सहारे समृद्ध हुए हों'[२८४]। इस नीति का उपयोग साधारण लोगों की अपेक्षा राजा (व नेता) आदि महनीय (व राजनीतिक) व्यक्तियों के लिए ही कुछ अधिक सार्थक हो सकता है।

इसी प्रकार विपक्ष से संघर्ष में आपसी संगठन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, चाहे प्रश्न युद्ध का हो या वाद-विवाद का[२८५]। भारवि के शब्दों में—**वलवदपि बलं मिथोविरोधि प्रभवत न विपक्ष-निर्जयाय**[२८६]—'वलवान सेना भी परस्पर विरोध होने पर शत्रु को जीतने में समर्थ नहीं होती।' आपसी फूट शत्रु को ही लाभ पहुंचाती है। इस व्यावहारिक नीति और राजनीतिपरक तथ्य से एक राष्ट्र के नागरिक एकता का महत्त्व पहचान सकते हैं।

१३. स्वामी-सेवक

इस विषय से सम्वद्ध अधिकांश सूक्तियां सेवक का व्यवहार एवं उसमें अपेक्षित गुणों का उल्लेख करती हैं और वे कवियों के सामन्ती दृष्टिकोण की ही परिचायक हैं। वहुत थोड़ी सूक्तियां स्वामी के व्यवहार का निदर्शन भी करती हैं, एवं शेष सेवा के जीवन की कठिनाइयां वताती हैं।

(क) सेवक के अपेक्षित गुण—स्वामी-सेवक-सम्वन्ध पर अपने विचारों को अनेक रूप से प्रकट करने वाले कवि विशाखदत्त ने सेवक से तीन गुणों की अपेक्षा की है—प्रज्ञा, विक्रम एवं भक्ति—

> **अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद् भक्तियुक्तेन कः ?**
> **प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात् फलम् ?**

प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये,
ते भृत्यार्नृ पतेः कलत्रमितरे सम्पत्सु चापत्सु च ॥[२८७]

—'अप्राज्ञ और कायर यदि भक्तिमान् हो तो क्या लाभ ? प्राज्ञ और विक्रमी भी हो तो भी भक्ति-हीन से क्या लाभ ? प्रज्ञा, विक्रम और भक्ति ये तीनों कल्याणकारी गुण जिनमें एकत्रित हों वे राजा की (सम्पत्ति और विपत्ति में) सच्चे 'भृत्य' हैं अन्य का तो पत्नी की तरह भरण-पोषण ही करना पड़ता है।' वे (विशाखदत्त) मानते हैं कि हर प्रकार की परिस्थिति में साथ देना ही भक्ति है, तथा ऐसे भक्तिमान् दुर्लभ हैं।'[२८८] 'भृत्य भी वस्तुतः वे ही हैं जो सम्पत्ति से भी अधिक विपत्ति में विशेष रूप से सेवा करते हैं'[२८९] इसके साथ भक्ति की महत्ता और सेवक की क्षमता पर इसके प्रभाव को वाण ने भी स्वीकार किया है—**न किञ्चिन्न कारयत्यसाधारणा स्वामिभक्तिः ?**[२९०]—'असाधारण स्वामिभक्ति क्या नहीं करा देती ?'

कुलीन योद्धा हाथियों का व्यवहार करते हुए माघ निष्कर्ष देते हैं—(**कर्मोदारं कीर्त्तये कर्त्तुकामान्) किं वा जात्याः स्वामिनो ह्रेपयन्ति ?**[२९१]—'(कीर्ति के लिए महान् कार्य करने वाले) स्वामियों को क्या कुलीन सेवक लज्जित करते हैं ?' सेवक से तो यही अपेक्षा की जाती है कि वह स्वामी के यश को ही प्रशस्त करे।

(ख) सेवक का व्यवहार और उसकी विशेषताएं—भास ने कहा है—**सुलभापराधः परिजनो नामः**[२९२]—'परिजनों से अपराध सरलता से हो जाता है।' इसका स्पष्टीकरण मिलता है कालिदास में—**सेव्यो जनश्च कुपितः कथं नु दासो निरपराधः**[२९३] ? —'यदि स्वामी क्रुद्ध है तो दास निरपराध कैसे हो सकता है ?' अर्थात् चाहे सेवक अपराधी है या नहीं, परन्तु क्योंकि स्वामी उससे संतुष्ट नहीं है अतः उसे अपराध मान ही लेना चाहिए। भास के 'सुलभापराधः' से भी यही तात्पर्य प्रतीत होता है कि सेवक को अपराध करने का या अपराधी सिद्ध होने का भय प्रायः वना रहता है। वह नहीं जानता कि स्वामी कव असन्तुष्ट हो जाए। इस भय से उसके अधिक घवराया हुआ होने के कारण ही अपराध कुछ वढ़ जाएं या सरलता से हो जाएं तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

यथा-कथंचित् स्वामी को प्रसन्न रखना ही सेवक का मुख्य लक्ष्य रहता है। स्वामी की सन्तुष्टि और कृपा में ही उसकी प्रसन्नता और सुख जो ठहरा ! अतः—**प्रभुप्रसादो हि मुदे न कस्य**[२९४] ?—'स्वामी की प्रसन्नता किस के आनन्द के लिए नहीं होती ?' वाण भी वताते हैं—**उपजनयति हि प्रभुप्रसादलवोऽपि प्रागल्भ्यमधीरप्रकृतेः**[२९५]—'स्वामी के प्रसाद का कण भी अधीर प्रकृति वाले सेवक को प्रगल्भ कर देता है।' इसीलिए स्वामी को प्रसन्न करने के लिए सेवक क्या कुछ नहीं करता ? वह तो भक्त के समान अपनी मधुर स्तुतिपरक वाणी से स्वामी को प्रसन्न करता है।[२९६] इसके अतिरिक्त उसके द्वारा प्रदत्त कार्य को ही सेवक उसकी कृपा मानता है—**विनियोगप्रसादा हि किंकराः प्रभविष्णुषु**।[२९७]—'स्वामियों द्वारा किसी कार्य में नियुक्ति पाना ही सेवकों का प्रसाद (पारितोषिक) है।'

कार्य में नियुक्त होकर एवं उसमें सफलता पाकर भी सेवक यह नहीं कह सकता कि इसमें उसके श्रम का फल है। अपनी सफलता में इन्द्र की ही महिमा मानते हुए राजा दुष्यन्त मातलि से कहते हैं—

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।
किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्?[२६८]

—'यह गुण स्वामियों द्वारा प्रदत्त सम्मान[२६६] का ही है कि जो नियुक्त जन महान् कार्यों में सफल हो जाते हैं।' 'क्या अरुण कभी तमनाशक हो सकता था यदि सहस्रकिरणों वाला सूर्य उसे अपने आगे न रखता ?' इस प्रकार स्वामी की महत्ता की स्वीकृति उसे प्रसन्न करने के लिए भी हो सकती है। परन्तु इतना सत्य अवश्य है कि अधिकार-पद का 'आदर पाकर सेवक का (आत्मविश्वास-जन्य) तेज बढ़ जाता है।'—**सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः।**[३००]

जिस प्रकार अपराध-वास्तविक या कल्पित-के विचार से सेवक भय खाता है वैसे ही स्वामी की सम्भावनाओं, आशाओं या सम्मान को पूरा न करने वाला उसके सम्मुख आने से भय खाता है—**संभावनामधरीकृतायां पत्युः पुरः साहसमासितव्यम्।**[३०१] —'स्वामी की सम्मानित आशाओं को नीचे गिरा कर उसके सामने ठहरना दुस्साहस ही है।' इसी प्रकार 'स्वामी की रक्षणीय वस्तु की रक्षा न कर सकने पर भी उसके सामने स्वस्थ रूप में आना सेवक के वश की बात नहीं—**स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन**[३०२]।

इस प्रकार यथासम्भव सेवक स्वामी को सन्तुष्ट रखने के प्रयत्न में लगा हुआ उसके मन के पीछे-पीछे चलता है—**भर्तृचित्तानुवर्त्तिन्यश्चानुजीविनां प्रकृतयः।**[३०३] —**प्रभुचित्तमेव हि जनोऽनुवर्त्तते।**[३०४]—'स्वामी के चित्त का अनुगमन करने वाली सेवकों की प्रकृति होती है।' '(सेवक) लोग स्वामी के चित्त का ही अनुसरण करते हैं।' वस्तुतः सदा स्वामी का मुखापेक्षी सेवक स्वामी से अत्यन्त नम्रतापूर्वक और अवसर का ध्यान रखकर अपने प्रयोजन की बात कहता है और तब—**कालप्रयुक्ता: खलु कार्यविद्भिर विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति।**[३०५]—'कार्यज्ञ सेवकों द्वारा स्वामियों से समय पर की हुई प्रार्थना सफल होती है।' वैसे भी अवसर पर व्यवहार करना नीति का अंग है[३०६] पर स्वामियों के साथ व्यवहार करते हुए इसका ध्यान रखना आवश्यक होता है।

योग्य सेवक स्वामी से अपेक्षा रखता है कि उसके परामर्श या कथन पर यथोचित ध्यान दिया जाएगा। अन्यथा वह दुःखी होता है—**निर्वेद एव खल्वनुक्तग्राहिणं स्वामिनमुपाश्रितस्य भृत्यजनस्य।**[३०७]—'कहे हुए वचन को न मानने वाले स्वामी का आश्रय लेने वाले सेवक को तो दुःख ही है।'

सेवक से अपेक्षा की जाती है कि उसमें भक्ति आदि गुण हों, वह मुसीबत में भी न छोड़े।[३०८] परन्तु यह आशा सदा पूरी नहीं होती—

प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलित-विभवं स्वामिनं सेवमानाः[३०९]

—'प्रायः हीन-वैभव वाले स्वामी को उसके सेवक सेवा करते-करते छोड़ जाते हैं।' व्यावहारिक दृष्टि से जब स्वामी उनके पालन के योग्य नहीं रहता तो सेवकों द्वारा छोड़ जाना सामन्ती दृष्टि से अनैतिक (या अनुदात्त) चाहे हो परन्तु निराधार या अव्यावहारिक नहीं है। ऐसे सेवक जो स्वामी की विपत्ति में भी साथ निभाएं विरले ही हो सकते हैं। उनके विषय में बाण कहते हैं—**दुर्लभा सद्भृत्याः**।[३१०]—'सुसेवक दुर्लभ हैं।' वस्तुतः सद्भृत्य तभी हो सकते हैं जब उन्हें आदर्श स्वामी मिलें।

(ग) स्वामी का व्यवहार, विशेषताएं और उससे अपेक्षाएं—कालिदास ने बताया है कि स्वामी अपने कार्य के अनुसार सेवक को गौरव प्रदान करते हैं, एवं सेवक की शक्ति के अनुसार उसे कार्य सौंपते हैं—**प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु**।[३११]—'प्रयोजन की अपेक्षा के अनुसार स्वामियों का आदर प्रायः सेवकों में बदलता रहता है।' तथा—**व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनाय शेषः**।[३१२] —'भूमि को धारण करने की शेषनाग की क्षमता देखकर ही श्री विष्णु भगवान् उसे अपने शरीर वहन का आदेश देते हैं।'

कालिदास ने स्वामी का सेवक पर पूर्ण अधिकार माना है—**प्रभवति प्रभुरात्मनः परिजनस्य**।[३१३]—'स्वामी अपने सेवक पर पूर्ण अधिकार रखता है।' साथ ही वह सेवकों का आश्रय होता है जिसकी आश्रय-शक्ति के बिना सेवकों में स्थायित्व नहीं आता। शूद्रक के शब्दों में—**वासपादपविसंष्ठुलतया पक्षिण इतस्ततोऽप्याहिण्डन्ते**।[३१४]—'रहने के वृक्ष की अस्थिरता के कारण पक्षी इधर-उधर ही भटकते हैं।'

स्वामी से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने सेवक से कृपापूर्वक व्यवहार करे—

> **सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्धनकोऽपि शोभते।**
> **पिशुनः पुनर्द्रव्यगर्वितो दुष्करः खलु परिणामदारुणः॥**[३१५]

'भृत्य पर दया करने वाला निर्धन स्वामी भी सुजन हो तो अच्छा। परन्तु द्रव्य से गर्वित कमीना (नीच पिशुन) और अन्त में दुःख देने वाला कष्ट से सेव्य है।'

यह आदर्श होने पर भी व्यवहार में प्रत्येक स्वामी अपने अधिकार-भाव को नहीं रोक पाता और कठोरतापूर्वक वरतता है। सम्भवतः इसीलिए सेवा को कष्टकारी माना गया है।

(घ) सेवावृत्ति के कष्ट—सेवावृत्ति को किसी ने भी दुःखदायिनी के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना। आजीविका के रूप में सदा इसे 'अधम वृत्ति' के ही रूप में देखा गया है। इसका सबसे बड़ा कारण है—इसमें पराधीनता की अनुभूति। इसलिए भास और शूद्रक कहते हैं—**स्वाधीना वचनीयताऽपि तु (हि) वरं, बद्धो न सेवाञ्जलिः**।[३१६] —'स्वाधीनता में निन्दा भी भली है, पर बंधी हुई सेवांजलि (प्रशंसनीय होने पर भी) अच्छी नहीं।' अन्य सूक्तियों में बताया गया है कि सेवा में अपनी इच्छानुसार प्रिय कार्य नहीं किया जा सकता, यह निरादर का स्थान है, सज्जन भी इससे डरते हैं और कोई भी इसका पार नहीं पा सका—**न हि सुलभ-वियोगा कर्त्तुमात्मप्रियाणि प्रभवति**

परवत्ता।[३१७]—'पराधीनता, जिसमें वियोग सुलभ है, अपने प्रिय कार्य करने का कोई सामर्थ्य या अधिकार नहीं रखती।' **कष्टं खलु सेवा**[३१८]—'भृत्यता कष्टकारिणी है।' —**सेवां लाघवकारिणीं कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः**[३१९]—'निकृष्ट बनाने वाली सेवा को विद्वानों ने उचित ही 'कुत्ते की वृत्ति'[३२०] कहा है।' **कष्टा च सेवा, विषमं च भृत्यत्वम्**[३२१]—'सेवा करना कष्टकर है और सेवक होना अत्यन्त विषम।'—**सेवा-भीरवो हि सन्तः**[३२२]—'सज्जन सेवा से डरते हैं।' **कष्टं खलु भृत्यभावः**[३२३]।—'सेवा कष्टदायिनी है।' **सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः**[३२४]—'सेवा धर्म अत्यन्त गम्भीर है, और योगियों के लिए भी अगम्य है।'

१४. शिष्टाचार

शिष्टाचार में दो प्रकार का व्यवहार आता है एक तो वह जो बुद्धिमानों में प्रचलित हो, दूसरे वह जो अच्छा और आकर्षक हो[३२५]। दूसरे शब्दों में, यह ऐसे सदाचरण की ओर संकेत करता है जो केवल महनीयों की विशेषता न होकर भी साधारण जन का ऐसा सद्व्यवहार है जिसमें व्यावहारिकता से अधिक शिष्टता, सौजन्य और औदार्य का ध्यान रहता है। इसे व्यवहार की उदात्तता भी कहा जा सकता है। इसीलिए प्रिय-भाषण, सत्कार, आतिथ्य जैसे श्रेष्ठ व्यवहार इसके अंग हैं।

प्रियभाषण—मनु जैसे शास्त्रकारों के अनुसार भी पहले तो यही उचित है कि मीठे बोल बोले जाएं और कटुवचनों से बचा जाए, चाहे वे सच्चे हों[३२६]। किन्तु यदि कभी कड़वी बात कहनी (जैसे, किसी अप्रिय घटना की सूचना देनी) भी पड़ जाए तो संक्षेप से ही कहना उचित है—**न विस्तारार्हाणि विप्रियाणि**[३२७]—'अप्रिय बातें लम्बी नहीं करनी चाहिएं।' इसी प्रकार दूसरों की बुराई करने से बचना चाहिए। किसी बड़े व्यक्ति की बुराई स्वयं करना तो अशिष्ट व्यवहार है ही, सुनना भी दोषी बनाता है—**न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्**[३२८]—'न केवल वही जो बड़ों को बुरा कहता है, अपितु वह भी जो कि उसे सुनता है पाप का भागी है।' चाहे आध्यात्मिक दृष्टि से कोई पाप उसे लगे या न लगे या न लगे किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह भी निन्दादोषी अवश्य मान लिया जाता है। उस अनुचित निन्दा का मानसिक दृष्टि से भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ सकता।

सत्कार—सामान्यतः सभी से सत्कारपूर्ण व्यवहार करना उचित समझा जाता है। अधिकतर व्यक्ति व्यवहार में तो सत्कार का प्रयोग कर लेते हैं किन्तु सत्कार के प्रत्युत्तर में उचित व्यवहार करना उन्हें नहीं आता। ऐसे व्यक्तियों के लिए भास की यह सूक्ति मार्गदर्शन कर सकती है—**सत्कारो हि नाम सत्कारेण प्रतीष्टः प्रीतिमुत्पा-दयति**[३२९]—'सत्कारपूर्वक स्वीकार किया हुआ सत्कार ही प्रसन्नता उत्पन्न करता है।' ऐसा प्रतीत होता है कि किसी से सत्कार पाकर कुछ लोग नम्रता से प्रत्युत्तर देने की अपेक्षा अहंकार में पड़ जाते हैं, और सोचने लगते हैं कि दूसरा किसी स्वार्थवश ही उनका आदर कर रहा है। निश्चय ही दूसरे द्वारा सत्कार मिलने से व्यक्ति का मान

औरों की दृष्टि में बढ़ जाता है, जैसा कि बाण कहते हैं—'उदार जन के द्वारा किया गया आदर अवश्य ही बहुत मान बढ़ा देता है'[330], किन्तु इससे अभिमान बढ़ाना शिष्टाचार नहीं कहला सकता। इसलिए वस्तुतः, सत्कार करने की अपेक्षा, किए हुए सत्कार को पहचानकर प्रत्युत्तर देना कठिन है। तभी तो, गुणज्ञों के समान ही सत्कारज्ञ भी बहुत दुर्लभ हैं।[331]

शूद्रक बताते हैं कि सज्जन का व्यवहार सबके साथ सत्कारपूर्ण होता है, वह धन से प्रभावित नहीं होता और सत्कारज्ञ भी होता है—

'सत्कारधनः खलु सज्जनः', 'कस्य न भवति चलाचलं धनम् ?'
'यः पूजयितुमपि जानाति, स पूजाविशेषमपि जानाति।'[332]

—'सज्जन का धन तो सत्कार (दूसरों के लिए सत्कारपूर्ण होना, अर्थात् तज्जन्य-लोक-प्रतिष्ठा[333]) है।' 'चंचल धन किसके पास नहीं होता।' (या किसका धन चंचल नहीं होता है ?) 'जो पूजा करना जानता है वह दूसरों द्वारा दी हुई पूजा को भी समझ सकता है।' इस सूक्ति के उत्तरार्द्ध में भी सत्कार के प्रत्युत्तर का महत्त्व दर्शाया गया है।

पीछे देखा जा चुका है कि लौकिक व्यवहार में धन के अनुसार लोग अच्छा या बुरा व्यवहार करते हैं।[334] किन्तु ऊपर की सूक्ति में सद्व्यवहारार्थ धन को अनपेक्षणीय माना गया है। यह विरोध इसलिए है कि लोक-व्यवहार सदा सद्व्यवहार नहीं होता। शिष्टाचार की दृष्टि से यही उपयुक्त भी है कि विपत्तिग्रस्त व्यक्ति से भी अच्छा व्यवहार किया जाए। शूद्रक सावधान करते हैं—'दुरवस्था में होने से (किसी का) तिरस्कार नहीं करना चाहिए।' 'यमराज की पहुंच से बाहर कोई नहीं है।' 'और चरित्रहीन धनी भी वस्तुतः दुरवस्था में ही पड़ा है।'[335] निर्धनता के कारण किसी से दुर्व्यवहार करना शिष्टाचार नहीं है। इसी का निर्देश कवि ने काकु द्वारा भी किया है—राहुगृहीतोऽपि चन्द्रो न वन्दनीयो जनपदस्य ?[336]—'क्या राहुग्रस्त चन्द्रमा लोगों द्वारा वन्दनीय नहीं होता ?' अतः कोई भला आदमी केवल विपत्तिग्रस्त होने के कारण तिरस्करणीय नहीं हो जाता।

आतिथ्य—भारत सदा से (अतिथि-)सत्कार का धनी रहा है। जो भी घर पर आ जाए वही अतिथि और इसलिए पूज्य भी हो जाता है। भास के अनुसार—'घर आए हुए, (या आसन्न भविष्य में होने वाली प्रीति के कारण आए हुए) व्यक्ति का आदर-सत्कारपूर्वक स्वागत करना ही उचित है।'[337] सबसे पहला अतिथि-सत्कार मीठे वचनों से होता है—वाचानुवृत्तिः खल्वतिथिसत्कारः[338]—'मीठी वाणी से अनुकूल व्यवहार करना ही वस्तुतः अतिथि-सत्कार है।' हर्षदेव तो अतिथि को सबसे बड़ा मानते हैं—ननु सर्वस्याभ्यागतोगुरुः[339]—'अतिथि तो सभी का गुरु (पूज्य) है।'

अच्छे व्यक्ति का घर आना सौभाग्यशीलता का चिह्न और सुकर्मों का परिणाम माना गया है—गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः[340]—'पुण्य न करने वालों के घरों में मनीषि लोग प्रेम से (स्वतः) नहीं आना चाहते।' तथा यह जानते हुए ही—ग्रहीतुमार्यान् परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः[341]—'महा-

पुरुष (गौरवशाली जन) श्रेष्ठ जनों को सेवा-सत्कार द्वारा पुनः-पुनः आराधित करने की अत्यन्त इच्छा रखते हैं।'

औपचारिकताएं—इस प्रकार के सामान्य शिष्टाचार के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट प्रकार का आचार भी किसी समय स्थान-विशेष पर प्रचलित हो जाया करता है। नगर-प्रवेश और स्नेही-जन से व्यवहार में अपेक्षित शिष्टता इसी प्रकार विशिष्ट है।

नगर में प्रविष्ट होते समय पहले क्या करना चाहिए, इस का कुछ संकेत भास ने किया है—**उपोपविश्य प्रवेष्टव्यानि नगराणीति सत्समुदाचारः**[३४२]।—'श्रेष्ठ जनों का आचार यह है कि नगरों के निकट कुछ रुक-रुककर प्रवेश किया जाता है।' प्रतीत होता है कि इस व्यवहार का प्रारम्भ नगर के समाचारादि जानने की इच्छा के कारण हुआ होगा। इस प्रसंग में भी भरत के रुकने पर उन्हें वहीं नगर-देवताओं से मन्दिर में अपने पिता की मृत्यु का समाचार अवगत हो गया। प्राचीन समय में कहीं की ताज़ी घटनाएं पहले से ही जानने का और उपाय भी क्या हो सकता होगा?

व्यावहारिक औपचारिकताएं अपने प्रिय व्यक्ति के लिए भी बन जाती हैं। कालिदास के समय यह परिपाटी थी कि—**ओदकान्तात् स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः**[३४३]।—'किसी स्नेही-जन को छोड़ने जाएं तो जल के किनारे तक छोड़ना चाहिए।' जनपद के आसपास नदी आदि होने के कारण इस रीति को जन्म मिला होगा।[३४४]

इसी प्रकार स्नेही-जन के किसी दुःख में सम्मिलित होने पर दुःखी होना उस पर प्रेम प्रकट करता है। परन्तु व्यावहारिकता में फंसे व्यक्ति किसी से वास्तविक स्नेह नहीं करते। अतः बाण मानते हैं कि किसी के दुःख में रोना प्रायः दिखावे के लिए होता है।[३४५]

किसी के स्वागत में जो औपचारिकता वरती जाती है उसका एक लाभ यह है कि—**अणुरप्युपचारपरिग्रहः प्रणयमारोपयति**[३४६]—'उपचार की थोड़ी सी भी स्वीकृति स्नेह बढ़ा देती है।' किन्तु इसका उपयोग प्रारम्भ में ही है, स्नेह बढ़ जाने पर तो—**चक्षुष्प्रमाणप्रसादस्वीकृतस्य च परकरणमिवासनादिदानोपचारचेष्टितम्**[३४७]—'आंखों तक आई प्रसन्नता से जिसे स्वीकृत किया (अपनाया) गया है ऐसे (स्नेही जन) के लिए आसनादि दान की औपचारिकता भी पराया मानने के समान है।' स्नेह होने पर अथवा कभी-कभी अपने स्वभाववश कई लोग औपचारिकता पसन्द नहीं करते। विशाखदत्त के अनुसार भी अनावश्यक शिष्टाचार दुखी करता है[३४८]। अतः औपचारिकता (तक़ल्लुफ़ दिखाने) से पहले व्यक्ति की भावना जानना भी उचित है

इन शिष्टाचार-परक सूक्तियों में व्यावहारिक औचित्य के साथ-साथ मानवीय दृष्टि और उदात्त-भावना के भी दर्शन किए जा सकते हैं।

१५. व्यवहार में औचित्य

(क) यथायोग्य व्यवहार—व्यक्ति वस्तु व परिस्थिति-विशेष के अनुसार व्यवहार में परिवर्तनकरना सफलता के लिए नितान्त अपेक्षणीय है। उदाहरणार्थ, निकृष्ट या

घृणित व्यक्ति या वस्तु सम्मान का पात्र नहीं हो सकते। कालिदास के शब्दों में—**अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया**[३४६]—'यज्ञादि में वैदिक विधि-पूर्वक श्मशान के शूल (सूली) की यूप (यज्ञ-स्तम्भ) जैसी सत्क्रिया सज्जन से अपेक्षित नहीं।' दूसरी ओर, श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति श्रेष्ठ व्यवहार ही उचित है। बाण के शब्दों में—**नभःस्थलमेवोचितं सुधास्नुतो धाम्नो न धरा**[३५०]—'चन्द्र मण्डल के लिए नभ-स्थल ही उचित है धरा नहीं।' इस प्रकार प्रत्येक को उसके सदृश ही आदर देना चाहिए, अन्यथा—**प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः**[३५१]—'पूजनीय की पूजा का उल्लंघन हित का बाधक होता है।'

व्यावहारिक दृष्टि से आदर-सत्कार में औचित्य के साथ साथ व्यक्ति के स्वभाव का भी ध्यान रखना आवश्यक है। यदि कोई धूर्त या दुष्ट है तो उससे वैसा ही व्यवहार करना उचित है।[३५२] भारवि के अनुसार भी—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः।[३५३]

—'वे मूर्ख जो कपटियों से कपटी नहीं बनते तिरस्कार पाते हैं।' 'इस प्रकार खुले अंगवालों में (मन्त्रांगों को न छुपाने वाले स्पष्ट-हृदयवालों में) शठ तेज बाण के समान प्रवेश पाकर (अन्तर्भेद जानकर) मार डालते हैं।' 'जो व्यक्ति जैसा हो उससे वैसा ही व्यवहार करो'[३५४]—यह नीति अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के व्यक्तियों पर लागू होती है।

यथायोग्य व्यवहार इसलिए भी आवश्यक है कि दूसरे से जैसा व्यवहार हम करते हैं उससे अधिक अच्छे व्यवहार की आशा अपने लिए करना व्यर्थ है। भारवि के शब्दों में—**यदि नेष्टात्मनः पीडा मा सञ्जि भवता जने।**[३५५]—'यदि स्वयं को पीड़ा अनभिलषित है तो दूसरों के उत्पीड़नार्थ भी उद्यत मत होवो।'

वस्तु के यथोचित उपयोग पर भी कुछ सूक्तियां मिलती हैं। अच्छी वस्तु के दुरुपयोग से कष्ट ही होता है[३५६] और माघ के अनुसार—**विषतां निषेवितमपक्रियया समुपैति सर्वमिति सत्यमदः**[३५७]—'अनुचित या विपरीत प्रयोग से सेवित सभी कुछ विषत्व को प्राप्त हो जाता है, यह सच है।' इसी प्रकार सीमा से अधिक उपयोग भी कष्टकर होता है—**मधुरमपि बहुखादितमजीर्णं भवति**[३५८]—'मीठा भी अधिक खाने पर अजीर्ण करता है।' जहां औचित्य का अतिक्रमण हुआ, वहीं सन्तुलन बिगड़ा। अति न होने पर कुछ सीमा तक तो शत्रु की छेड़छाड़ को भी सहा जा सकता है, किन्तु बार-बार अपराध के द्वारा अति करने वाले को कौन क्षमा करेगा?[३५९] सच है, हर वस्तु की अति बुरी होती है, यहां तक कि, सीमा से अधिक सम्मान की भी। अतः—**अत्यादरः शङ्कनीयः**[३६०]—'अति सम्मान शंका के योग्य होता है।'

अधिक समर्थ या योग्य व्यक्ति या वस्तु के रहते अयोग्य को उसका स्थान देना व्यवहारौचित्य का उल्लंघन है। कहा जाता है—**पत्तने विद्यमानेऽपि ग्रामे रत्न-परीक्षा?**[३६१]—'नगर के रहते गांव में रत्नों की परख?' अथवा—**अभिव्यक्तायां**

चन्द्रिकायां किं दीपिकापौनरुक्त्येन ?[362]—'चांदनी छिटकी हो तो दीपक (के प्रकाश) द्वारा पुनरुक्ति (duplication) क्यों ?' किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कम समर्थ का कोई उपयोग नहीं। वस्तुतः हर वस्तु का समय-विशेष पर अपना महत्त्व है। दृष्टान्त के लिए—**उच्छेत्तुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः**[363]—'जिस रात्र्यन्धकार को सूर्य नहीं हटा सकता उसे चन्द्रमा हटा देता है।'

अवस्था-विशेष से व्यवहार किस तरह प्रभावित होता है, यह माघ ने बतलाया है। (जो क्रोध से ही वश में आनेवाला हो उसके प्रति शान्ति-वचन व्यर्थ हो जाते हैं।) भला—**श्लेष्मामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ?**[364]—'पसीना लाने योग्य रोग में (रोगी को) पानी से कौन सींचता है ?' कम से कम बुद्धिमान ऐसा नहीं करता। बुद्धिमान तो वही है जो अवस्था देखकर अपने व्यवहार में शान्ति या क्रोध का, प्रेम या द्वेष का, सन्धि या आक्रमण का उपयोग करता है।

(ख) अवसर-ज्ञान—अवसर के औचित्य को देखकर अर्थात् देश-काल के अनुसार व्यवहार में परिवर्तन कर सकना व्यावहारिक नीति-निपुणता का द्योतक है। भास ने भी कहा है—**देशकालावस्थापेक्षितं खलु शौर्यं नयानुगामिनाम्**[365]—'नीतिपालक जनों का शौर्य देश-काल की स्थिति की अपेक्षा रखता है।' सूक्ष्म दृष्टिवालों की यही विशेषता है कि वे अवसर को पहचानकर शीघ्र ही कार्य करते हैं। भारवि के अनुसार—**न ह्रीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति**[366]—'चेष्टाएं जानने वाला अवसर नहीं चूकता।'

अवसर-भिन्नता के कारण ही—'प्रयोजन के अनुसार नीति कभी मित्रों को शत्रु और शत्रुओं को मित्र बना देती है'[367]। माघ भी अवसर के अनुसार क्षमा और पराक्रम[368] या तेज[369] को अपनाकर 'अवसर आने पर असाध्य क्रोध'[370] को उचित मानते हैं। क्रोध या आक्रमण का अवसर बताते हैं कालिदास—**जयो रन्ध्रप्रहारिणाम्**[371]—'छिद्र (दुर्बलता) पर आक्रमण करने वाले जीतते हैं।' दोषी को उसके दोष से पकड़ना चाहिए, उसी समय वह वश में आ सकता है।

बिना अवसर के किया गया हर कार्य व्यर्थ है। राजा के प्रति भी इस नीति का ध्यान रखना आवश्यक है—**ननु अवसरोपसर्पणीया राजानः**[372]—'राजाओं के पास अवसर देखकर जाना चाहिए।' अवसर-ज्ञान के साथ-साथ सही उपाय का प्रयोग भी अश्वघोष के अनुसार आवश्यक है, नहीं तो—**योगोऽप्यकाले ह्यनुपायतश्च भवत्यनर्थाय न तद्गुणाय**[373]—'असमय में और बिना सही उपाय के किया हुआ योगाभ्यास भी अनर्थ के लिए होता है, गुण के लिए नहीं।' इसके दृष्टान्तस्वरूप उन्होंने गाय से दूध दुहने के लिए या काष्ठ से अग्नि उत्पन्न करने के लिए अवसर और उपाय दोनों का प्रयोग आवश्यक बताया है।[374]

जब समय निकल जाता है, फिर लौट कर नहीं आता और साथ ही उस अवसर से संभाव्य मंगल भी लुप्त हो जाता है—**पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते**[375]—'पहले ठुकराया हुआ कल्याण दुःख से लौटता है।' अतः—**अनतिक्रमणीयानी श्रेयांसि**[376]—'कल्याण (के अवसर) उल्लंघनीय (त्याज्य) नहीं होते।'

अवसर आने पर ही प्राप्ति होती है—'कहीं (रात के) प्रारम्भ में ही स्फुट चन्द्र-तारों-वाली निशा अरुण को पाने में समर्थ हो सकती है ?'[३७७] इसी प्रकार अवसर पर प्रयुक्त वाणी का निश्चित फल होता है।[३७८] यह ठीक है परन्तु इसका ऐसा भाव कदापि नहीं है कि समय आने पर प्राप्ति स्वयं हो जाएगी, उसके साथ ही कार्यारम्भ समय पर हो जाना भी आवश्यक है। जो कार्य करना है उसे किए बिना अवसर पर भी कुछ नहीं हो सकता जैसे कि—**संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ?**[३७६]—'घर में आग लगने पर कूएं खोदने का उद्यम कैसा ?' माघ भी यही कहते हैं कि—'समय पर ही किया हुआ सब कुछ लाभकारी होता है।'[३८०]

कालिदास मानते हैं कि—'समय पर प्रारम्भ की हुई नीतियां ही फलयुक्त होती हैं।'[३८१] अतः—'अवश्य करणीय कार्यों में शीघ्रतापूर्वक कार्य करना सफलता के लिए होता है।'[३८२] बाण बताते हैं कि 'स्वभाव से ही वीर पुरुष शीघ्र कार्यारंभ या उन्नति सम्पन्न करने वाला होता है।'[३८३] यही उसकी सफलता का रहस्य है।

हर वस्तु अवसर पर ही अच्छी लगती है। जैसे कि—**मुखरताऽवसरे हि विराजते**[३८४]—'मुखरता उचित अवसर पर ही शोभा देती है।' इसी प्रकार कालिदास बताते हैं कि 'शिक्षा की पूर्ण प्राप्ति के बिना ही उसका प्रकाशन अच्छा नहीं लगता है।'[३८५] यहां तक कि सीमा का अतिक्रमण जो यथायोग्य व्यवहार में निषिद्ध है, अवसर आने पर, जैसे कि विपत्ति आने पर स्वीकार्य हैं। माघ के शब्दों में—**विपदि न दूषिताऽतिभूमिः।**[३८६]—'आपत्ति के समय मर्यादा का अतिक्रमण दूषित नहीं।' **आपत्तिकाले मर्यादा नास्ति,** यह लोकोक्ति भी इसी प्रकार अवसर की महत्ता को स्वीकारती है। अतः सभी कार्यों में अवसर के अनुसार परिवर्तन करना पड़ता है, क्योंकि समय बड़ा बलवान् है।

(ग) यथाशक्ति कार्य—व्यक्ति व्यवहार में विषय की योग्यता और व्यवहार का अवसर देखकर तो कार्य करता ही है। परन्तु अपनी शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार ही वह उसे कर सकता है। हीनशक्ति बड़ा कार्य नहीं कर सकता, ऐसा भास मानते हैं—**मेरुं न कम्पयति वायसपक्षपातः**[३८७]।—'कौवे के पंख का पतन मेरु पर्वत को नहीं कंपाता। अथवा—**उच्चतया प्राकारस्य अगतिः कुक्कुराणाम्।**[३८८]—'परकोटा ऊंचा होने के कारण कुत्तों की पहुंच नहीं हो सकती।' तात्पर्य यह है कि बड़े कार्य के लिए बड़ी शक्ति ही अपेक्षित है। कालिदास इसे ऐसे कहते हैं—

दावानल-प्लोषविपत्तिमन्यो महाम्बुदात् किं हरते वनानाम् ?[३८९]

—'क्या बड़े मेघ के अतिरिक्त कोई अन्य, वनों की दावाग्नि-दाह की विपत्ति हटा सकता है ?' भर्तृहरि के शब्दों में—**शफरीस्फुरितादब्धिः क्षुब्धो न खलु जायते।**[३९०] 'मछली के फड़कने से समुद्र में कभी क्षोभ नहीं हुआ करता।' हिन्दी लोकोक्ति में कहें तो 'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता।' इसलिए व्यक्ति को अपने बलाबल के अनुसार ही कार्य करना चाहिए। शूद्रक के अनुसार—'जो मनुष्य अपने बल को जान कर सन्तुलित भार ढोता है उसकी गिरावट नहीं होती और न वन में ही जाकर विपत्तिग्रस्त होता है।'[३९१]

अर्थात् शक्त्यनुसार कार्य करने वाला असहाय की स्थिति में नहीं पड़ा करता। वाण 'शक्तयनुसार' को स्पष्ट करते हैं—

सर्व एव हि जगति जन्मनो वयस आकृतेर्वा
सदृशमाचरन्न वचनीयतामेति[३६२]।

—'संसार में कोई भी अपने जन्म (कुलीनता), अवस्था और आकृति के अनुरूप आचरण करता हुआ निन्दनीय नहीं होता। माघ इसका समर्थन करते हैं—**सर्वः प्रियः खलु भवत्यनुरूपचेष्टः**[३६३]—'अपनी (जाति[३६४] आदि की) विशेषताओं के अनुसार चेष्टा करने वाला हर कोई अच्छा लगता है।' वाण यह भी मानते हैं कि—**विभवानुरूपास्तु प्रतिपत्तयः**।[३६५]—'प्राप्तियां अपनी सामर्थ्य के अनुरूप ही हुआ करती हैं।' और इसलिए माघ के अनुसार—**स्फुटमापदां पदमनात्मवेदिता**।[३६६]—'अपने आपको न जानना स्पष्ट ही आपत्तियों का स्थान है।' अर्थात् अपने सामर्थ्य को ठीक से न जानना व्यक्ति की वहुत बड़ी दुर्बलता है।

१६. विविध व्यवहार और नीति

जीवन का क्षेत्र वहुत विस्तृत और विविध है तथा इसमें अनेक प्रकार का व्यवहार देखने में आता है। उसे व्यक्त करने वाली और उसके प्रति नीति-निर्धारण करने वाली कतिपय सूक्तियां यहां एक स्थल पर इसलिए दी जा रही हैं कि उनमें वर्णित विषय-सामग्री की स्वल्पता पृथक्-पृथक् अनुच्छेदों की अपेक्षा नहीं रखती।

(क) **मात्स्यन्याय**—छोटे-वड़ों के सम्वन्धों पर सामान्यतया प्रकाश डालने वाली निम्न एक ही सूक्ति नेत्रोन्मीलन के लिए पर्याप्त है—**सर्वो महान् हेतुरणोर्वधाय**[३६७]—'सभी वड़े छोटे के विनाश के लिए होते हैं।' अश्वघोष की यह शाश्वत-तथ्य-प्रतिपादिका सूक्ति भारतीय साहित्य में वहुचर्चित 'मात्स्य-न्याय' का स्मरण कराती है। छोटी मछली वड़ी के भोजन का अंग बनती है, यह प्राकृतिक घटना इसी तथ्य की ओर संकेत करती है कि वड़ा छोटे के सहारे जीता है, परन्तु उसे नष्ट करके।

(ख) **स्वार्थ**—व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर ऐसा लगने लगता है कि इस संसार में अपना कहने को कोई नहीं। जो हैं वे भी किसी प्रयोजनवश ही स्नेह करते हैं। अश्वघोष वतलाते हैं—'पुत्र को कुल के लिए धारण किया जाता है। पोषण पाने की इच्छा से पिता की सेवा की जाती है। यह संसार मतलब से साथ लगता है, अतः—**नास्ति निष्कारणा स्वता**[३६८]—'अकारण अपनत्व नहीं हुआ करता।' यही कारण है कि—**स्नेहं कार्यान्तराल्लोकश्छिनत्ति च करोति च**।[३६९]—'कार्य के भेद से संसार स्नेह भंग कर देता है या जोड़ लेता है।' संसार में सभी का ऐसा व्यवहार देखकर माघ को कहना पड़ा—**सर्वः स्वार्थं समीहते**[४००]। 'सभी अपना कार्य (स्वार्थ) साधते हैं।'

(ग) **पथ-प्रदर्शन**—संसार में सभी पूर्णतः स्वार्थी होते हों ऐसी बात नहीं। कुछ हितैषी भी होते हैं, पर बहुत कम। शूद्रक का कथन है—**निशायां नष्टचन्द्रायां दुर्लभो मार्ग-**

दर्शकः[४०१]—'चांदरहित रात में राह दिखाने वाला कठिनता से मिलता है।' भाव यह कि अन्धेरा या दिग्भ्रम होने पर जिसकी बुद्धि पहले ही भ्रष्ट हो उसे सच्चा पथ-प्रदर्शक नहीं मिलता। या यह भी हो सकता है कि बुद्धि के अभाव में वह सत्यासत्य का विवेक नहीं कर पाता। अतः हितैषी और पथ-प्रदर्शक को भी नहीं पहचान पाता।

सच्चे मार्गदर्शक की पहचान यह है कि वह ऐसा मार्ग नहीं बताएगा जो अनुचित समझा जाता हो। देवराज इन्द्र ने अश्वमेघ का अश्व रोका तो रघु ने कहा—**पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम्**[४०२]—'वेद (ज्ञान) का मार्ग दिखाने वाले प्रभुतासम्पन्न लोग गन्दा मार्ग नहीं अपनाते।' अपितु ऐसा कार्य करते हैं जो स्वयं में एक दृष्टान्त हो और अनुकरणीय हो।

(घ) **बन्धन**—व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली हो किन्तु बन्दी बनने पर दुर्बलों जैसा व्यवहार करता है। इसीलिए वत्सराज के बन्दी हो जाने पर उसका मन्त्री यौगन्धरायण चिन्तित हो उठता है—**प्रणिपतति निरुद्धः सत्कृतो घर्षितो वा**[४०३]—'बन्दी का चाहे सत्कार किया जाय या प्रताड़ना, वह तो झुकता ही है।' बन्धन वैसे भी कष्टकर होते हैं, और कारागार में तो और भी अधिक। इसलिए स्वाधीनता-प्रिय व्यक्ति कभी बन्दी बनना नहीं चाहते—**वरं व्यावच्छतो मृत्युर्न गृहीतस्य बन्धने**[४०४]—'(मुक्ति के यत्न में) लड़ते-लड़ते मर जाना अच्छा है, बन्धन में पकड़ा जाना नहीं।' यह नीति और इसकी भावना बन्दी पर होने वाले उत्पीड़नों और कठोरताओं को भी बता रही हैं।

(ङ) **न्यास**—न्यायालयान्तर्गत वादविवाद का अंग होने पर भी 'न्यास' का जन्मसाधारण व्यवहार से ही हुआ होगा। कोई किसी कार्यवश दूर जाता हुआ किसी परिचित के पास धरोहर रख जाता है। इसे सुरक्षित लौटाना परम्पराया स्वतः-स्वीकृत सिद्धान्त है। यह व्यापार-कानून का भी एक भाग है और सर्व-सामान्य में भी खूब प्रचलित है। इसके विषय में भास मानते हैं—**सुखमन्यत् भवेत् सर्वं दुःखं न्यासस्य रक्षणम्**।[४०५]—और सब कुछ सरल है पर न्यास की रक्षा अत्यन्त दुःखावह है।' इस कठिनता के पीछे मानव-मन की दुर्बलता भी कारण है। चाहिए तो यह कि दूसरे की वस्तु की रक्षा अपनी वस्तु से भी अधिक सावधानीपूर्वक की जाय, परन्तु सम्भवतः होता यह है कि धरोहर की रक्षा करने के श्रम के फलस्वरूप व्यक्ति अधिकारपूर्वक न्यास का उपयोग करना चाहता है। यह व्यक्ति-व्यक्ति पर आधारित है कि वह अपने मन पर कितना संयम कर सकता है। इसीलिए चारुदत्त के घर पर स्वर्णाभूषण रखते हुए वसन्तसेना ने कहा—**पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते न पुनर्गेहेषु**।[४०६]—'धरोहर पुरुषों के पास रखी जाती है, घर की दृढ़ता आदि देखकर नहीं।' न्यास को लौटाते समय ध्यान रहे कि—**साक्षिमन्न्यासो निर्यातयितव्यः**[४०७]—'गवाह के सामने ही धरोहर लौटानी चाहिए।'

(च) **जन्मभूमि**—बाण की एक सूक्ति अपने स्थान के प्रति ममता की भावना पर प्रकाश डालती है—**सहजस्नेहपाशग्रन्थिबन्धनाश्च बान्धवभूता दुस्त्यजा जन्मभूमयः**[४०८]—'स्वाभाविक स्नेहपाश के बन्धन से युक्त और बान्धव जैसी लगने वाली जन्मभूमि को छोड़ना कठिन है। इस सूक्ति में अपने जन्म-स्थान के प्रति व्यक्ति का वह सहज लगाव

प्रदर्शित हुआ है, जिसके कारण वाह्य देशों की अनल्प सुख-सुविधा को छोड़कर भी व्यक्ति स्वदेश लौटने को वाध्य हो जाया करते हैं।

(छ) **लोकमत**—व्यक्ति यदि लोक में सम्मानपूर्ण जीवन बिताना चाहता है तो लोकमत का ध्यान रखना भी आवश्यक है। इसीलिए कहा गया है 'बद अच्छा बदनाम बुरा।' भास के शब्दों में—**वक्तव्यं परिहर्त्तव्यम्**।[४०९]—'निन्दनीयता को दूर रखो।' भवभूति का परामर्श भी यही है कि लोक को अपने विरुद्ध न होने दो—**सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं परम्**।[४१०]—'किसी भी कार्य द्वारा लोक को प्रसन्न करना सज्जनों के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।' लोक-व्यवहार के लिए तथा अच्छे नाम के लिए यह आवश्यक है। इसमें कष्ट तो अवश्य है पर फिर भी यह परिहार्य नहीं है—**कष्टं (कष्टो या क्लिष्टो) जनः किल जनेर (कुलजनैर्, या कुलधनैर्) अनुरञ्जनीयः**[४११]—'कष्ट है लोगों द्वारा जनता को प्रसन्न करना आवश्यक है।' पाठान्तर से दूसरा अर्थ यह बैठता है—'दुखी व्यक्ति कुलीनों द्वारा प्रसन्न करने योग्य है।' प्रसंग में पहला अर्थ अधिक उपयुक्त है। और सूक्ति के रूप में प्रथम व्यावहारिक भावना लिए है, दूसरा उदात्त भावना।

लोकमत की शक्ति दिखाने वाली दो सूक्तियां कालिदास व बाण ने कही हैं। दोनों का विचार यह है कि लोक द्वारा स्वीकृत मत अनुचित, अथवा, असत्य हो सकता है परन्तु उसकी सामर्थ्य के आगे झुकना पड़ता है—

छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः।[४१२]
मिथ्यापि तत्तथा यथा गृहीतं लोकेन विशेषतो गुरुणा।[४१३]

—'शुद्ध चन्द्रमा पर भी भूमि की छाया को[४१४] प्रजा उसके मैल के रूप में आरोपित कर देती है।'—'वह झूठ भी सच माना जाता है जिसे संसार विशेषकर बड़े वैसा मान लें।' इस प्रकार, लोकमत के विरुद्ध विद्रोह की नहीं समर्पण की ही भावना सूक्तियों में दिखाई देती है।

(ज) **गोपनीयता**—व्यक्ति की कुछ बातें गोपनीय हुआ करती हैं। सब के समक्ष उन्हें प्रकट करना मूर्खता ही होती है। अपने दोषों के विषय में यह पूर्णतः सही है, अतः—**को नाम लोके स्वयमात्मदोषमुद्घाटयेनष्टघृणः सभासु?**[४१५]—'संसार में कौन निर्लज्ज भला सभाओं में स्वयं अपने दोष को उद्घाटित करेगा?' अपने दोष अवश्य गोपनीय होते हैं, परन्तु कुछ अवस्थाओं में व्यक्ति-विशेष के समक्ष परामर्श आदि की सहायता के लिए उन्हें कहना भी पड़ता है, जैसे— वैद्य के सामने रोग का कथन। अश्वघोष बताते हैं—**विनिगृह्य हि रोगमातुरो न चिरात्तीव्रमनर्थमृच्छति**[४१६]—'रोगी अपना रोग छुपा कर शीघ्र ही तीव्रतर अनर्थ पाता है।' अपने गुरुजन के सम्मुख अपनी नासमझी बताना भी ऐसा ही एक प्रकाशनीय दोष हो सकता है।

(झ) **मृदुता और माधुर्य**—मृदु स्वभाव वाले व्यवहार में हानि और लाभ दोनों से ही संयुक्त होते हैं, इसे माघ ने दोनों पक्ष प्रस्तुत करके दर्शाया है। कभी मृदुता के कारण हानि उठानी पड़ती है। दृष्टान्त के लिए—

तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम् ।
अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः ।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः ।[४१७]

—'समान अपराध होने पर भी सूर्य को देर से और चन्द्रमा को जल्दी जल्दी जो राहु-ग्रसता है, वह स्पष्ट ही मृदुता का फल है।' 'मृग को गोदी में चढ़ाने वाला चन्द्रमा तो 'मृगलाञ्छन' कहाता है और मृगों को मारने वाला निष्ठुर सिंह 'मृगाधिप।' सचमुच बड़े अकाट्य उदाहरण हैं। परन्तु इससे विपरीत उदाहरण भी दिया गया है—

प्रदीपः स्नेहमादत्ते दशयाऽभ्यन्तरस्थया ।[४१८]—'अन्तः-प्रविष्ट वर्त्तिका से दीपक तेल ले लेता है।' अर्थात् मृदुता से किसी के भीतर पैठकर उससे यथेष्ट लाभ उठाया जा सकता है। इन दोनों विरोधी तर्कों का समन्वय इस नीति में प्रतीत होता है है कि मृदुता के साथ ओज गुण को मिलाकर चले। अथवा जैसा अवसर हो वैसा व्यवहार करे।

यदि मृदुता के स्थान पर माधुर्य गुण को अपनाया जाय तो अपमान की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है। और प्रयोजन भी सिद्ध हो सकता है। कालिदास व बाण मानते हैं—

सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम्[४१९] ।
सज्जनमाधुर्याणामभृतदास्यो दशदिशः ।[४२०]

—'भीत हिरणों से भी एक बार कही मीठी वाणी उन्हें वश में कर लेती है।' 'दसों दिशाएं सज्जनता और मधुरता की अवैतनिक दासियां हैं।'

(ज) कार्य में साफल्य—कार्य करने में किसी ने कितना यत्न किया है इसे व्यावहारिक जगत् में कोई नहीं देखा करता। लोग तो परिणाम और उपलब्धियां देखा करते हैं। और इसलिए असफल व्यक्तियों से तिरस्कारपूर्ण व्यवहार किया जाता है—के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः[४२१]—'असफल कार्यारम्भ करने वाले कौन भला तिस्कार का स्थान नहीं बनते ?' दूसरी ओर—न तथा कृतवेदिनां करिष्यन् प्रियतामेति यथा कृतावदानः[४२२]—'करता हुआ या करने की इच्छा वाला कार्यज्ञों को इतना प्रिय नहीं होता जितना कि कृतकार्य।' कार्य को पूरा कर देने पर मानों उसकी शोभा भी कुछ बढ़ जाती है। 'अवदान' शब्द के दो अर्थ --'पूर्ण किया हुआ कार्य' और 'एक वीरतापूर्ण उज्जवल कार्य'[४२३] भी इसी भाव को ध्वनित करते हैं।

सफलता की आशा से ही लोग उन्नतिशील का साथ चाहते हैं—सर्वो हि नोपगतमप्यपचीयमानं, वर्धिष्णुमाश्रयमनागतमभ्युपैति[४२४]—'सभी वृद्धिशील आश्रय को ढूंढ़ते हैं, चाहे वह अभी प्राप्त न हो, प्राप्त किन्तु क्षीयमाण आश्रय को नहीं।'

सफलता का आधार भवभूति ने इन गुणों को माना है—

शास्त्रे प्रतिष्ठा, सहजश्च बोधः, प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्वमेते गुणाः कामदुघाः क्रियासु ।।[४२५]

—'शास्त्र में निष्ठा, स्वाभाविक ज्ञान, प्रगल्भता (प्रसाद आदि) गुणों में अभ्यस्त वाणी, अवसर का परिपालन, नई-नई प्रतिभाओं का उपयोग—ये गुण क्रियाओं में मनोरथ को पूरा करते हैं।'

(ट) नीति प्रशंसा—भारवि ने कुछ सूक्तियों में नीति की प्रशंसा की है। नीति से सफलता प्राप्त होती है, ऐसा वे मानते हैं—

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः, स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥[४२६]

—'शुद्ध शास्त्र-ज्ञान शरीर को सजाता है, प्रशान्ति उसका अलंकरण है। पराक्रम प्रशान्ति का आभरण है और नीति से प्राप्त सफलता पराक्रम का आभूषण।' इस बात को जानते हुए समर्थ और विजिगीषु लोग नीति के मार्ग को नहीं त्यागते—

नयवर्त्मगाः प्रभवतां हि धियः।[४२७]

चलति नयान्न जिगीषतां हि चेतः।[४२८]

(ठ) मिश्रित नीतियां और व्यवहार—कुछ सूक्तियों में व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करने वाली और अनेक विषयों से सम्बद्ध नीतियों का एक साथ उल्लेख हुआ है। उन्हें एक साथ देने का कारण उनमें विद्यमान कोई एक समानता ही रही है। यह ढंग अपनाने का एक प्रयोजन यह भी हो सकता है कि इससे सूक्ति की स्मरणीयता बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए भास की यह सूक्ति है—

एकः परगृहं गच्छेद् द्वितीयेन तु मन्त्रयेत्।
बहुभिः समरं कुर्याद् इत्ययं शास्त्रनिर्णयः।[४२९]

—'अकेला दूसरे के घर में जाए, (केवल) दूसरे से मन्त्रणा करे, (अनेकों से नहीं)। बहुतों के साथ युद्ध करे (जिससे यशस्विता प्राप्त हो)—यह शास्त्र का निर्णय है।' इसमें क्रमशः एक-दो और बहुतों के करणीय व्यवहारों का कथन है। इसी प्रकार बाण ने स्थान, पद, अवस्था, स्वभाव आदि की विशिष्टता के कारण कुछ प्राणियों में व्यवहार-विशेष की असंभाव्यता के आधार पर कुछ दुर्लभ समवायों का संकेत निम्न सूक्ति में किया है—

विभुरनभिमानः, द्विजातिरनेषणः, मुनिररोषणः, कपिरचपलः,
कविरमत्सरः वणिगतस्करः, प्रियजानिरकुहनः, साधुरदरिद्रः, द्रविण-
वानखलः, कीनाशोऽनक्षिगतिः, मृगयुरहिंस्रः, पाराशरी ब्राह्मण्यः,
सेवकः सुखी, कितवः कृतज्ञः, परिव्राडबुभुक्षुः, नृशंसः प्रियवाक्,
अमात्यः सत्यवादी, राजसूनुरदुर्विनीतश्च जगति दुर्लभः।[४३०]

—'निरभिमान स्वामी, एषणारहित (निरभिलाष) ब्राह्मण, क्रोधहीन मुनि, अचंचल वानर, ईर्ष्यारहित कवि, न चुराने वाला बनिया, निश्शंक प्रेमी[४३१], धनवान् सज्जन, सज्जन धनी, आंखों का कांटा न बने ऐसा (=प्रिय) ओछा व्यक्ति (या यमराज), नृशंसताविहीन व्याध, ब्राह्मणत्व के योग्य भिक्षु, सुखी सेवक, कृतज्ञ जुआरी, भरे पेट वाला परिव्राजक, मिठबोला नृशंस-व्यक्ति, सत्यवादी मन्त्री और उद्दण्डता के बिना राजकुमार—ये संसार में दुर्लभ हैं।'

किससे कैसा व्यवहार करे यह बताते हुए एक ही श्लोक में भर्तृहरि नौ प्रकार के सम्बन्धों के प्रति नीति-निर्धारण कर जाते हैं—

दाक्षिण्यं स्वजने, दया परिजने, शाठ्यं सदा दुर्जने ।
प्रीतिः साधुजने, नयो नृपजने, विद्वज्जनेष्वार्जवम् ।
शौर्यं शत्रुजने, क्षमा गुरुजने, नारीजने धूर्त्तता (कान्ताजने धृष्टता) ।
ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलाः तेष्वेव लोकस्थितिः ।[432]

—'स्वजन के प्रति उदारता (-या चतुरता ?), सेवक के प्रति दया, दुर्जन से शठता, सज्जन से प्रीति, राजा से नीति, विद्वानों से सरलता, शत्रुओं के प्रति शूरता, गुरुओं के प्रति या बड़ों के प्रति सहनशीलता, और स्त्रियों के प्रति धूर्तता—इस प्रकार की व्यवहार कला में जो पुरुष निपुण हैं, संसार की स्थिति या लोकमर्यादा उन्हीं पर टिकी है।'

इस प्रकार की मिश्रित नीतियां कवि ने पर्याप्त मात्रा में दी हैं। नीचे वाले श्लोक में यह दर्शाने का यत्न है कि किसी एक गुण या व्यक्ति आदि के होने पर ऐसी दूसरी वस्तुएं, जिनका कि वह अपने प्रभाववश स्थानापन्न बन सकता है, व्यर्थ हैं—

क्षांतिश्चेत् कवचेन किम् ? किमरिभिः क्रोधोऽस्ति चेद्देहिनाम् ?
ज्ञातिश्चेदनलेन किम् ? यदि सुहृद् दिव्यौषधैः किम् फलम् ?
किं सर्पैर्यदि दुर्जनाः ? किमु धनैर्विद्यानवद्या यदि ?
व्रीडा चेत् किमु भूषणैः ? सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ?[433]

—'सहनशीलता है तो कवच से क्या :' 'क्रोध है तो शत्रुओं से क्या ?'
'जाति वाले भाई बन्द हैं तो आग से क्या ?' 'मित्र है तो दिव्यौषधों से क्या लाभ ?'
'दुर्जन है तो सांपों से क्या ?' 'प्रशंसा-योग्य विद्या है तो धन से क्या ?'
'लज्जा है तो आभूषणों से क्या ?'[434] 'अच्छी कविता (की शक्ति) है तो राज्य से क्या ?

एक सुभाषित द्वारा कवि ने यह बताया है कि कौन किस दोष से नष्ट हो जाता है—

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति, यतिः सङ्गात्, सुतो लालनाद् ।
विप्रोऽनध्ययनात्, कुलं कुतनयाच्, छीलं खलोपासनाद् ।
ह्रीर्मद्याद्, अनवेक्षणादपि कृषिः, स्नेहः प्रवासाश्रयात् ।
मैत्री चाप्रणयात्, समृद्धिरनयाद्, द्यूतात् प्रमादाद्धनम् ।।[435]

—'बुरी मन्त्रणा से राजा, आसक्ति से यति, लाड़ से पुत्र, न पढ़ने से विप्र, कुपुत्र से कुल, दुष्ट-संगति से शील, मद्य से लज्जा, रखवाली न करने से खेती, परदेश रहने से स्नेह, स्नेहाभाव से मैत्री, अनीति से समृद्धि, और द्यूत एवं प्रमाद से धन नष्ट हो जाता है।'

१७. निष्कर्ष

व्यवहार एवं नीति से सम्बद्ध इन सूक्तियों की कुछ विशेषताएं यहां उभर कर सामने आती हैं। सर्वप्रथम यह है कि इन्हें व्यक्ति और समाज को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। इनमें व्यक्ति के अपने वैयक्तिक विकास के लिए क्रियमाण और अपेक्षणीय व्यवहार का संकेत हुआ है। साथ ही, व्यक्ति-विशेष या सर्वसामान्य के प्रति किन्हीं विशेष परिस्थितियों में या सामान्य दशा में सबके लिए व्यवहार और नीति का निर्देश भी है।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि—शरीर, बुद्धि, विवेक, विद्या, वाणी, पुरुषार्थ आदि के विषय में कही गई सूक्तियों में मुख्यत: वैयक्तिक क्षमता का व्यावहारिक महत्त्व दर्शाया गया है।

देश-काल, परिस्थिति, परिचय आदि का प्रभाव बताने वाली सूक्तियां व्यक्ति के व्यवहार और नीति से उसके वातावरण का सम्बन्ध स्थापित करती हैं। मित्र-मित्र, शत्रु और स्वामी-सेवक के द्वारा कतिपय विशिष्ट व्यवहार और नीतियों का संकेत किया गया है। तथा शिष्टाचार और औचित्यपूर्ण व्यवहार सम्बन्धी सूक्तियों में व्यवहार और नीति का सामान्यरूपेण कथन हुआ है इस प्रकार संक्षेप में इन सूक्तियों का विषय—व्यक्ति, वातावरण और समाज के आत्मनिष्ठ और पारस्परिक व्यवहार और नीति से युक्त है।

इन व्यावहारिक सूक्तियों में प्राय: नीतियों के दो पहलू होते हैं, और वे परिस्थिति के अनुसार ग्राह्य या त्याज्य होते हैं। उदाहरणार्थ साहस, गोपनीयता आदि। उनमें शाश्वतिक सत्य नहीं है इसीलिए विरोध दिखता है, परन्तु उसका परिहार अवस्थाभेद के अनुसार करना होता है।

सूक्तियों की शैली की ओर ध्यान देने पर चार कथन-प्रकार मुख्यरूपेण दृष्टि-गोचर होते हैं। कुछ में बताया गया है कि—'व्यवहार कैसा होता है?,' तो कुछ में—'व्यवहार पर किसका प्रभाव पड़ता है?' कुछ में—'व्यवहार क्या प्रभाव डालता है?, और शेष में 'व्यवहार कैसे करना चाहिए?'—यह दर्शाया गया है।

व्यवहार एवं नीति के प्रति इन सूक्तियों की दृष्टि मुख्यत: व्यावहारिक ही प्रतीत होती है यद्यपि कहीं कहीं आदर्श की भावना भी कार्य कर रही है। उदाहरण के लिए 'संगति' में महान् के साथ-साथ सज्जन की संगति[४३६]पर भी बल है, जिसे केवल व्यावहारिक लाभ की दृष्टि से प्रेरित नहीं कहा जा सकता। तदर्थ सम्भवत: समृद्धि-शालियों की संगति को प्रेरणा दी जाती। व्यवहार के स्थान पर उदात्तभावना से प्रभावित होकर ही मैत्री, स्वामी-सेवा या धनी की संगति[४३७]को स्वार्थ-भाव से करने वालों को निन्दा की दृष्टि से ही देखा गया है। इसी प्रकार शत्रु को शस्त्र की अपेक्षा उपकार से जीतने[४३८]की भावना में भी व्यावहारिकता न होकर उदात्त भावनात्मक दृष्टि परिलक्षित होती है।

पिछले दो परिच्छेदों में जहाँ महनीय और निन्दनीय भावों के माध्यम से आदर्श की स्थापना करने वाली सूक्तियां हैं, वहां इस परिच्छेद में करणीय-अकरणीय व्यवहार की नीति-निर्देशक सूक्तियाँ। वस्तुत:, महनीय प्रशस्य है अत: अनुकरणीय है और निन्दनीय अप्रशस्य होने से अकरणीय कार्यों का दृष्टान्त। व्यवहार और नीति में उनसे शिक्षा लेना अस्वाभाविक नहीं है। उदाहरणार्थ महान् के व्यवहार से वाणी में मित-भाषिता की नीति[४३९] दर्शायी गई है और बुद्धि के व्यवहार में प्रशस्य विद्वान् और अप्रशस्य मूर्ख का अन्तर[४४०] प्रकट किया गया है। इस प्रकार व्यवहार और नीति में जीवन के विविध (व्यक्तिगत और वातावरण-सम्बन्धी) तत्त्वों का उल्लेख होने के साथ जहां उनके प्रति नीति-निर्धारण हुआ है वहीं आदर्श का समावेश होने का अवसर रहने के कारण प्रशस्य और अप्रशस्य दृष्टि से महनीय और निन्दनीय गुणावगुणों का संकेत भी हो जाता है। यदि-इन तीनों परिच्छेदों की सूक्तियों को समग्रत: तथ्य से सिद्धान्त की ओर, और यथार्थ से आदर्श की ओर उन्मुख सूक्तिकारों की सृष्टि कहा जाए तो अनुचित न होगा। □□

संदर्भ-संकेत

१. देखिए—"It (Social Psychology) may be broadly defined as the science of the behaviour of the individual in society······"
—B. Kuppuswamy, An Introduction to social Psychology, p. 7

२. देखिए—'सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायक: सुर:।
सद्वंश: क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित:।'
—साहित्यदर्पण ६।३१५,१६

'प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्त: प्रतापवान्।
दिव्योऽथ दिव्याऽदिव्यो वा गुणवान्नायको मत:।।' —वही ६।९

'प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकं चैव।
राजर्षिवंश्यचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम्।।' —नाट्यशास्त्र १८।१०

३. उदाहरणार्थ—शाकुन्तल में धीवर का तथा मृच्छकटिक में दासी-प्रेम का प्रसंग लोक-जीवन के दिग्दर्शक हैं। पात्रों की व्यवहार-निपुणता का प्रदर्शन करने वाले सभी प्रसंगों को लोक-व्यवहार के निदर्शनार्थ मानना भी असंगत न होगा।

४. काव्यप्रकाश १।२

५. देखिये—'व्यवहार···1 Conduct, behaviour,···4 dealing,··· 8 relation···' —V.S. Apte. P. 538
६. देखिये—'नीति—1 guidance, direction···2 manner of counducting···course of action, 3 propriety,···7 moral philosophy'··· —ibid, p. 301
७. प्रिय० ३।५—आरण्यिका, पृ० ५५
८. पञ्च० २।३६—भगवान्
९. काद० पृ० ४२६, कादम्बरी से विदा लेते समय चन्द्रापीड का कथन।
१०. मृच्छ० ९।४१—विदूषक
११. नीति० १६
१२. चारु० ३।१।पं० ११-१२, विदूषक
१३. कु० ५।३३। तुलनार्थ—'देह राखो धर्म है' —हिन्दी लोकोक्ति
तथा—"Nothing is better in this life than health." —S. P. L. P. 71
१४. विक्र० २।२०—विदूषक, पृ० ६२
१५. देखिये—'even a ghost is conciliated by food...what to say then of the bile now affecting the King !' —Notes by Karnik & Dasai, p. (39)
१६. मालवि० ४।४
१७. महावीर० ५।४
१८. वैराग्य ७३
१९. वही, ३७, तुलनार्थ—केशव केसन अस करी जस अरिहूं न कराहि।
चन्द्रवदनि मृगलोचनि बावा कहि कहि जाहि। —केशवदास
२०. किरात० १६।१९
२१. देखिये—'तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥ —रघु० १।२०
२२. मृच्छ० ९।१६—अधिकरणिक, चारुदत्त द्वारा वसन्तसेना के मारने में सन्देह करते हुए।
तुलनार्थ—'न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति।' —शाकु० ४।०—सं० ५, प्रियंवदा
२३. देखिए—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' —ईशो० ।१५
अथवा—Faces are often deceptive. —English Proverb.
२४. जैसे—'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' —बृहत्संहिता

तथा—'आकृतिमनुगृह्णन्ति गुणाः' —विद्धशालमंजिका—उद्धृत—
Abhijnānaśakuntalam of Kālidasa, Notes by M.R Kale, p.150

२५. अवि० ५।५

२६. उत्तर० २।४

२७. मालवि० (निर्णय सागर मुद्रणालय, १९५०, पृ० १८) १।१८,—विदूषक।
पाठान्तर—'उपदेशे न निष्णातो भवति'।

२८. मिलाइए—'अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेत्।' —शाकु० ६।१३

२९. शाकु० ४।१७—सं० १२८ शार्ङ्गरव, काश्यप ऋषि को वनवासी होने पर भी लौकिकज्ञ बताते हुए

३०. हर्षच० १, पृ० १२, पं० ९-१०

३१. शिशु० ५।४७

३२. विदुरेष्यद् अपायमात्मना परतः श्रद्दधतेऽथ वा बुधाः।
न परोपहितं न च स्वतः प्रमिमीतेऽनुभवादृतेऽल्पधीः॥ —शिशु० १६।४०

३३. मालवि० ३।१०

३४. हंस के नीर-क्षीर-विवेक की बात कवि-सम्प्रदाय में ही प्रसिद्ध है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसे यथार्थ कहना कठिन है।

३५. शाकु० ६।२८

३६. देखिए—किरात० २।३३

३७. 'अभिवर्षति योऽनुपालयन् विधिबीजानि विवेकवारिणा।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति॥' —२।३१

३८. वही २।३०

३९. नीति० ९५

४०. वही १०

४१. देखिए—'पुरा विद्वत्तासीत्···प्रेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्र-विमुखान्···।'
— भर्तृहरिसुभाषित संग्रह, दा० ध०, कौसम्बी, संशयित श्लोक २७२, पृ० १०६

४२. कवि के ऐसे ही अन्य अन्तर्विरोधों का उल्लेख और उनकी समीक्षा, देखिये—आगे, उपसंहार, पृ० ४५०

४३. 'विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं, प्रच्छन्नगुप्तं धनम्।
'विद्या भोगकरी यशः सुखकरी', 'विद्या गुरूणां गुरुः।'
'विद्या बन्धुजनो विदेशगमने', 'विद्या परा देवता।'
'विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं', 'विद्याविहीनः पशुः।' —नीति० १६

४४. वही १२

४५. सूक्तियों में एतत्सम्बन्धी सामाजिक व्यवस्था का संकेत देखिये पीछे परि० २, अनु० ४ (ख)

४६. देखिये—'विद्या ह वै···। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूयाः···'
—निरुक्त २।१।७

४७. रघु० ३।२९ तुलनार्थं—क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्'—अर्थ० १।५, पृ० १४

४८. मिलाइए—पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥ —मालवि० १।६

४९. मुद्रा० १।३

५०. मालवि० १।१६

५१. मालवि० १।१६, पं० २९०—गणदास

५२. वही १।१७

५३. देखिए—उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु ॥ —वही २।९

५४. शाकु० १।२

५५. रघु० १।१०

५६. नीति०, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, सप्तम संस्करण, श्लोक १५, पृ० ११
पाठान्तर—'कुपरीक्षकैर्न'—भी यही अर्थ देता है, किन्तु सन्देहास्पद बन कर।

५७. शिशु० १६।४५

५८. हर्षच० १।१०, पृ० ४

५९. वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।
'क्षीयन्तेऽखिलभूषणानि सततं' 'वाग्भूषणं भूषणम्।' —नीति० १५

६०. उत्तर० ५।३०

६१. 'सूनृत—1. true and pleasant'. —V.S. Apte. p. 611

६२. किरात० १।४

६३. वही १४।५

६४. 'अप्रियं हि हितं स्निग्धम्', 'अस्निग्धमहितं प्रियम्।'
'दुर्लभं तु प्रियहितम् स्वादुपथ्यमिवौषधम् ॥' —सौन्दर० ११।१६

६५. किरात० १४।३

६६. 'वाक्प्रतिष्ठानि देहिनां व्यवहारतन्त्राणि।'
'वाचि पुण्यापुण्यहेतवो व्यवस्थाः सर्वथा जनानामायतन्ते ॥'
—मालती० ४।४—कामन्दकी। पृ० १०३

६७. शिशु० २।७० बलराम जी के निश्चयात्मक कथन के बाद अपनी बात की—जो उससे भिन्न होगी—व्यर्थता बताते हुए उद्धव जी का आशय यही है कि यदि कोई निर्णय दे दे तो उसे बदलने का अवसर नहीं रहता।

६८. बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥ —शिशु० २।७३

६९. देखिए—अविज्ञातप्रबन्धस्य वचो वाचस्पतेरपि ।
व्रजत्यफलतामेव नयद्रुह इवेहितम् ॥ —किरात० ११।४३

७०. देखिये—अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा ।
निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् ॥ —शिशु० २।२७

७१. पञ्च० १।३६—भीष्म, पाण्डवों को आधा भाग देने के विषय में उनकी वीरता का प्रश्न उठाए जाने पर
तुलनार्थ—'गए थे हरिभजन को ओटन लगे कपास' —हिन्दी लोकोक्ति

७२. 'ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निष्कृतिः ।।' —उत्तर० ५।२९

७३. सर्वथा व्यवहर्त्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता ।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः । —उत्तर० १।५

७४. काद० पृ० ४२६, चन्द्रापीड कादम्वरी से विदा लेते समय

७५. शिशु० २।१३

७६. भर्तृहरिसुभाषित संग्रह, दा० ध० कौसम्बी, संकीर्णश्लोक सं० ७९६, पृ० १९९

७७. चौंसठ कलाओं में प्रथम दो हैं 'गीतम्, वाद्यम्' । देखिये शब्दकल्पद्रुम, भाग २, पृ० (५८)

७८. चौंसठ कलाओं में साहित्य-रचना से सम्बद्ध कौशल का भी उल्लेख है यथा—'काव्यसमस्यापूरणम् ३३···मानसीकाव्यक्रिया ५४···' देखिये—वहीं

७९. शाकु० ६।१४—नायक दुष्यन्त ने यह सूक्ति शकुन्तला-सौन्दर्य के सम्मुख अपने चित्रणसामर्थ्य को अपूर्ण बताने के लिए कही है ।

८०. रत्ना० २।१८ सं० १७३—विदूषक

८१. चारु० ३।० पं० ३—(चारुदत्त) नायक । तथा—मृच्छ० ३।२—चारुदत्त

८२. देखिए—वही ३।३

८३. मालवि० १।४

८४. देखिये—'पुट-पाक, 'a particular method of preparing drugs, in which the various ingredients are wraped up in leaves, and being covered with clay are roasted in the fire,···
V S. Apte. p. 339

८५. देखिए—'अनिर्भिन्नो गभीरत्वाद् अन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥ —उत्तर० ३।१

८६. वही ३।४७

८७. हर्षच० १।६ पृ० ३

८८. वही १।९ पृ० ३-४

८९. नीति०, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, सप्तम संस्करण, श्लोक १५, पृ० ११
पाठान्तर—'सुधियस्त्वर्थं' ।

९०. यौगन्ध० १।१८

९१. बुद्ध० १३।६० तथा—'अनिक्षिप्तोत्साहो यदि खनति गां वारि लभते।'
'प्रसक्तं व्यामथ्नन् ज्वलनमरणिभ्यां जनयति।'
'द्रुतं नित्यं यान्त्यो गिरिमपि हि भिन्दन्ति सरितः।'
'कृष्ट्वा गां परिपाल्य च श्रमशतैरश्नोति सस्यश्रियम्।'
'यत्नेन प्रविगाह्य सागरजलं रत्नश्रिया क्रीडति।'
'शत्रूणामवधूय वीर्यमिषुभिर्भुङ्क्ते नरेन्द्रश्रियम्।'
'···वीर्ये हि सर्वर्द्धयः॥ —सौन्दर० १६।९७-९८

९२. सौन्दर० १६।७०

९३. महावीर० २।१८—राम, परशुराम के पास जाते समय सीता द्वारा रोके जाने पर। इस सूक्ति में एक-एक शब्द के अनेक पाठान्तर मिलते हैं, यथा—'उत्साहः, उत्सेकः। परिधीरणा, परिधारणा, परधारणा, परावधीरणा। वैरस्यं, वैराग्यम्।' इनसे इस सूक्ति का आत्यन्तिक लोकप्रचलन संकेतित होता है।

९४. अवि० ५।५ पं० ६०—विदूषक

९५. मालती० १०।२२

९६. एक काल्पनिक मणि, जो सोचते ही सब कुछ दे सकती है।

९७. किरात० ११।७२

९८. वही २।१५

९९. वही ३।४०

१००. शिशु० ९।२९

१०१. वही १४।१३

१०२. सौन्दर० १४।२८

१०३. भर्तृहरिसुभाषित-संग्रह, दा० ध० कौसम्बी, संशयित श्लोक २१६, पृ० ८६
तुलनार्थ—'Idleness is the nurse of evil.' —S.P.L., p. 73

१०४. शिशु० २।८०

१०५. किरात० १३।६३, देखिये—'नाज्ञस्याऽपराधो गण्यत इत्यर्थः' —वही, मल्लिनाथ

१०६. 'धर्मार्थकामाधिगमं ह्यनूनं नृणामनूनं पुरुषार्थमाहुः' —बुद्ध० १०।३०
यहां 'ह्यनून' के स्थान पर 'हि नूनं' पाठ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

१०७. 'साहसं ··५···an inconsiderate or reckless act'
—V.S.Apte. p. 602

१०८. चारु० ४।२—पं० १४, सज्जलक
मिलाइए—'साहसे श्रीः प्रतिवसति' —मृच्छ० ४।५—शर्विलक
तुलनार्थ—'No risk no gain' —English proverb
तुलनार्थ—'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति' —हितो०, मित्रलाभ ७

१०९. वही ४।२—पृ० १७, चेटी

११०. देखिये—'who indeed sells out his body in exchange for his life (or along with his life.)'—Notes by Saradaranjan Ray, p.258

१११. 'साहस' शब्द जीवट और पुरुषार्थ के अतिरिक्त 'निर्भयता' और 'उत्साह' का भी पर्यायवाची है और 'दुस्साहस' से भिन्न है।

मिलाइए—भोलानाथ तिवारी, बृहत् पर्यायवाची कोश, पृ० १९२, १९४

११२. नीति० ५६

११३. मृच्छ० २।१२—दर्दुरक, संवाहक को छुड़ाने के यत्न में, पृ० ८२

११४. वही २।१४—वसन्तसेना, पृ० ९०

११५. इस सूक्ति का समानार्थक यह भी दिया गया है—

'जोड़-जोड़ मर जाएंगे, माल जंवाई खाएंगे।'

देखिये—संस्कृत व्याकरण सुधा (प्रो० रामलाल सावल), पृ० ४६७

११६. नीति० ३४ तथा हितो०, मित्रलाभ १७६

११७. मुद्रा० २।१८। सं० ९१—राक्षस

११८. मृच्छ० ४।३२—पृ० १७४ वसन्तसेना, दरिद्र चारुदत्त के यहां से अपने स्वर्णभाण्ड चोरी चले जाने पर उसके निष्क्रय-रूप में रत्नावली पाकर।

११९. यहां इस सूक्ति के प्रसंग में धरोहर लौटाने का प्रश्न है। अतः विद्वानों ने यहां यह तात्पर्य लिया है कि इस सूक्ति द्वारा वसन्तसेना दरिद्र चारुदत्त के यहां से रत्नावली जैसी मूल्यवान् वस्तु निकल आने पर आश्चर्य करती है।

(देखिये—Notes by M. R. Kale. p. 94)

किन्तु यदि चारुदत्त गुणों के प्रति वसन्तसेना के सम्मान-भाव पर ध्यान दिया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहां चारुदत्त की सम्पत्ति-विशालता पर आश्चर्य न होकर हृदय-विशालता की प्रशंसा है। वैसे भी वसन्तसेना के लिए सम्पत्ति-वैभव का विशेष मूल्य नहीं है और स्वयं अत्यंत समृद्ध होने से ऐसा आश्चर्य उसके लिए स्वाभाविक भी नहीं है, वह चारुदत्त पर उसकी दानवीरता, उदारता आदि गुणों के कारण ही अनुरक्त है, सम्पत्ति के कारण नहीं। अतः इस सूक्ति द्वारा दान आदि के कारण क्षीण-वैभव धनी की उदारता की प्रशंसा हुई है, ऐसा मानना उपयुक्ततर प्रतीत होता है।

१२०. चारु० ३।०—(पं० ५१) चेटी, दरिद्र चारुदत्त पर अनुरक्त वसन्तसेना से।

तुलनार्थ—'किं हीनकुसुमं सहकारपादपं मधुकर्यः पुनः सेवन्ते ?'

—मृच्छ० २।०—मदनिका पृ० ७०

१२१. शाकु० ५।८

तुलनार्थ—'The rich have many friends' —S.P.L , p. 104

१२२. तुलनार्थ—'को जनस्य फलस्थस्य न स्यादभिमुखो जनः ?'

'जनीभवति भूयिष्ठं स्वजनोऽपि विपर्यये।' —बुद्ध० ६।९

१२३. मृच्छ० १०।१५, १६

१२४. इस लौकिक व्यवहार की अवांछनीयता देखिये परि० ११, अनु० १४ 'शिष्टाचार'
१२५. चारु० १।३
१२६. 'दशां···स्थित:' के स्थान पर 'नरो···धृत:'। देखिये—मृच्छ० १।१०
१२७. विक्र० ४।३३—राजा
१२८. भर्तृहरि-सुभाषित-संग्रह, दा० ध० कौसम्बी, संकीर्ण श्लोक ५१२, पृ० १६०
तुलनार्थ देखिये — भोजप्रबन्ध श्लोक ७
१२९. शङ्कनीया हि दोषेषु निष्प्रभावा दरिद्रता। —चारु० ३।१५
शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन् निष्प्रतापा दरिद्रता। —मृच्छ० ३।२४
१३०. देखिये—"दारिद्रयात् पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न संतिष्ठते।······'
—चारु० १।६, तथा मृच्छ० १।३६
तुलनार्थ—'एतत्तु मां दहति नष्ट-धनश्रियो मे (-धनाश्रयस्य)
यत् सौहृदानि सुजने (सौहृदादपि जना:) शिथिलीभवन्ति।'
—चारु० १।५ (तथा—मृच्छ० १।१३)
तथा—'Poverty robs us of our friends.' —S.P.L., p. 98
१३१. देखिए—मृच्छ० १।१४, १५, ३७
१३२. वही १।१४ तथा हितो० मित्रलाभ १४८
१३३. यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशां नर: कृतान्तोपहितां प्रपद्यते।
तदाऽस्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रतां चिरानुरक्तोऽपि विरज्यते जन:॥
—मृच्छ० १।५३
१३४. धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके किं जीवितेनादित एव तावत्।
यस्य प्रतीकारनिरर्थकत्वात् कोपप्रसादा विफलीभवन्ति॥ —मृच्छ० ५।४०
१३५. मृच्छ० ३।३०—विदूषक, कम मूल्य के आभूषणों के स्थान पर रत्नावली न देने की इच्छा से।
१३६. दारिद्र्यं खलु नाम मनस्विन: पुरुषस्य सोच्छ्वासं मरणम्।
—चारु० १।१, पं० ४६
१३७. शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम्।
मूर्खस्य दिश: शून्या:, सर्वं शून्यं दरिद्रस्य॥ —मृच्छ० १।८
तुलनार्थ देखिए— हितोपदेश मित्रलाभ १३९
१३८. दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम्।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दु:खम्॥ —मृच्छ० १।११
१३९. धिगस्तु खलु दारिद्र्यम् अनिर्वेदित-पौरुषम्। —मृच्छ०० ३।१९
१४०. पक्षविकलश्च पक्षी, शुष्कश्च तरु:, सरश्च जलहीनम्।
सर्पश्चोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्यं लोके दरिद्रश्च॥ —मृच्छ० ५।४१
शून्यैर्गृहै: खलु समा: पुरुषा दरिद्रा:'
कूपैश्च तोयरहितैस्तरुभिश्च शीर्णै:। —मृच्छ० ५।४२

१४१. मेघ० १।२०
१४२. नीति० ३२। तुलनार्थ—'यस्यार्थाः स च पण्डितः' —हितो० मित्रलाभ १३८
और—'Money masters all things.' —S.P.L., p.89
१४३. देखिए—'वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति' —मेघ० २।२ (प्रक्षिप्त)
१४४. 'अर्थोऽस्तु नः केवलम्' —नीति० ३१
१४५. शाकु० ५।१८—शार्ङ्गरव
१४६. मृच्छ० २।१४—वसन्तसेना
१४७. मिलाइए—'Virtues and riches are seldom found (to exist) together.' —tr. by M. R. Kale, p. 91
१४८. देखिए—परि० ७, अनु० ४ (क), 'सुख-दुःख' का चक्र'
१४९. बुद्ध० १३।६९
१५०. किरात० २।३९
१५१. देखिए—वहीं
१५२. कोऽपवादः स्तुतिपदे यदशीलेषु चञ्चलाः।
साधुवृत्तानपि क्षुद्राः विक्षिपन्त्येव सम्पदः॥ —वही ११।२५
१५३. श्रियो हि दोषा अन्धतादयः कामला विकाराः। —हर्षच० ६, पृ० १९०, पं० ७
१५४. 'सरस्वतीपरिगृहीतमीर्ष्येव नालिङ्गति जनम् (लक्ष्मीः)' इत्यादि
—काद० पृ० २२१, शुकनासोपदेश
१५५. शाकु० ३।१२, प्रसंगानुसार गुणवती नारी का संकेत होने पर भी यहां लक्ष्मी का दृष्टान्त धन की देवी के रूप में ही दिया गया है। और यह धन की 'भाग्य से ही प्राप्ति' तथा 'सर्वप्रियता' को अवश्य स्वीकार करता है।
१५६. मालती० १।८
१५७. अवि० १।५, पं० ४७—भूतिक
१५८. मृच्छ० ८।६
१५९. स्वप्न० ६।१४
१६०. महावीर० १।३९—राक्षस; (मनुष्य) राम के द्वारा (राक्षसी) ताड़का का वध देखकर
१६१. काद० पृ० २७७, चन्द्रापीड का विचार, महाश्वेता को देखकर। तुलनार्थ—
'often what you cannot find comes unsought'. —S.P.L., p. 54
१६२. किरात० १०।४०
१६३. 'प्रयोजनम्…3 End, aim, object…5 A cause, motive.…'
—V.S. Apte, p. 367
१६४. विक्र० २।१५—चित्रलेखा
१६५. रघु० १७।३४
१६६. शाकु० ७।३०

१६७. सौन्दर० १६।२५,
तुलनार्थ—'कारणाभावात् कार्याभाव:।' —वैशेषिक सूत्र १।२।१

१६८. उत्तर० ५।२०

१६९. मृच्छ० ९।४१—विदूषक
तुलनार्थ—'समूलं वृक्षमुत्पाट्य शाखाश्छेत्तुं कुत: श्रम:' ? —यौगन्ध०—४।२०

१७०. मिला०—पीछे परि० २, अनु० ३

१७१. रघु० १८।३८

१७२. नीति० ३६

१७३ यौग० १।६, पं० १०—यौगन्धरायण

१७४. उत्तर० ३।४६—सीता

१७५. मिलाइए—'सति खलु दीपे व्यवधानदोषेण एषोऽन्धकारदोषमनुभवति।'
—शाकु० ६।२५—सानुमती। सं० २०४

१७६. शाकु० ७।३२

१७७. मुद्रा० १।२१ अ—चाणक्य, सं० १६३

१७८. वही १।२१ ब

१७९. अवि० ३।१३—अविमारक, चोरी से अन्त:पुर में प्रवेश करते समय

१८०. 'अट्टालक, प्रतोली, इन्द्रकोश' का वर्णन चाणक्य ने भी 'दुर्ग-विधान' अध्याय के अन्तर्गत किया है। ये सब दुर्ग के कुछ अंग विशेष रहे होंगे। देखिए—अर्थ० २।३

१८१. शिशु० ६।४४

१८२. 'उपचितेषु परेष्वसमर्थतां व्रजति कालवशाद् बलवानपि।' —वही ६।६३

१८३. यौग० ३।२ पं० १

१८४. मृच्छ० १।५८।
तुलनार्थ—'Night is the nurse of base things.' —S.P.L., p. 93

१८५. देखिये—'पुरुषकारसारसाक्षी बहुविषमश्च सुखश्च रात्रिचार:'—अवि० ३।११

१८६. रघु० २।३४

१८७. वही १७।७५

१८८. मुद्रा० १।१८। सं० ५५—चर

१८९. मिलाइये—पीछे परि० १०, अनु० १, पृष्ठभूमि

१९०. बुद्ध० १०।२६। (सिद्धार्थ के प्रणय की अभिलाषा में विम्बसार का कथन)

१९१. देखिये—'सहीयस्. mfn. more (or most) mighty or powerful'
—Monier Williams, p. 1193

१९२. चाहे यह प्रभाव सीधा व्यक्ति पर न पड़े पर संगति के कारण सुलभ होने से शक्तिशाली और बुद्धिमान् की सहायता उसे औरों की दृष्टि में अवश्य वैसा ही बना देती है। मिला०—आगे अनु० १०, सहायता पृ० ४०३—४०४

१९३. कु० १५।५१

१९४. मालवि० २।७

१९५. प्रिय० ३।२

१९६. काद० पृ० ३७०, महाश्वेता द्वारा चन्द्रापीड से कादम्बरी के पास चलने का अनुरोध

१९७. किरात० ३।३१

१९८. वही १०।२५

१९९. नीति० १९

२००. मिलाइए—'अप्याकरसमुत्पन्नो (मणिजातिरसंस्कृता) रत्नजातिपुरस्कृतः ।
जातरूपेण कल्याणि ! (न हि) मणिः संयोगमर्हति ।'
—मालवि० ५।१८

२०१. काद० उत्तर भाग, मंगल० ५

२०२. किरात० ७।२७

२०३. वही १०।६

२०४. वही १।८

२०५. वही ६।७

२०६. उत्तर० २।११

२०७. किरात० ५।५१

२०८. मालती० २।१—लवङ्गिका, माधव से वियुक्त मालती के प्रति

२०९. उत्तर० २।१ । यह सूक्ति वनदेवता ने तापसी का स्वागत करते हुए प्रयुक्त की है और इस प्रकार वह स्वयं को भी सज्जन कह गयी है । पर व्यवहार में कोई अपने लिए ऐसा कहे तो घृष्टता ही होगी । हां, दूसरे सज्जनों के समागम पर भी इसका प्रयोग किया जा सकता है और तब यह गुणग्राहिता की प्रदर्शक होगी ।

२१०. तुलनार्थ—'सिंहों के लंहड़े नहीं...साधु न चलें जमात'—कबीर

२११. किरात० ३।१४

२१२. नीति०, चौखम्बा संस्कृतसीरीज, सप्तम संस्करण, श्लोक ६७, पृ० ४७

२१३. तुलनार्थ—'A man is known by the Company he keeps.'
—English proverb

२१४. काद० पृ० २८२, चन्द्रापीड, महाश्वेता के साथ कुछ समय रहने के उपरान्त

२१५. शिशु० ९।६९

३१६. उत्तर० ३।१९—राम सन्तान के समान प्रिय वनमयूर के लिए

२१७. काद० पृ० १७०-७१ चन्द्रपीड का इन्द्रायुध अश्व के सम्बन्ध में विचार
तुलनार्थ—'एवमनिर्ज्ञातानि दैवतान्यवधूयन्ते ।'—स्वप्न० १।३-यौगन्धरायण

२१८. 'अतिपरिचयादवज्ञा'—संस्कृत-लोकोक्ति

२१९. यौगन्ध० ४।१९

२२०. किरात० ९।५८

२२१. रघु० ५।७१, मिलाइए इसी परिच्छेद में आगे अनु० १३, 'स्वामी सेवक' में उद्धृत सूक्ति—'किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता तं चेत्सहस्र-'किरणो धुरि नाक-रिष्यद् ?'—शाकु० ७।४
२२२. शिशु० ११।२५
२२३. वही ८।५७
२२४. मृच्छ० १।४२—विदूषक, पृ० ४८
२२५. मालवि० १।६
२२६. शिशु० २।१२
२२७. किरात० १३।४८
२२८. वैराग्य० २१
२२९. कु० १।५२
२३०. मेघ० २।५२ के पश्चात् प्रक्षिप्त सं० २
२३१. वही १।६
२३२. 'असन्तो नाम्यर्थ्याः', 'सुहृदपि न याच्यः कृशधनः'—नीति० ५६
२३३. रघु० ५।१७
२३४. भर्तृहरि सुभाषित संग्रह, दा० घ० कौसम्बी, संकोर्ण श्लोक सं० ७२१, पृ० १८६
२३५. तुलनार्थ—'मृगा: मृगै: संगमनु व्रजन्ति।'—संस्कृत लोकोक्ति
२३६. मृच्छ० १।३२—पृ० ३८ विट, वसन्तसेना की चारुदत्त पर अनुरक्ति जानकर
(क) तुलना कीजिए—'रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन।'—रघु ६।७९
(ख) इस सूक्ति के साथ कहा हुआ 'सुष्ठु खल्विदमुच्यते' इसे लोकोक्ति सिद्ध करता है।
२३७. प्रिय० ३।५ पृ० ५५ आरण्यिका, वत्सराज के विषय में वासवदत्ता की भूमिका करती हुई। इसके साथ भी 'सुष्ठु, एतद्भ्रण्यते' इस लोकोक्ति ही कहता है
२३८. किरात० १४।२२।—(किरातराज की मैत्री को ठुकराता हुआ अर्जुन।)
२३९ विक्र० २।१६—(राजा चित्रलेखा से अपनी आतुरता दर्शाते हुए)
२४०. कु० ५।३९। तुलनार्थ—'सतां साप्तपदं मैत्रम्—लोकोक्ति सप्तपदीन मैत्री की प्राचीन मान्यता का संकेत विवाह के समय पति-पत्नी की 'सप्तपदी' में भी मिलता है।
२४१. रघु० २।५८
२४२. मिलाइए—सप्तभिः पदैरवाप्यते इति साप्तपदीनम् (पद—Mightmean a word or a 'step') —notes by R. D. Karmarkar. p. 265
२४३. विक्र० ५।२०।—(राजा पुरूरवा और इन्द्र की मित्रता पर नारद की टिप्पणी।)
२४४. मेघ० १।३८
२४५. कु० ३।२१
२४६. रघु० १०।४०

२४७. शिशु० ६।५७। यहां माघ ने जैसे कलिदास की सूक्तियों का वाच्यार्थ दे दिया है।
२४८. मेघ० १।१७
२४९. शिशु० ६।६२
२५०. 'सततमतिगर्हितेन कृत्येनापि रक्षणीयान्मन्यन्ते सुहृदसून् साधव:'
—काद० पृ० ३२६
२५१. शाकु० ३।१०—राजा सं० ४२
२५२. हर्षच० ७। पृ० २२१। पं० १६-१७
२५३. 'अतिक्रान्तान्यपि हि संकीर्त्यमानानि प्रियजनविश्वासवचनानि अनुभवसमां वेदनामुपजनयन्ति सुहृज्जनस्य दु:खानि।' —काद०, पृ० ३४७
२५४. काद० पृ० ६६६, चन्द्रापीड की गति सुनकर स्वयं पुत्रशोक में दु:खी होने पर भी शुकनास राजा तारापीड को सान्त्वना देने की बुद्धि करता है
२५५. सौन्दर० ११।१७
२५६. हर्षच० ८। पृ० २३३। पं० १९-२०
२५७. बुद्ध० ८।३५
तुलनार्थ—'नादान दोस्त से दाना दुश्मन बेहतर' —हिन्दुस्तानी कहावत
२५८. अवि० ४।१२। पं० ३३—विद्याधर
२५९. अभि० ६।२२
२६०. इस गुण पर वे पृथक् से एक सूक्ति कहते हैं—
ये चार्थकृच्छ्रेषु भवन्ति लोके समानकार्या: सुहृदां मनुष्या:।
मित्राणि तानीति परैमि बुद्धया स्वस्थस्य वृद्धिष्विह को हि न स्यात् ?
—बुद्ध० ११।४
२६१. वही ४।६४
२६२. नीति० ५९
२६३. महावीर० ५।५९
२६४. काद० पृ० ३९०, चन्द्रापीड के विषय में महाश्वेता का कादम्बरी से कथन
२६५. मिलाइए—'असत्सु मैत्री स्वकुलानुवृत्ता न तिष्ठति श्रीरिव विक्लवेषु।
पूर्वैः कृतां प्रीतिपरम्पराभिस्तामेव सन्तस्तु विवर्धयन्ति।।'
—बुद्ध० ११।३
२६६. नीति० ४९
२६७. मिलाइए—'संतापे तारेशानां गेहोत्सवे सुखायमानानाम्।
हृदयस्थितानां विभवा विरहे मित्राणां दूनयन्ति।' —मुद्रा० ६।२
२६८. कु० ४।२८ (मित्र वसन्त के नाम पर कामदेव से दर्शन देने की प्रार्थना करती हुई रति।) स्त्री द्वारा विलाप में कहा होने से इसे सार्वत्रिक तथ्य नहीं माना जा सकता।
२६९. मृच्छ० ४।२५। आर्यक को बन्दी जान नवविाहित पत्नी मदनिका का साथ छोड़ने

के लिए उद्यत शर्विलक का कथन। यहां 'सम्प्रति' शब्द भी इसी अवस्था-विशेष का द्योतक है, जिससे विशेष परिस्थितियों में इसका सत्य होना परिलक्षित होता है।

२७०. मिलाइए—'पीडा च सुखै ह्रं ोर्वल्लभजनादेवासम्भाव्यायासमुत्पद्यते।'
—काद० पृ० ५७१

२७१. किरात० ११।५५ (धार्तराष्ट्रों से प्यार करने पर भी पाण्डवों को वैर मिलने की दशा में।)

२७२. 'समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः।
प्रध्वंसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः।' —शिशु० २।३३

२७३. मृच्छ० ८।१७—पृ० २७२, विट, वसन्तसेना के रथ में होने की बात को न छुपा सकने पर

२७४. मृच्छ १०।५५। (शकार के क्षमा मांगने पर चारुदत्त का कथन) तुलनार्थ—
'Be able to conquer your enemy, but spare him' —S.P.L., p. 29

२७५. मुद्रा० १।१६—सं० ८० चाणक्य की उक्ति, शकटदास व कायस्थ को राजा का शत्रु जानकर

२७६. हर्ष च० ६, पृ० १८५,पं० ४-६, देखिए वहीं—
'तृणानामुपरिकति कवचयन्त्याशुशुक्षणयः।'

२७७. 'अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धिः' —किरात० १६।२४

२७८. 'विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम्।' —शिशु० २।४२

२७९. 'ग्रसते हि तमोपहं मुहुर्ननु राहुाह्वमहर्पति तमः।' —शिशु० १६।५७

२८०. किरात० १३।१२

२८१. उदाहरणमाशीःषु प्रथमे ते मनस्विनाम्।
शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैरराशतिषु पात्यते॥ किरात० ११।६५
तुलनार्थ, माघ से—अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम्।
कथंकारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति॥ —शिशु० २।५२
विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते॥—शिशु० २।३४

२८२. वंशलक्ष्मीमनुद्धृत्य समुच्छेदेन विद्विषाम्।
निर्वाणमपि मन्येऽहम् अन्तरायं जयश्रियः॥ —किरात० ११।६९

२८३. अजन्मा पुरुषस्तावद् गतासुस्तृणमेव वा।
यावन्नेषुभिरादत्ते विलुप्तमरिभिर्यशः॥ —वही—११।७०,
(तथा देखिए—वही ११'७१)

२८४. 'अवतमसभिदायै भास्वताप्युद्गतेन प्रसभमुडुगणोऽसौ दर्शनीयोऽप्यपास्तः।'
'निरसितुमरिमिच्छोर्ये तदीयाश्रयेण श्रियमधिगतवन्तस्तेऽपि हन्तव्यपक्षे।'

२८५. देखिए—मुद्रा० ५।१० —शिशु० ११।५७

२८६. किरात० १०।३७

२८७. मुद्रा० १।१५, तुलना कीजिए, अश्वघोष भी सामर्थ्य एवं भक्ति की अपेक्षा करते हैं—'अस्निग्धोऽपि समर्थोऽस्ति निःसामर्थ्योऽपि भक्तिमान् ।
भक्तिमांश्चैव शक्तश्च दुर्लभस्त्वद्विधो भुवि ।' —बुद्ध० ६।७

२८८. मिलाइए—'ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते,
तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाशया ।
भर्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया
भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति कृतिनस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः ।।'
—मुद्रा० १।१४

२८९. 'भृत्या अपि त एव ये सम्पत्तेर्विपतौ सविशेषं सेवन्ते ।' —काद० पृ० ६५२

२९०. हर्षच० १, पृ० ३५, पं०९

२९१. शिशु० १८।२३ ।
तुलनार्थ—'स वंशस्यावदातस्य···भूयते भर्तुराज्ञया ।' —किरात० ११।७५

२९२. प्रतिमा १।४—पं०२५, चेटी दूसरी चेटी को शंकित देखकर सीता से

२९३. विक्र० २।२१—(राजा, रानी के क्रुद्ध होने पर क्षमायाचना करते हुए) यद्यपि राजा रानी का सेवक नहीं है परन्तु स्वयं में दासत्व का आधान करने से राजा की यह उक्ति सेवक-स्वामी के सम्बन्धों की ही द्योतिका है ।

२९४. कु० १२।३२ (शिवजी द्वारा प्रदत्त आसन पर बैठे इन्द्र प्रसन्न हुए।)

२९५. काद० पृ० २८२

२९६. मिलाइए—'परितोषयन्ति गीर्भिगिरीशा रुचिराभिरीशम् ।' —कु० ९।१२
(यहां अग्नि के प्रशंसापूर्ण वचन सुनकर शिवजी का क्रोध शान्त हो गया)

२९७. कु० ६।६२—सप्तर्षियों के आगमन पर उनका आदेश मांगता हुआ हिमालय

२९८. शाकु० ७।४

२९९. 'सम्भावना···—4 Respect,···regard···' —V.S. Apte. p. 591

३००. किरात० ६।४६, (इन्द्र से अर्जुन को प्रलोभित करने का सम्मानपूर्ण कार्य पाकर अप्सराएं प्रसन्न हो गईं)

३०१. वही १७।४२। (बाणों से रिक्त तूणीर का अर्जुन की पीठ पर होना उसके लिए अच्छा ही हुआ।)

३०२. रघु० २।५६ (शरीर देकर भी नन्दिनी की रक्षा करने को दिलीप तत्पर हुए।)

३०३. हर्षच० ३, पृ० १००, पं०१०

३०४. शिशु० १५।४१

३०५. कु० ७।९३ (कामदेव को पुनरुज्जीवित करने की प्रार्थना शिवजी के विवाह पर स्वीकृत हुई।)

३०६. मिलाइए—आगे अनु० १५ (ख), 'अवसर ज्ञान, पृ० ४२९ या कु० १२।४३

३०७. अभि० ३।१३—पं० ६ विभीषण, सीता लौटाने की सम्मति न मानने वाले रावण से

३०८. देखिये ऊपर— 'सेवकों के अपेक्षित गुण' पृ० ४१५

३०९. मुद्रा० ४।२२

३१०. हर्षच० ४, पृ० १३७, पं० १३

३११. कु० ३।१ (देवताओं की ओर से दृष्टि हटाकर इन्द्र ने अपनी सहस्रों आंखों से एकसाथ ही कामदेव को देखकर उसका मान बढ़ाया।)

३१२. कु० ३।१३ शिवजी के परिणय जैसे कठिन कार्य पर कामदेव को नियुक्त करते हुए इन्द्र का तर्क

३१३. मालवि० (निर्णयसागर मुद्रणालय, १९५०, पृ० १९) १।१९—देवी, मालविका के विषय में राजा से

३१४. मृच्छ० २।१५—पृ० ९२ वसन्तसेना, चारुदत्त के सेवक 'संवाहक' को द्यूत में फंसा जानकर

३१५. मृच्छ० ३।१
पाठान्तर में 'कुभृत्यपालकः' शब्द के द्वारा सेवक को आश्रय देने की क्षमता से भी अधिक स्वामी की सुजनता को अच्छा (या अपेक्षणीय) माना गया है।

३१६. चारु० ३।६, तथा मृच्छ० ३।११

३१७. विक्र० ५।१७ उर्वशी को अपने राजा इन्द्र की सेवा में जाने की अनुमति देते राजा पुरुरवा

३१८. मुद्रा० ३।१३—कञ्चुकी का विचार

३१९. मुद्रा० ३।१४

३२०. 'श्ववृत्ति' सेवा का समानार्थक शब्द है। देखिए अमरकोश० २।९।२

३२१. हर्ष च० २, पृ० ५६, पं० ४

३२२. हर्ष च० ७, पृ० २२१, पं० २०

३२३. रत्ना० १।७ से आगे यौगन्धरायण, सं० १८

३२४. नीति० ४७ तथा हितोपदेश सुहृद्भेद २६

३२५. देखिये—'शिष्टाचारः 1. The practice of wise men.
2. Good manners,...' —V. S. Apte. p. 557

३२६. देखिए—'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' —मनु० ४।१३८

३२७. पञ्च० २।३—भट, युद्ध का अशुभ समाचार सुनाते हुए

३२८. कु० ५।८३

३२९. स्वप्न० ४।८—विदूषक, राजा को मगधराज के सम्मान के उचित प्रत्युत्तर का ध्यान दिलाता हुआ

३३०. 'उदारजनादरो हि बहुमानमारोपयत्ययवश्यम्' —कादम्बरी पृ० ४३०
(केयूरक द्वारा चन्द्रापीड को कादम्बरी का सन्देश)

३३१. स्वप्न० ४।९

३३२. मृच्छ० २।१५

३३३. 'Hospitality to others, i.e., public esteem arising from it…'
—Notes by M.R. Kale, p. 54-55.

३३४. देखिए—ऊपर परि० ११, अनु० ५, पृ० ३८९

३३५. 'मा दुर्गत इति परिभवो', 'नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम।'
'चारित्रेण विहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो भवति।' —मृच्छ० १।४३

३३६. वही १०।२०, (चाण्डाल, दूसरे के द्वारा चारुदत्त का नाम बिना 'आर्य' शब्द के लेने पर)

३३७. 'समागतानां (समासन्नप्रीतिकारणागतानां) युक्तः पूजया प्रतिग्रहः'
—यौगन्ध० २।३—राजा प्रद्योत, जैवन्ति के उचित सत्कारार्थ

३३८. प्रतिमा० ५।८—रावण, राम और सीता के मीठे वचनों पर

३३९. नागा० १।१७—पं० ७ तापस, नायक से देवायतन में
तथा देखिए हितोपदेश मित्रलाभ ११६
तुलनार्थ—'अतिथि देवो भव'—तैत्ति० उप० १।११।२, उद्धृत उपनिषद्वाक्य-महाकोश पृ० १८

३४०. शिशु० १।१४

३४१. वही १।१७

३४२. प्रतिमा० ३।४—पं० १२ भरत, अयोध्यापुरी में प्रवेश से पूर्व

३४३. शाकु० ४।१५—शार्ङ्गरव, काश्यप को वापिस जाने के लिए कहते हुए

३४४. देखिए पीछे परि० १, अनु० ९ (६) भौगोलिक प्रभाव पृ० ५१
आज भी भारत के किन्हीं भागों में यह प्रथा प्रचलित है। जलस्थान के अभाव में वाहन तक छोड़कर जल बिखेरने का दृश्य तो प्रायः सर्वविदित है ही।

३४५. क्लेशभीरुरकृतज्ञः सुखासङ्लुब्धो लोकः स्नेहसदृशं कर्मानुष्ठातुमशक्तो निष्फलेनाश्रुपातमात्रेण स्नेहमुपदर्शयन् रोदिति।
—काद० पृ० ३५५

३४६. काद० पृ० २८२, चन्द्रापीड, महाश्वेता से, उसके विषय में जानने के लिए

३४७. हर्ष च० ८, पृ० २३८, पं० २४-२५

३४८. 'अनुचित उपचारो हृदयस्य परिभवादपि महद्दुःखमुत्पादयति।'
—मुद्रा० १।२०—सं० १३६, चन्दनदास

३४९. कु० ५।७३, (शिवजी को पार्वती के अयोग्य बताता हुआ ब्रह्मचारी)

३५०. काद० पृ० ४१४, मदलेखा द्वारा चन्द्रापीड को कादम्बरी का सन्देश

३५१. रघु० १।७९, (सुरभि को नमस्कार न करने से राजा दिलीप को सन्तान न हुई)

३५२. मिलाइए कु० २।४०, तथा पीछे परिच्छेद १०, अनु० ५

३५३. किरात० १।३० पृ० ३५५

३५४. तुलनार्थ—'विषस्य विषमौषधम्', 'कण्टकेनैव कण्टकम्', 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'
—संस्कृत-लोकोक्तियां

३५५. किरात० ११।२९
तुलनार्थ—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' —लोकोक्ति
तथा—'Do unto others as you wish to be done by others.'
—English Proverb

३५६. यथा—'चन्दनं खलु मया पादुकोपयोगेन दूषितम्'
—मालवि० ५।९—देवी, पं० २०१-२
एवं—'स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते' —वही ५।१२
इन दोनों में 'मया' एवं 'वा' के कारण सामान्यात्मकता नहीं रही है। लोक में प्रचलन पाने के लिए इनमें कुछ परिवर्तन हो सकता है।
इनका भाव इस सूक्तिसे तुलनीय है
—'मणिर्लुठति पादेषु, काचः शिरसि धार्यते' —हितोपदेश सुहृद्भेद ७०

३५७. शिशु० ९।६८ (नायक के विरह में अमृतवर्षी चन्द्रकिरणें भी नायिका को जलाती हैं।)

३५८. चारु० ३।१—पं० ११-१२ विदूषक, वीणा सुनते-सुनते ऊबकर कहता है। खाने के आधार पर कही यह सूक्ति खद्दू विदूषक के मुंह पर खूब फबती है।
तुलनार्थ—'अवहास्योऽतिमनोरथोऽक्रमश्च' —बुद्ध० ५।३६
तथा—'अति सर्वत्र वर्जयेत्', या' 'Excess of every thing is bad'
—लोकोक्तियां

३५९. मिलाइए—'मनागम्यावृत्त्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी।'
'क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः?' —शिशु० २।४३

३६०. मुद्रा० १।२१—सं० १४०, चाणक्य से आदर पाकर सशंकित चन्दनदास

३६१. मालवि० १।१५—पं०२५४-५५, परिव्राजिका, राजा के रहते 'प्राश्निक' पद के लिए स्वयं को अनुपयुक्त बताती हुई
तुलनार्थ—'घोड़े मरें तो गधों को राज मिले' —हिन्दी लोकोक्ति

३६२. विक्र० ३।७—राजा

३६३. शाकु० ६।३०
तुलनार्थ—'तृणेन कार्यं भवतीश्वराणाम्' —हितो० सुहृद्भेद ६८
तथा—'जहां काम आवे सुई कहा करे तरवारि?' —रहीम

३६४. शिशु० २।५४
तुलनार्थ—'चोट तभी करनी चाहिए जब लोहा पूरी तरह गरम हो।'
—लोकोक्ति

३६५. दूत० २८—वासुदेव; दुर्योधन को नीति समझाते हुए

३६६. किरात० ४।२०

३६७. मित्राणि शत्रुत्वमुपानयन्ती मित्रत्वमर्थस्य वशाच्च शत्रून् ।
नीतिर्नयत्यस्मृतपूर्ववृत्तं जन्मान्तरं जीवत एव पुंसः ॥ —मुद्रा० ५।८

३६८. देखिये—'अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः ।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥'
—शिशु० २।४४, तथा हितो० विग्रह० ६

३६९. देखिए—'तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः ।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः ॥' —शिशु० २।८३

३७०. देखिए—'असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा ॥' —वही २।८४

३७१. रघु० १५।१७

३७२. शाकु० ६।१—सं० २०, द्वितीयः

३७३. सौन्दर० १६।४६

३७४. देखिए—'अजातवत्सां यदि गां दुहीत नैवाप्नुयात्क्षीरमकालदोही ।
कालेऽपि वा स्यान्न पयो लभेत मोहेन शृङ्गाद्यदि गां दुहीत ॥'
तथा—'आर्द्राच्च काष्ठाज्ज्वलनाभिकामो नैव प्रयत्नादपि वह्निमृच्छेत् ।
काष्ठाच्च शुष्कादपि पातनेन नैवाग्निमाप्नोत्यनुपायपूर्वम् ॥'
—सौन्दर० १६।५०, ५१

३७५. शाकु० ७।१३ । तुलनार्थ—'वयो गते किं वनिताविलासो ? जले गते किं खलु सेतुबंधः' ? —सेतु शब्द पर उद्धृत, V.S. Apte. p. 613

३७६. वही ७।६—राजा

३७७. 'वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ?' —कु० ५।४४
तुलनार्थ—'अपर्वणि ग्रहकलषेन्दुमण्डला विभावरी कथय कथं भविष्यति ?'
—मालवि० ४।१६

३७८. 'भवन्ति वाचोऽवसरे प्रयुक्ता ध्रुवं फलाविष्टमहोदयाय ।' —कु० १२।४३

३७९. वैराग्य० ७५
तुलनार्थ—'न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते वह्निना गृहे ।' —संस्कृत-लोकोक्ति
तथा—'का बरखा जब कृषि सुखानी ।' —हिन्दी लोकोक्ति

३८०. 'समये हि सर्वमुपकारि कृतम् ।' —शिशु० ९।४३

३८१. 'काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ।' —रघु० १२।२६

३८२. 'कार्येष्ववश्यकार्येषु सिद्धये क्षिप्रकारिता ।' —कु० १०।२५
तुलना कीजिए—'शुभस्य शीघ्रम् ।' —लोकोक्ति

३८३. वीरस्वभावोऽपि च संपादितससंभ्रमाभ्युत्थानः ।'—हर्षच० ८ पृ० २३८, पं० १४

३८४. किरात० ५।१६.

३८५. 'अपरिनिष्ठितस्योपदेशस्यान्याय्यं प्रकाशनम् ।' —मालवि १।१७—देवी

३८६. शिशु० ८।२०

३८७. बाल० २।६, शाप के भय को भगाता हुआ कंस

३८८. यौग० ३।० पं० २२-२३—त्रिदूषक

३८९. कु० १२।४१ (अपने को ही तारकासुर के रोकने में समर्थ मानते हुए शिवजी)
तुलना कीजिए—
'उद्धृतौ भवति कस्य वा भुवः श्रीवराहमपहाय योग्यता ?' —शिशु० १४।१४
'ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः ?' —वही १।३८

३९०. वैराग्य० ९२

३९१. 'य आत्मबलं ज्ञात्वा भारं तुलितं वहति मनुष्यः ।
तस्य स्खलनं न जायते न च कान्तारगतो विपद्यते ।।'
तुलनार्थ देखिये हितोपदेश विग्रह ८ —मृच्छ० २।१४

३९२. काद० पृ० ६१३ । तपस्या करती महाश्वेता के प्रति आकृष्ट वैशम्पायन

३९३. शिशु० ५।६

३९४. मिलाइए—'अनुरूपचेष्टः स्वजात्युचितव्यापारः सन्' —वहीं मल्लिनाथ

३९५. हर्षच० ३, पृ० १०६, पं० ४

३९६. शिशु० १५।२२

३९७. सौन्द० १०।४५

३९८. 'कुलार्थं धार्यते पुत्रः', 'पोषार्थं सेव्यते पिता ।'
'आशयाच्छ्लिष्यति जगन्नास्ति निष्कारणा स्वता ।' —बुद्ध० ६।१०

३९९. सौन्दर० १५।३८

४००. शिशु० २।६५

४०१. मृच्छ० ४।२१ (शर्विलक, मदनिका की सम्मति की प्रशंसा करते हुए)

४०२. रघु० ३।४६

४०३. यौग० १।११

४०४. मृच्छ० ६।१७

४०५. स्वप्न० १।१०

४०६. मृच्छ० १।५६—वसन्तसेना. पृ० ६२

४०७. स्वप्न० ६।१५—राजा, पं० १८-१९

४०८. हर्ष च० १, पृ० १६, पं० १८

४०९. पञ्च० २।३९— भगवान (युधिष्ठिर) अभिमन्यु के सत्कार से लोकनिन्दा की आशंका करते हुए

४१०. उत्तर० १।४१ । (लोकापवाद के कारण सीता को त्यागने का निश्चय करते हुए राम)

४११. वही १।१४ । (रावण के यहां सीता के रहने के अपवाद पर सोचते हुए राम)
इसके ये पाठान्तर इसका लोकोक्ति होना सूचित करते हैं ।

४१२. रघु० १४।४० । (सीता को पवित्र जानकर भी लोकवाद को अधिक बलवान् बताते हुए राम)

४१३. काद० पृ० ५८२, तारापीड, वैशम्पायन पर रुष्ट शकुनास से

४१४. चन्द्रमा के कलंक को चन्द्रमा की भूमि के गर्त व पर्वतों की छाया तो कहा जा सकता है, किन्तु इस भूमण्डल की छाया नहीं। कालिदास को संभवतः 'चन्द्रभूमि की छाया' अर्थ ही अभिप्रेत रहा होगा।

४१५. दूत० १८

४१६. सौन्दर० ८।४

४१७. शिशु० २।४६, ५३

४१८. शिशु० २।८५

४१९. रघु० १८।१३

४२०. हर्षच० ५७, पृ० २२१, पं० १२

४२१. मेघ० १।५४

४२२. किरात० १३।३२

४२३. '...2. An accomplished act. 3. A valorous or glorious act,...'

—V.S. Apte. p. 59

४२४. शिशु० ५।१४

४२५. मालती० ३।११

४२६. किरात० २।३२

४२७. वही ६।३८

४२८. वही १०।२९

४२९. अवि० २।१०

४३०. हर्षच० ६, पृ० १८१, पं० १३

४३१. 'प्रिया जाया यस्य। 'जायाया निङ्'। कुहना ईर्ष्या, शङ्का वा।'

—वहीं शंकर कवि

४३२. नीति० १९

४३३. वही १७

४३४. तुलनार्थ—'Blushing is a token of virtue.' —S. P. L., p. 23

४३५. नीति० ३३

४३६. देखिए—ऊपर परि० ११, अनु० ९

४३७. देखिए—ऊपर परि० ११, अनु० ११ (ख, ग), १३ (क, ख), तथा १४ 'सत्कार' क्रमशः पृ० ४०७, —१०, ४१८—१९ तथा ४२२

४३८. देखिए—ऊपर परि० ११, अनु० १२ पृ० ४१२—१३

४३९. देखिए—ऊपर परि० ११, अनु० ४, वाणी पृ० ३८०

४४०. देखिए—ऊपर परि० ११, अनु० ३, बुद्धि पृ० ३७२

००

उपसंहार

यहां सूक्तियों के इस अध्ययन पर एक विहंगम दृष्टि डालना अपेक्षित है। तदर्थ इस सम्पूर्ण मनोविश्लेषण में प्रस्तुत कतिपय संकेतों एवं विशिष्ट निष्कर्षों का उल्लेख करते हुए सूक्तियों और सूक्तिकारों के वैशिष्ट्य को देखा जा सकता है।

अब तक सूक्ति का स्वरूप अनिश्चित चला आ रहा था। किसी भी कथन को शोभन मानकर कोई उसे सूक्ति कह सकता था। परन्तु आधुनिक विद्वानों ने सूक्तियों का चयन किसी विशिष्ट आधार पर करने का प्रयास किया है। इस अध्ययन में उस आधार को खोजने और अपनाने का यत्न हुआ। परम्परागत एवं आधुनिक सूक्ति-संग्रहों को देखते हुए सूक्ति के व्यापक स्वरूप को दो प्रकार का कहा जा सकता है : १. विशेष-वर्णनात्मक, और २. सामान्य-तथ्यात्मक।[1]

प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल सामान्य-तथ्यात्मक सूक्तियों को विश्लेषण का विषय बनाया गया है। उनमें इन गुणों की अनिवार्यता निश्चित की गई है—१. तथ्य का प्रतिपादन या प्रेरणा, २. भाषा की प्राञ्जलता एवं सुगठितता, ३. संक्षिप्तता या सारगर्भितता, ४. सामान्यात्मकता, ५. अर्थ की पूर्णता। इसके अतिरिक्त, सूक्ति की काव्यात्मक-सरसता या भावप्रवणता और व्यञ्जनात्मकता उसमें शोभनत्व की वर्धक होने से उसके उत्कर्षाधायक गुणों में प्रमुख स्थान रखती है।[2]

सूक्ति और लोकोक्ति की तुलना करते हुए दोनों में अत्यधिक साम्य पाया गया है। इनका अन्तर मुख्यतः इसी में निहित है कि सूक्ति के साथ साहित्यगत प्रयोग अनिवार्य है और लोकोक्ति के साथ लोकगत।[3] 'सूक्ति' और 'सुभाषित' समानार्थक हैं किन्तु 'सूक्ति' शब्द का प्रयोग 'सुभाषित' की अपेक्षा कम हुआ है। यह एपोफ़्थैम, सूक्त, सूत्र, नीति-पद, मुक्तककाव्य, चित्रकाव्य, लौकिक-न्याय, मैग्ज़िम, वक्रोक्ति, छेकोक्ति आदि से कुछ समानताएँ रखने पर भी उनसे भिन्न है।[4]

सूक्ति का अध्ययन कई कोणों से हो सकता है। प्रस्तुत अध्ययन में उसका विचारपक्ष ही प्रमुख रहा। कलापक्ष की दृष्टि से विवेचन करने पर सूक्तियों में अनुप्रास, श्लेष, यमक आदि शब्दालंकार, तथा उपमा, रूपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तर-न्यास, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अर्थालंकारों का प्रयोग प्रमुखरूपेण दृष्टिगत होता है।[5] सूक्ति गद्यात्मक भी हो सकती है, पद्यात्मक भी।[6] पद्यमय सूक्तियों में प्रायः छन्द पूरे होते हैं, पर कभी-कभी अधूरे छन्दों में भी सूक्तियां कह दी जाती हैं। शैली की दृष्टि से सूक्तियों में व्यंग्यात्मक और प्रश्न-शैली अधिक प्रभावशाली

हुआ करती है।

सूक्तियों में काव्यत्व है या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में भाव-पक्ष से अनुप्राणित सूक्तियों को काव्यत्व से वंचित नहीं किया जा सकता।[७] और प्रायः सूक्तियों की संरचना में अनेक स्थलों पर भाव-प्रवणता दृष्टिगत होती है, परन्तु सर्वत्र इसका होना अनिवार्य भी नहीं। हां, तथ्यात्मिका होने के कारण विचारपक्ष के अभाव में सूक्ति की कल्पना भी नहीं हो सकती। सूक्ति के सौष्ठव के लिए कल्पना-शक्ति का प्रयोग भी अत्यावश्यक है। वस्तुतः सूक्ति के 'सु' पद से—'कल्पना एवं भाव-सौष्ठव द्वारा सुन्दर होना,' तथा 'उक्ति' पद से—'विचारपूर्ण कथन होना' सूक्ति के लिए आवश्यक ठहरता है। कल्पना, भाव, एवं विचार इन तीनों अन्तस्तत्त्वों के आधार पर सूक्ति के काव्यत्व की कोटि यद्यपि निर्धारित की जा सकती है,[८] तथापि इस सम्बन्ध में सबकी दृष्टि में एकरूपता की सम्भावना कम ही है।

सूक्तियों की रचना पर परम्परा, वातावरण और कवि के व्यक्तित्व का प्रभाव अवश्यंभावी है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा व्यक्ति के मानस-पटल और व्यवहार पर पड़ने वाले ऐसे विविध प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार, वस्तुतः सूक्तियों की आधारभूत भावनाओं का सूक्ष्म अध्ययन मनोविज्ञान का उपयुक्त विषय हो सकता है, तथापि साहित्य-समीक्षा में भी उसका अपना अपरिहार्य महत्त्व है। सूक्तियों से सम्बद्ध इन मनोवैज्ञानिक प्रभावों को धार्मिक, शास्त्रीय, दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक, भौगोलिक एवं व्यक्तिगत अनुभूतियों के रूप में देखा गया है।[९] उनका उल्लेख गत परिच्छेदों में भी कहीं स्पष्टतः किया गया है और कहीं संकेत-मात्र। इसके अतिरिक्त, सूक्तियों में कवि की सूक्ष्म अनुभूतियों का सार निहित होता है, और मानव-जीवन की मनस्विता से सम्बद्ध अभिव्यक्ति होने के कारण वे स्वतः एक मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्वीकार योग्य होती हैं, चाहे उनके पीछे कोई मनोवैज्ञानिक प्रभाव खोजे न भी जा सकें।

सूक्तियों में मानव-जीवन पर प्रतिफलित विचार अनिवार्यतः आते हैं। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध में सूक्तियों के विचार-पक्ष का आधार लेने के कारण मानव-जीवन का स्वरूप अध्ययन का विषय बना है, और उसे इन दस अंगों में बांटा गया है—१. समाज-संगठन, २. राजा और राज्य, ३. परिवार, ४. नारी, ५. मानव-स्वभाव, धार्मिक धारणाएं एवं विश्वास, ७. प्रेम और सौन्दर्य, ८. महनीय गुण, स्वभाव और आचार, ९. निन्दनीय दोष स्वभाव और आचार, १०. व्यवहार एवं नीति[१०]। प्रत्येक अंग से सम्बद्ध सूक्तियों से प्रकट होने वाले विशिष्ट तथ्य एवं भाव आदि का विवेचन प्रत्येक परिच्छेद के निष्कर्ष रूप में कर दिया गया है।[११] उनका यहां एकैकशः उल्लेख करना पुनरुक्ति ही होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि मानव-जीवन के इन सब अंगों के प्रति जो सूक्तियां कही गई हैं, उनमें सूक्तिकार की त्रिविध दृष्टि-प्रवृत्ति रही है—१. सामाजिक तथ्य और भावनाओं का प्रकाशन, २. मानवीय भावनात्मक तथ्यों की अभिव्यक्ति, ३. वास्त-

विकता पर सिद्धान्त की या यथार्थ पर आदर्श की स्थापना। पहली में कवि की प्रवृत्ति मुख्यतः समाजपरक है और इसलिए प्रमुखतया मानव-जीवन के बाह्य-पक्ष को प्रस्तुत करती है। दूसरी और तीसरी में सूक्तिकार की चेतना प्रधानतः भावनापरक होकर मानव का अन्तःपक्ष विचारती है। दूसरी और तीसरी प्रवृत्ति का भेद सूक्ति में प्रस्तुत विचार के प्रति कवि की दृष्टि पर निर्भर है। जहां वह यथार्थपरक है वहां दूसरी प्रवृत्ति है और जहां आदर्श-परक है वहां तीसरी। सूक्तियों में विचारित मानव जीवन के उपर्युद्धृत दस अंगों में से प्रथम चार में सूक्तिकार की पहली प्रवृत्ति मुख्यतया दिखाई देती है तथा अगले छः में दूसरी व तीसरी घुल-मिल गई हैं, यद्यपि कुछ सीमा तक ५, ६ व ७ अंगों में दूसरी तथा ८, ९ व १० में तीसरी प्रवृति को प्रधान कहा जा सकता है।

मानव जीवन का जो स्वरूप इस भांति सूक्तियों में बिम्बित हुआ है उसकी सामान्यात्मकता (generalisation) में मात्रा का अन्तर है। इस दृष्टि से यह स्वरूप कहीं 'सामान्य' है, तो कहीं 'विशेष'[१२], अर्थात् कहीं तो मानव-मात्र का परिचायक है और कहीं पर देश-काल एवं परिस्थिति-विशेष से नियन्त्रित व्यक्ति-समूह का। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'सामान्य' सूक्तियों के तथ्य को भी पूर्णतः सार्वत्रिक सत्य कहा जा सके। उनमें भी कवि की वैयक्तिक दृष्टि निहित हुआ करती है, और किसी व्यक्ति या देश-विदेश को उससे मतभेद हो सकता है। उदाहरणार्थ नारी के प्रति कही गई सूक्तियां कुछ इस प्रकार हैं कि यद्यपि उनमें नारी-मात्र के विषय में तथ्य का स्थापन हुआ है, परन्तु फिर भी वे मुख्यतः भारतीय सीमा में ही रखकर देखने योग्य हैं। 'मानव-स्वभाव', 'प्रेम एवं सौन्दर्य', 'महनीय और निन्दनीय भाव', तथा व्यवहार एवं नीति', से सम्बद्ध सूक्तियों को मुख्यरूपेण 'सामान्य' प्रकार की कहा जा सकता है और शेष को 'विशेष' प्रकार की।

संस्कृत-सूक्तियों में जिस प्रतिभा का परिचय मिलता है वह बहुमुखी होने के साथ-साथ चिन्तन और भावना दोनों से मण्डित है। 'व्यवहार एवं नीति', तथा 'मानव-स्वभाव'-सम्बन्धी सूक्तियां संस्कृत कवियों की चिन्तन-शक्ति से विशेषतः प्रभावित हैं, तो 'महनीय और निन्दनीय भावों' तथा विश्वास'-विषयक सूक्तियों में उनकी उदात्त व धार्मिक भावनाएं मुखरित हो उठी हैं।

सूक्तियों के आधार पर साहित्य की प्रवृत्ति को परखना सहल है और पुष्ट आधार पर आधारित भी। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि संस्कृत की सूक्तियों में पलायनवादी विचारों को प्रायः स्थान नहीं मिला है। यद्यपि अश्वघोष एवं भर्तृहरि जैसे सन्त कवियों की सूक्तियों में त्याग-वैराग्य-भावना अभिव्यक्त हुई है, तथापि उसे व्यक्तिगत एवं सीमित परिस्थिति में देखना ही उचित जान पड़ता है। उसके आधार पर संस्कृत काव्य में व्यापक रूप से जीवन के प्रति अनास्था देखना गलत होगा। इन दो कवियों की भावना को समस्त संस्कृत-साहित्य की प्रतिनिधि-भावना के रूप में भी नहीं स्वीकारा जा सकता। संस्कृत की अधिकांश सूक्तियां तो जीवन की वास्तविकता

से परिचित कराकर उससे जूझने की प्रेरणा देती हैं। हां, इतना अवश्य है कि संघर्ष में हारे हुए मानव को सुसंस्कृत और उदात्त-भावनाओं की लोरी देकर सन्तोष का सुख देने में भी पीछे नहीं रहतीं।

प्रश्न उठता है कि क्या संस्कृत सूक्तियों में एकसूत्रता है? प्रत्येक कवि का स्वर एक-दूसरे से भिन्न तो नहीं है? सूक्तियां देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि परस्पर-विरोधिता के स्थल भी आये हैं, यथा—सन्तोष और महत्त्वकांक्षा में से किसे अपनाया जाय, इस पर भर्तृहरि और माघ का स्पष्ट विरोध है;[13] तथापि ऐसे उदाहरण बहुत नगण्य हैं। कहीं-कहीं उनके दृष्टिकोण भी भिन्न हैं।[14] किन्तु प्रायः सभी कवियों के विचार एक-दूसरे के पोषक हैं—ऐसा प्रस्तुत अध्ययन में स्थल-स्थल पर देखा जा सकता है।

कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि उत्तरवर्ती कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों के विचारों को आगे बढ़ाया है, यथा—माघ ने कई बार कालिदास और भारवि के आधार पर नई उद्भावनाएं की हैं।[15] कभी-कभी पश्चाद्भावी कवि पहले कवि के भावों और विचारों को केवल कहते ही नहीं हैं अपितु उनके द्वारा दिए गए दृष्टान्त भी अपनी सूक्तियों में प्रयुक्त कर देते हैं। उदाहरणार्थ—व्यक्ति की मर्यादितता के लिए कालिदास, भारवि और माघ ने भी समुद्र का ही दृष्टान्त दिया है।[16]

यद्यपि कवियों में इस प्रकार का विचार-साम्य ही अधिक है, तथापि प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्टता है, अपनी शैली है! कोई कवि आदर्शवादी अधिक है तो कोई कुछ कम। उदाहणार्थ शूद्रक की सूक्तियों में यथार्थ का अधिक प्रभाव देखा जा सकता है।[17] इसी प्रकार शैली की दृष्टि से कोई शिक्षा देने को प्रमुखता देता है, यथा—अश्वघोष और भर्तृहरि, तो कोई तथ्य प्रस्तुत करने या परोक्ष प्रेरणा देने में अधिक रस लेते हैं, यथा—भास एवं कालिदास।

सूक्तियों की भाषा-शैली आदि पर सूक्तिकार की काव्यगत दृष्टि का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। जो कवि अपने काव्य में जिस शैली को अपनाता है वही उसकी सूक्तियों में भी उतर आती है। अश्वघोष, भास, कालिदास, शूद्रक हर्ष और भर्तृहरि की सूक्तियों में प्रसाद, सरलता और स्पष्टता आदि गुणों का प्राधान्य है, तो भारवि और माघ की सूक्तियों में ओजस्विता है। साथ ही उनमें क्लिष्टता, अस्पष्टता आदि दोष (माघ में कुछ अधिक, भारवि में कुछ कम) प्रायः आ जाते हैं। दूसरी ओर विशाखदत्त और भवभूति की सूक्तियों में इन दोनों शैलियों के मध्य का मार्ग दृष्टिगोचर होता है। वाण अवश्य एक ऐसे सूक्तिकार हैं जो सूक्तियों को जब जैसा चाहें वैसा रूप दे देते हैं, और संभवतः गद्य में लिखने के कारण ऐसा करना उनके लिए भारवि (जो सूक्तियों में यथासंभव सरलता की ओर झुक जाते हैं) और माघ की अपेक्षा कुछ अधिक सरल है।

काव्यगत दृष्टिकोण का एक और प्रभाव भी सूक्तियों पर देखा जा सकता है। भारवि और माघ, जो अलंकृत शैली के कवि हैं और काव्य-परम्पराओं का पालन करते

हुए लिखते हैं, उनके काव्यों में सूक्तियों—या नीतिवाक्य कहें तो अधिक उपयुक्त रहेगा—का प्रवेश कराया जाना स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है और वहां तो और भी अधिक खलने लगता है जहाँ वे नीतिकथन करने पर उतारू ही हो जाते हैं। उदाहरण के लिए भारवि ग्यारहवें और माघ दूसरे सर्ग में। यह संभावना करना निराधार न न होगा कि इस प्रवृत्ति की प्रेरणा इन्हें कालिदास से ही मिली होगी, क्योंकि रघुवंश के १७वें सर्ग में ऐसा लगता है कि अन्य विषय के अभाव में कवि ने राजनीतिशास्त्र के आधार पर राजा 'अतिथि' का प्रशंसापूर्ण वर्णन अपना लिया है।[१८] अनावश्यक नीतिवाक्यों को प्रबन्धकाव्य में अपना लेने का यह प्रारंभमात्र प्रतीत होता है, जिसका पूर्ण परिपाक माघ में दिखाई देता है। यह दोष अन्य कवियों में प्रायः नहीं मिलता। हां, अश्वघोष के काव्य में भी सूक्तियों या नीतिवाक्यों का सप्रयास समावेश हो गया है, पर इसका कारण काव्य-परम्परा न होकर उनका धार्मिक उद्देश्य प्रतीत होता है।

सूक्तियों में सूक्तिकार का निजी वैशिष्ट्य भी कहीं-कहीं विशेष ध्यान आकर्षित करता है, जिसके मूल में कवि की परिस्थितियां और अनुभूतियां ही रही होंगी। प्रबन्ध के आधारभूत ग्यारह कवियों की सूक्तियों को तुलनात्मक दृष्टि से जांचने पर[१९] ये विशेषताएं उभरती हैं।

अश्वघोष की वैराग्य-भावना, धार्मिक-झुकाव और उपदेश-प्रवृत्ति के दर्शन सूक्तियों में खूब होते हैं। कारण, अश्वघोष कवि ही नहीं बौद्ध धर्म एवं दर्शन के आचार्य भी थे। संभवतः इसीलिए धार्मिक धारणाओं और विश्वास पर उनकी सूक्तियां एक ओर तो अन्य सभी से अधिक हैं और दूसरी ओर उनकी निजी सूक्तियों में भी इनका ही प्रथम स्थान है। उनकी 'व्यवहार एवं नीति' तथा 'नारी'-सम्वन्धी सूक्तियां दूसरे तथा तीसरे स्थान पर आती हैं। नारी-विषयक सूक्तियां कहने में भर्तृहरि के पश्चात् वे ही सबसे आगे हैं।

सूक्ति-संख्या की दृष्टि से द्वितीय स्थान पाने वाले भास की 'राजा और राज्य' सम्बन्धी सूक्तियां अन्य सबसे अधिक हैं, और पारिवारिक सूक्तियों में वे कालिदास के बाद स्थान पाते हैं। उनकी अपनी सूक्तियों में क्रमशः व्यवहार एवं नीति, परिवार राजा और राज्य मानव-स्वभाव, धार्मिक धारणाओं और विश्वासों से सम्बद्ध सूक्तियों की अधिकता है। यदि मानव-जीवन के बाह्य-पक्ष की दृष्टि से सूक्तियों पर विचार किया जाय तो भास कालिदास से भी बढ़कर दिखाई देते हैं।

कालिदास की सूक्तियां न केवल संख्या में सबसे अधिक हैं अपितु वे अनेक क्षेत्रों में औरों से बढ़कर हैं। उन्होंने व्यवहार एवं नीति, प्रेम एवं सौन्दर्य, महनीय भाव, मानव-स्वभाव, परिवार तथा विश्वासों को क्रमशः विशेष महत्त्व दिया है और एत-द्विषयक सूक्तियों में उनका योगदान किसी भी अन्य कवि से अधिक है। हां, संख्या की दृष्टि से महनीय भावों और विश्वासों के विषय में क्रमशः भारवि और अश्वघोष एक-दो सूक्तियां अधिक कह गये हैं। कालिदास विशेषतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि कहाते हैं और यह धारणा इस तथ्य से भी पुष्ट होती है कि इस विषय पर अकेले उनकी

सूक्तियां प्रस्तुत अध्ययन के अन्य दसों कवियों की कुल सूक्तियों के आधे से भी अधिक हैं। वस्तुतः कालिदास को भावनात्मक सूक्तियों का आदर्शोन्मुख कलाकार कहा जा सकता है, क्योंकि उनकी सूक्तियों के क्षेत्र में मानव-जीवन के इसी रूप का प्रवेश सर्वाधिक हुआ है। साथ ही जैसा कि पिछले विवेचन में स्थान-स्थानं पर देखा जा सकता है उनकी सूक्तियों में जीवन का यह रूप और आदर्श अन्यों की अपेक्षा अधिक व्यंजनापूर्ण ढ़ग से अभिव्यक्त हुआ है। सूक्तियों की इन विशेषताओं से ऐसा भी प्रतीत होता है कि कालिदास का वातावरण एक शान्त और व्यवस्थित जीवन से युक्त है, जिसमें एक ओर तो उच्च आदर्शो के प्रति आस्था और उत्साह है, और दूसरी ओर सौन्दर्य जैसे ललित भावों के प्रति आकर्षण का अवसर भी।

शूद्रक ने अपने एकमात्र नाटक में कालिदास के सात काव्यग्रन्थों की सूक्तियों की तुलना में उनकी तिहाई के लगभग सूक्तियां दे दी हैं और उनमें व्यवहार एवं नीति, निन्दनीय दोष, विश्वास आदि को विशेष स्थान मिला है। सामाजिक दशा के यथार्थ को सूक्तियों में प्रतिफलित करने में वे प्रथम स्थान रखते हैं। संभयतः इसीलिए निन्दनीय आचरण सम्बन्धी सूक्तियां सर्वाधिक उन्ही की हैं। परिवार, राजा और राज्य, प्रेम एवं सौन्दर्य आदि के विषय में उनकी सूक्तियां नगण्य सी हैं। उदात्त भावनाओं का भी उनमें कम अवसर आया है। वस्तुतः रूढिग्रस्त उच्च आदर्शों का उल्लेख न कर के वास्तविक गुणों (virtues) की ओर कवि का ध्यान गया। उसे समाज के दलित और पीड़ित वर्ग में भी जीवन के सच्चे आदर्श उभरते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस-प्रकार शूद्रक की सूक्तियां उस मनोभूमि को प्रतिबिम्बत करती हैं जिसमें परम्परागत धारणाओं एवं व्यवस्थाओं के प्रति विद्रोह का भाव है''। यथार्थ का चित्रण तो है, पर मानव के उच्च गुणों को भुलाया नहीं गया है, और नैतिकता के प्रति सच्ची आस्था है।

राजनीति-सम्बन्धी नाटक लिखने के कारण विशाखदत्त की सूक्तियों में राजा और राज्याविषयक सूक्तियों की प्राथमिकता स्वाभाविक ही है। अकेले 'मुद्रा-राक्षस' में भास के १३ नाटकों की राज्यपरक सूक्तियों की दो तिहाई सूक्तियां होने का कारण भी यही है। अन्य विषयों का विशेष अवसर न होने पर भी व्यावहारिक तथ्यों और महनीय आदर्शों का उल्लेख करने में कवि ने कम रस नहीं लिया है।

महनीय भावों और विशेषकर उदात्त भावनाओं के प्रकाशन में भारवि का ओजस्वी अर्थ-गौरव विशेष प्रवृत्त हुआ है, और तदन्तर व्यावहारिक विषयों पर। इन्हीं दो क्षेत्रों को इनकी सूक्तियों का दो तिहाई भाग समर्पित है। सूक्ति-संख्या की दृष्टि से चतुर्थ-स्थान होने पर भी भारवि की उल्लेखनीय विशेषता यही है।

सूक्ति संस्था की दृष्टि से तृतीय स्थान पाने वाले बाण की सूक्तियों में क्रमशः व्यवहार एवं नीति, महनीय गुण आदि, मानव-स्वभाव, विश्वास, समाज-संगठन, प्रेम एवं सौन्दर्य ने स्थान पाया है। अन्य कवियों की तुलना में वे समाज-संगठन पर सर्वाधिक कहते हैं, और मानव-स्वभाव तथा प्रेम एवं सौन्दर्य के पिषय में कालीदास के बाद उनका ही स्थान है। शकुन आदि सामान्य विश्वासों की पर्याप्त चर्चा उन्होंने अवश्य

की है, तथापि अन्य धार्मिक धारणाएं और विश्वास उनकी अपेक्षा अश्वघोष और कालिदास अधिक व्यक्त कर जाते हैं। अन्य सभी गुण होने पर भी, विशद-वर्णन की प्रवृत्ति के कारण वाण की सूक्तियों में अनेक वार संक्षिप्तता की वांछनीयता वनी रहती है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे संक्षिप्त या सारगर्भित सूक्तियां नही लिख सकते। वस्तुत: उन्हें दोनों प्रकार की सूक्तियां भाती हैं, इसके उदाहरण रूप में ऐसे स्थलों को लिया जा सकता है जहां कवि एक साथ ही दोनों प्रकार की सूक्तियां कह जाता है।[21]

हर्ष का स्थान सूक्ति-संख्या की दृष्टि से सवसे पीछे है। तीन नाटकों में भी वे शूद्रक के अकेले नाटक की तुलना में तिहाई के लगभग ही सूक्तियां दे पाए हैं। उनकी सूक्तियों में प्रेम एवं सौन्दर्य, धार्मिक धारणाओं तथा विश्वासों को प्रमुख स्थान मिला है। समाज-संगठन पर सर्वाधिक सूक्तियां कहने वाले और मानव-स्वभाव के प्रकाशन में दूसरा स्थान पाने वाले वाण की तुलना में हर्ष ने इन विषयों पर कुछ भी नहीं कहा हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि हर्ष की रचनाओं में वाण का मस्तिष्क लगा हो, यह संभावना[22] भ्रान्त है।

भर्तृहरि ने नारी के विषय में अन्य सबसे अधिक कहा हैं। किन्तु उनकी निजी सूक्तियों में नारी से भी अधिक व्यवहार एवं नीति, महनीय गुण तथा धार्मिक धारणाओं और विश्वासों को प्राथमिकता मिली है। निन्दनीय दोषों की निन्दा करने में भी शूद्रक एवं माघ के बाद उन्हीं की सूक्तियां विशेष प्रवृत्त हुई हैं। उनकी सूक्तियों के समष्टि रूप में अनुशीलन से कुछ अन्तर्विरोध सा प्रकट होता है। कहीं तो उनमें यथार्थ और आदर्श की दृष्टि से विरोध हो गया है, जैसे—सज्जन 'सततदुर्गत' है, किन्तु उसकी विपत्तियां अस्थायी वताई गई हैं।[23] कहीं शृंगार और वैराग्य आदि का अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट हो उठता है। उदाहरणार्थ—एक ओर तो वे मानते हैं कि—'स्त्री के अधरमधु का पान भाग्यवान करते हैं।'[24] तथा दूसरी ओर स्त्री को ही सव दुःखों का कारण वताते हैं।[25] संभवत: इस प्रकार के दृष्टिभेद का आधार कवि के व्यक्तिगत जीवन की विसंगतिपूर्ण अनुभूतियां ही हैं!

भवभूति की सूक्तियों में व्यवहार एवं नीति, परिवार तथा धार्मिक धारणाओं और विश्वासों को क्रमशः प्रमुखता दी गई है। उनमें यत्र-तत्र वैदिक प्रभाव परिलक्षित होता है, न केवल सूक्ति-रचना पर ही अपितु विचारों पर भी।[26] वैदिक विषयों का पाण्डित्य और वैदिक विधि-विधानों का सतत अभ्यास ही सम्भवत: इस प्रकार की सूक्तियों की उद्भावना का निमित्त रहा होगा।

माघ ने अपनी सूक्तियों में व्यवहार एवं नीति, तथा महनीय एवं निन्दनीय भावों को सर्वप्रमुख स्थान दिया है। इनकी कुल सूक्तियों का लगभग तीन चौथाई भाग इन्हीं सिद्धान्तपरक विषयों से सम्बद्ध है। यद्यपि वे पापों की बात करना भी बुरा समझते हैं,[27] तथापि 'निन्दनीय-भाव'-विषयक सूक्तियों में प्रथम स्थान शूद्रक के के साथ-साथ उनका भी है। किन्तु शूद्रक की दृष्टि जहां निन्दनीय सामाजिक आचरण के प्रति रही है, वहां माघ की व्यक्तिगत दोषों के प्रति।

इन ग्यारह कवियों की सामूहिक दृष्टि से यदि सूक्तियों की विषय-सामग्री को देखा जाय तो संस्कृत-काव्य की प्रवृत्ति का स्पष्ट उभार सामने आता है। इन सूक्तियों में विषयों का महत्त्व इस क्रम से[२८] बैठता है :—

प्रथम — व्यवहार एवं नीति
द्वितीय — महनीय गुण, स्वभाव एवं आचार
तृतीय — धार्मिक धारणएं और विश्वास
चतुर्थ — प्रेम एवं सौन्दर्य
पंचम — मानव-स्वभाव
षष्ठ — परिवार
सप्तम — निन्दनीय दोष, स्वभाव एवं आचार
अष्टम — राजा और राज्य
नवम — नारी
दशम — समाज-संगठन

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सूक्तियों में मानव-जीवन के बाह्यपक्ष की अपेक्षा अन्तः पक्ष बहुत अधिक व्यक्त किया गया है, तथा उसमें भी करणीय और अकरणीय व्यवहारों का, भावनात्मक आदर्शों और सिद्धान्तों का स्थान सर्वोपरि है। कोई भी सूक्तिकार अपने काव्य में अन्य विषय प्रधान होने पर भी सूक्तियों में इस पक्ष को नहीं भुला पाता। इतना ही नहीं बाह्यपक्ष पर लिखते समय भी उसके उत्कृष्ट अंग को आदर्श रूप में प्रस्तुत करना ही उसे अधिक भाता है। संभवतः इसीलिए समाज के ऊंचे लोगों को ही उन्होंने सूक्तियों का मुख्य विषय बनाया है, और सामान्य लोगों को प्रायः भुला दिया है।[२९], समाज के अप्रशस्य अंग का या निन्दनीय आचरण का उल्लेख भी इसीलिए बहुत कम हुआ है।

ये प्राथमिकताएं न केवल सूक्तिकारों की अपितु भारतीय मानव की ही आदर्शोन्मुखी जीवन-दृष्टि का मानदण्ड कही जा सकती हैं। प्रो० वेस्टरमार्क ने लोकोक्तियों के विषय में ठीक ही कहा है कि उनसे राष्ट्रीय विशेषता आंकी जा सकती।[३०] सूक्तियों के लिए भी यह पूर्णतः सही है।

□□

संदर्भ-संकेत

१. देखिए पीछे परि० १, अनु० ३ (छ)
२. देखिए पीछे परि० १, अनु० ४
३. देखिए पीछे परि० १, अनु० ५
४. देखिए पीछे परि० १, अनु० ६

५. देखिए पीछे परि० १, अनु० ७ (ख, ग)
६. देखिए पीछे परि० १, अनु० ३ (ख)
७. देखिए पीछे परि० १, अनु० ८ (ग)
८. देखिए पीछे परि० १, अनु० ८ (घ)
९. देखिए पीछे परि० १, अनु० ९
१०. देखिए पीछे क्रमशः परि० २ से ११
११. देखिए वहीं सब के अन्तिम अनुच्छेद
१२. सर हरबर्ट रिज़ले ने कहावतों के दो वर्ग निर्धारित किये हैं—'सामान्य' और 'विशेष'। —"Classified as general and particular"
—The people of India., Sir Herbert Risley, p. 125
१३. देखिए पीछे परि० ९, अनु० ८
१४. देखिए पीछे परि० ५, निष्कर्ष
१५. देखिए पीछे परि० ९, अनु० १६ (ग), एवं निष्कर्ष, तथा लेखक का निबन्ध—"माघस्य सूक्तयः" विश्वसंस्कृतम्, मई १९६५, पृ० २-४
१६. देखिए पीछे परि० ९, अनु ११
१७. देखिए पीछे परि० २, अनु० ५
१८. उदाहरण के लिए देखिए—रघु० १७।४७-६१
१९. इनके प्रमाणस्वरूप देखिए—आगे—परिशिष्ट १—'सूक्ति-विषय-विवरण'
२०. उदाहरण के लिए देखिए—पीछे परि० १०, अनु० २, सन्दर्भ २
२१. जैसे देखिए —पीछे परि० १ अनु० ७ में बाण की सूक्तियां, सन्दर्भ २०२
२२. देखिए : डा० हाल का विचार, उद्धृत
—नागानन्द, R. D. Karmarkar Introduction, p. xvi
२३. देखिए पीछे परि० ९, अनु० १६ (घ), सन्दर्भ २३७-३८
२४. देखिए शृं० २५, तथा पीछे परि० ८, अनु० ७ (ज)
२५. देखिए पीछे परि० ५, अनु ६ (ग), (घ)
२६. उदाहरणार्थ देखिए—पीछे परि० ७, अनु० २ (घ) सन्दर्भ २३-२४, व अनु० ५ (ग) सन्दर्भ १८३-१८४
२७. देखिए पीछे० परि० १०, अनु० १, सन्दर्भ ६
२८. देखिए आगे परिशिष्ट १
२९. मिलाइए—पीछे परि० २, अनु० २ (घ) (ङ), व अनु० ५
३०. देखिए—Racial proverbs, Champion, p. LXXVII

परिशिष्ट-१

सूक्ति-विषय-विवरण

(प्रस्तुत अध्ययन के आधारभूत सूक्तिकारों एवं सूक्ति-विषयों के अनुसार)

परि० सं० : विषय :	२ समाज-संगठन	३ राजा, राज्य	४ परिवार	५ नारी	६ मानव-स्वभाव	७ धार्मिक धारणाएं, विश्वास	८ प्रेम-सौन्दर्य	९ महनीय गुण०	१० निन्दनीय दोष०	११ व्यवहार—नीति	कुल योग एवं स्थान
सूक्तिकार :											
१. भास	७	३	३	१५	११	३६	८	१०	५	३१	१२९ सप्तम
२. अश्वघोष	१३	२८	३२	६	२४	२४	१६	२०	१०	४३	२१९ द्वितीय
३. कालिदास	९	१७	३५	१३	३६	३३	५५	४६	९	८७	३४० प्रथम
४. शूद्रक	६	४	२	७	२	११	९	६	१९	४१	१०७ अष्टम
५. विशाखदत्त	६	१८	०	१	३	५	१	६	२	१५	५७ दशम
६. भारवि	४	६	२	१	१०	१०	१३	४८	६	४३	१४३ चतुर्थ
७. बाण	१७	७	१२	५	२९	३०	१६	३४	८	४०	१९८ तृतीय
८. हर्ष	०	२	३	२	१	९	११	२	३	५	३८ एकादश
९. भर्तृहरि	०	३	४	१८	६	२३	७	२८	१४	३०	१३३ षष्ठ
१०. भवभूति	९	२	१६	२	४	१४	११	७	४	२२	९१ नवम
११. माघ	०	१	०	५	१७	७	११	३५	१९	४५	१४० पंचम
योग :	७४	९१	१०९	७५	१४३	२०२	१५८	२४२	९९	४०२	१५९५
विषय-स्थिति :	दशम	अष्टम	षष्ठ	नवम	पंचम	तृतीय	चतुर्थ	द्वितीय	सप्तम	प्रथम	

परिशिष्ट—२

सहायक-पुस्तक-सूची

प्रस्तुत प्रबन्ध के आधारभूत ग्रन्थ

लेखक—पुस्तक का नाम	सम्पादक आदि	प्रकाशक
भास—नाटकचक्रम्	C. R. Devadhar	Oriental Book Agency, Poona
[स्वप्नवासवदत्त, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अविमारक, चारुदत्त, प्रतिमा, अभिषेक, पञ्चरात्र, मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, ऊरुभंग, बालचरित]		
अश्वघोष-सौन्दरनन्द	सं०, अनु०—सूर्यनारायण चौधरी	संस्कृतभवन, कठौतिया, विहार
—बुद्धचरित	महन्त श्री रामचन्द्रदास शास्त्री	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
कालिदास—मेघदूत	पं. रामतेज पाण्डेय	पण्डित-पुस्तकालय, काशी
—मालविकाग्निमित्र	—	कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई
—अभिज्ञानशाकुन्तल	पं० एस०रंगाचार	संस्कृत-साहित्य-सदन, मैसूर
—विक्रमोर्वशीय	Dr. H. R. Karnik, S. G. Desai	Booksellers Pub. Co., Bombay
—रघुवंश	हरिदामोदर वेलणकर	निर्णयसागर-मुद्रणालय, बम्बई

—कुमारसंभव	पाण्डेय रामतेज शास्त्री	पण्डित पुस्तकालय काशी
	नारायणराम आचार्य	निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई
—ऋतुसंहार	अभिन्नचन्द्रदास	मास्टर खिलाड़ीलाल एण्ड संस
शूद्रक—मृच्छकटिक	एम० आर० काले	Booksellers Publishing Co., Bombay,
विशाखदत्त—मुद्राराक्षस	R. Sreenivasaehar	संस्कृत साहित्य सदन, बंगलौर
भारवि—किरातार्जुनीय	नारायणराम आचार्य	निर्णय सागर मुद्रणालय, बम्बई
बाणभट्ट—हर्षचरित	काशीनाथ पाण्डुरंग परब,	
—कादम्बरी	पाण्डेय रामतेज शास्त्री	पण्डित-पुस्तकालय, काशी
हर्ष—प्रियदर्शिका	P. V. Ramanujaswami	V. Ramaswami Sastrulu and Sons, Madras
—रत्नावली	S. Rangachari	संस्कृत साहित्य सदन, मैसूर
—नागानन्द	R. D. Karmarkar	R. G. Sharngpani, Poona
भर्तृहरि—सुभाषित-त्रिशती	D. D. Kosambi	निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई
	(नीतिशतक, वैराग्यशतक, शृंगारशतक)	
भवभूति—उत्तररामचरित	शेषराज शर्मा रेग्मी	चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
—महावीरचरित	टोडरमल तथा A. A. Macdonell	Oxford Uninersity Press, London
—मालतीमाधव	मंगेश रामकृष्ण तेलंग	निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई
माघ—शिशुपालवध	पं० दुर्गाप्रसाद	निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई

अन्य सहायक पुस्तकें

पुस्तक का नाम	लेखक, सम्पादक आदि	प्रकाशक
1. अभिज्ञान शाकुन्तल (टीका)	श्री वैखानस श्री निवासाचार्य तथा राघव भट्ट	वाविल्ल रामस्वामि शास्त्रुलु एण्ड सन्स, मद्रास
2. अमरकोश (नामलिङ्गानुशासन) (टीका० भानुजी दीक्षित)	सं० पंडित शिवदत्त	निर्णय सागर प्रैस, मुम्बई
3. अर्थशास्त्र (कौटिलीय)	टीकाकार पाण्डेय रामतेज शास्त्री	पंडित पुस्तकालय, काशी
4. अर्थशास्त्र (कौटिलीय)	वाचस्पति गैरोला	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी
5. अवेस्ता (प्रथम भाग)	कांगा व सोनटक्के	वैदिक संशोधन मंडल, पुणे
6. अष्टाध्यायी-प्रकाशिका	युधिष्ठिर मीमांसक	देवप्रकाश पातञ्जल, दिल्ली
7. आपस्तम्ब-धर्म-सूत्र	ए० चीन्ना स्वामी शास्त्री तथा ए० रामनाथ शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफ़िस, बनारस
8. उपनिषद्वाक्य-महाकोश	सं० गजानन	गुजराती प्रिंटिंग प्रैस, बम्बई
9. ऋग्वेद	परोपकारिणी सभा	वैदिक मंत्रालय, अजमेर
10. ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध	डॉ० शिवराज शास्त्री	लीलाकमल प्रकाशन, मेरठ
11. औचित्य-विचार-चर्चा (क्षेमेन्द्र)	चौ० श्री नारायणसिंह	हरिहर प्रकाशन, वाराणसी
12. कठोपनिषद्	शाङ्करभाष्यसहित	गीता प्रैस, गोरखपुर
13. कबीर-ग्रन्थावली	पारसनाथ तिवारी	प्रयाग
14. कर्पूरमंजरी (राजशेखर)	एन० जी० सुरु, प्रिंसिपल,	रूपरेल कॉलिज, बम्बई
15. कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन	वासुदेवशरण अग्रवाल	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

16. कामायनी	जयशंकर प्रसाद	भारती-भंडार, इलाहाबाद
17. कालिदास	चन्द्रबली पाण्डेय	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
18. काव्यप्रकाश (मम्मट)	राजस्थान-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर	
19. काव्य-मीमांसा (राजशेखर)	अनुवादक पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत	हिन्दी राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
20. काव्यादर्श (दण्डी)	व्याख्याकार आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
21. काव्यालंकार (भामह)	भाष्यकार देवेन्द्रनाथ शर्मा	विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
22. काव्यालंकार-सूत्र (वामन)	नारायणराम आचार्य	निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई
23. कुवलयानन्द (आप्पयदीक्षित)	नारायणराम आचार्य	—,,—
24. चाणक्य-नीति-शाखा-सम्प्रदाय, Vol. I, Part I	Ed. Ludwik Sternbach	V. V. R. I., Hoshiarpur
25. चारुदत्त (टीका)	शारदारंजन रे तथा कुमुदरंजन रे	कलकत्ता
26. चिन्तामणि (भाग 1)	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	प्रयाग
27. जायसी-ग्रन्थावली	—,,—	नागरी-प्रचारिणी सभा, वाराणसी
28. दशकुमारचरित (दण्डी)	V. Satakopan and V. Anantacharya	V. Ramaswamy Sastrulu and Sons, Mdras
29. धम्मपद	tr. Radha Krishnan	Oxford University Press, London
30. नानकवाणी	सं० डा० जयराम मिश्र	इलाहावाद
31. निरुक्त (यास्क)	पं० मेहरचन्द पुष्कर्णशास्त्री	पुरुषार्थ पुस्तकमाला कार्यालय, अमृतसर
32. नैषधीयचरित (श्रीहर्ष)	टीकाकार नारायणराम आचार्य	निर्णयसागर प्रैस, वम्बई

33. न्यायबिन्दु (धर्मोत्तराचार्यकृत-टीकासमेत)	आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री	चौखम्वा-संस्कृत-सीरीज़, बनारस
34. पञ्चतन्त्र (श्रीविष्णुशर्मा)	श्री गुरुप्रसाद शास्त्री	भार्गव पुस्तकालय, बनारस
35. पञ्चतन्त्र टीका	श्री कृष्णाचार्य शास्त्री	इन्दौर
36. पारिभाषिक शब्दकोश (साहित्य-शास्त्र)	राजेन्द्र द्विवेदी	आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
37. प्रकृति और काव्य (संस्कृतखण्ड)	डॉ० रघुवंश	साहित्यभवन लिमिटेड, इलाहावाद
38. प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति	डॉ० रामजी उपध्ध्याय	रामनारायणलाल वेणीमाधव, इलाहावाद
39. प्रेम और सौन्दर्य (आधुनिक हिन्दी कविता में)	डॉ० रामेश्वर लाल खंडेलवाल	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
40. वालचरितम् (महाकवि भास)	सीताराम सहगल	दिल्ली
41. वृहत्पर्यायवाची कोष	डॉ० भोलानाथ तिवारी	किताब महल, इलाहावाद
42. भगवद् गीता	—	गीता प्रैस, गोरखपुर
43. भर्तृहरिशतकत्रयादिसुभाषित-संग्रह	सं० प्रो० दामोदर धर्मानन्द कौसम्वी	भारतीय विद्याभवन, बम्बई
44. भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार	के० एम० कापडिया अनुवादक हरिकृष्ण रावत	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
45. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास	डॉ० भीखनलाल आत्रेय	हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश
46. भास-नाटक-चकम् भाग 2	सं० बलदेव उपाध्याय	चौखम्वा संस्कृत सीरीज़; वाराणसी
47. भोज-प्रबन्ध (वल्लालदेव)	सं० जगदीशलाल शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, पटना
48. मनुस्मृति (कुल्लूकभट्टटीका)	सं० नारायणराम आचार्य	निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई

49. महाभाष्य (पतञ्जलि)	पं० बालसहाय शास्त्री	मेहरचन्द लक्ष्मणदास
50. महावीर-चरित (भवभूति)	जोवानन्द विद्यासागर	गोवर्धन प्रैस, कलकत्ता
51. मुण्डकोपनिषद्	सं० ब्र० श्री मं० गं० नञ्जुण्डाराध्य	प्रबोध पुस्तकमाला, मैसूर
52. याज्ञवल्क्य-स्मृति	नारायण राम आचार्य	निर्णय सागर प्रैस, (1949)
53. योगवासिष्ठ (वाल्मीकि)	नारायण शर्मा	निर्णय सागर प्रैस
54. रसगंगाधर (जगन्नाथ)	मदनमोहन झा	चौखम्बा विद्याभवन, बनारस
55. रसमीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)	सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	काशीनागरी प्रचारिणी सभा
56. राजस्थानी कहावतें (एक अध्ययन)	डॉ० कन्हैयालाल सहल	भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली
57. रीति-काव्य की भूमिका	डॉ० नगेन्द्र	दिल्ली
58. लौकिक-न्यायाञ्जलि	क० जी० ए० जैकब	बम्बई
59. वक्रोक्तिजीवित (कुन्तक)	सं० सुशीलकुमार डे	फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता
60. वाचस्पत्यम्	सं० श्री तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफ़िस, वाराणसी
61. वाल्मीकिरामायण	रामतेज पांडेय	पंडित पुस्तकालय, काशी
62. विक्रमोर्वशीय (कालिदास)	एच० डी० वेलंकर	साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
63. —''—	श्री पं० रामचन्द्र मिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस
64. वैदिक कोश	—	बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
65. वैदिक धर्म एवं दर्शन (प्रथम भाग)	कीथ ए० बी० अनुवादक—डॉ० सूर्यकान्त	मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी
66. शतपथ ब्राह्मण	वासुदेव ब्रह्म भगवत	गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई

पुस्तक	लेखक / सम्पादक	प्रकाशक
67. शब्द-कल्प-द्रुम	सं० वदरीप्रसाद वसु व हरिचरण वसु	मोतीलाल वनारसीदास, दिल्ली
68. शब्द-रत्न-समन्वय-कोश		वड़ौदा ओरियेन्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट पूना
69. शास्त्रीय परिभाषा-कोष	य० रा० दाते, चिं० ग० कर्वे	महाराष्ट्र कोश मंडल लि०, पूना
70. श्रीकण्ठचरित (मंखक)	टीकाकार जोनराज	निर्णयसागर प्रैस, वम्बई
71. शृंगार प्रकाश (भोजदेव)	जी० आर० जोसयर	मैसूर
72. श्री मद्भागवत (पुराण)	—	गीता प्रैस, गोरखपुर
73. संस्कृत-व्याकरण-सुधा	प्रो० रामलाल सावल एवं चौ० राम नागपाल	दास ब्रदर्स, अम्बाला छावनी
74. संस्कृत-साहित्य का इतिहास (कीथ ए० बी०)	अनुवादक मंगलदेव शास्त्री	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्लीं
75. संस्कृत-सूक्ति-रत्नाकर	डॉ० रामजी उपाध्याय	संस्कृत परिषद, सागर विश्वविद्यालय
76. सत्यार्थ प्रकाश	दयानन्द सरस्वती सं पं० भगद्दत्त	आर्य साहित्य भवन, दिल्ली
77. समाज-मनोविज्ञान	सुरजीतकौर	लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा,
78. सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण)	पं० श्री ढुण्ढिराज शास्त्री	चोखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस
79. साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)	सं० पं० शालिगराम शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
80. साहित्यालोचन	डॉ० श्यामसुन्दर दास	प्रयाग
81. सुभाषित-रत्नभाण्डागार	शिवदत्त कविरत्न	क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई
82. सुभाषित-सप्तशती	मंगलदेव शास्त्री	सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
83. सुभाषितावली (वल्लभदेव)	सं० आर० डी० करमाकर	भंडारकर रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना

84. सूक्तिमाला	डॉ० आर्येन्द्र शर्मा	ओस्मानिय विश्वविद्यालय, हैदराबाद	
85. सूक्तिमुक्तावली (भगदत्त जल्हण)	—	बड़ौदा ओरियेन्टल रिसर्च इंसटीच्यूट, पूना	
86. सूक्ति-मुक्तावली हरिहरसुभाषितम्)	सं० रमानाथ झा	पटना	
87. सूक्तिसागर	संग्रहकार रमाशंकर गुप्त	प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग;(उ० प्र०)	
88. सेवासदन	प्रेमचन्द	सरस्वती प्रैस, वाराणसी	
89. हमारे बालक-बालिकाएं (फ़्लोरा ऐंच० विलियम्स)	अनु० एम० टामस, एम० ए०	पूना	
90. हर्ष चरित (टीका)	श्री मज्जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य	कलकत्ता	
91. हितोपदेश (नारायण पंडित)	श्री गुरुप्रसाद शास्त्री	भार्गव पुस्तकालय, बनारस	
92. हिन्दी-नीतिकाव्य	डॉ० भोलानाथ तिवारी	विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा	
93. हिन्दी-वक्रोक्तिजीवित	आचार्य विश्वेश्वर	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली	
94. हिन्दी-साहित्य-कोश	सं० धीरेन्द्र वर्मा	ज्ञानमंडल, वाराणसी	
95. हिन्दी-साहित्य-सर्वस्व	पं० सीताराम चतुर्वेदी	हिन्दी साहित्य कुटीर	
96. Abnijñānaśākuntalam of Kalidasa	M. R. Kale	Bombay	1957
97. Acarya Puspanjali Volume	Gen. Ed., B. C. Law	The Indian Research Institute Calcutta	1940
98. (The) Age of Jmperial Kannauj	Ed. R: C. Majumdar	Bharatiya Vidya Bhavans, Bombay	1955
99. (The) Age of Imperial Unity	—do—	—do—	1953
100. Ancient Indian Erotics and Erotic Literature	S. K. De	Firma K L. Mukhopadhyaya, Calcutta	1959
101. Arthashastra of Kautilay	Dr. R. Shamasastry	Mysore	19 4
102. (The) Basic Writings of Bertrand Russell	Ed. Robert E. Egner and Lester E. Deaonn	Ge rge Allena & Unwin Ltd., London	1961
103. B. C. Law Volume, Part I	S. K. Dey	Bombay	1949

	Title	Author	Publisher	Year
104.	Bhasa : A Study	A. S. P. Ayya, M.A.	V Ramaswamy Sastrulu and Sons, Madras	1957
105.	Bhojas Śṛṅgara Prakāśa	V. Raghavan	Punarvasu, Madras	1963
106.	Buddha Carita of Aswaghosha	tr. E. B. Cowell (Sacred Books of the east Ed. F. maxmuller Vol. xLix)	Motilal Banarasdas, Delhi	1965
107.	Caste Class and Occupation	G.S. Hhrye	Bombay	1961
108.	Child Development and Adjustment	Crow and Crow	The Macmillan Co. NewYorK	1963
109.	Contributions to the History of the Hindu Drama	Manmohan Ghosh, M. A., Ph. D.	Firma K L. Mukhopadnyaya Calcutta	1958
110.	(The) Development of Human Behavionr	Dewyand Humber	The Macmillan Co., New York	1961
111.	(The) Dhammapada	Irving Babbitt	Oxford University Press. London	1936
112.	The Dialogues of Plato Vol I	Jowett B.	Random House, New York (16th Printing)	
113.	Dictionary of foreign Phrases and classical quotations	Hugh Perccy jones	Edinburg, Great Britain	1929
114.	(A) Dictionary of Selected Synohyms in the Principal Indo-European Languages	Carl Darling Buck	The Universty of Chicago Press, Chicago	1949
115.	Dictionary of Philosphy and Psychology	Bal dwin, James Mark	Peter Smith, U. S. A.	1960
116.	Dramatic Poesy and other Essays	Dryden, John	London	1950
117.	Educational Psychology	Henry Clay Lindgren	Loondon	1962
118.	Educational Psychology	Roberts Ellis	New York	1956

No.	Title	Author	Publisher	Year
119.	Education in Aneient India	Dr. A.S. Altekar	Varanasi	1957
120.	Encyclopaedia America, Vol. 22		American Corporation New York.	1961
121.	Encyclopaedia Britanica	—	London	1962
122.	Encyclopaedia of Religion and Ethics	James Hastings	New York	1956
123.	Everyman's Dictionary of Quotations and Proverbs	D. C. Browning	London	1962
124.	History of British India Vol. I	James Mill	London	1817
125.	History of Dharmas'āstra	P. V. Kane	Bhandarkar O. R. I., Poona	1941
126.	(A) History of Indian Literature	M. Winternitz	University of Calcutta	1959
127.	(A) History of Sanskrit Literature	S. N. Das Gupta and S. K. De	—do—	1962
128	(The) Image of Love	Clemens E. Banda, M. D.	The Free Press of Glencoe, New York	1961
129.	(The) Imperial Guptas	O. P. Singh Bhatia, M.A.	Surjeet Book Depot Delhi	1962
130.	India in Kalidasa	B. S. Upadhyaya	Kitabistan, Allahabad	1947
131.	Individual Psychology of Alfred Adler	Ansbachar Heinz L. and Rowena R.	George Allen and Unwin	1956
132.	(An) Introduction to Social Psychology	B. Kuppuswamy	Asia Publishing House, Bombay	1951
133.	(An) Introduction to Social Psychology	William Medougall	Methuen and Co Ltd., Great Britain.	1960

No.	Title	Author	Publisher	Year
134.	Kadambari of Bāṇa	R. D. Karmaxkar	Poona	1939
135.	Kinship Organisation in India	Irawati Karve	Deccan College, P. G. R I., Poona	1953
136.	Lives of the English Poets (Sammuel Johnson)	Introduction : L. Archer Hind	J. M. Dent and Sons Ltd., London	1961
137.	New Indian Antiquary Vol. VI	Ed. S. M Katre and P. K. Gode	Karnrtak Publishing House, Bombay	1943-44
138.	New Standard Dictionary of English Language	Funk and Wagnalls	New York	1961
139.	(The) Oxford Dictionary of English Proverbs		Oxford	1963
140.	(The) Oxford English Dietionary		Clarendon Press, Oxford	1961
145.	Pancharatram, Notes on	Vaman Gopal Urdhwareshe	Indore	1920
146.	(The) People of India	Sir Harber Risley	W. Thacker and Co., London	1908
143.	Personality	Gardner Murphy	New York	1947
144.	(The) Pleasure of Philosophy	Will Durant	Simon and Schuster, New York	6th Printing.
145.	Preface to Mrcchakatika	G. K., Bhat, M. A., Ph. D.	The New Order Book Co., Ahmedabad	1953
146.	Psychology in Education	Herbert Sorenson	New York	1944
147.	Puranic Words of Wisdom	Ed. A. P. Karmarkar	Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay	1947
148.	Racial Proverbs	Champion Selwyn Gurney, M. D.	Barnes and Noble, Inc., New Yark	1950

No.	Title	Author	Publisher	Year
149.	Remarks on Similies in Sanskrit Literature	J. Gonda	Leiden	1949
150.	Śakuntalā by Kālidāsa	Monier williams	Varanasi	1961
151.	(The) Sanskrit Drama	A B. Keith	Oxford University Press, London	1959
152.	(A) Sanskrit English Dictionary	Sir Monier williams	Clarendon Press, Oxford	1956
153.	Sex and Society	Kenneth walker Peter Fletcher	Frederick Muller Ltd., London	1955
154.	Shakespeare's Pzoverb Lore	Charles G. Smith	Harvard University Press, Cambridge	1963
155.	Shorter Oxford English Dictionary		Oxford	1959
156.	(The) Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legend	Funk and wagnalls	New York	1950
157.	(The) Students Sanskrit English Dictionary	V. S. Apte	Motilal Banarsidas, Delhi	1961-1963
158.	Studies in Psychology of Sex	Havelock Ellis	William Heinemann, London	1942
159.	Studies in Sanskrit Aesthetics	A. C. Shastri, M. A.	Calcutta	1952
160.	(The) Vikramorvaśtyam of Kālidāsa	S. B. Athalye and S. S. Bhave	Keshav Bhikaji Dhawale, Bombay	1948
161.	Women in Ancient India	Martin, Mary E. R.	Chowkhamba Publication, Varanasi	1964

162.	Women in Manu and his seven Commentators	R. M. Das	Kanchan Publication, Varanasi	1963
163.	Women in Sanskrit Dramas	Ratnamaydevi Dikshit	Mehar Chand Lachhman Das, Delhi	1964

पत्र-पत्रिकाएँ—

1.	कालिदास और लालित्य-विधान	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी	हिन्दी विभाग, पंजाब, वार्षिक लेखक गोष्ठी	1963-64
2.	माध्यम	केरल-विशेषांक	प्रयाग	मई 1966
3.	विश्व संस्कृतम्	विश्वेश्वरानन्द वैदिक-शोधसंस्थान	होशियारपुर	मई 1565
4.	सरस्वती	—	इलाहाबाद	फरवरी 1965

Letters—Dated — From

1.	February 18, 1966	Dr. Alsdorf, L., Prof. and Head of the Department of Indian Culture and History, Universitat Hamburg, W. Germany.
2.	,, 17, 1966	Dr. Basham, A. L. Prof, of Asian Civilization, The Australian National University, Australia.
3.	,, 17, 1966 No. 447, Skt./65-66/23	Dr. Bhargava, P. L., Prof. and Head of the Deptt. of Sanskrit, University of Raiasthan, Jaipur.
4.	Febxuary 18, 1966	Dr Gonda, J., Prof Van Hogendorpsiraat 13, Utrecht, Netherlands.
5.	February 10, 1966	Dr. Munshi K. M, President, Bharatiya Vidya Bhavan. Bombay 7.
6.	,, 28, 1966	Dr Sternbach, Ludwik, United Nations Grand Central R. Instt., New York-17.
7.	March 9, 1966 No. 1/11/10751	Dr. Vishva Bandhu, Hony. Joint Secretary and Director, V. V. R. I., Hoshiarpur.

Correspondence

The circular letter sent by the author to distinguished scholars in India and abroad, in the month of February 1966.

To ________________________________

____

____

Respected Sir,

Would you kindly excuse me for my self introduction and seeking your valuable guidance.

My study relates to the sayings (i.e. maxims and proverbs or Sūktis and Lokoktis) in Sanskrit Kāvya upto the 8th century A.D., with special reference to Bhāsa, Aśvaghoṣa, Kālidāsa, Śūdraka, Viśakhadatta, Bāṇabhatta, Śriharsadeva, Bhartṛhari, Bhāravi, Bhavabhūti and Māgha.

I have collected, classified and studied the sayings or sūktis (of these 11 poets) according to the fields of life that they relate to. Main fields dealt within them are those of society, state, family, woman, love and beauty, behaviour and moral conduct, virtue and manners, psychology, faiths and religious treatise. I would be obliged to have your comments about this way of studying.

1. Should sayings of a writer be called in Sanskrit a Sūkti or Subhāṣita or something else?
2. What is the definition and scope of Sūkti (i.e. saying of a poet)?
3. What is the difference between Sūkti, Subhāṣita; Lokokti, Lokanyāya and Sūtra?

I could not find reply of the above mentioned questions in the books at my disposal. If there be any written material to throw light on a scientific study of the subject, please let me know.. I would be deeply indebted to you if you could kindly send your views in this regard and allow me to have your findings, if any.

I should also mention that the passages selected by me for study have these essential qualities in common:-

1. They are generalised statements.
2. They assert a fact or a truth. They may normally bring out some or the other aspect of human life.

3. They are assertions of the poets' individual views influenced by circumstances as well as tradition.
4. They are brief expressions.
5. They are pleasant-reading as they carry a meaning or a sense which either influences the mind or touches the heart of the reader.

There may be still other special features of the sayings of poets, which distinguish them from the rest of the Poetry. Could you help me find some of those special characteristics?

I hope, my approach to you is in right direction. Though I should have contacted you earlier enough, yet it is not too late to be benefited by your valuable suggestions. And, hence, kindly write me all that you would like to have accomplished in a study of Sanskrit Sūktis.

Eagerly awaiting your response with many many thanks,

Yours Truely,

(VED VRAT ALOK)
Research Scholar
Department of Sanskrit
Kurukshetra University
Kurukshetra

Response

The Australian National University

Department of Asian Civilization
The School of General Studies
Box 4, Post Office, Canberra, A.C.T.

TELEPHONE: J 0422
TELEGRAMS AND CABLES: "NATUNIV" CANBERRA
17 February 1966

Mr. Ved Vrat Alok,
Research Scholar,
Department of Sanskrit,
Kurukshetra University,
Kurukshetra, India.

Dear Mr. Alok,

Thank you very much for your letter. I am not really a great expert in Sanskrit literature and I cannot answer your questions with any authority. However, I will do what I can.

1. It seems to me that the terms Sūkti and Subhāṣita are the same etymologically, and as far as I know they are used synonymously. In general, the terms seem to be used for a single verse complete in itself, not composed as part of a longer poem. Etymologically, one would expect it to be roughly synonymous with "proverb" or "aphorism", but that does not seem to be its general usage in Sanskrit. It seems usually to imply a verse of some kind.

2. This is probably answered sufficiently by No.1 above. As I understand the term, it means simply a verse which stands by itself as a brief and independent composition which may contain a piece of moral advice or a witty saying of some kind, but may also be purely descriptive.

3. I think Subhāṣita is more often used for a verse with a moral or didactic purpose than is Sūkti, but I do not think that they are sharply to be distinguished, since etymologically they are virtually synonymous. Lokokti and Lokanyāya are closer to the English "proverb". But the first element of these terms is evidently the implication of something which is widely known, and thus I do not feel it should be looked upon as synonymous with Sūkti. Sūtra, of course, has a much wider meaning, and seems to have no relation etymologically or otherwise to the other terms you mention. The meaning of this is sufficiently given in Monier William's Dictionary.

I am not aware of any special studies of this kind of literature, but you will find a lot about it in the writings of Professor S.K. De.

I do not know whether your five points apply to every verse which could be called a Sūkti. If you look at some of the verses in the mediaeval anthologies such as Sūktikarṇāmṛta, you will find a number of verses which are purely descriptive. I think one could count the verses of Amaru, for instance, as Sūkti, and many of these deal with unique situations.

In asking my advice on how to deal with the subject, I find it hard to say anything very definite. You could tackle it from the purely literary point of view, or from the ethical and psychological one. If you are paying special attention to verses of gnomic character, you might well in a final chapter make a careful analysis of the values and attitudes which they reflected and consider them as throwing light on the psychology of the period. Professor D.D. Kosambi, from a Marxist angle, has already written a little about this.

In any case, I send you all good wishes for the successful prosecution of your studies, and look forward to reading your finished work.

Yours sincerely,

A.L. Basham
Professor of Asian Civilization

Prof. Dr. J. Gonda
Van Hogendorpsiraat 13
Utrecht

Feb. 18/1966.

Dear Mr. Ved Vrat,

In connection with your letter of Feb.8, I would advise you to use the term 'Subhāṣita' which means "fine speach, piece of learned, refined or/and/aloquent speach, witty or apposite saying, apophtegm, good or intelligent remark etc."
"A sūtra always is a concise rule or formulation, containing a more or less technical instruction or precept or piece of traditional lore, being often used for memorial purposes."
"A lokokti is a saying of the general public or current among the general."
"A lokanyāya – a rule for, or to be followed by, or adhered by the general public."
So, in my opinion Subhāṣita will suit your purpose best.
With kind regards,

Yours sincerely,

(J. Gonda.)

UNIVERSITÄT HAMBURG
Seminar für Kultur und Geschichte Indiens
2 Hamburg 13, Von-Melle-Park 6

Mr. Ved Vrat Alok
Department of Sanskrit
Kurukshetra University
Kurukṣhetra/India

February 18, 1966

Dear Mr. Ved Vrat,

I have perused with interest your letter of 8.2. but regret to say that pressure of work prevents me from dealing with it in greater detail. As to Sūkti and Subhāṣita I do not think there is any difference between them. These words are just what we call synonyms. Perhaps you will allow me to warn you against wasting too much acumen on hairsplitting definitions. It will be much better just to collect your material and see what conclusions can be drawn from it and to what results it may lead.
Wishing your researches the best of success, I am,

Yours truly,

(Prof. Dr. L. Alsdorf)

Dr. Ludwik STERNBACH
United Nations Box 20
Grand Central Station. New York 17.

28 February 1966

Dear Mr. Ved Vrat,

I received your letter of 8 February 1966 and shall try to reply to your queries.

I consider the wording Subhāṣita and Sūkti as synonymous, but I prefer for the work that you intend to do the word Subhāṣita. Subhāṣita means spoken well or eloquently; witty saying; good or wise saying; it also means a kind word (Mahābhārata 5.34,74). You may look up the Śabdakalpadruma ad Subhāṣita, Vallabhadeva's Subhāṣitāvali 340; Garuḍa-purāṇa 1.109,41; Manu 2.239 and 240; Subhāṣitaratna-Bhāṇḍāgāra 29.5; Subhāṣitārṇava 34.

Sūkti from Su +uktiḥ means wise or good saying, beautiful verse or stanza, beautiful saying. See for instance Pañcatantra (Bühler) 1.62 and Śṛṅgaddharapaddhati 144.

Sūtra from Siv, Sīva means a line, a stroke, a rule, a short sentence, a short rule used in particular in law books.

Lokokti from loka and uktiḥ means people's talk, a general or common or popular saying, public opinion, a proverb.

Lokanyāya—I did not find in any of the dictionaries and never used this term. It would be derived from loka + nyāya and would mean rule, system, a popular maxim.

This would explain the differences between these five terms, but I would think that only the two first terms could be considered by you for your work. Sūtra does not convey the meaning of a beautiful saying but it was used for instance in connexion with Cāṇakya, where we know hundreds of short Cāṇakyasūtras. They are appended to the Kauṭilīya-arthaśāstra (Shāmaśastrī's edition); lokokti would be a proverb which usually is also a short sentence.

I would translate into English Subhāṣita or Sūkti as (beautiful) quotation from poetical works or an aphorism.

With regard to the common qualities of these quotations, I would add "a poetical sentence or verse containing some important truths" and "sententious remarks in verse". I would however delete 4 — brief expressions because that would not include verses, ślokas, etc. I also do not like "generalized statements" because these are poetical sentences conveying some important truths which are very ofen written by the poets themselves (unless they are taken from the floating mass of oral tradition) which express the views of individual authors.

As you know the Subhāṣitas and Sūktis are usually edited together in collections under different names. I shall quote to you some of them which are known to me. From the list you will see that in Sanskrit the word Subhāṣita is more common than the word Sūkti for "beautiful sayings" since a much greater number of collections are known under the name Subhāṣita . . . than under Sūkti . . .

Subhāṣitāvali of Vallabhadeva

Subhāsitāvali of Kuppuswami Sāstri

Subhāṣitakaustubha of Veṅkatādhvari
Subhāsitamuktāvali of Puruṣottama
Subhāṣitāmuktāvali of Mathurānātha
Subhāṣitāvali of Sakalakīrti
Subhāṣitaratnabhāṇḍāgāra
Subhāṣitaprabandha
Subhāṣitaratnakośa of Bhatta Śrikṛṣṇa
Subhāṣitaratnāvali of Umamahavara Bhaṭṭa
Subhāṣitaratnakoṣa of Bhatta Śrīkṛṣṇa
Subhāsitaratnakoṣa of Vidyākara
Subhāsitapadāvalī
Subhāṣitamañjarī of Veṅkatācārya and anonymous
Subhāṣitasuradruma by K.B. Nair
Subhāṣitasuradruma by Khanderāya Basavaratīndra
Subhāṣitasarvasva by Gopinātha
Subhāṣitasudhānidhi by Sāyaṇācārya
Subhāṣitaratnākara by Munidevācārya
Subhāṣitaratnākara by Kṛṣṇa
Subhāṣitaratnākara by Bhataveḍekar
Subhāṣitaratnākara by Umāpati
Subhāṣita by Harihara
Subhāṣitarangasāra by Jagannāthamiśra
Subhāṣitasamuccaya
Subhāṣitasudhānandalahari
Subhāṣitasuradruma
Subhāṣitaratnamālā
Subhāṣitārṇava
Subhāṣitasaṁgraha
Subhāṣitasārasamuccaya
Subhāṣitasaptaśatī of Maṅgaladeva Śāstri
Sūktivāridhi of Peḍḍabhaṭṭa
Sūktāvali by Lakṣmaṇa
Sūktisundara of Sundaradeva
Sūktiratnahāra of Kaliṅgarāja
Suktiśataka of Harihara Jhā
Ṣūktimuktāvāli of Jalhaṇa
Sūktimuktāvali of Viśvanātha
Sūktimuktāvali of Puruṣottama
Sūktimuktāvali of Mathurānātha
Sūktimutāvali of Harihara

Best regards

Yours Sincerely

Ludwik Sternbach

Department of Linguistics
University of California
Berkeley, Calif. 94720, USA.

March 1, 1966

Sri Ved Vrat Alok,
Department of Sanskrit,
Kurukshetra University,
Kurukshetra, India.
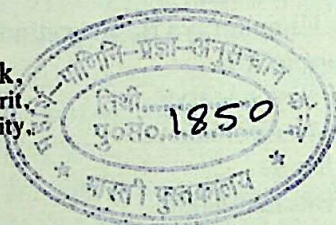
Dear Sir,

Yur letter of February the 8th on the subject of your work on Sanskrit sūktis is very interesting. I wish you all speed in the completion of the work. My own work is so far from this field that I cannot say anything of value in answer to your queries. Please accept my regrets.

All best wishes.

Yours sincerely,

M.B. Emeneau

UNIVERSITÀ CATTOLICA DEL S. CUORE

MILANO—Largo A. Gemelli, 1

Arpil 14th, 1966

Dear Sir

Coming back home from a trip abroad I found your letter of February the 8th; I have read with big interest.

More tha. one italian indologists (Carlo Formichi, and mostly paolo Emilio Pavolini, who published an anthology entitled ....: "a thousand indian sayings translated into italian"), have already studied and classified many indian sayings.

The subject is anyway still very interesting and fascinating; I myself will head a lecture on the ancient poetic sayings of India next month. at the Rotary Club, ulilano. The informations you give me on the state of your reseraches are therefore precious to me.
I think your essay concering the sayings according to the fields of life that they relate to, by classifying them in different classes. the characteristics and orgin of each of them being defined and proved, will be quite a complete analysis on the subject. It would be highly interesting if you could also study and classify epic and political texts. as well as novels, perhaps even comparing the different data.

The italian translation for the skt word is "sentensa" or "delto sentensioso"; *sūkti*
subhāṣita can be translated as "motto", or "proverbio". *lokokti* as "massima". Subhāṣita is the skt word more frequently used in Italy to indicate these sayings; *sūtra* we usually mean philosophical, political or grammatical aphorisms.

I will be always very interested in any information you will like to send me concerning your important studying.

With all my best thanks for the ones you have already sent me and all my kindest regards, I am,

Yours Sincerely,

(Ginseppina Scalabrino Borsani)

Vishva Bandhu,
HONORARY JOINT SECRETARY & DIRECTOR.
VISHVESHVARANAND VEDIC RESEARCH INSTITUTE,
P.O. SADHU ASHRAM, Hoshiarpur
(PB., INDIA)

PHONE 287
No. 1/11/10751

March 9, 1966

Dear Shri Alok

Please refer to your letter of 8.2.1966. Here are some ideas on the topic mentioned by you:-

1. The choice sayings marked by beauty of thought and language embodied in the work of a poet may be called Subhāṣita, Sūkti or Sadukti.

2. Any composition, be it a whole verse, a part of it or a line in prose, which has a charm and an appeal of its own is a Subhāṣita. In the works of the poets, it generally couches an arthāntaranyāsa.

3. There is little difference between Subhāṣita, and Sūkti.

4. For fuller discussion and exchange of views, you will be welcome to spend a day or two in our midst, advising in this behalf in advance.

With cordial greetings,

Yours sincerely,

—(Vishva Bandhu)

Ravishankar University
RAIPUR.

B.R. SAKSENA,
VICE-CHANCELLOR.
D.O.NO.V.C./302/66.

the 11th February 1966.

Dear Shri Ved Vrat,
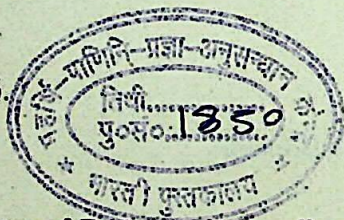
I have your circular letter of February 8 regarding certain questions of your topic of investifgation. You should consult English dictionaries for the technical terms used in the name of your topic and I think considerable material in English is available relating to them. There may be even some theses on the proverbs etc.. You have borrowed the words Sūkti and Lokokti from Hindi. There are some theses on the topic in Hindi dialects. You should try to consult that material also. You asked certain questions in your letter which should be answered by you yourself after your study. You should not expect others to guide you in your research from far off. Surely this is the function of your supervisor.

Yours sincerely,

(B.R. Saksena)

Bharatiya Vidya Bhavan

President
Dr. K.M. Munshi,
B.A. L.L.B, D.Litt., L.L.D.
Chowpatty Road, Bombay-7.

February 10, 1966

Dear Shri Ved Vrat Alok,

Your circular letter of February 8 to hand.
I donot know of any authority which would give you direction that you suggest. I would prefer the word "Subhāṣita"; it is a well-understood word.

Yours sincerely

K.M. Munshi.

The Head of the Department of Sanskrit
University of Rajasthan

Ref. No. 447/SKT/65-66/23/

Dated Jaipur the 17.2.1966.

Dear Sir,

Please refer to your letter dated 9th Feb., 1966. In my opinion the most suitable name in Sanskrit for the sayings you have collected would be Sūkti. All the other terms mentioned by you have a specific connotation. Subhāṣhita is a term generally restricted to witty sayings and lokokti means a proverb. Lokanyāya means a maxim, such as 'अन्ध-चटक-न्याय', 'देहली-दीप-न्याय' etetra. A Sūtra is an aphorism and is defined as:

स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

Yours faithfully,

(P.L. Bhargava.)
Professor & Head of Dept.
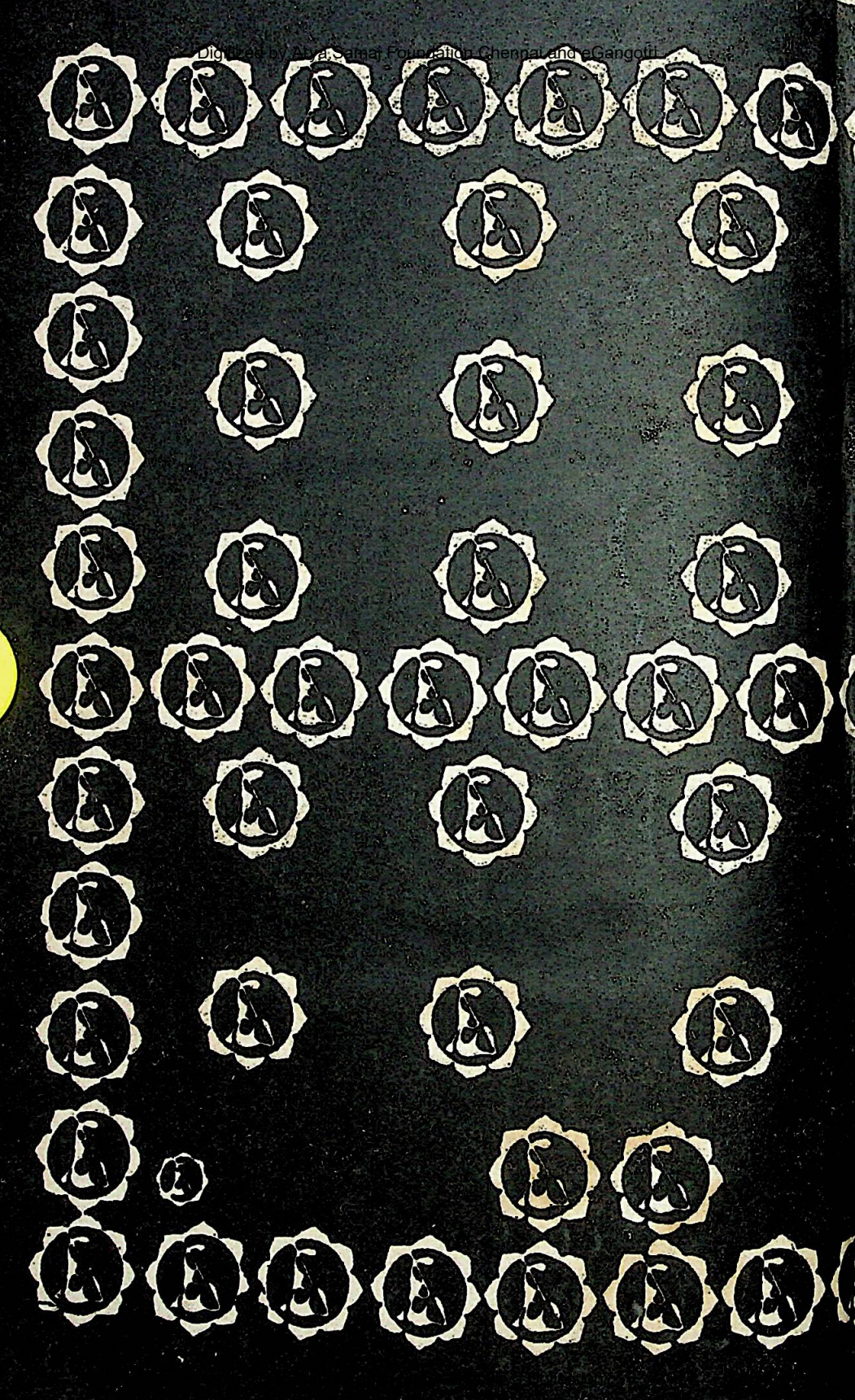
डॉ० वेदव्रत

गुरुकुलीय वातावरण में जन्मे-पल
संस्कृत को मातृ-भाषा के रूप में ह
के खट्टे-मीठे अनुभवों के प्रति
एक द्रष्टा की-सी रहती है. इसीलि
मर्म तक स्पर्श कर पाए हैं.

एम.ए. पंजाब विश्वविद्यालय
पाकर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
लेते हुए 1968 में पी-एच.डी. की
आजकल स्वामी श्रद्धानन्द महा
विश्वविद्यालय के संस्कृत वि
प्राध्यापक हैं.

पिछले वर्षों में डॉ० वेदव्रत की जो
आई हैं उनमें योग दर्शन को ही
प्रस्तुत किया गया है, जैसे -
'शंकराचार्य विवरणानुसार -
भाष्यम्'. सम्प्रति वे इसी क्षेत्र मे
दयानन्द सरस्वती की कलकत्ता
जीवनी का भी हिन्दी-संस्करण
प्रकाशित हो रहा है.

शारदा प्रकाशन
दरियागंज
नयी दिल्ली-११०००२

डॉ० वेदव्रत के शोध-प्रबन्ध को पढ़कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। ... पर प्रकाश डाला है जिन पर अभी तक कोई विशेष कार्य नहीं हुआ ... बहुत सी मौलिक समस्याओं पर विचार किया गया है। लेखक ने सू... पक्ष का विवेचन करने में इदंप्रथमतया कार्य किया है। यह तथ्य ... बढ़ाता है, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के लिए भी प्रशस्य है कि वहां से ... निकली जो संस्कृत जगत् में महत्त्व रखती है। ....आशीर्वाद और शुभकामनाएं।

डॉ० [illegible]नाथ [illegible]
एम. ए., [illegible] ओ. एल., डी. लिट्,
पूर्व-संस्कृत प्रोफेसर एवं डायरेक्टर,
भारतीय विद्या-संस्था,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

"एक कालविशेष का मानव क्या सोचता है, ...किन-किन मूल्यों को उसने अपना रखा है, यह तब तक विशदरूप से नहीं जाना जा सकता जबतक कि उसके मन में झांककर न देखा जाए। यह सूक्तियों और लोकोक्तियों के माध्यम से अत्यन्त सरलतया संभव हो जाता है। इस दृष्टि से इनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन नितान्त अपेक्षित है, और इसी अपेक्षा की पूर्त्ति करती है प्रस्तुत कृति।

डॉ० वेदव्रत ने इसमें ग्यारह प्रख्यात संस्कृत कवियों की सूक्तियों और लोकोक्तियों को सूक्ष्मेक्षिका से निरखा-परखा है। कवियों की प्रत्येक कृति का उन्होंने गहन अध्ययन व मनन किया, तथा उनकी सूक्तियों व लोकोक्तियों का स्वयं संचयन कर विश्लेषण किया है। तदर्थ उन्होंने जो वर्गीकरण अपनाया है यह भी अत्यन्त वैज्ञानिक प्रतीत हुआ। तत्कालीन समाज एवं संस्कृति के अध्ययन की दिशा में यह एक अत्यन्त सराहनीय प्रयास है, जोकि पूर्णतः प्रमाणिक सामग्री पर आधारित है।

प्रस्तुत कृति संस्कृत अध्ययन के क्षेत्र में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्त्ति करती है, एवं च उसके लिए एक नया आयाम उद्घाटित करती है। [illegible] का यह पहला प्रयास है। निश्चय ही भावीशोधार्थियों के लिए यह एक सन्दर्भ ग्रन्थ [illegible] करेगा।

डॉ० वेदव्रत में मानवजीवन तथा कवि-[illegible] गहरी समझ है, तथा विषय का सम्यक प्रतिपादन करने की अपूर्व क्षमता। मुझे [illegible] विश्वास है कि विद्वज्जन द्वारा इस कृति का समुचित समादर होगा।

डॉ० सत्यव्रत शास्त्री
प्रवर प्रोफेसर,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
पूर्व कुलपति, संस्कृत विश्वविद्यालय जगन्नाथ पुरी,
राष्ट्रपति-सम्मानित-विद्वान्